

है। परन्तु अपनी परिस्थिति से असन्तोष और दूसरों की उन्नत अवस्था से ईर्ष्या करना दोष है। ऐसे दोषों के कारण मनुष्य को आपत्ति का सामना करना पड़ता है।[1] इसी प्रकार चारुदत्त भी धूता से सन्तोष न पाकर वसन्तसेना की ओर आकर्षित होता है। उसका जीवन कष्टमय हो जाता है। अतएव 'मृच्छकटिक' असन्तोष का प्रतीक है। (२) इस शब्द से प्रवहण-विपर्यय की घटना भी सूचित होती है जो कि इस प्रकरण की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है।[2] (३) भास का 'चारुदत्त' मृच्छकटिक का मूल है। उपलब्ध 'चारुदत्त' नाटक में चार अङ्क हैं। वसन्तसेना चारुदत्त के प्रति अभिसरण के लिये उद्यत है—यहीं पर कथा समाप्त हो जाती है। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह नाटक अपूर्ण है। इसमें कम से कम एक अङ्क और रहा होगा। इसकी कथा मृच्छकटिक के पञ्चम अङ्क की कथा पर्यन्त अवश्य रही होगी। यदि यह मत ठीक है तो इस प्रकरण के रचियता ने षष्ठ अङ्क से आगे का भाग ही अपनी कल्पना से रचा होगा। षष्ठ अङ्क में मिट्टी की गाड़ी की घटना आती है। अतः कवि ने अपनी कल्पना के आरम्भ को प्रकट करने के लिये इस घटना के नाम पर ही इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' रख दिया है।[3]

जहाँ तक साहित्यदर्पण आदि साहित्यिक ग्रन्थों के विधान का प्रश्न है। स्पष्ट ही है कि नाटक—सम्बन्धी कठोर नियम भास, शूद्रक और कालिदास आदि के नाटकों के आधार पर ही निर्मित हुए हैं अतः 'मृच्छकटिक' में उनके पूर्णतया पालन किये जाने की आशा कैसे की जा सकती है? अतः इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' ही उचित प्रतीत होता है।

३. मृच्छकटिक प्रकरण; रूपक का एक भेद—'मृच्छकटिक' को रूपक के एक भेद 'प्रकरण' की कोटि में रक्खा जाता है। प्रकरण का लक्षण साहित्यदर्पण[4] के अनु- सार यह है—

भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः॥
नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्।
तेन भेदास्त्रयः तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः॥
कितवद्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः।
(अस्य नाटकप्रकृतित्वात् शेषं नाटकवत्)

अर्थात् "प्रकरण रूपक का एक भेद है इसमें वृत्त लौकिक तथा कविकल्पित होता है; शृङ्गार मुख्य रस होता है; ब्राह्मण, अमात्य या वणिक् में से कोई एक नायक

---

१. श्री कान्तानाथ शास्त्री, मृच्छकटिक समीक्षा, पृ० २२.
२. वही, पृ० २३। ३. वही, पृ० २३-२४
४. साहित्यदर्पण ६, २२४-२२७.

होता है। वह नायक धीरप्रशान्त होता है तथा विपरीत परिस्थितियों में भी धर्म, अर्थ, काम में परायण होता है। प्रकरण की नायिका कुलस्त्री वेश्या होती है। किसी प्रकरण में कुलस्त्री तथा वेश्या दोनों ही नायिका रूप में दिखलाई जाती हैं। इन नायिकाओं की त्रिविधता से प्रकरण के भी तीन भेद हो जाते हैं। इन तीनों प्रकरण–भेदों में तीसरा जो प्रकरण है (जिसमें कुलजा तथा वेश्या दोनों नायिका होती है) वह धूर्त, जुआरी, विट, चेट आदि से भरा होता है। (यह प्रकरण नाटक का ही एक परिवर्तित रूप है अतः शेष सन्धि प्रवेशक आदि नाटक के ही समान होते हैं)।

मृच्छकटिक का कथानक लोकाश्रित है। यह कवि द्वारा कल्पित किया गया है।[1] इसका प्रधान रस शृङ्गार है करुण (अङ्क १०) हास्य (विदूषक और शकार की उक्तियों में) तथा वीभत्स (अङ्क ८) इत्यादि शृङ्गार के अङ्ग रूप में आये हैं। नायक चारुदत्त ब्राह्मण है,[2] जो कि दरिद्रता की अवस्था में है तथापि धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि में तत्पर दिखलाई देता है। यहाँ दो नायिकाएँ हैं, एक धूता, जो कुलस्त्री है, और दूसरी वसन्तसेना, जो गणिका है। इस प्रकार दोनों प्रकार की नायिका[3] होने से यह तीसरे प्रकार का प्रकरण है। यहाँ धूर्त द्यूतकर, विट, चेट शकार आदि की भी योजना की गई है। दशरूपक के अनुसार मृच्छकटिक को संकीर्ण प्रकरण कहा जा सकता है—संकीर्ण धूर्तसंकुलम्। इसमें सन्धि आदि नाटक के समान ही हैं यह आगे दिखलाया जायेगा।

मृच्छकटिक में लक्षणग्रन्थों के नियमों का पूर्णतया पालन नहीं किया गया है। कारण यह है कि मृच्छकटिक के निर्माण काल में नाट्य के ये नियम भली भाँति निर्धारित नहीं किये जा सके थे, जब अनेक नाटक रचे जा चुके तब उनके आधार पर नाट्य के नियमों का निर्माण किया गया है और उन्हें साहित्यिक रूप दे दिया गया। अतः मृच्छकटिक जैसी अत्यन्त प्राचीन रचना में उन सभी नियमों के पालन की संभावना कैसे की जा सकती है ? फलतः यहाँ 'प्रकरण' की कतिपय विशेषतायें नहीं भी मिलती—(१) साहित्यदर्पण के अनुसार प्रकरण का नाम नायक और नायिका के नाम पर होना चाहिये, (२) दशरूपक के अनुसार नायक प्रत्येक अङ्क में उपस्थित रहना चाहिये-प्रत्यक्षनेतृचरितः (अङ्क), ३, ३३; किन्तु यहाँ चारुदत्त सभी अङ्कों में उपस्थित नहीं है। (३) नाट्यशास्त्र तथा दशरूपक के अनुसार कुलस्त्री और वेश्या दोनों का रङ्गमञ्च पर मिलन नहीं होना चाहिए; किन्तु यहाँ धूता और वसन्तसेना दोनों रङ्गमञ्च पर केवल मिलती ही नहीं अपितु एक दूसरी का स्वागत

---

१. बृहत्कथा से लिये गये वृत्तों को भी कविकल्पित ही माना जाता है।
२. विप्रनायकं यथा मृच्छकटिकम्। सा० द० ६; २२५।
३. द्वे अपिमृच्छकटिके। वही, ६, २२५.
कुलजाऽभ्यन्तरा बाह्या वेश्या नातिक्रमोऽनयोः।

करती है । इन अनियमितताओं के अनेक कारण हो सकते हैं तथापि इनके होने में वैमत्य नहीं हो सकता । फिर भी साहित्य मर्मज्ञों को 'संकीर्ण प्रकरण' का मृच्छकटिक से अन्य कोई उपयुक्त उदाहरण नहीं मिलता, इसमें सन्देह नहीं ।

४. मृच्छकटिक का रचना-विधान—प्रायः सभी संस्कृत-नाटकों का रचना-विधान समान है । नाटक को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने से पहले अभिनेता जन (नट) नाट्यमण्डल (रङ्ग) की विघ्न शान्ति के लिये मङ्गलाचरण करते हैं । यह मङ्गलाचरण ही पूर्वरङ्ग कहलाता है । इस पूर्वरङ्ग के 'प्रत्याहार' इत्यादि अनेक अङ्ग हैं । 'नान्दी-पाठ' उन अङ्गों में प्रमुख है । अतः नान्दी-पाठ अनिवार्य माना गया है ।[१] मृच्छकटिक का आरम्भ नान्दी-पाठ से होता है । आरम्भ के दो श्लोक अर्थात् 'पर्यङ्क०' तथा पातु० इत्यादि नान्दी के श्लोक हैं । यह नान्दी आठ पदों की हैं ।[२] तथा 'पत्रावली' नामक नान्दी है (देखिये सं० व्याख्या तथा टिप्पणी) । नान्दी-पाठ सूत्रधार करता है और किसी २ नाटक में नान्दी पाठ के पश्चात् चला जाता है तथा दूसरा प्रधान नट जिसे स्थापक[३] कहते हैं कवि और कृति आदि का परिचय देता है । मृच्छकटिक में सूत्रधार ही स्थापना का कार्य करता है । यह सूत्रधार भारतीवृत्ति का आश्रय लेकर कवि का परिचय देता हुआ काव्यार्थ की सूचना देता है ।[४] नट का वह वाग्व्यापार जो अधिकांश संस्कृत भाषा में होता है भारतीयवृत्ति कहलाता है । भारतीयवृत्ति के चार अङ्ग होते हैं—(१) प्ररोचना, (२) वीथी, (३) प्रहसन और (४) आमुख । प्ररोचना का अभिप्राय है—नाटक आदि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को उसकी ओर आकृष्ट करना ।[५] मृच्छकटिक में 'एतत्कवि किल शूद्रको नृपः १।३ यह प्ररोचना है । इसमें कवि की प्रशंसा है तथा काव्यार्थ की सूचना भी दी गई हैं । आमुख को प्रस्तावना भी कहते हैं । इसमें सूत्रधार नटी, पारिपार्श्विक या विदूषक के साथ वार्तालाप करता हुआ विचित्र उक्तियों के द्वारा अभिनेय वस्तु की ओर संकेत कर दिया करता है किसी प्रमुख पात्र के प्रवेश की सूचना भी दे देता है ।[६] प्रस्तुत रूपक में सूत्रधार अपनी पत्नी नटी के साथ वार्तालाप करते हुए प्रकृत वस्तु की ओर कतिपय संकेत करता है,[७] और मैत्रेय के प्रवेश की सूचना भी देता है । दशरूपक के अनुसार

---

१. यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ सा० द० ६।२२. २३ ।

२. पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत । वही० ६।२५

३. पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते ।
प्रविश्य स्थापकस्तद्वत् काव्यमास्थापयेत् ततः । वही ६।२६ ।

४. मि० वही; ६/२८. ५. वही, ६/२९ ।

६. देखिये, सं० व्याख्या ।

७. देखिये, टिप्पणी पृ० ४५/४ ।

यह प्रस्तावना तीन प्रकार की होती है—कथोद्‌घात, प्रवृत्तक और प्रयोगातिशय (३।८–९)। साहित्यदर्पण के अनुसार प्रस्तावना के पाँचप्र कार होते हैं—उद्‌घात्यक, कथोद्‌घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित। यहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है (देखिये, टिप्पणी पृ० ४५५)। अभिनेय वस्तु की सूचना देकर अथवा नाटकीय पात्र का प्रवेश कराने के पश्चात् सूत्रधार रङ्गमञ्च से चला जाता है और प्रस्तावना समाप्त हो जाती है।

प्रस्तावना के पश्चात् वास्तविक नाटकीय कार्य आरम्भ होता है। इसमें दो प्रकार की घटनाओं को प्रस्तुत किया जाता है। १. दृश्य, २. सूच्य। १. दृश्य वे सरस घटनाएँ है जिनका नायक से सम्बन्ध होता है और जिनका रङ्गमञ्च पर अभिनेय करना होता है। ऐसी घटनाओं का समावेश अङ्कों में किया जाता है। प्रत्येक अङ्क में प्रायः एक ही दिन में एक ही प्रयोजन से किए गए कार्यों का समावेश होता है।[1] २. सूच्य—वे घटनायें होती हैं जो नीरस होती है, दो दिन से लेकर वर्षपर्यन्त चलने वाली होती हैं तथा अङ्कों में दर्शनीय नहीं होती। यदि कथा-प्रवाह आदि के लिये आवश्यक, होता है तो ऐसी घटनाओं की अर्थोपक्षेपकों (अर्थ की सूचना देने वाले अंश) के द्वारा सूचना मात्र दी जाती है।[2] ये अर्थाक्षेपक पाँच प्रकार के होते हैं—१. विष्कम्भक २. प्रवेशक, ३. चूलिका, ४. अङ्कावतार और ५. अङ्कमुख।[3]

विष्कम्भक इत्यादि का विशद विवेचन साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में किया गया है।[4] इनमें से चूलिका (नेपथ्य से वस्तु की सूचना) का मृच्छकटिक में यत्र-तत्र पर्याप्त प्रयोग किया गया है; किन्तु अन्य विभाजन की ओर ध्यान नहीं दिया गया। कारण यह है कि नाटकों के रचना-विधान का यह सूक्ष्म विभाजन मृच्छकटिक के रचना-काल में इतना प्रचलित नहीं हुआ था।

संस्कृत नाटकों की समाप्ति भी मङ्गलपाठ, से होती है। अन्त के मङ्गलपाठ को 'भरतवाक्य' कहा जाता है। 'भरत' का अर्थ नट होता है। किसी प्रमुख नट द्वारा 'भरतवाक्य' का पाठ किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रथम आचार्य के नाम पर इस अन्तिम प्रशस्ति का नाम भरतवाक्य रख दिया गया है। इस प्रशस्ति में आश्रयदाता राजा या स्वयं कवि के कल्याण की कामना की जाती है अथवा सामान्यतः प्रजामात्र के कल्याण की कामना की जाती है। मृच्छकटिक के भरतवाक्य में व्यापक रूप से प्राणीमात्र के कल्याण की कामना की गई है—'जन्मभाजः मोदन्ताम्'। साथ ही ब्राह्मणों के सदाचारी होने और राजाओं के धर्मनिष्ठ होकर भूमि-पालन करने की कामना है।

५. मृच्छकटिक की कथावस्तु—

(क) संक्षिप्त कथा—मृच्छकटिक नामक प्रकरण चारुदत्त और वसन्तसेना की कल्पित प्रेम-कथा के आधार पर लिखा गया है। 'चारुदत्त' उज्जयिनी का एक

---

१. दशरूपक ३.३६। २. साहित्यदर्पण ६.५१-५३।

३. वही ६.२८। ४. वही, ६.५५-६१।

सम्मानित ब्राह्मण है जो दरिद्र है। वसन्तसेना उज्जयिनी की एक गणिका है जो रूपवती एवं गुणवती है; किन्तु धन की अभिलाषा नहीं रखती तथा चारुदत्त से प्रेम करती है। संक्षेप में कथानक इस प्रकार है[1]—

अङ्क १—चारुदत्त के मित्र जूर्णवृद्ध का दिया हुआ शाल लेकर विदूषक (मैत्रेय) आता है। तभी चारुदत्त विदूषक से चौराहे पर देवियों को बलि देने के लिये जाने को कहता है किन्तु विदूषक आनाकानी करता है और चारुदत्त दरिद्रता के दोषों का स्मरण करने लगता है। तब चारुदत्त रदनिका (सेविका) को साथ लेकर जाने के लिये तैयार होता है। इसी समय राजमार्ग में विट शकार आदि के द्वारा पीछा की जाती हुई वसन्तसेना चारुदत्त के घर के समीप आ जाती है और घर में प्रवेश करती है। जब विदूषक और रदनिका बाहर जाते हैं तो शकार रदनिका को वसन्तसेना जानकर पकड़ लेता है और विट के कहने से छोड़ता है। वसन्तसेना किसी भावी लाभ की आशा से अपने आभूषण चारुदत्त के घर रख देती है तथा चारुदत्त उसे घर पहुँचा आता है।

अङ्क २—वसन्तसेना अपनी चेटी मदनिका के साथ चारुदत्त सम्बन्धी वार्तालाप कर रही है। इसी समय संवाहक आता है। जुआरी और द्यूतकरों का मुखिया (माथुर) उसका पीछा करते हुए आते हैं। वसन्तसेना अपना स्वर्णाभूषण देकर संवाहक को छुडाती है। संवाहक विरक्त होकर बौद्ध-भिक्षु बन जाता है। वसन्तसेना का उन्मत्त हाथी मार्ग में उसे पकड़ लेता है तथा वसन्तसेना का सेवक कर्णपूरक को पुरस्कार स्वरूप अपना दुशाला देता है।

अङ्क ३—चारुदत्त और मैत्रेय संगीत सुनकर आते हैं। वे घर में आकर सो जाते हैं। इधर मदनिका को दासता से मुक्त कराने के लिये शर्विलक चारुदत्त के घर सेंध लगता है और वसन्तसेना के आभूषणों को चुराकर ले जाता है।

अङ्क ४—प्रातःकाल शर्विलक आभूषण लेकर मदनिका के पास आता है। ये आभूषण चारुदत्त के घर से चुराये गये हैं, यह जानकर मदनिका दुःखी होती है और उन आभूषणों को निपुणतापूर्वक वसन्तसेना को दिला देती है। वसन्तसेना मदनिका को सेवामुक्त कर देती है। उधर चारुदत्त की पतिव्रता स्त्री धूता अपनी रत्नावली चारुदत्त को दे देती है और चारुदत्त उसे विदूषक के द्वारा वसन्तसेना के घर भेज देता है।

अङ्क ५—वसन्तसेना विट तथा चेटी के साथ चारुदत्त के प्रति अभिसरण करती है। यह दुर्दिन है; घनान्धकार, मेघ गर्जना; वर्षा की झड़ी और विद्युत् की कड़क। चारुदत्त उसकी प्रतीक्षा में है। वह भीगी हुई वहाँ पहुँचती है और रात्रि में विश्राम करती है।

---

१. प्रत्येक अङ्क की विस्तृत कथा उस अङ्क की टिप्पणियों के आरम्भ में दी गई है।

अङ्क ६—प्रातःकाल चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में चला जाता है। इधर रदनिका चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को लेकर वसन्तसेना के पास आती है। रोहसेन सोने की गाड़ी पाने के लिये आग्रह कर रहा है और वसन्तसेना अपने आभूषणों को उसकी मिट्टी की गाड़ी में लाद देती है। तब वह भी पुष्पकरण्डक उद्यान में जाने को तैयार होती है; किन्तु भ्रमवश चारुदत्त की गाड़ी के बदले समीप खड़ी हुई शकार की गाड़ी में बैठ जाती है। इसी समय पालक द्वारा बन्दी बनाया गया आर्यक भाग-कर आता है और चारुदत्त की गाड़ी को खाली पाकर उसमें बैठ जाता है। गाड़ीवान् यह समझता है कि वसन्तसेना बैठ गई है और गाड़ी को ले जाता है। मार्ग में दो रक्षक चन्दनक और वीरक गाड़ी को रोकते हैं। चन्दनक आर्य को देखकर रक्षा का वचन देता है और जब वीरक भी गाड़ी को देखना चाहता है तो झगड़ा करने लगता है।

अङ्क ७—आर्यक उद्यान में पहुँचता है। चारुदत्त उसे देखता है और उसे प्रेमपूर्वक विदा कर देता है।

अङ्क ८—भिक्षु उद्यान में आता है। शकार उसे पीटने को उद्यत है। वह किसी प्रकार बचकर चला जाता है। इसी समय वसन्तसेना उद्यान में पहुँचती है। उसे देखकर शकार प्रणय-प्रस्ताव करता है। वह उसे स्वीकार नहीं करती तो वह वसन्तसेना का गला घोट देता है और उसे सूखी पत्तियों में दबाकर भाग जाता है। बौद्ध भिक्षु वहाँ आता है और वसन्तसेना को पुनर्जीवित करता है।

अङ्क ९—शकार न्यायालय में जाता है और चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का अभियोग लगाता है। दुर्दैवात् अभियोग सिद्ध हो जाता है और चारुदत्त को मृत्यु-दण्ड दिया जाता है।

अङ्क १०—चाण्डाल चारुदत्त को श्मशान में ले जाते हैं। विदूषक तथा रोहसन भी वहाँ पहुँच जाते हैं। फाँसी लगने को है कि भिक्षु वसन्तसेना को लेकर वहाँ पहुँच जाता है। इधर पालक को मारकर आर्यक राजा बनता है और उसका मित्र शर्विलक भी श्मशान भूमि में पहुँच जाता है। चारुदत्त के स्थान पर शकार को फाँसी का दण्ड दिया जाता है। किन्तु चारुदत्त उसे क्षमा करा देता है। राजा वसन्तसेना को वधू शब्द से अलङ्कृत कर देता है और चारुदत्त तथा वसन्तसेसा का विवाह हो जाता है।

संक्षेप में मृच्छकटिक की महत्त्वपूर्ण घटनायें ये हैं—(१) वसन्तसेना का आभूषण-न्यास, (२) वसन्तसेना द्वारा शकार की अवहेलना, (३) शर्विलक द्वारा आभूषणों की चौरी और उन आभूषणों का वसन्तसेना पर पहुँच जाना, (४) संवाहक का वसन्तसेना से परिचय, (५) आभूषणों के बदले में चारुदत्त द्वारा रत्नावली का भेजा जाना, (६) वसन्तसेना का अभिसरण, (७) रोहसेन की मिट्टी की गाड़ी को आभूषणों से लादन, (८) प्रवहरण-विपर्यंक; जिसके कारण आर्यक की रक्षा हुई तथा

वसन्तसेना का गला घोटा गया, (९) संवाहक द्वारा वसन्तसेना का पुनरुज्जीवन, (१०) शकार द्वारा चारुदत्त पर लगाया गया वसन्तसेना की हत्या का अभियोग और उसकी सिद्धि। (११) चारुदत्त को फांसी देने की तैयारी किन्तु अकस्मात् वसन्तसेना को लेकर भिक्षु का आगमन और शर्विलक का आगमन।

(ख) मृच्छकटिक की कथावस्तु का मूलस्रोत—

(i) भास का चारुदत्त नाटक—मृच्छकटिक की कथावस्तु के दो अंश हैं—एक तो चारुदत्त और वसन्तसेना का प्रेम और दूसरा आर्यक की राज्य प्राप्ति। भास के 'चारुदत्त' नाटक की उपलब्धि हो जाने पर विद्वानों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि शूद्रक ने कथावस्तु का प्रथम अंश 'चारुदत्त' से लिया है। चारुदत्त और मृच्छकटिक के कथांश में बहुत अधिक समानता है। वहाँ शब्दतः और अर्थतः दोनों प्रकार की समता है। 'चारुदत्त' में चार अङ्क हैं। संक्षेप में 'चारुदत्त' की रूपरेखा यह है—

'चारुदत्त' नाटक के आरम्भ में नान्दी पाठ नहीं है। सूत्रधार और नटी के संवाद से ही नाटक आरम्भ हो जाता है। इसके चार अङ्कों की कथा प्रायेण मृच्छकटिक के आरम्भ के चार अङ्कों की कथा से मिलती है। इनमें चारुदत्त, विदूषक, शकार, विट, संवाहक, चेट (मृच्छकटिक का कर्णपूरक), और सज्जलक (मृच्छकटिक का शर्विलक)—ये पुरुष पात्र हैं। वसन्तसेना, ब्राह्मणी (धूता), रदनिका (चारुदत्त की चेटी) और मदनिका (वसन्तसेना की सखी तथा चेटी)—ये स्त्री पात्र हैं। नाटक के अन्त में वसन्तसेना मदनिका को सज्जलक के साथ विदा करती है और फिर आभूषणों के साथ चारुदत्त के प्रति अभिसरण का प्रस्ताव करती है।

मृच्छकटिक प्रकरण में प्रत्येक पृष्ठ पर चारुदत्त के श्लोक, संवाद तथा उक्तियाँ ज्यों की त्यों दृष्टिगोचर होती हैं। यह कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक के ये चार अङ्क चारुदत्त नाटक का रूपान्तर मात्र हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि चारुदत्त नाटक में जिस सन्दर्भ का सरल तथा संक्षिप्त रूप से वर्णन किया गया है, मृच्छकटिक में उसका विस्तारपूर्वक कुछ अलङ्कृत शैली में वर्णन किया गया है। इस आधार पर अधिकांश विद्वानों ने यह निर्धारित किया है कि मृच्छकटिक चारुदत्त नाटक का परिवर्द्धित रूपान्तर है। इसकी मुख्य कथा का मूल स्रोत चारुदत्त नाटक है। मृच्छकटिककार ने उसकी कथा में 'वृहत्कथा' से ली गई राज्य विप्लव की कथा को कल्पनाओं से रंग कर जोड़ दिया है।

(ii) बृहत्कथा अथवा प्रचलित लोक कथा—'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' की समानता में किसी को आपत्ति नहीं है तथापि अनेक विद्वानों का विचार है कि 'चारुदत्त' नाटक को मृच्छकटिक की कथा का मूल स्रोत नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि अभी यही सन्देहास्पद है कि उपलब्ध 'चारुदत्त' नाटक भास की कृति है? कुछ समालोचकों का कथन है कि 'चारुदत्त' नाटक मृच्छकटिक के आरम्भिक चार अङ्कों

का एक ऐसा रूपान्तर है जो रङ्गमञ्च के योग्य बना लिया गया है।[1] अथवा भास रचित कोई 'दरिद्रचारुदत्त' नामक नाटक था। उसका ही संक्षिप्त संस्करण 'चारुदत्त' नाटक है। दूसरे आलोचक कहते हैं कि 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' दोनों ही भास की रचनायें है। यदि इन मतों को सत्य माना जाता है तो 'चारुदत्त' नाटक मृच्छकटिक की कथा स्रोत नहीं हो सकता। तब इसकी कथा का स्रोत क्या होगा? यद्यपि सोमदेव के 'कथासरित्सागर' में 'रूपणिका' और एक निर्धन ब्राह्मण के प्रणय की कथा है तथा दण्डी के 'दशकुमारचरित' में एक ब्राह्मण के साथ 'रागमञ्जरी' के प्रेम का वर्णन किया गया है तथापि इनको तो मृच्छकटिक की कथा का मूल नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सोमदेव का समय एकादश शतक है तथा दण्डी का सप्तम शतक। मृच्छकटिक इन दोनों से अवश्य ही प्राचीन हैं। फिर ये ग्रन्थ मृच्छकटिक कथा के आधार कैसे हो सकते हैं हाँ यदि यह माना जाये कि सोमदेव का कथासरित् सागर गुणाढ्य की बृहत्कथा का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है तो मृच्छकटिक की कथा का मूल स्रोत 'बृहत्कथा' को ही माना जा सकता है अथवा 'बृहत्कथा' की कहानियों के समान ही कुछ लोक कथायें भी प्रचलित रही होंगी। वे लोककथायें ही मृच्छकटिक की कथावस्तु का मूलस्रोत मानी जा सकती हैं। राज्य-विप्लव वाले कथांश का मूल स्रोत भी बृहत्कथा में ही माना जाता है।

समालोचकों का कथन है कि चारुदत्त नाटक को मृच्छकटिक के चार अङ्कों का सारभूत नाटक नहीं कहा जा सकता। दोनों की भाषा तथा शैली का अनुशीलन करने से यह स्पष्टतया विदित होता है कि 'चारुदत्त, नाटक ही प्राचीन है। मृच्छकटिक में सर्वत्र ही 'चारुदत्त' की अपेक्षा परिष्कृत भाषा है, उदात्त भावनायें हैं और विकसित विचार हैं। मृच्छकटिक की प्राकृत भी चारुदत्त की प्राकृत की अपेक्षा अर्वाचीन है। यदि चारुदत्त नाटक मृच्छकटिक के आधार पर रचा गया होता तो इसकी कहानी पूर्ण हुई होती। यह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं कि दोनों के रचयिता भास ही हैं। भास ने एक ही कथावस्तु को लेकर दो नाटक क्यों रचे? एक को अधूरा ही क्यों छोड़ दिया? इन प्रश्नों का उत्तर मिलना कठिन ही है। चारुदत्त और मृच्छकटिक दोनों कृतियों का आधार 'दरिद्रचारुदत्त' नामक नाटक ही रहा होगा। इस कल्पना में भी कोई प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः यही युक्तिसंगत है कि 'चारुदत्त' नाटक मृच्छकटिक से प्राचीन है और वही मृच्छकटिक की कथा का आधार है।

ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्रक ने 'चारुदत्त' नाटक की कथा को अपूर्ण पाया और उसने इसको पूर्ण करने के लिये इसमें ६ अङ्क और जोड़ दिये। अपनी कृति

---

१. I need only assert here my view that the Charudatta is abridged from the first four acts of the Mrcchakatika, with a few additions and numerous alterations particularly in the verse portions. सी० आर० देवधर, चारुदत्त Introduction, पृ० ५.

को रोचक एवं ग्राह्य बनाने के लिये मूलकथा में भी यत्र तत्र परिवर्तन किये, भाषा को परिष्कृत एवं अलङ्कृत किया। शूद्रक ने भास की सादी शैली के स्थान पर अपेक्षाकृत आकर्षक एवं परिष्कृत अभिव्यञ्जना शैली का प्रयोग किया। मृच्छकटिक के अनेक स्थलों में यह बात स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

चारुदत्त	मृच्छकटिक
१. स्वरान्तरेण दक्षा हि व्याहर्तुं तन्न मुच्यताम्।	वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता।
२. उत्कण्ठितस्य हृदयानुगता सखीव।	उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या।
३. शतसहस्रमूल्या	चतुःसमुद्रसारभूता।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि शूद्रक ने भास के वाक्यों में नवीन प्राण-प्रतिष्ठा की है उनके भाव को अधिक मार्मिक बना दिया है। यही नहीं शूद्रक ने कथा में भी अनेक नवीन उद्भावनायें की हैं।

(ग) मूल कथानक में नवीन उद्भावनायें और उनका नाटकीय प्रभाव— 'चारुदत्त' के कथानक को अधिक रोचक तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिये शूद्रक ने उसमें कतिपय परिवर्तन किये हैं। साथ ही कुछ नवीव कल्पनायें भी की हैं—(१) चारुदत्त नाटक में यह नहीं दिखाया गया कि विदूषक किस कारण से चारुदत्त के घर जाता है, किन्तु मृच्छकटिक में बतलाया गया है कि वह जूर्णवृद्ध के दिये गये शाल को लेकर जाता है। (२) 'चारुदत्त' में वसन्तसेना विदूषक के साथ घर लौटती किन्तु मृच्छकटिक में चारुदत्त भी वसन्तसेना के साथ जाता है। (३) मृच्छकटिक के द्वितीय अङ्क में द्यूत का विशद वर्णन है वह 'चारुदत्त' में उपलब्ध नहीं होता। इससे शूद्रक की मौलिक प्रतिभा तथा बहुज्ञता प्रकट होती है तथा रोचकता बढ़ जाती है। (४) 'चारुदत्त' में—विदूषक के रत्नावली अर्पित करने के पश्चात् सज्जलक वसन्तसेना के यहाँ जाता है किन्तु मृच्छकटिक में पहले शर्विलक जाता है, मदनिका विदा हो जाती है और तब विदूषक रत्नावली को लेकर पहुँचता है। इससे चारुदत्त की उदारता का वसन्तसेना के हृदय पर गहन प्रभाव पड़ता है और वह तत्काल ही अभिसरण के लिये उद्यत हो जाती है। (५) चारुदत्त में वसन्तसेना के भवन का वर्णन केवल चार पंक्तियों में किया गया है किन्तु 'मृच्छकटिक' में इसका अत्यन्त विशद एवं रोचक वर्णन किया गया है। (६) आर्यक और पालक की कथा तो शूद्रक की नितान्त नवीन एवं मौलिक कल्पना है। चारुदत्त में इसका संकेत भी नहीं मिलता। मृच्छकटिक के द्वितीय अङ्क में ही इसका उल्लेख किया गया है तथा इसका पूर्णतया वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त शूद्रक ने कथावस्तु में कुछ अन्य भी छोटे-छोटे परिवर्तन किये हैं। शैली और नाटकीय रचना-विधान में भी नवीनता दिखलाई है। उदाहरणार्थ 'चारुदत्त' में सूत्रधार केवल प्राकृत भाषा में बोलता है; किन्तु मृच्छकटिक में वह संस्कृत में बोलना आरम्भ करता है और कार्यवशात् प्राकृत में बोलने लगता है।

परिवर्तनों का नाटकीय प्रभाव—इन सभी परिवर्तनों से मूल कथा की प्रभावोत्पादकता बढ़ गई है। इनसे प्रतीत होता है कि शूद्रक में एक मौलिक कवि-प्रतिभा थी और उसकी निरीक्षण शक्ति सूक्ष्म थी तथा वह नाटच-कला का मर्मज्ञ था। चारुदत्त के वसन्तसेना के घर जाने की घटना से चारुदत्त के प्रेम की गहनता प्रकट होती है यद्यपि रङ्गमञ्च पर इतनी लम्बी यात्रा का प्रदर्शन कठिन अवश्य है। द्यूत का विशद वर्णन तथा वसन्तसेना के भवन का वर्णन सहृदय जनों के हृदय में कौतूहल उत्पन्न करता है और एक हास्य मिश्रित चमत्कार की अनुभूति कराता है। शर्विलक के गमन के अनन्तर विदूषक के आगमन का वर्णन करने से वसन्तसेना के अनुराग को भी पोषण मिलता है, अन्यथा मदनिका की विदाई की घटना का ही प्रभाव हृदय पर बना रहता।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है:—यद्यपि शूद्रक ने मौलिक कथावस्तु का निर्माण नहीं किया तथापि उसने 'चारुदत्त' के आधार पर एक अनूठी कथावस्तु की रचना कर डाली। उसकी विशेषता यही है कि उसने एक अधूरी कथा से बंधे रहकर भी उसमें उचित घटनाओं का समावेश किया तथा उसे स्वाभाविक गति प्रदान की। यही उसका रचना-कौशल है, इसी अंश में उसकी मौलिकता है। अन्तिम ६ अङ्कों की कथा तो शूद्रक की निजी उद्भावना ही है। इससे शूद्रक की प्रतिभा का परिचय मिलता है। इससे प्रकट होता है कि शूद्रक में मौलिक कथावस्तु के निर्माण की अनूठी प्रतिभा थी। यदि शूद्रक ने कोई स्वतन्त्र रचना की होती तो उसे अनूठी सफलता प्राप्त होती है, इसमें सन्देह नहीं। अब भी शूद्रक का कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय है। उसका मृच्छकटिक साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से चारुदत्त से कहीं बढ़कर है। डा० कीथ का कथन है—The value of the play (चारुदत्त) must seem less to us than completed and elaborated in the Mrcchakatika.

(घ) मृच्छकटिक की घटनाओं का स्थान तथा समय—मृच्छकटिक की घटनाओं का स्थान उज्जयिनी नगरी है; किन्तु इन घटनाओं का आरम्भ किस दिन हुआ यह नाटक में स्पष्टतः नहीं बतलाया गया। इसका निर्धारण करने के लिये हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। प्रथम अङ्क में शकार कहता है 'एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानाद् प्रभृति' इत्यादि। इससे प्रकट होता है कि कामदेव के उत्सव के पश्चात् ही इस नाटक की घटनाओं का समय है। कामदेव का उत्सव वही होना चाहिये; जो कि 'वसन्तोत्सव' या 'मदनोत्सव' नाम से प्रसिद्ध है और रत्नावली नाटिका इत्यादि में जिसका उल्लेख किया गया है। यह उत्सव वसन्त ऋतु के आगमन के समय माघशुक्ला ५ [वसन्तपञ्चमी] को मनाया जाता है। इसके पश्चात् ही नाटक की घटनाओं का समय है। कितने समय पश्चात्? यह निर्धारित करने के लिए भी मृच्छकटिक के कुछ वर्णनों का सहारा लेना आवश्यक है। प्रथम अङ्क में सिद्धीकृत-देवकार्यस्य' (पृ० १४) के स्थान पर षष्ठीव्रतकृतदेवकार्यस्य' भी पाठ मिलता है।

उससे विदित होता है कि जिस दिन वसन्तसेना प्रथम वार चारुदत्त के घर गई वह 'षष्ठी' रही होगी। किन्तु वह माघशुक्ला षष्ठी नहीं हो सकती; क्योंकि प्रथम तो अनुराग के परिपाक के लिये कुछ समय अपेक्षित है अतः वसन्तपञ्चमी से अग्रिम दिन ही वह नहीं हो सकता। प्रथम अङ्क की कथा से यह प्रतीत होता है कि उस समय वसन्तसेना चारुदत्त में भली भाँति अनुरक्त थी। दूसरे जब चारुदत्त वसन्तसेना को पहुँचाने के लिये जाता है तब वह चन्द्रोदय का वर्णन करता है—'कृतं प्रदीपिकाभिः ....उदयति हि शशाङ्कः।" इत्यादि (पृ० ६४)। उस समय राजमार्ग शून्य हो चुके थे, पर्याप्त रात्रि वीत चुकी थी, लगभग ११ वजे का यह समय होगा वह शुक्लपक्ष की षष्ठी नहीं हो सकती। इससे सिद्ध होता है कि वह माघ से अग्रिम मास (फाल्गुण) में कृष्णपक्ष की पष्ठी रही होगी। यहाँ प्रश्न यह है कि वसन्तपञ्चमी से १५ दिन पश्चात् ही नाटक की घटनाओं का आरम्भ क्यों माना जाये, डेढ़ मास या ढाई मास पश्चात् क्यों नहीं ? उत्तर स्पष्ट है कि जब मृच्छकटिक की घटनाओं का आरम्भ हुआ तब वसन्त ऋतु थी, ग्रीष्म ऋतु नहीं आई थी, क्योंकि (१) 'मारुताभिलाषी प्रदोषसमयशीतार्तो रोहसेनः।' इत्यादि में शीत काल दिखलाया गया है (२) जब लगभग १५ दिन पश्चात् विदूषक वसन्तसेना के घर जाता है तब भी वह 'नवनिर्गम-कुसुमपल्लव अशोकवृक्षः' (पृ० १८४) को देखता है और अशोक वृक्ष वसन्त में ही कुसुमित होता है। (३) वसन्तसेना जाती पुष्पों से सुवासित शाल को देखकर आश्चर्य करती है, कारण यह है कि वसन्त ऋतु में जाती पुष्पों का प्रायः अभाव ही होता है—'न स्याज्जाती वसन्ते।' (सा० द० ७.२५) इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि नाटक की घटना फाल्गुन कृष्णा षष्ठी को आरम्भ हुई है। समस्त घटनाओं का स्थान तथा समय निम्न प्रकार रहा होगा—

अङ्क १—घटनाओं का स्थान राजमार्ग तथा चारुदत्त का घर है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इनका समय फाल्गुन कृष्णा षष्ठी है। प्रदोष काल के अन्धकार (एतस्यां प्रदोषलायां पृ० २२ तथा लिम्पतीव तमोऽङ्गानि पृ० ६६) में लगभग ८ बजे से इस अङ्क की घटनाएँ आरम्भ होती हैं तथा वसन्तसेना के घर लौटने पर समाप्त होती हैं। यह समय चन्द्रोदय का (लगभग) ११ वजे रहा होगा।

अङ्क २—द्वितीय अङ्क की घटनाओं का स्थान राजमार्ग तथा वसन्तसेना का घर है। सम्भवतः इनका समय प्रथम अङ्क का दूसरा दिन है, क्योंकि वही जातीपुष्प वासित शाल चारुदत्त द्वारा कर्णपूरक को दिया जाता है और वह तभी तक सुगन्ध युक्त है। ये घटनाएँ प्रातःकाल आरम्भ होती हैं, जब कि वसन्तसेना स्नान करने को है। (स्नाता भूत्वा देवतानां पूजां निर्वर्तय पृ० ६६)। संवाहक का आना, भिक्षु रूप धारण करना तथा कर्णपूरक द्वारा हाथी से उसकी रक्षा किया जाना आदि कार्यों के लिये ४ घण्टे के लगभग समय चाहिये, अतः इस अङ्क की घटनाओं का समाप्ति काल लगभग मध्याह्न १२ वजे तक है।

अङ्क ३—तृतीय अङ्क की घटनाओं का स्थान चारुदत्त का घर है। ये प्रथम अङ्क की घटनाओं से लगभग १५ दिन बाद की हैं। जब चारुदत्त संगीत सुनकर लौटता है तो उस समय अर्ध रात्रि व्यतीत हो रही है। (अतिक्रामति अर्धरजनी पृ० १०६)। इसी समय चन्द्रमा अस्त हो रहा है (अस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दुः पृ० ११०)। अर्ध रात्रि के पश्चात् चन्द्र के अस्त होने से प्रकट होता है कि शुक्ल पक्ष 'की अष्टमी होनी चाहिये। लगभग रात्रि के १ बजे से इस अङ्क की घटनाएँ आरम्भ होती हैं और प्रातःकाल तक चलती रहती हैं, जबकि चारुदत्त वर्धमानक से सेंध बन्द करने को कहता है।

अङ्क ४—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान वसन्तसेना का घर है। चोरी की रात्रि के दूसरे दिन (अर्थात् फाल्गुन शुक्ला नवमी) की ही ये घटनाएँ प्रतीत होती हैं। पूर्वाह्ण में (लगभग ८ बजे) शर्विलक मदनिका को मुक्त कराने के लिये वसन्तसेना के घर जाता है। इसकी विदाई के पश्चात् विदूषक आता है। इन कार्यों के लिये २ से ४ घण्टे तक का समय चाहिए। विदूषक के लौटते समय वसन्तसेना प्रदोष वेला में चारुदत्त के यहाँ जाने की बात कहती है (अहमपि प्रदोषे आर्यं प्रेक्षितुमागच्छामि' पृ० १८६)।

अङ्क ५—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान राजमार्ग तथा चारुदत्त का घर है। चतुर्थ अङ्क के दिन ही प्रदोष वेला में ये घटनाएँ प्रारम्भ होती हैं और प्रायः अर्ध-रात्रि तक इनका समय है।

अङ्क ६—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान राजमार्ग है। पञ्चम अङ्क की कथा के दूसरे दिन (फाल्गुन शुक्ला दशमी) प्रभात में ही वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में जाने को उद्यत है। प्रवहणविपर्यय, वीरक-चन्दनक का कलह तथा आर्यक के पलायन आदि के पश्चात् उद्यान तक पहुँचने के लिये लगभग तीन घण्टे चाहियें अतः इनका समय लगभग १० बजे तक हो सकता है।

अङ्क ७—इस अङ्क की घटना का स्थान पुष्पकरण्डक उद्यान है। षष्ठ अङ्क की घटनाओं के अनन्तर ही चारुदत्त की गाड़ी आर्यक को लेकर चारुदत्त के पास पहुँच जाती है। इसके लिये अधिक से अधिक एक घण्टा पर्याप्त है, अतः लगभग दिन के ११ बजे तक का इसका समय होना चाहिये।

अङ्क ८—इसकी घटनाओं का स्थान भी पुष्पकरण्डक उद्यान है। षष्ठ अङ्क की घटना के अनन्तर ही चारुदत्त उद्यान से चला जाता है और भिक्षु उद्यान में प्रवेश करता है। अतः घटनाएँ उसी दिन (फाल्गुन शुक्ला दशमी) की है। इसका आरम्भ मध्याह्न में होता है (नभोमध्यगतः सूर्यः पृ० २८६)। गाड़ी का आना वसन्तसेना-मोटन तथा उसका पुनरुज्जीवन इत्यादि घटनाओं के लिये लगभग ४ घण्टे आवश्यक हैं अतः ये घटनाएँ लगभग अपराह्ण चार बजे तक की हो सकती हैं।

अङ्क ९—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान न्यायालय है। ये घटनाएँ अष्टम अङ्क की घटनाओं के दूसरे दिन (फाल्गुन शुक्ला एकादशी) की हैं, क्योंकि वीरक

कहता है—'अनुशोचत इयं कथमपि रात्रिः प्रभाता मे' (पृ० ३६२)। किन्तु भिक्षुक के कथन से इस बात का समर्थन नहीं होता। उससे तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसी दिन की के घटनाएँ हों। प्रायः पूर्वाह्न में लगभग ८ बजे व्यवहार-श्रवण का कार्य आरम्भ होता है। निर्णय में लगभग दो घण्टे का समय लगना चाहिये अतः १०, ११ बजे तक इन घटनाओं का समय है।

अङ्क १०—इस अङ्क की घटनाओं का स्थान राजमार्ग, वधस्थान तथा राज-प्रासाद के दक्षिण की भूमि (धूता के अग्नि प्रवेश का दृश्य) है। नवम अङ्क की घट-नाओं के दिन ही ये घटनाएं घटित हुई हैं। चारुदत्त को मृत्युदण्ड सुनाया जाता है और उसे चाण्डालों को सौंप दिया जाता है—यह नवम अङ्क की घटना है। इसके कुछ समय के पश्चात् चाण्डाल चारुदत्त को लेकर वधस्थान की ओर जाते हैं। सम्भ-वतः दिन के बारह बजे से चार बजे तक की ये घटनाएँ हैं क्योंकि इनके लिये लगभग चार घण्टे का समय चाहिये।

(ङ) मृच्छकटिक की कथावस्तु का नाट्यशास्त्र की दृष्टि से विवेचन—

रूपक प्रवन्ध में वस्तु या इतिवृत्त दो प्रकार का हुआ करता है—(१) आधि-कारिक (२) प्रासङ्गिक। अधिकारी का अभिप्राय है—फल का स्वामी होना। जिसे फलप्राप्ति होती है वह अधिकारी है। उस अधिकारी (प्रधान नायक) से सम्बद्ध इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है। आधिकारिक इतिवृत्त की सहायक वस्तु प्रासङ्गिक कहलाती है।[1] मृच्छकटिक में चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम की कथा आधिकारिक (मुख्य) है तथा राजा पालक और आर्यक की कथा प्रासङ्गिक है। प्रासङ्गिक कथा दो प्रकार की होती है—पताका और प्रकरी। जो प्रासङ्गिक वृत्त मुख्य कथा के साथ दूर तक चलता रहता है (व्यापक) उसे पताका कहते हैं[2] तथा जो प्रासङ्गिक वृत्त छोटा होता है उसे प्रकरी कहते हैं।[3]। इनके साथ मुख्य कथा के विकास के लिये तीन तत्त्व आवश्यक हैं—वीज, बिन्दु और कार्य इन पाँचों को नाट्यशास्त्र में 'अर्थप्रकृति' कहा जाता है। इनमें से बीज, बिन्दु और कार्य प्रत्येक रूपक-प्रवन्ध में अनिवार्य हैं किन्तु पताका और प्रकरी का होना अनिवार्य नहीं है।

कार्य का हेतु जो वृत्त अत्यन्त अल्पमात्रा में कहा जाता है तथा अनेक प्रकार से विकसित हुआ करता है वह 'बीज' कहलाता है।[4] मृच्छकटिक के प्रथम अङ्क में शकार की इस उक्ति—'एषा गर्भदासी कामदेवायतनाद् प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य अनुरक्ता' से वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति अनुराग प्रकट होता है। यही इस प्रकरण की कथावस्तु का 'बीज' है। किसी अवान्तर घटना के द्वारा विच्छिन्न होती हुई कथा को जोड़ने वाला वृत्त 'बिन्दु' कहलाता है। मृच्छकटिक के द्वितीय अङ्क में

---

१. साहित्यदर्पण; ६.४२-४४।
२. व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते। वही ६, ६७।
३. प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता। वही ६, ६८।
४. वही, ६, ६५-६६।

द्यूतकरों के वर्णन से मूलकथा विच्छिन्न होने लगती है; किन्तु कर्णपूरक से चारुदत्त का प्रावारक पाकर वसन्तसेना प्रसन्न होती है और मूलकथा का तांता जुड़ जाता है। यहाँ कर्णपूरक सम्वन्धी घटना 'विन्दु' है। कथा का अन्तिम उद्देश्य, जिसकी प्राप्ति होते ही समस्त प्रयत्न समाप्त हो जाते हैं 'कार्य' कहलाता है। चारुदत्त का वसन्तसेना को वधू के रूप में स्वीकार करना मृच्छकटिक की कथावस्तु का 'कार्य' है। शर्विलक का वृत्त मूलकथा के साथ बहुत दूर तक चलता है अतः यह मूलकथा की पताका है और भिक्षुक का वृत्तान्त तथा चन्दनक का वृत्तान्त मूल कथा की प्रकरी कहा जा सकता है।

विकास की दृष्टि से कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—(१) **आरम्भ**—जिस में मुख्यफल की प्राप्ति के लिये उत्सुकता दिखलाई जाती है। प्रथम अङ्क में 'आश्चर्यम्! जातीकुसुमवासितः प्रावारकः'—'मन्दभागिनी खल्वहं तवाभ्यन्तरस्य" (पृ० ५६) इत्यादि से वसन्तसेना की उत्सुकता प्रकट होती है तथा—प्रविश गृहमिति प्रतोद्यमाना न चलति भाग्यकृतां दशामवेक्ष्य' इत्यादि में चारुदत्त का औत्सुक्य प्रकट होता है। अतः यहाँ कार्य की आरम्भावस्था है। (२) **प्रयत्न**—फल की प्राप्ति के लिये जो शीघ्रतापूर्वक उपाय किये जाते हैं वह 'प्रयत्नावस्था' कहलाती है। मृच्छकटिक में—अलङ्कार न्यास से लेकर पञ्चम अङ्क के अन्त तक प्रयत्नावस्था है। (३) **प्राप्त्याशा**—उपाय और विघ्नों की आशङ्का होते होते जब फल प्राप्ति की संभावना हो जाती है वह 'प्राप्त्याशा' अवस्था है। यहाँ षष्ठ अङ्क से लेकर दशम अङ्क की वसन्तसेना की इस—आर्या एषा अहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते।' (पृ० ४१६) उक्ति पर्यन्त प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था है। इसमें फलप्राप्ति के प्रति आशा और निराशा बनी रहती है। (४) **नियताप्ति**—विघ्नों के दूर हो जाने पर जब फलप्राप्ति का निश्चय हो जाता है वह 'नियताप्ति' कहलाती है। दशम अङ्क में—'का पुनस्त्वरितमेषांसपतता चिकुरभारेण' (पृ० ४१८) चाण्डाल की इस उक्ति से वसन्तसेना के आगमन की सूचना मिलती है तथा चारुदत्त की प्राणरक्षा होती है। फिर पालक के मारे जाने पर शकार भी शरण में आ जाता है और चारुदत्त धूता को अग्नि में कूदने से बचा लेता है। इस प्रकार समस्त विघ्न दूर होकर फलप्राप्ति का निश्चय हो जाता है। (५) **फलागम**—कार्य की वह अवस्था है जहाँ समग्र फल की प्राप्ति हो जाती है। जब शर्विलक यह घोषणा करता है कि राजा आर्यक वसन्तसेना को वधू पद से सुशोभित करते हैं यही फलागम की अवस्था है।

उपर्युक्त अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं के योग से नाटकीय इतिवृत्त के ५ भाग हो जाते हैं, जिन्हें पाँच सन्धियाँ कहा जाता है।[1] एक प्रयोजन से अन्वित कथाओं का किसी एक अवान्तर प्रयोजन से सम्वन्ध (मेल) होना सन्धि कहलाता है। ये सन्धियाँ पाँच हैं (१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श, (५) उपसंहृति या निर्वहण[2]। (१) **मुखसन्धि**—बीज (अर्थप्रकृति) और आरम्भ (कार्यावस्था) के

१. साहित्यदर्पण: ६, ७४। २. वही, ६, ७५।

संयोग का नाम मुखसन्धि है वहाँ बीज नाना रसों की अभिव्यञ्जना सहित उदित होता है। मृच्छकटिक के प्रथम अङ्क में 'चतुरो मधुरश्चायमुपन्यासः' (पृ० ६२) वसन्तसेना से इस स्वागत कथन पर्यन्त मुखसन्धि है। (२) **प्रतिमुखसन्धि**—जहाँ बीज का उद्‌भेद इस रूप में होता है कि वह कहीं लक्षित होता है कहीं नहीं, वह प्रतिमुख सन्धि है अर्थात् विन्दु और प्रयत्न के संयोग से प्रतिमुख सन्धि होती है। प्रथम अङ्क में 'यद्येवमहमार्यस्यानुग्राह्या' (पृ० ६२) वसन्तसेना की इस उक्ति से लेकर पञ्चम अङ्क के अन्त तक प्रतिमुख सन्धि है। (३) **गर्भसन्धि**—दिखलाई देकर नष्ट हो जाने वाले बीज का बार-बार अन्वेषण गर्भ सन्धि है। यह पताका और प्राप्त्याशा के संयोग से होती है, किन्तु पताका का होना अनिवार्य नहीं है, प्राप्त्याशा तो होती ही है। षष्ठ अङ्क के आरम्भ से दशम अङ्क में चाण्डाल के हाथ से खड्‌ग छूट जाने के पश्चात् वसन्तसेना के 'आर्याः एषा अहं मन्दभागिनी०' इत्यादि कथन तक गर्भसन्धि है। (४) **विमर्शसन्धि**—इसे अवमर्शसन्धि भी कहा गया है। इस सन्धि में गर्भसन्धि की अपेक्षा बीज अधिक विकसित हो जाता है और साथ ही शाप आदि के द्वारा विघ्न-युक्त भी दिखलाई देता है। इसमें प्रकरी नामक अर्थप्रकृति और 'नियताप्ति' (कार्यावस्था) का योग होता है; किन्तु प्रकरी का होना अनिवार्य नहीं है। दशम अङ्क में 'त्वरितं का पुनरेषा०' इत्यादि चाण्डाल की उक्ति से लेकर 'आश्चर्य ! पुनरुज्जी-वितोऽस्मि'—शकार की इस उक्ति तक विमर्श सन्धि है। (५) **निर्वहण सन्धि**—इस से इधर उधर बिखरे हुए अर्थों का एक प्रधान फल में उपसंहार कर दिया जाता है। 'कार्य' (अर्थप्रकृति) और फलागम के मिलन का नाम ही निवर्हण सन्धि है। दशम अङ्क में 'नेपथ्ये कलकलः' से अन्त तक निर्वहण सन्धि है।

नाट्‌य सम्बन्धी ग्रन्थों में इन पाँच सन्धियों के ६४ भेद दिखलाये गये हैं, जिन्हें सन्ध्यङ्ग कहते हैं। उनका विशद विवेचन साहित्यदर्पण तथा दशरूपक इत्यादि ग्रन्थों में किया गया है।

(च) मृच्छकटिक की कथावस्तु की अन्य विशेषतायें—मृच्छकटिक की कथा-वस्तु पाश्चात्य नाट्‌य-कला के अनुरूप प्रतीत होती है। पाश्चात्य समीक्षा के अनुसार नाटक की कथा के विकास के पाँच सोपान होते हैं—आरम्भ, आरोह, केन्द्र, अवरोह तथा परिणाम। पाश्चात्य कथा-विकास के ये सोपान मृच्छकटिक के कथानक में भी देखे जा सकते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक का कथानक घटनाओं के घात-प्रतिघात से परिपूर्ण है। इसमें रोचकता है, प्रवाह है, गत्यात्मकता है। कवि ने घटनाओं की स्वाभाविकता का ध्यान रक्खा है और प्रायः अनावश्यक विस्तार नहीं किया है। केवल दो स्थलों पर ही वर्णन-विस्तार दृष्टिगोचर होता है। एक तो वसन्तसेना के प्रकोष्ठों के वर्णन में और दूसरे वसन्तसेना के अभिसरण के समय वर्षा-वर्णन में। ये वर्णन काव्यत्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं, किन्तु कथानक की गतिशीलता में बाधक हैं ही। फिर भी कथावस्तु सुसम्बद्ध और सुगठित है। शूद्रक ने वसन्तसेना और चारुदत्त के प्रेम की कथा में आर्यक की राजनैतिक

कथा का सुन्दर सामञ्जस्य किया है। ऐसा सामञ्जस्य कि दोनों कथाओं की भिन्नता का आभास भी नहीं होता। इस प्रकार मृच्छकटिक की वस्तुयोजना नाट्यकला की दृष्टि से उत्तम है, इसमें सन्देह नहीं।

६. मृच्छकटिक के कथोपकथन या संवाद—

रूपकी की कथा का विकास कथोपकथन तथा अभिनय व्यापार के द्वारा हुआ करता है। यहाँ कथोपकथन या संवाद के द्वारा ही पात्रों के चरित्र का परिचय मिलता है अतः रूपक में कथोपकथन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। पाश्चात्य नाट्यसमीक्षा के अनुसार कथावस्तु में ही इसका समावेश हुआ है। दशरूपक के अनुसार नाट्यधर्म अर्थात् रङ्गमञ्च की दृष्टि से नाट्यवस्तु के तीन भेद हैं—

सर्वश्राव्य—जो वस्तु रङ्गमञ्च पर स्थित पात्रों तथा रङ्गशाला में स्थित सामाजिकों सभी को सुनाने के योग्य होती है। (२) **अश्राव्य**—जो बात किसी को भी सुनाने योग्य नहीं होती, जिसे 'आत्मगतम्' या 'स्वगतम्' कहते हैं। (३) **नियत-श्राव्य**—इसके दो भेद होते हैं—(क) **जनान्तिक** और (ख) **अपवारित**। दर्शकों के बीच में ही 'त्रिपताक'[1] हस्तमुद्रा द्वारा अन्य पात्रों को बचाकर जब दो पात्र परस्पर वार्तालाप करते हैं तो उसे 'जनान्तिक' कहते हैं। जब कोई पात्र पीठ फेर कर किसी अन्य पात्र का रहस्य प्रकट करता है तो उसे अपवारित (अपवार्य) कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य भेद भी होता है जिसे **आकाशभाषित** कहा जाता है। जब कोई पात्र दूसरे पात्र के विना ही 'क्या कहा' ? इत्यादि कहता हुआ प्रश्नोत्तर करता है, उसे आकाशभाषित कहते हैं।

संक्षेप में ये पाँच प्रकार के संवाद होते हैं। साहित्यदर्पणकार ने इनका नाट्योक्ति नाम से उल्लेख किया है। मृच्छकटिक प्रकरण में प्रायः इन सभी प्रकार के संवादों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है।

मृच्छकटिक के संवाद उत्तम कोटि के संवाद हैं। कुछ स्थलों को छोड़कर सर्वत्र ही संक्षिप्त हैं। इनमें स्वाभाविकता है तथा लोकभाषा का माधुर्य है। इन संवादों में अनेक सूक्तियों का प्रयोग हुआ है। ये संवाद पात्रों की स्थिति के सर्वथा अनुकूल हैं, उनके स्वभाव एवं चरित्र पर प्रकाश डालने वाले हैं। प्रायः सभी संवाद व्यावहारिक एवं विषयसंगत हैं। इन संवादों में प्रयुक्त श्लोक भी अनेक स्थलों पर काव्यत्व की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं।

---

१. जब हाथ की सब अंगुलियाँ ऊपर उठी हों और अनामिका झुकी हो तो यह हस्तमुद्रा 'त्रिपताक' कहलाती है। सा० द०; ६, १४०।

२. साहित्यदर्पण ६, १३७-१४०।

७. मृच्छकटिक में वर्णित देश की अवस्था—

मृच्छकटिक की कथावस्तु लौकिक है, यथार्थ जीवन के आधार पर कल्पित की गई है। इसमें समाज के मध्यम वर्ग का चित्रण है और प्रसङ्गवश निम्नवर्ग एवं धूर्तवर्ग का भी वर्णन किया गया है। इसमें तत्कालीन समाज का यथार्थ प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। उसकी राजनैतिक दशा और सामाजिक अवस्था का वर्णन मिलता है और उसके धार्मिक विश्वासों पर भी प्रकाश पड़ता है।

राजनैतिक अवस्था—उस समय राजनैतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। राजा स्वेच्छाचारी होता था। वह विलासी होता था तथा राजमहिषियों के अतिरिक्त रखेलियाँ भी रखता था। राजा पालक के यहाँ इसी प्रकार की रखेली शकार की बहन थी। राजा के शकार जैसे नीच सम्बन्धी प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते थे। राज्य में धूर्तों का बोलबाला था, अनेक प्रकार की अव्यवस्था फैली हुई थी। शान्ति और व्यवस्था न थी। रात्रि के आरम्भ में ही सम्भ्रान्त नारियों का राजमार्गों पर निकलना कठिन था। अनेक प्रकार के धूर्त विट चोर तथा वेश्याएँ राजमार्गों पर घूमते थे (एतस्यां प्रदोषवेलायां इह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजभल्लभाश्च पुरुषा संचरन्ति)। राजा के पदाधिकारी एवं कर्मचारी अपने कर्तव्य पालन में परस्पर ईर्ष्या का भाव रखते थे। वीरक और चन्दनक का विवाद इसका साक्षी है।

राजा के अत्याचारों के प्रति जनता में क्षोभ उत्पन्न हो जाता था। उन अत्याचारों का विरोध किया जाता था। इस विरोध की भावना के कारण ही चन्दनक ने 'आर्यक' को जाने दिया और राजा के विरुद्ध विद्रोह में सम्मिलित हो गया। इसी भावना के कारण 'विट' शकार से पृथक् हो गया और स्थावरक अट्टालिका से कूदकर भी चारुदत्त के वधस्थान पर पहुँच गया। यही भावना संगठित हो जाने पर षड्यन्त्र का रूप धारण कर लेती थी। शासन-प्रबन्ध के शिथिल होने के कारण कोई षड्यन्त्र सहज ही सफल हो सकता था। इन षड्यन्त्रों में चोर, जुआरी विद्रोही राजकर्मचारी, असन्तुष्ट पदाधिकारी और राजा द्वारा अपमानित व्यक्ति सम्मिलित हो जाते थे "ज्ञातीन् विटान् स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्' (४२६)"। राजा को ऐसे षड्यन्त्रों का सदा भय रहता था और वह षड्यन्त्र के सन्देह में किसी भी व्यक्ति को कारागृह में डाल देता था। राजा पालक ने इसी सन्देह में आर्यक को कारागृह में बन्दी बनाया था।

उस समय राजा में ही शासनसत्ता निहित थी। यही न्याय-निर्णय का अन्तिम निश्चय करता था—निर्णये वयं प्रमाणम् शेषे तु राजा' (अङ्क ९) तथा वही सेनाध्यक्ष होता था। उसकी सहायता के लिये मन्त्री, न्यायाधीश तथा दण्डाधिकारी और रक्षक होते थे। 'शुल्क' (कर) इकट्ठा करने के लिए राजपुरुष नियुक्त होते थे (७·१)। इस प्रकार राज्य का कार्य विविध विभागों में बँटा था। मृच्छकटिक के नवम अङ्क से उस समय की न्याय-व्यवस्था पर विशेष प्रकाश पड़ता है। न्यायालय में एक न्यायाधीश होता था। उसकी सहायता के लिए एक श्रेष्ठी अग्रेसर के रूप में होता था तथा

'कायस्थ' पेशकार के रूप में। न्यायालय की स्वच्छता, व्यवस्था एवं व्यवहारियों को बुलाने आदि के लिए भी एक कर्मचारी नियुक्त था जिसे 'शोधनक' कहते थे। न्यायाधीश निर्णय करने में स्वतन्त्र न था। उस पर राजा और उसके कृपाभाजन जनों का आतङ्क था। तभी तो शकार न्यायाधीशों को बुरी तरह धमकाता है। न्यायाधीशों को यह भय बना रहता था कि न जाने किस समय उन्हें इस पद से पृथक् कर दिया जाये। न्यायालय में सम्भ्रान्त जनों को बैठने के लिये आसन दिया जाता था। न्यायाधीश सहानुभूति एवं शिष्टता से व्यवहार करते थे। वादी-प्रतिवादी के कथन को लेखबद्ध कर लिया जाता था और साक्षी का भी ध्यान रक्खा जाता था। न्याय निःशुल्क था और उसमें अधिक समय नहीं लगता था। मृत्युदण्ड जैसे गम्भीर दण्ड का भी तुरन्त निर्णय कर दिया जाता था। किन्तु न्यायाधीश के निर्णय की अन्तिम स्वीकृति राजा ही देता था। प्रायः न्याय-निर्णय मनुस्मृति के आधार पर किया जाता था, यों तो राजा का कथन ही सर्वोपरि विधान था। दण्ड कठोर थे राजनैतिक वन्दियों को बेड़ियाँ पहनाई जाती थीं (आर्यक)। राजकुल में कोई हर्षोत्सव होने के समय अपराधियों को दण्ड-मुक्त कर दिया जाता था—"कदापि राज्ञः पुत्रो भवति, तेन वृद्धिमहोत्सवेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति," (पृ० ४१०) अपराधियों को अपना अपराध स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता था। सच-सच न बतलाने पर उन्हें कोड़े लगवाये जाते थे (९·३६) हत्या के अपराध के लिये मृत्युदण्ड दिया जाता था। मृत्युदण्ड देने के लिये अपराधी को चाण्डालों को सौंप दिया जाता था। वे उसे रक्तचन्दन और कनियर की माला आदि से सजाकर वध्यस्थल को ले जाते थे और तीन वार उसके अपराध तथा दण्ड की घोषणा करते थे। तव शूल पर चढ़ाकर, तलवार से सिर काटकर, कुत्तों से नुचवाकर या आरा से चीरकर उसे प्राणदण्ड दिया जाता था। (अङ्क १०)।

सामाजिक दशा—उस समय समाज छिन्न-भिन्न सा हो रहा था। जाति-व्यवस्था कठोर हो चली थी। जन्म से जाति मानी जाती थी और जातिगत अभिमान भी उत्पन्न हो गया था। वीरक और चन्दनक के विवाद में हमें उसकी झलक मिलती है। सम्भवतः बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण कभी-कभी जाति की अपेक्षा मानव गुणों को भी वरीयता दी जाती थी चाण्डालों की उक्ति में इसकी झलक मिलती है (१०, २२)। अपने ज्ञान और चरित्र के कारण ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। वे समाज के पूजनीय थे। निमन्त्रण पर जाना और दक्षिणा लेना भी ब्राह्मणों का कार्य हो चला था। शर्विलक जैसे ब्राह्मण चोरी आदि दुष्कर्मों में भी फँस गये। कुछ ब्राह्मण व्यापार कार्य भी करते थे। चारुदत्त के पिता एक सार्थवाह थे। ब्राह्मणों को समाज में विशेष अधिकार तथा सम्मान प्राप्त था। 'अयं हि पातकी विप्रो न बध्यो मनुरब्रवीत्' (९, ३९)। ब्राह्मण के सुवर्ण आदि को चुराना भी महापातक माना जाता था। उसे आगे स्थान दिया जाता था—'समीहितसिद्ध्यै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यः',

(पृ० ४३४)। वैश्य व्यापार में बड़े चढ़े थे। कायस्थ के प्रति समाज में अच्छी भावना नहीं थी (कायस्थसर्पास्पदम्)। फाँसी देने का कार्य चाण्डाल करते थे। वे समाज में निम्न कोटि के माने जाते ते। प्राकृत जनों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था। उस समय भिन्न-भिन्न जातियाँ पृथक्-पृथक् मोहल्लों में बसने लगीं थी और और जातियों के नाम पर मोहल्लों के नाम पड़ने लगे थे—'स खलु श्रेष्ठिचत्वरे वसति'। समाज में विवाह प्रथा थी। पुरुष कई विवाह कर सकते थे। असवर्ण स्त्री से भी विवाह करने का निषेध नहीं था। तभी तो चारुदत्त और शर्विलक जैसे ब्राह्मणों ने वेश्याओं से विवाह किया था। रखेली की प्रथा भी प्रचलित थी। स्त्रियों में सती होने की प्रथा प्रचलित थी (धूता)। सम्भवतः परदे की प्रथा नहीं थी; क्योंकि धूता बिना पर्दे के ही सबके सामने आती है। स्त्रियाँ सुवर्ण के आभूषण धारण करती थीं। नूपुर, हस्ताभरण, करधनी और गले की माला इत्यादि आभूषणों का प्रचलन था। पुष्पों से वेणी को अलङ्कृत करने की भी प्रथा थी।

मृच्छकटिक में वेश्याओं का विस्तृत वर्णन है। यद्यपि दशरूपक की टीका के अनुसार वेश्या और गणिका में भेद किया गया है,[1] तथापि यहाँ इनमें कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। वसन्तसेना के लिये दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया गया है। उस समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति भी वेश्याओं से सम्बन्ध रखते थे; जैसा कि चारुदत्त और वसन्तसेना के सम्बन्ध से प्रतीत होता है। हाँ, समाज की दृष्टि में यह अवश्य ही बुरा समझा जाता था। यही कारण है कि जब नवम अङ्क में न्यायाधीश चारुदत्त से पूछते हैं—'आर्य, गणिका तव मित्रम्' ? (पृ० ३५६) तो चारुदत्त लज्जित हो जाता है। अवश्य ही वेश्याओं को समाज में घृणित समझा जाता था। अनुभवशील गणिकाएँ इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं थी और पवित्र वधू पद पाने के लिये प्रयत्न करती रहती थी। वसन्तसेना और मदनिका इसके उदाहरण हैं। समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो वेश्याओं से विवाह करने का भी साहस करते थे। चारुदत्त और शर्विलक ऐसे ही साहसी युवक थे।

उस समय जुए की प्रथा भी थी। जुआरियों के अपने नियम थे, अपनी मण्डली थी। जिसके नियमों का पालन करना प्रत्येक जुआरी के लिये आवश्यक था। जुए का खेल वैध माना जाता था और यदि कोई देय धन नहीं देता था तो न्यायालय द्वारा वह धन वसूल कराया जाता था—'राजकुलं गत्वा निवेदयावः' (पृ० ९०)। उस समय मदिरापान की प्रथा थी और मदिरालय थे। (आपानक-मध्यप्रविष्टस्येव)। उस समय दास-प्रथा भी थी। सम्भवतः दास खरीदे जाते थे और धन देकर उन्हें दासता से मुक्त कराया जा सकता था। 'मदनिका' इसी प्रकार की दासी थी जिसे शर्विलक ने मुक्त

---

१. वेशो भृतिः, सोऽस्या जीवनमिति वेश्या, तद्विशेषो गणिका। दशरूपक; अवलोक टीका (पृ० ३)

कराया था। राजा की आज्ञा से भी कभी-कभी दासों को मुक्त कर दिया जाता था। मृच्छकटिक के अन्त में स्थावरक को इसी प्रकार दासता से मुक्त किया गया है।

मृच्छकटिक के समय देश आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली था। यहाँ का व्यापार समुन्नत था। जहाजों से समुद्र पार तक व्यापार होता था (यानपात्राणि) फलतः धनिकों के यहाँ सुवर्णराशि थी, अनेक प्रकार के सुवर्णाभूषण थे। चारुदत्त की पत्नी धूता की चतुःसमुद्रसारभूता रत्नमाला और वसन्तसेना के रत्न तथा आभूषण इसके स्पष्ट प्रमाण हैं, और सुवर्ण की (खेलने की) गाड़ी से यह बात भली भाँति प्रमट होती है। व्यापारी अपना पर्याप्त धन देश के विकास-कार्य के लिये दान में दे देते थे। चारुदत्त ने अनेक उपनगर, विहार, आराम, देवालय, तडाग और कूपों का निर्माण कराया था (पृ० ३७०)। धनिकों का वहुत सा धन वेश्याओं के यहाँ चला जाता था। फलतः उस समय वेश्यायें अत्यन्त सम्पन्नावस्था में थीं। उनकी सम्पत्ति कुबेर के समान थीं और वे हाथी भी रखती थीं (चतुर्थ अङ्क, वसन्तसेना गृह वर्णन)। उस समय आवागमन के साधनों में वैलगाड़ी (प्रवहण) का विशेष प्रचलन था। चारुदत्त और शकार अपने प्रवहण रखते थे। कभी-कभी घोड़े का भी उपयोग किया जाता था। नवम अङ्क में न्यायाधीश वीरक को घोड़े पर पुष्पकरण्डक उद्यान में जाने का आदेश देते हैं। धनी लोग हाथी भी रखते थे। वसन्तसेना के पास 'खुण्टमोडक' नाम का हाथी था। आने-जाने के लिये राजमार्ग थे; किन्तु राजमार्गों पर चलना भय से खाली नहीं था। रात्रि में तो मार्गों में जाना अत्यन्त भयावह था।

कलायें—'मृच्छकटिक' के समय कलायें समुन्नत अवस्था में थीं। मृच्छकटिक जैसे बड़े-बड़े नाटकों के अभिनय योग्य रङ्गशालाएँ उस समय रही होंगी। इससे प्रतीत होता है कि तब नाट्यकला का पर्याप्त विकास हो चुका था। संगीत कला भी उन्नत दशा में थी। चारुदत्त रेभिल के यहाँ संगीत सुनने के लिये गया था। उस संगीत का शास्त्रीय वर्णन मृच्छकटिक में किया गया है (पृ० १०८, ११०)। वाद्यों में वीणा (पृ० १०८) का वर्णन किया गया है तथा बाँसुरी, दर्दुर, मृदङ्ग और पणव आदि का भी उल्लेख किया गया है। चित्रकला का भी उस समय प्रचार था। चतुर्थ अङ्क में वसन्तसेना चारुदत्त का चित्र मदनिका को दिखलाती है। मूर्तिकला का भी उल्लेख मिलता है—'कथं काष्ठमयी प्रतिमा···शैलीप्रतिका' (पृ० ७४)। संवाहन को भी कला माना जाता था चौर्यकला का विस्तृत वर्णन मृच्छकटिक में उपलब्ध होता है (तृतीय अङ्क)।

धार्मिक मान्यतायें तथा विश्वास—उस समय देश में वैदिक धर्म उन्नतावस्था में था। अनेक प्रकार के यज्ञ किये जाते थे (मखशतपरिपूतं—१०, १२)। याज्ञिक क्रियाएँ समाज में प्रचलित थीं। पूजा-पाठ और बलि तथा तर्पण आदि

क्रियाओं का विशेष महत्त्व था। देवपूजा, बलि और तप में चारुदत्त का अटल विश्वास दिखलाई देता है, (१, १६) वह उनकी पूजा करना अपना नित्य कर्तव्य समझता है। नागरिक जन भाँति-भाँति के व्रत उपवास आदि करते थे और ब्राह्मणों को दान देते थे। निम्न वर्ग के लोग भी धर्म भीरु थे जैसा कि स्थावरक, विट आदि (अङ्क ६) के कथन से प्रतीत होता है। चाण्डालों की भी अपने देवताओं के प्रति श्रद्धा थी। दशम अङ्क में चाण्डाल 'सह्यवासिनी' का स्मरण करता है। वैदिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म का भी जनता में प्रचार था; यद्यपि बौद्धधर्म ह्रासोन्मुख था। सांसारिक जीवन में विरक्त व्यक्ति बौद्ध भिक्षु हो जाते थे। भिक्षु प्रायः इन्द्रियसंयमी और तपस्वी होते थे; (पृ० ३३२); फिर भी समाज में उनका विशेष सम्मान न था। बौद्धभिक्षु का दर्शन ही अपशकुन समझा जाता था—(अनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम् (पृ० २७४)। कुछ भिक्षु सिर मुँडा कर भी सांसारिक वासनाओं में फँसे रहते थे; संभवतः ऐसे भिक्षुओं के प्रति ही कहा गया है—चित्तं न मुण्डितं किमर्थं मुण्डितम् (पृ० २७६)। उस समय बौद्ध भिक्षु विहारों में रहते थे। उन विहारों में कुछ भिक्षुणियाँ भी रहती थीं—'एतस्मिन् विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति'। (पृ० ३३२)। पृथिवी रप उस समय अनेक विहार थे। उनका एक कुलपति होता था (सर्वविहारेषु कुलपतिः, (पृ० ४३८)। धार्मिक मान्यताओं के साथ अन्य भी अनेक प्रकार के विश्वास प्रचलित थे। जैसे कुछ ग्रहों के योग को अनिष्ट समझा जाता था (६. ३३)। अनेक प्रकार के अपशकुनों का विचार किया जाता था (६. १०—१३)। इत्यादि।

८. मृच्छकटिक के पात्र तथा चरित्र-चित्रण

भारतीय नाट्यसाहित्य में 'नेता' (नायक) रूपक का एक तत्त्व माना गया है उसके चार भेदों का वर्णन करके उसके सहायकों तथा प्रतिनायक का भी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार 'नायिका' का भी विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। आधुनिक नाट्य समीक्षा में नाटक के इस तत्त्व का 'पात्र तथा चरित्र-चित्रण' के रूप में विवेचन किया जाता है। मृच्छकटिक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। इसकी कथावस्तु मध्यवर्ग के जीवन के आधार पर कल्पित की गई है। इसमें समाज के सभी वर्गों के पात्र मिलते हैं। एक ओर सभ्य ब्राह्मण चारुदत्त, राजा पालक और न्यायाधीश जैसे सम्मानित पात्र हैं, तो दूसरी ओर चोर, जुआरी, विट, चेट और चाण्डाल भी। इसी प्रकार धूता जैसी पतिव्रता नारी का चित्रण है तो वेश्या और गणिकाओं का भी। इस प्रकरण का वातावरण राजसेवक पुलिस कर्मचारी, वेश्या, विट-चेट, चोर जुआरी आदि से निर्मित हुआ है। इसके पात्र सजीवता की मूर्ति हैं। वे इसी लोक के जीते जागते प्राणी हैं। यहाँ अतिमानवीय पात्रों की कल्पना नहीं की गई, न आदर्शवादी दृष्टिकोण से पात्रों का चित्रण किया गया है। मृच्छकटिक के पात्र किसी वर्ग विशेष के प्रतिनिधि नहीं हैं, वे अपनी निजी विशेषतायें रखते हैं। उदाहरणार्थ चारुदत्त को सामान्य ब्राह्मण-श्रेष्ठी नहीं कहा जा सकता और न ही वसन्तसेना सामान्य गणिका है। ये अपनी-अपनी व्यक्तिगत विशेषतायें लेकर हमारे

सामने आते हैं। इस प्रकार शर्विलक, संवाहक तथा विट आदि में भी अपनी व्यक्तिगत विशेषतायें हैं। सभी पात्रों के कार्य और व्यवहार अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार दिखलाये गये हैं। उनकी भाषा और विचार में भी व्यक्तित्व की झलक मिलती है। मृच्छकटिक की यह विशेषता संस्कृत के अन्य नाटकों में नहीं मिलती। यहाँ मुख्य पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

चारुदत्त

चारुदत्त इस रूपक का नायक है। नाट्यशास्त्र के अनुसार किसी रूपक का नायक विनयी, प्रियदर्शन, त्यागी, दक्ष, प्रियभासी, लोक-प्रिय, पवित्र, वाक्-कुशल, उच्चवंशोत्पन्न, स्थिर युवक तथा बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला और स्वाभिमान से युक्त, शूरवीर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रानुकूल कार्य करने वाला और धार्मिक होना चाहिये।[1] यह नायक चार प्रकार का होता है—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत्त।[2] इन चारों प्रकार के नायकों में से चारुदत्त को धीर प्रशान्त नायक कहा जा सकता है। दशरूपक के अनुसार धीरप्रशान्त का लक्षण है—सामान्यगुण युक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।' (२, ४)। चारुदत्त में सामान्य नायक के प्रायः समस्त गुण विद्यमान हैं, वह ब्राह्मण भी है।

चारुदत्त उज्जयिनी का एक ब्राह्मण युवक है। उसके पूर्वज प्रसिद्ध व्यापारी थे अतः वह पूर्वजों से अपार धन-सम्पत्ति प्राप्त करता है। अपनी अतिशय उदारता और दानशीलता के कारण वह अपनी सभी सम्पत्ति निर्धनों को दे देता है और दरिद्र हो जाता है। इस अवस्था में भी अपने दान; दया, परोपकार उदारता और शीलता आदि गुणों के कारण नगर-वासियों का श्रद्धा-भाजन बना हुआ है—दीनानां कल्पवृक्षः इत्यादि (१, ४८)। वह प्रियदर्शन है—यस्तादृशः प्रियदर्शनः (पृ० ९०), अत्यन्त लोकप्रिय है, न्यायाधीश से लेकर चाण्डाल पर्यन्त तथा विट-चेट सभी उसके प्रति आदर तथा स्नेह रखते हैं।

चारुदत्त अत्यन्त उदार और दयालु है। जब कोई श्लाघनीय कार्य करता है या उसे शुभ समाचार सुनाता है तो चारुदत्त उसे कुछ न कुछ पुरस्कार रूप में देना चाहता है। अपनी अतिशय उदारता के कारण ही वह शर्विलक के आभूषण चुराने पर भी प्रसन्नता का अनुभव करता है (पृ० १३२), कर्णपूरक को अपना दुशाला

---

१. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥ (दशरूपक २, १०२)

२. इनके स्वरूप के लिए देखिये दशरूपक द्वितीय प्रकाश।

पुरस्कार में दे देता है। इसी उदारता के कारण वसन्तसेना उसे प्रेम करती है। चारुदत्त सेवकों के प्रति भी दयालु है (३,२), इसी से सोई हुई रदनिका को जगाना नहीं चाहता—'अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम्' (पृ० ११२)। पशुपक्षियों के प्रति भी उसकी 'करुणा' प्रकट होती है। अपनी उदारता के कारण ही वह दरिद्रता को मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक समझता है—'एतत्तु मां दहति यद्गृहमस्मदीयं क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति" (१, १२)।

चारुदत्त अपराधी के प्रति भी क्रोध नहीं करता और शरणागत की रक्षा करता है। जिस समय शकार उसे मरणान्तिक वैर की धमकी देता है तब वह 'अज्ञोऽसौ' इतना मात्र कहकर छोड़ देता है। जब वह चारुदत्त पर मिथ्याभियोग लगाता है तब भी चारुदत्त क्रुद्ध नहीं होता, विचलित नहीं होता। शरण में आये हुए आर्यक से कहता है—'अपि प्राणानहं जह्यां न तु शरणागतम्' (पृ० २७०)। उसकी यह उदारता उस समय चरम सीमा पर पहुँच जाती है जब वह शरणागत शकार को अभयदान देकर क्षमा कर देता है।

चारुदत्त को अपनी प्रतिष्ठा और चरित्र की उज्ज्वलता का ध्यान है। इसी कारण वह वसन्तसेना के आभूषण चोरी चले जाने पर मूर्छित हो जाता है और नाना प्रकार की चिन्ता व्यक्त करता है (३.२४-२६)। अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये ही वह वसन्तसेना की धरोहर को लौटाना आवश्यक समझता है और असत्य बात कहकर बहुमूल्य रत्नमाला वदले में भेजता है। मृत्युदण्ड पाने पर भी उसे भय नहीं है, केवल दुःख है तो प्रतिष्ठा चले जाने का ही—'न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः' (१०, २७)।

गणिका से प्रेम करते हुए भी चारुदत्त में चारित्रिक दृढ़ता है। वह अपनी पत्नी धूता से प्रेम करता है और उसे पवित्र मानता हुआ उसका आदर करता है। वेश्या के आभूषणों को भी अभ्यन्तर प्रवेश के योग्य नहीं समझता (पृ० ११२)। वह परनारी पर दृष्टि भी नहीं डालना चाहता—'न युक्तं परकलत्रदर्शनम्' (पृ० ५८) जब अनजाने में अन्य स्त्री से उसके वस्त्रों का स्पर्श हो जाता है तो वह खिन्न होकर कहता है—'इयमपरा का' अविज्ञातावसक्तेन दूषिता मम वासना (पृ० ५८) अपनी पतिव्रता स्त्री पर वह गर्व करता है और गार्हस्थ्य धर्म का पूर्णतया पालन करता है।

चारुदत्त कला-प्रिय व्यक्ति है। वह रेभिल के संगीत की ताल-लय तथा मूर्च्छना इत्यादि का विश्लेषण करते हुए सराहना करता है। शर्विलक की लगाई सेंध को देखकर भी उसकी कलात्मकता की प्रशंसा करता है।

वह धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति है। सन्ध्यावन्दनादि नित्य कर्मों का नियमपूर्वक अनुष्ठान करता है। मैत्रेय को भी देवपूजा का महत्त्व समझाता है। (१, १६)। वह भाग्यवादी भी है—'भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति' (१, १३)। आर्यक से भी कहता है—'स्वैर्भाग्यैः परिरक्षितोऽसि' (७, ७) तथा अन्त में भी विधि के

विधान की ही दुहाई देता है—कश्चित्तुच्छयति···विधिः (१०, ६०)। साथ ही वह शकुन इत्यादि पर पूर्ण विश्वास रखता है (६. १०-१३)।

संक्षेप में चारुदत्त प्रियदर्शन, लोकप्रिय, उदार, दानी, दयालु, दृढ़ चरित्र वाला, कलाप्रिय और धार्मिक प्रवृत्ति का नायक है। एक प्रकरण के नायक के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। उसका चरित्र-चित्रण अत्यन्त सफलता के साथ किया गया है।

वसन्तसेना

मृच्छकटिक एक ऐसा प्रकरण है जिसमें कुलस्त्री तथा गणिका दो नायिकायें हैं (द्वयं क्वचित्)। कुलस्त्री है-धूता और गणिका वसन्तसेना है। इनमें वसन्तसेना का चरित्र मुख्य रूप से चित्रित किया गया है। दशरूपक के अनुसार तीन प्रकार की नायिकायें होती हैं—स्वकीया, परकीया और साधारण स्त्री (२, १५)। साधारण स्त्री को गणिका कहते हैं वह कला प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है (६.२·२१)। प्रकरण इत्यादि रूपकों में गणिका को अनुरक्ता ही दिखलाया जाता है (रक्तैव त्वप्रहसने, दश० २·२२)।

वसन्तसेना उज्जयिनी की एक वैभवशालिनी गणिका है। उसकी समृद्धि को देखकर विदूषक कह उठता है—'किं तावद्गणिकागृहम् अथवा कुवेर-भवन-परिच्छेद इति' (पृ० १८२)। उसके पास जीवन का समस्त वैभव है। कवि ने चतुर्थ अङ्क में उसके वैभव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। वह एक सुन्दरी तरुणी है और उज्जयिनी नगरी का भूषण है 'बालां स्त्रियं च नगरस्य विभूषणं च (८, २३)। छादिता शरदभ्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते (१.५४)' विट के शब्दों में वह उदारता का स्रोत है, सौन्दर्य में रति है, सुमुखी वह अलङ्कारों को भी अलङ्कृत करने वाली है और सौजन्य की सरिता है (८, ३८)।

वसन्तसेना उदार हृदय वाली नारी है। जब संवाहक उसकी शरण में आता है तो अपरिचित होने पर भी वह उसे अभयदान देती है। वह उसे ऋण मुक्त कराने के लिये अपना सुवर्णाभूषण भेजती है और कहला देती है कि संवाहक ने ही भेजा है (अङ्क २)। अपनी उदारता के कारण ही वह मदनिका को दासता से मुक्त कर देती है तथा मदनिका से कहती है—'यदि मम छन्दस्तदा विनार्थं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि।' (पृ० १४८) चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को रोते हुये देखकर वह सुवर्ण-शकट बनवाने के लिये अपने आभूषण दे देती है। जब सुवर्णभाण्ड के बदले चारुदत्त रत्नावली भेज देता है तो वह रत्नावली भेजने के लिये चारुदत्त को उलाहना देती है (अङ्क ५)। चारुदत्त की पत्नी धूता के प्रति उसे ईर्ष्या नहीं है वह उसके साथ स्नेहपूर्वक व्यवहार करती है 'रत्नावली' सौंपती है और कहती है—'अहं श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी तदा युष्माकमपि' (पृ० २३६)।

वसन्तसेना एक बुद्धिमती, कला कुशल तथा विदुषी नारी है। वह राजमार्ग पर विट के कथन के गूढ अर्थ को समझ लेती है और आभूषण उतार लेती है

(अङ्क १)। वह जानती है कि प्रियतम से कैसे व्यवहार करना चाहिये। उसकी तर्कशक्ति उच्चकोटि की है। कर्णपूरक को हँसता हुआ देखकर वह उसका भाव समझ जाती है तथा शर्विलक के भूषण अर्पित करते समय वह सब कुछ ताड़ लेती है और मदनिका को उसे सौंप देती है। वह चित्र-रचना में कुशल है और चारुदत्त का चित्र बनाकर मदनिका को दिखलाती हैं (पृ० १४२)। उसे संस्कृत का भी ज्ञान है और वह चतुर्थ अङ्क में विदूषक के साथ संस्कृत में वार्तालाप करती है।

वसन्तसेना चारुदत्त को सच्चे हृदय से प्रेम करती है। कामदेवायतन में जब वह चारुदत्त का दर्शन करती है, तभी उसके हृदय में अनुराग उत्पन्न हो जाता है। वह जानती है कि चारुदत्त दरिद्र है तो भी वह उसे प्रेम करती है, उसका प्रेम धन के लिये नहीं है अपितु प्रशंसनीय प्रेम है—दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति।' (पृ० ७०) चारुदत्त से वह कुछ चाहती नहीं अपितु उसके लिये अपना सर्वस्व त्याग करने को उद्यत है। दरिद्र व्यक्ति के प्रति अनुराग उसके हृदय की पवित्रता को व्यक्त करता है। इसीसे वह शकार के प्रणय-प्रस्ताव को किसी प्रकार भी मानने के लिये तैयार नहीं है, न लोभ से, न आतङ्क से और न मृत्यु के भय से ही। वह दश सहस्र सुवर्णालङ्कारों के साथ आये हुए शकार के आमन्त्रण को अस्वीकार कर देती हैं (पृ० १४४)। पुष्पकरण्डक उद्यान में जब शकार उसे मारने के लिये उद्यत हो जाता है तो वह चारुदत्त का नाम लेती हुई मरने को तैयार हो जाती हैं किन्तु शकार को स्वीकार नहीं करती (पृ० ३१५)। उत्कट प्रेम के कारण उसे चारुदत्त की प्रत्येक वस्तु से प्रेम हो जाता है। संवाहक के चारुदत्त का नाम लेने पर वह उसका अत्यधिक आदर करती है। विदूषक का वह खड़ी होकर स्वागत करती है। कर्णपूरक से चारुदत्त का दुशाला पाकर वह प्रिय-मिलन का सा आनन्द अनुभव करती है। धूता के साथ उसे बहन जैसा प्रेम है और रोहसेन के प्रति माता का वात्सल्य। वह यह भी जानती है कि वह एक गणिका है और चारुदत्त के अन्तःपुर में प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं रखती—'मन्दभागिनी खल्वहं तवाभ्यन्तरस्य' (पृ० ५६)। तथापि वह उस प्रियतम की प्राप्ति के लिये सभी कुछ करती है। आभूषण-न्यास, दुर्दिन में अभिसरण, पुष्पकरण्डक गमन आदि करती हुई मरणासन्न हो जाती है और फिर सचेत होकर चारुदत्त को बचाने के लिये वध्यस्थल पर पहुँच जाती है तथा प्रेम के आवेग में उसके हृदय पर गिर जाती है। अन्त में उसका मनोरथ पूर्ण होता है वह 'कुलवधू' के पद को प्राप्त करती है।

कहना न होगा कि गणिका होते हुए भी वसन्तसेना का व्यवहार तथा प्रेम कुलनारी के सदृश है—अवेशसदृशप्रणयोपचाराम् (पृ० ३०२)। उसने अपने अनन्य प्रेम, उदात्त चरित्र, उदार हृदय तथा अपूर्व त्याग आदि गुणों से गणिका होने की कालिमा को प्रक्षालित करके एक साध्वी नारी के पद को अलङ्कृत किया है।

शकार

'शकार' मृच्छकटिककार की एक विचित्र कल्पना है। यह इस प्रकरण का प्रतिनायक है। दशरूपक के अनुसार प्रतिनायक लोभी, धीरोद्धत, जड़ प्रकृति वाला पापी और व्यसनी होता है। (दश० २,६)। शकार भी मूर्खता, प्रवञ्चना, पाप, क्रूरता और कायरता आदि दुर्गुणों से पूर्ण है। यह किसी रखेली का पुत्र है (काणेलीमात:) राजा पालक की अविवाहिता स्त्री (रखेली) का भाई है (राजश्यालक) और संस्थानक भी है। यह शकारी प्राकृत वोलता है जिसमें सकार में स्थान पर शकार (श) होता है (जैसे वशन्तशेणा); सम्भवत: इसी हेतु इसका नाम 'शकार' है।

शकार वड़ा अभिमानी है। उसे राजा का साला होने का अभिमान है। इसी से वह मनमानी करता है। न्यायाधीशों को निकलवा देने की धमकी देकर उनसे मन-माना न्याय कराना चाहता है। उसे अपने पद और धन का भी अभिमान है अत: वह अपने आपको 'देवपुरुष मनुष्य वासुदेव' कहता है। वह जड़ प्रकृति का है, अत्यन्त मूर्ख है। उसके कथन अज्ञान और मूर्खता से भरे पड़े हैं। उनमें इतिहास विरुद्ध उपमायें हैं (द्रोणपुत्रो जटायु:), अनर्थक प्रलाप हैं। (न मृता: रज्जव:)। उसके अधिकांश कथन हास्यजनक हैं। वह अशिक्षित है तथा वात-चीत करने का ढंग भी नहीं जानता। फिर भी उसे अपने ज्ञान का अभिमान है और पुराण तथा इतिहास की अनेक घटनाओं का मनमाने ढंग से कथन करता है।

वह अस्थिर स्वभाव वाला दुराग्रही तथा कायर है। उसका विचार क्षण क्षण में वदलता रहता है। उसके साथी विट और चेट को यह शङ्का रहती है कि न जाने यह क्षणभर में क्या कह वैठे या कर वैठे। अष्टम अङ्क में पहले तो विट को गाड़ी में वैठने को कह देता है फिर तभी उसका अपमान करने लगता है। इसी प्रकार स्था-वरक (चेट) को दीवार पर से गाड़ी लाने का आदेश दे देता है। प्रथम अङ्क में विट से कहता है कि वसन्तसेना को लिये विना नहीं चलूंगा। ये हैं उसके दुराग्रह। अपनी गाड़ी में स्त्री (वसन्तसेना) को देखकर ही वह भयभीत हो जाता है (अङ्क ८) तथा अन्त में मृत्यु के भय से चारुदत्त की शरण में आकर रक्षा की याचना करता है (पृ० ४३०) यह है उसकी कायरता।

वह क्रूर और निर्दयी है, पापी है तथा पापपूर्ण योजना में निपुण है। विट और चेट को कपटपूर्वक हटाकर वसन्तसेना का गला घोट देता है। जव विट इस कुकृत्य की भर्त्सना करता है जो उस पर ही हत्या का आरोप लगाता है। चेट को वांधकर डाल देता है और चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का अभियोग चलाता है। जव चेट उसके पाप का उद्घाटन करता है तो उस पर चोरी का आरोप लगा देता है। चाण्डालों से कहता है कि चारुदत्त को पुत्र सहित मार डालो। इससे बड़ी क्रूरता क्या होगी?

शकार के चरित्र में प्रायः सभी दुर्गुणों का पुञ्ज दृष्टिगोचर होता है। वह केवल स्त्री-लम्पट, मूर्ख और धूर्त ही नहीं हैं अपितु मानवरूप में दानव ही कहा जा सकता है। प्रतिनायक के रूप में उसका यथार्थ चित्रण किया गया हैं।

विदूषक

मृच्छकटिक का विदूषक मैत्रेय है। यह वाद के नाटकों के विदूषक से कुछ भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। दशरूपक के अनुसार नायक का वह सहायक, जो अपने आकार, प्रकार तथा कथन आदि से हंसी उत्पन्न करता है, विदूषक कहलाता है 'हास्यकृच्च विदूषक:' (दश० २, ९)। वाद के नाटकों में प्रायः विदूषक का यही स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। मृच्छकटिक के विदूषक में भी यह गुण है इसमें सन्देह नहीं तथापि उसकी अन्य व्यक्तिगत विशेषताओं का भी यहाँ चित्रण किया गया है।

मैत्रेय चारुदत्त का सच्चा मित्र है। चारुदत्त की दरिद्रावस्था में भी वह उसका साथ नहीं छोड़ता। इधर-उधर अपनी उदरपूर्ति करता हुआ चारुदत्त की सहायता करता है। इसी हेतु चारुदत्त उसके प्रति कहता है—'अये' सर्वकालमित्रं मैत्रेयः प्राप्तः, (पृ० १६)। वह चारुदत्त को आश्वासन देता रहता है—'भो वयस्य तमेवार्थंकल्यवर्तं स्मृत्वाल संतापितेन' (पृ० २०)। वह चारुदत्त को किसी प्रकार भी कष्ट पहुँचने देना नहीं चाहता, इसी कारण रदनिका से कहता है कि अपने अपमान की वात चारुदत्त से न कहना। वह चारुदत्त को गणिका-प्रसङ्ग से हटाना चाहता है (पृ० १९४)। वह जानता है कि वेश्या लालची और कुटिल होती हैं। अतएव वह वसन्तसेना को भी घृणा की दृष्टि से देखता है और चारुदत्त से कहता है—'निवर्त्यतामात्माऽस्माद् वहुप्रत्यवायाद् गणिकाप्रसङ्गात्' (पृ० १९६)। चारुदत्त के प्रति उसे गाढ़ प्रेम है। जव उसे पता चलता है कि शकार ने चारुदत्त पर मिथ्या अभियोग लगाया है तो वह न्यायालय में शकार से लड़ बैठता है। जव चारुदत्त के मृत्युदण्ड की घोषणा की जाती है तो वह चारुदत्त के विना जीवित नहीं रहना चाहता (पृ० ३८०)।

मैत्रेय भीरु तथा क्रोधी है। वह अन्धकार में चतुष्पथ पर जाने से डरता है। जव चारुदत्त रात्रि में वसन्तसेना को पहुंचाने के लिये जाने को कहता है तो वह वड़ी चतुराई से इन्कार कर देता है (प्रथम अङ्क पृ० ६२)। वह शीघ्र ही क्रुद्ध हो जाता है—प्रथम अङ्क में मदनिका के अपमान को देखकर वह शकार और विट को मारने के लिए उद्यत हो जाता है (पृ० ४६)। नवम अङ्क में वह न्यायालय में ही शकार पर क्रुद्ध हो जाता है, यद्यपि क्रोध का वुरा परिणाम होता है; क्योंकि मार-पीट में उसकी कांख से आभूषण निकल पड़ते हैं।

विदूषक एक साधारण कोटि का समझदार व्यक्ति है। चारुदत्त के उदात्त गुणों तक उसकी पहुंच नहीं है। वह चारुदत्त से कहता है कि जब पूजा करने पर भी

देवता प्रसन्न नहीं होते तो देवपूजा से क्या लाभ है ? (पृ० २०)। चारुदत्त की अत्यधिक उदारता उसे पसन्द नहीं है। आभूषणों के वदले रत्नावली देना उसे अच्छा नहीं लगता और जहाँ तक 'न्यास' के वदले की वात है 'वह यह कहने को तैयार है कि किसने न्यास रक्खा कौन साक्षी है ? (पृ० २३२)। कभी २ वह मूर्ख सा प्रतीत होता है। जव वसन्तसेना चारुदत्त के प्रति अभिसरण करती है तो वह चेटी से पूछता है कि तुम यहाँ इस अन्धेरी रात में किस लिये आई हो ? (पृ० २२२)। वसन्तसेना की समृद्धि को देखकर वह चेटी से प्रश्न करता है—भवति, किं युष्माकं यानपात्राणि वहन्ति (पृ० १८२)। उसके इस प्रकार के कथन व्यङ्ग्यपूर्ण से प्रतीत होते हैं तथा हास्य की उद्भावना करते हैं। मृच्छकटिक में विदूषक की इस प्रकार की बातें ही हास्य को जन्म देती हैं। हां, कहीं-कहीं भोजनप्रिय तथा पेटू के रूप में भी विदूषक का चित्रण किया गया है; जैसे वसन्तसेना के भवन में नाना प्रकार के भोजनों को बनते देखकर विदूषक मन ही मन सोचता है—'अपीदानीमिह वर्धितं भुङ्क्ष्व इति पादोदकं लप्स्ये' (पृ० १७६)। जब वसन्तसेना के यहाँ से विना खिलाये पिलाये ही विदा कर दिया जाता है तो सोचता है कि इसने तो पानी को भी नहीं पूछा (पृ० १९४)।

इस प्रकार विदूपक में उच्चकोटि की बुद्धि नहीं है। वह मनुप्य को परखने की शक्ति नहीं रखता, वह उदात्त गुणों से विभूपित नहीं है तथापि वह एक व्यावहारिक जन है वह एक सच्चा मित्र है, यद्यपि बुद्धिमान् मित्र नहीं।

अन्य पुरुष पात्र

शूद्रक ने सभी पात्रों का चरित्र, इस प्रकार से चित्रित किया है कि उनकी व्यक्तिगत विशेषतायें स्पष्ट झलकती हैं। अन्य पुरुष पात्रों में **शर्विलक** एक प्रेमी हृदय ब्राह्मण है। वह मदनिका को प्राप्त करने के लिये चोरी करता है। चौर्य कला में निष्णात है किन्तु चोरी को अच्छा नहीं समझता। केवल स्वतन्त्र व्यवसाय मानकर ही उसे ग्रहण करता है—स्वाधीना वचनीयताऽपि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः।' (पृ० ११६)। वह बुद्धिमान् तथा गुणग्राहक (४, २१–२२)। वह आपत्ति में मित्र का साथ देने वाला है कठिनता से प्राप्त हुई प्रेमिका मदनिका को छोड़कर अपने मित्र आर्यक को मुक्त कराने चला जाता है (पृ० १६६) है। वह षड्यन्त्र करने में कुशल है (४, २६)। **संवाहक**—दरिद्रता के कारण संवाहक का व्यवसाय करने वाला एक गृहपति का पुत्र है। चारुदत्त के यहाँ नौकरी करने के पश्चात् द्यूतक्रीडा से अपनी आजीविका चलाने लगता है। द्यूत में हार कर वसन्तसेना द्वारा ऋणमुक्त कराया जाता है और विरक्त होकर बौद्धभिक्षु के रूप में हमारे सामने आता है। वह एक सच्चा भिक्षु दिखलाई देता है। वह इन्द्रियसंयमी है (पृ० २७६)। वह कृतज्ञ है और उपकार का बदला चुकाने के लिये चिन्तित रहता है (पृ० ३२८)। अन्त में वसन्तसेना की प्राणरक्षा करके वह सन्तुष्ट होता है। निर्लोभ हो जाता है और

प्रव्रज्या को उत्तम समझने लगता है (पृ० ४३८)। **विट**—सहृदय एवं बुद्धिमान है। वह वसन्तसेना की सच्ची प्रेम-भावना को देखकर प्रभावित हो जाता है और उसके प्रेम की प्रशंसा करता है तथा यथाशक्ति उसकी सहायता करता है। वह धर्मभीरु है तथा पाप का विरोध भी करता है, (पृ० ३२०—३२२)। इसी से वह शकार को छोड़ कर चला जाता है। **चेट**—स्थावरक को भी परलोक का भय है, सज्जन के प्रति स्नेह और आदर का भाव है। वह स्वयं आपत्ति में पड़कर भी अकार्य नहीं करता और चारुदत्त की रक्षा का प्रयास करता है। **न्यायाधीश** भी पवित्र हृदय तथा न्याय-प्रिय है। सज्जनता का आदर करता है तथा सच्चाई की खोज करना चाहता है। किन्तु वह भीरु है तथा जल्दवाजी में उचित न्याय नहीं कर पाता। **चन्दनक** और **वीरक** भी अपनी निजी विशेषतायें रखते हैं। **सभिक, द्यूतकर दर्दुरक** आदि का भी सामान्य उल्लेख किया गया है।

अन्य स्त्री पात्र

इनमें **धूता** प्रमुख स्त्री पात्र है। वह चारुदत्त की विवाहिता पत्नी है, एक पतिव्रता नारी है जो पति के दुःख को नहीं देख सकती और पति की अपकीर्ति से भी डरती है (पृ० १३४)। इसी हेतु बड़ी चतुराई से 'रत्नावली' विदूषक को दे देती है (पृ० १३६) धूता को आभूषणों के प्रति ममता नहीं है, लोभ नहीं है। जब वसन्तसेना रत्नावली को लौटाती है तो वह उसे स्वीकार नहीं करती। धूता अत्यन्त उदार है, वह वसन्तसेना से ईर्ष्या नहीं करती और वसन्तसेना से प्रेम करने वाले अपने पति पर भी कोप नहीं करती। वह अपने पति से अत्यधिक प्रेम करती है। उसके वध की बात सुनकर चिता में कूदकर प्राण-त्याग कर देना चाहती है तथा अपने प्रिय पुत्र की भी चिन्ता नहीं करती, न पाप से ही डरती है—वरं पापाचरणम्। न पुनरार्यपुत्रस्यामङ्गलाकर्णनम्। (पृ० ४३४)। वह एक सच्ची भारतीय नारी है।

मदनिका—वसन्तसेना की दासी तथा सखी है। उस पर वसन्तसेना बहुत अधिक विश्वास करती है। वह भी वसन्तसेना के प्रति अत्यन्त स्नेह करती है। इसी हेतु "चारुदत्त के घर शर्विलक ने चोरी की है" यह जान कर मूर्छित हो जाती है (पृ० १५२)। मदनिका बुद्धिमती तथा चतुर है! वह शर्विलक को एक सद्गृहिणि के समान सम्मति देती रहती है (पृ० १६०)। वसन्तसेना को भी वह समय-२ पर अच्छी सम्मति देती रहती है। इसी से वसन्तसेना उसकी प्रशंसा करती है—साधु मदनिके साधु (पृ० १६०) परहृदयग्रहणपण्डिता मदनिका खलु त्वम् (पृ० ६८)। मदनिका भीरु नहीं है वह शर्विलक जैसे साहसी की पत्नी होने योग्य है और जब शर्विलक अपने मित्र आर्यक को छुड़ाने जाना चाहता है तो वह उसके मार्ग में बाधा नहीं डालती। वस्तुतः उसने दासीपन को छोड़कर एक सच्ची गृहिणी का रूप धारण कर

लिया है। इनके अतिरिक्त रदनिका तथा वसन्तसेना की चेटी, वसन्तसेना की माता आदि का भी कुछ उल्लेख हुआ है।

६. मृच्छकटिक का रस-विवेचन तथा काव्य सौन्दर्य—

रस-विवेचन—भारतीय नाट्यसमीक्षा के अनुसार 'रस' रूपक का मुख्य तत्त्व है। पाश्चात्य आलोचकों ने प्रभावान्विति को ही नाटक का प्राण कहा है। समालोचकों का कथन है कि दोनों में बहुत कुछ समानता है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से सहृदयों को जो एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है वही रस है। इस रस की प्रतीति कराना ही रूपकों का प्रयोजन है। विविध रूपकों में भिन्न-भिन्न प्रकार के रसों की प्रधानता और गौणता होती हैं। 'प्रकरण' में शृङ्गार दो प्रकार का होता है—संभोग (संयोग) शृङ्गार और विप्रलम्भ (वियोग) शृङ्गार। मृच्छकटिक में संभोग शृङ्गार अङ्गी रस है तथा विप्रलम्भ शृङ्गार करुण, हास्य, भयानक, वीर तथा शान्त आदि उसके अङ्ग हैं। इन सबका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है।

संभोग शृङ्गार—मृच्छकटिक में चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम का चित्रण किया गया है। वसन्तसेना एक गणिका है जो नाट्य-समीक्षा की दृष्टि से सामान्य नायिका है। यद्यपि सामान्य नायिका का प्रेम रस की कोटि तक नहीं पहुँचता और वह 'रसाभास' ही रहता है यह माना जाता है तथापि यही गणिका वसन्तसेना का प्रेम कुलनारी के समान ही अनन्य प्रेम है वह अन्त में वधू पद को प्राप्त करती है इसलिये यह प्रेम रस की कोटि तक पहुँच ही जाता है। कामदेवायतन में गुणों के भण्डार तथा रूपयौवनसम्पन्न चारुदत्त को देखकर वसन्तसेना के हृदय में अनुराग उत्पन्न हो जाता है। प्रथम अङ्क के चतुर्थ दृश्य में चारुदत्त और वसन्तसेना परस्पर मिलते हैं। चारुदत्त उसके रूप की प्रशंसा करता है—छादिता० (पृ० ५८) और उसकी शालीनता का मन ही मन विश्लेषण करता है (पृ० ६०)। इसी समय चारुदत्त के हृदय में भी अनुराग का उदय हो जाता है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अङ्क के विप्रलम्भ शृङ्गार के अभिव्यञ्जक भावों से यह संयोग शृङ्गार परिपुष्ट होता है। तदनन्तर, पञ्चम अङ्क में वसन्तसेना अभिसारिका बनकर चलती है। यहाँ मेघगर्जना और दुर्दिन का अन्धकार तथा विद्युत् की चमक संयोग के उद्दीपन के रूप में सहायक होते हैं। मेघों ने चारुदत्त के प्रेम को उद्दीप्त कर दिया है और वह कह उठता है—

भो मेघ, गम्भीरतरं नद त्वं तव प्रसादात् स्मरपीडितं मे।
संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम् ॥ (५।४७)

वसन्तसेना चारुदत्त के घर पहुँचती है और वसन्तसेना का आलिङ्गन करके चारुदत्त अपने कोमल भावों को इस प्रकार प्रकट करता है—

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम्।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति ॥ (५।४९)

किन्तु यह मिलन चरम मिलन नहीं, इसी हेतु षष्ठ अङ्क के आरम्भ में चारुदत्त से पुनः मिलने के लिये तथा उसके आभ्यान्तर-प्रवेश का अधिकार प्राप्त करने के लिये वसन्तसेना की उत्सुकता दिखाई गई है। सप्तम अङ्क में चारुदत्त भी वसन्तसेना से मिलने के लिये उत्सुक है। किन्तु दैव का विधान! वसन्तसेना का मोटन चारुदत्त पर अभियोग और मृत्युदण्ड! यहाँ विप्रलम्भ करुण दशा को ही पहुँचने वाला है कि पुनर्मिलन होता है और चारुदत्त अकस्मात् कह उठता है—

'अहो प्रभावः प्रियसंगमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्ध्रियेत।' (१०, ४३)

अन्त में पुनः प्रिय की प्राप्ति होती है और वह भी अभीष्ट रूप में 'वधू' के रूप में—'प्राप्ता भूयः प्रियेयम्' (१०, ५६)।

इस प्रकार यहाँ आरम्भ में सम्भोग शृङ्गार का उदय होता है और वह विप्रलम्भ इत्यादि से पुष्ट होता हुआ अन्त में परिपाक दशा को पहुँच जाता है अतः यहाँ सम्भोग शृङ्गार अङ्गी रस है। वसन्तसेना के प्रति शकार का आकर्षण उसका पीछा करना, अनुनय करना तथा प्रेम प्रदर्शित करना इत्यादि शृङ्गाराभास है।

विप्रलम्भ शृङ्गार—मृच्छकटिक में अनेक स्थलों पर विप्रलम्भ की सुन्दर अभिव्यञ्जना की गई है। द्वितीय अङ्क के आरम्भ में वसन्तसेना विशेष उत्कण्ठित है (सोत्कण्ठा) हृदय में कुछ सोच रही है—'हृदयेन किमप्यालिखन्ती' (पृ० ६६) और स्नान आदि में भी रुचि नहीं रखती (पृ० ६६)। वह शून्यहृदया सी किसी की कामना कर रही है (पृ० ६८)। चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में वसन्तसेना चारुदत्त के चित्र की रचना करती है और उसी में मग्न है (पृ० १४२)। पञ्चम अङ्क के आरम्भ में जब विदूषक चारुदत्त से गणिका-प्रसङ्ग छोड़ने की प्रार्थना करता है तो वहाँ चारुदत्त की भी वसन्तसेना के प्रति उत्सुकता प्रकट होती है—'गुणहार्यो ह्यसौ जनः' (पृ० १९६)। साथ ही विरह की वेदना भी—'वयमर्थैः परित्यक्ता ननु त्यक्तैव सा मया' (पृ० १९६)। षष्ठ और सप्तम अङ्क में दोनों ओर से विरह की उत्कण्ठा व्यक्त की गई है। इस प्रकार मृच्छकटिक में विप्रलम्भ शृङ्गार का भी सुन्दर चित्रण किया गया है।

करुण रस—इष्ट की हानि से शोक का उद्रेक होता है। इसके चित्रण द्वारा सहृदयों को करुण रस का आस्वादन हुआ करता है। प्रथम अङ्क में चारुदत्त के वैभवनाश तथा दरिद्रावस्था का करुण चित्रण है (पृ० १४, २०)। 'सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति (१०, १०) अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् (१, ११)। इसी प्रकार संवाहक के भूमिपतन में (पृ० ७६)। अलङ्कारों की चोरी का समाचार सुनकर धूता की मूर्च्छा (पृ० १३४) तथा बाद में वसन्तसेना गणिका की मूर्च्छा में (पृ० १५२), चारुदत्त की मृत्युदण्ड की घोषणा होने पर रोहसेन और मैत्रेय के रुदन में (अङ्क ९) तथा धूता के अग्नि प्रवेश की बात सुनकर चारुदत्त के मूर्च्छित होने (अङ्क १०) इत्यादि के वर्णनों में करुण रस

की अभिव्यञ्जना की गई है। जब शकार वसन्तसेना का गला घोट देता है और वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है तब विट ने जो शोक प्रकट किया है उसमें तो करुण रस की अत्यन्त सुन्दर व्यञ्जना हुई है—'दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता' (पृ० ३२०)।

हास्यरस—हास्य और व्यङ्ग की दृष्टि से तो मृच्छकटिक का संस्कृत नाटकों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। शूद्रक ने अनेक प्रकार से हास्य व्यञ्जना का प्रयास किया है, जैसे—(१) विनोदी तथा हंसोड़ पात्रों द्वारा; विदूषक और शकार के अनेक कार्यों तथा संवादों से समस्त प्रकरण में हास्य की व्यञ्जना की गई है। यहाँ शकार के मूर्खतापूर्ण कार्यों से हास्य योजना की गई है। विदूषक के हास्योत्पादक कार्य ऐसे मूर्खतापूर्ण नहीं हैं। (२) विनोदपूर्ण परिस्थितियों की उद्भावना करके, जैसे द्वितीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में द्यूतकरों के झगड़े में हास्य रस की झलक है। वसन्तसेना की अत्यन्त मोटी माता के वर्णन से हास्य का उद्रेक होता है। दर्दुरक का माथुर की आँखों में धूल डालना और वीरक तथा चन्दनक का परस्पर जातिसूचक संकेत देना—हास्योत्पादक घटनाएँ हैं। (३) व्यङ्गोक्तियों द्वारा, जैसे 'किं युष्माकं यानपात्राणि वहन्ति' (पृ० १८२) इत्यादि व्यङ्गोक्तियों से एक मधुर हास्य की व्यञ्जना होती है। (४) अद्‌भुत प्रश्नोत्तरों द्वारा, जैसे वसन्तसेना के चेट तथा विदूषक के प्रश्नोत्तरों से (पृ० २००, २०२)। यहाँ विदूषक की मूर्खता तथा उसके पगपरिवर्तन करके 'सेनावसन्ते' कहने से भी हास्य रस की उद्भावना होती है वस्तुतः हास्य रस की व्यञ्जना में मृच्छकटिक संस्कृत का सर्वोत्कृष्ट नाटक है।

अन्य रस—खुण्टमोडक की भगदड़ में भयानक की, बौद्ध भिक्षु की अष्टम अङ्क के आरम्भ की उक्तियों में शान्त रस की, शर्विलक की उक्ति में युद्ध वीर की तथा चारुदत्त के वर्णन में दानवीर की और मतवाले गन्धगज से कर्णपूरक द्वारा भिक्षु की रक्षा किये जाने के वर्णन में अद्‌भुत रस की झलक मिलती है। इस प्रकार मृच्छकटिक में प्रायः सभी रसों का सुन्दरता के साथ समावेश हुआ है।

भाव चित्रण—भावों की सुन्दर वर्णना ने भी मृच्छकटिक के काव्यसौन्दर्य में वृद्धि की है। कवि ने मानवीय भावों का स्वाभाविक चित्रण किया है। चारुदत्त जैसा अत्यन्त उदार व्यक्ति इस लिये चिन्तित नहीं है कि वैभव नष्ट हो गया, सम्पत्ति तो भाग्य के अनुसार आती है और चली जाती है; उसे तो इसी बात का सन्ताप है कि सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर मित्रों की मित्रता भी शिथिल हो जाती है—'सत्यं न मे' (१, १३)। शर्विलक जैसा चोर सोचता है—चोरी को लोग निन्दित भले ही कहें किन्तु यह तो स्वतन्त्र व्यवसाय है, चाकरी की दासता इनमें नहीं और द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने चोरी करने का मार्ग भी हमें दिखाया है फिर तो यह शौर्य ही है—'कामं नीचमिदं वदन्तु' (३, ११)। चोर के शंकाग्रस्त हृदय का

स्वाभाविक वर्णन भी कवि ने किया है—'यः कश्चित्त्वरितगतिः' (४, २)। नारी के हृदय का चित्रण करने में तो कवि को अत्यधिक सफलता मिली है। दुर्दिन में अभिसरण करने वाली वसन्तसेना को निशा सपत्नी के समान प्रियमिलन में बाधक प्रतीत होती है अतः वह उसे उपालम्भ देती है—'मूढे' इत्यादि (५, १५)। बगुलों की बोली उसे घाव पर नमक छिड़कने के समान प्रतीत होती है और वह कह उठती है—'प्रावृट् प्रावृडिति ब्रवीति शठधीः क्षारं क्षते प्रक्षिपन्' (५, १५)। खैर, पुरुष तो स्वभावतः कठोर होता है वह नारी के हृदय की वेदना को क्या जाने? विद्युत् का कोमल नारी-हृदय भी वसन्तसेना के प्रति संवेदना नहीं रखता—यदि गर्जति (५.३२)।

इसी प्रकार कवि ने अनेक स्थलों पर मानव-भावनाओं का सुन्दर तथा स्वाभाविक चित्रण किया है। कवि ने अपनी अनुभूति द्वारा मानव-हृदय में प्रवेश करके अनेक सूक्ष्म भावों की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है और मानव-प्रकृति के चित्रण में वह अत्यधिक सफल हुआ है।

वर्णन-सौष्ठव—मृच्छकटिक में जीवन की दशाओं का हृदयस्पर्शी चित्रत्र किया गया है। कहीं दरिद्रावस्था का चित्रण है, कहीं वसन्तसेना की कुबेर जैसी सम्पदाओं का वर्णन है। सेंध के स्वरूप तथा भेदों का वर्णन तथा द्यूतकर्म का विशद वर्णन कवि के सूक्ष्म निरीक्षण को अभिव्यक्त करते हैं। मानव के रूप वर्णन में भी कवि को अच्छी सफलता मिली है। उदाहरण के लिये जो चारुदत्त संवाहक के शब्दों में 'प्रियदर्शन' है आर्यक के विचारानुसार 'दृष्टिरमणीय' है, जिसके रूप सौन्दर्य पर वसन्तसेना मुग्ध हो जाती हैं उसका सौन्दर्य न्यायाधीश के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—'घोणोन्नतं मुखमपाङ्गविशालनेत्रं, नैतद्धि भाजनमकारण—दूषणानाम्०' (६, १६)। वसन्तसेना की ललित गति का यथार्थ चित्र विट के इस कथन में झलकता है 'किं यासि बालकदलीव' (१. २०)। गाढ निद्रा में विलीन व्यक्ति का स्वाभाविक चित्र "निश्वासोऽस्य न शङ्कितः" (३. १८) इत्यादि शर्विलक के स्वगत कथन में देखा जा सकता है। शूद्रक ने न्यायालय का भी अलङ्कृत भाषा में वर्णन किया है—'चिन्तासक्त० (६—१४)।

प्रकृति-चित्रण—मृच्छकटिक के कुछ स्थलों पर बाह्य प्रकृति का भी चित्रण किया गया है जैसे पञ्चम अङ्क में। कुछ आलोचकों का कथन है कि अष्टम अङ्क में पुष्पकरण्डक उद्यान का सुन्दर चित्रण किया जा सकता था, किन्तु कवि ने उसकी उपेक्षा की है। वस्तुतः बात यह है कि रूपकों में घटनाओं की गत्यात्मकता अपेक्षित होती है, वहाँ कवि का ध्यान वस्तु की अभिनेयता पर रहता है तथा विस्तृत प्रकृति वर्णन से घटनाओं की स्वाभाविक गति में बाधा पड़ती है। इसलिये वहाँ प्रकृति वर्णन की उपेक्षा करना उचित ही प्रतीत होता है। पञ्चम अङ्क में वर्षा का वर्णन भी नाटकीय दृष्टि से अधिक विस्तृत हो गया है यद्यपि काव्य की दृष्टि से यह अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है।

मृच्छकटिक का अधिकांश प्रकृति वर्णन उद्दीपन के रूप में ही हुआ है यद्यपि एक दो स्थल पर कवि ने प्रकृति का सुन्दर चित्र भी प्रस्तुत किया है। चन्द्रोदय का वर्णन ही देखिये—उदयति शशाङ्कः (१, ५७)। इसी प्रकार घनान्धकार में मेघों से रजतद्रव जैसी श्वेत जलधारा गिरती है जो विद्युत् की चमक से क्षणभर को दिखलाई देती है और फिर दृष्टि से ओझल हो जाती है—इसका कितना स्वाभाविक वर्णन कवि ने किया है। 'एता निषिक्त०' (५, ४)। मेघ आकाश में छाये हैं उन्होंने विविध आकार धारण कर लिये हैं। कवि ने इनका कैसा स्वाभाविक शब्दचित्र प्रस्तुत किया है।—संसक्तैरिव० (५, ५)। अन्धकार की गहनता का भी चित्र अनूठा ही है—लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः (१, ३४)। इस स्वाभाविक प्रकृति चित्रण से यह प्रतीत होता है कि कवि के हृदय में प्रकृति के प्रति प्रेम था, अवश्य था।

फिर भी ऐसे स्थल अधिक नहीं है। अधिकांश स्थलों में मृच्छकटिक का प्रकृति चित्रण अलङ्कारों के भार से लदकर अपनी स्वाभाविक छटा को तिलाञ्जलि दे चुका है। कहीं साङ्गरूपक के द्वारा मेघ की केशव से समता दिखलाई गई है (५, २), कहीं मेघाच्छन्न आकाश को धृतराष्ट्र के मुख के समान बतलाया गया है। इन अलङ्कारों में अनेक शिक्षाप्रद कल्पनायें भी हैं (५, २६)। काव्यत्व की दृष्टि से भी इस प्रकार के अलङ्कार पूर्ण प्रकृति वर्णन त्याज्य नहीं कहे जा सकते; फिर भी इनसे प्रकृति के प्रति कवि के हृदय का अनुराग नहीं झलकता। हाँ, उद्दीपन के रूप में जो प्रकृति-चित्रण है उसमें प्रकृति का मानव हृदय के साथ सामञ्जस्य किया गया है। दुर्दिन में अभिसरण करती हुई वसन्तसेना का हृदय मेघों ने आहत कर दिया है उस पर बगुले घाव पर नमक छिड़क रहे हैं (५, १८)। वसन्तसेना जलधर की भर्त्सना करती है कि तुम बड़े निर्लज्ज हो जो प्रियतम के घर जाती हुई मुझको धारारूपी हाथों से छूते हो (५, २८)। इसी प्रकार उस अहल्या प्रेमी इन्द्र को भी उपालम्भ देती है (५, २९—३०) और वसन्तसेना को सबसे बड़ा खेद तो यह है कि विद्युत् नारी होकर भी प्रमदाओं की प्रेम-वेदना को नहीं अनुभव करती (५, ३२)।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मृच्छकटिक के प्रकृति-वर्णन में अभिज्ञानशाकुन्तल के समान बाह्यप्रकृति का मानव प्रकृति के साथ सच्चा तादात्म्य तो नहीं मिलता, फिर भी यह प्रतीत होता है कि कवि प्रकृति की ओर से नितान्त उदासीन नहीं था।

मृच्छकटिक में प्रयुक्त वृत्ति—नाटक आदि प्रबन्धों में नायक-नायिका इत्यादि का जो रसानुकूल व्यापार (चेष्टा) होता है वही नाट्यशास्त्र में वृत्ति कही जाती है। यह वृत्ति चार प्रकार की होती है—कैशिकी, सात्त्वती आरभटी और भारती। इनमें से पहली तीन वृत्तियाँ नायक-नायिका आदि की कायिक और मानसिक चेष्टाओं से सम्बन्ध रखती हैं तथा 'अर्थवृत्ति' कहलाती हैं। भारती वृत्ति का वाचिक व्यापार

से ही सम्बन्ध है। शृङ्गार रस में कैशिकी, वीर में सात्त्वती और रौद्र तथा बीभत्स रस में आरभटी वृत्ति का प्रयोग होता है। भारती वृत्ति का सभी रसों के साथ प्रयोग होता है।[1]

मृच्छकटिक में शृङ्गार रस की प्रधानता है अतः यहाँ मुख्यतया कैशिकी वृत्ति का प्रयोग किया गया है। कैशिकी वृत्ति कोमलवृत्ति है। इसमें नृत्य, गीत, विलास आदि शृङ्गार चेष्टाएँ हुआ करती हैं। मृच्छकटिक के प्रथम अङ्क में नायक-नायिका की विलास चेष्टाओं का वर्णन है। तृतीय में सङ्गीत, चतुर्थ में चित्रालेखन तथा पञ्चम में कामभोग से सम्बद्ध बहुविध व्यापारों का वर्णन है। अन्तिम अङ्कों का क्रियाकलाप भी काम-फल की प्राप्ति का साधन मात्र है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ कैशिकी वृत्ति की प्रधानता है। शर्विलक की वीर रस प्रधान चेष्टाओं में सात्त्वती और वसन्तसेनामोटन में आरभटी वृत्ति कही जा सकती है। भारती वृत्ति के अङ्ग प्ररोचना और आमुख का ऊपर निर्देश किया जा चुका है।

१०. मृच्छकटिक में भाषा शैली और अभिनेयता—

(i) **भाषा**—मृच्छकटिक की भाषा-शैली कालिदास की अपेक्षा अधिक सरल है। यह भास और कालिदास के मध्य की शैली है; संस्कृत साहित्य की अलङ्कृत शैली नहीं। इसकी भाषा समासप्रधान नहीं, उसमें स्वाभाविक सरलता है। उसमें सर्वत्र प्रसाद और लालित्य विद्यमान है। केवल कुछ स्थलों में भाषा की कृत्रिमता और अलङ्कृत शैली के दर्शन होते हैं। सर्वत्र पात्रों तथा परिस्थितियों के अनुसार भाषा का प्रयोग किया गया है। शब्द-योजना और वाक्यविन्यास की दृष्टि से भी भाषा नाटकीय है। भाषा में अभीष्ट गति है और प्रवाह भी। यही कारण है कि मृच्छकटिक के अनेक वाक्यों ने सूक्तियों का रूप धारण कर लिया है जैसे 'दुर्लभागुणा विभवाश्च', 'साहसे श्रीः प्रतिवसति, 'कामो वामः' छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति इत्यादि (देखिये परिशिष्ट) ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने लोकोक्तियों के प्रयोग से अपनी भाषा को सजीव बनाने की ओर ध्यान दिया है। इसी हेतु कहीं-कहीं सम्पूर्ण श्लोक ही सूक्तिमय दृष्टिगोचर होता है (देखिये परिशिष्ट)। कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उसका शब्द-भण्डार विशाल है। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के समुचित प्रयोग में कवि को अच्छी सफलता मिली है; कहीं-कहीं पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से भाषा में दोष अवश्य दिखलाई देता है (टिप्पणी) अनियमित समास-योजना, अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग (च, हि, तु इत्यादि) भाषा की शिथिलता-इत्यादि दोष भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

पात्रों के अनुकूल प्राकृत भाषा का प्रयोग करने में तो शूद्रक बेजोड़ ही हैं।

(ii) **मृच्छकटिक में प्रयुक्त प्राकृत भाषायें**—मृच्छकटिक के संस्कृत टीकाकार पृथ्वीधर ने मृच्छकटिक की प्राकृत भाषाओं का विस्तृत विवरण किया है। उसके

१. साहित्यदर्पण ६. २२२, २२३

आधार पर ही यहाँ विवेचन किया जाता है। प्राकृत भाषायें सात मानी गई हैं—'मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका तथा दाक्षिणात्या।' अपभ्रंश भी सात हैं—शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शबरी, द्राविड़ी, उड्रजा और ढक्की (वनेचरों की भाषा)। इन अपभ्रंशों को विभाषा भी कहा जाता है (विविधा भाषा विभाषा)। इन भाषा तथा विभाषाओं में से मृच्छकटिक में सात भाषाओं का प्रयोग हुआ है—(१) शौरसेनी, (२) अवन्तिजा, (३) प्राच्या, (४) मागधी, (५) शकारी, (६) चाण्डाली और (७) ढक्की। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) **शौरसेनी**—पृथ्वीधर के अनुसार सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना और उसकी माता, चेटी, कर्णपूरक, धूता, शोधनक और श्रेष्ठी—ये ग्यारह पात्र शौरसेनी प्राकृत बोलते हैं। इस प्राकृत में श ष स। इन तीनों के स्थान पर 'स' ही होता है जैसे नटी के कथन में 'मर्षतु मर्षत्वार्याः' इस संस्कृत के स्थान पर 'मरिसेदु मरिसेदु अज्जो' (पृ० १०)।

(२) **अवन्तिजा**—वीरक और चन्दनक इस प्राकृत को बोलते हैं। इसमें भी श ष स के स्थान पर 'स' होता है तथा यह रेफवती और लोकोक्ति बहुला है। यहाँ 'रेफवती' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। यदि इसका अर्थ यह किया जाये कि इसमें ल के स्थान पर 'र' (रेफ) हो जाता है तो वीरक-चन्दनक की भाषा से इस बात की पुष्टि नहीं होती—'मए अवलोइदं' (चन्दनक पृ० २५६), तुमं पि रण्णो पच्चइदो बलवइ (वीरक पृ० २५६)। सम्भवतः कुछ विशेष स्थलों पर इस भाषा में रेफ होगा, किनमें (?)। अथवा इसका अर्थ यह हो सकता है कि इस भाषा में 'रे' 'अरे' का प्रयोग अधिक होता है (?)[1] इस भाषा में लोकोक्तियों की प्रचुरता है यह मृच्छकटिक से प्रतीत होता है—वीरकः—जइ दे चउरङ्ग ण कप्पावेमि तदो ण होमि वीरओ। चन्दनकः—किं तुए सुणअसरिसेण (पृ० १६२)।

(३) **प्राच्य**—विदूषक प्राच्य भाषा बोलता है। इसमें भी श ष स के स्थान पर 'स' होता है तथा स्वार्थिक ककार की प्रचुरता कही गई है किन्तु मृच्छकटिक के विदूषक की भाषा में ककार की प्रचुरता दिखलाई नहीं देती। जैसे—'एसा ससुवण्णा सहिलण्णा णवणाडअदंसणुट्ठिादा सुत्तधालि व्व'—इत्यादि (पृ० ५८)।

(४) **मागधी**—संवाहक, शकार, वसन्तसेना और चारुदत्त इन (तीनों) के ३ चेट, भिक्षु, चारुदत्त का पुत्र रोहसेन—ये छः पात्र मागधी भाषा बोलते हैं। मागधी भाषा में तालव्य शकार होता है अर्थात् श, स, ष, तीनों के स्थान पर 'श' होता है; जैसे 'असिम' के स्थान पर 'अशिम्' (पृ० ५६, चेट); 'एष' के स्थान पर 'एशे' (संवाहक, पृ० ७२), 'शक्त्या' के स्थान पर 'शत्तीए' (संवाहक २१)। 'अज्जा, किकणिध मं इमश्श शहिअश्श हस्थादो दशेहिं शुवण्णकेहिं' (संवाहक, पृ० ८०)—यहाँ शकार की बहुलता दर्शनीय है।

---

१. कान्तानाथ शास्त्री तेलङ्ग, मृच्छकटिक समीक्षा पृ० ५७।

(५) **शकारी**—शकार इस भाषा का प्रयोग करता है। इसमें भी तालव्य शकार की प्रचुरता होती है और रेफ के स्थान पर लकार हो जाता है। जैसे—'अशी शुतिक्खे वलिदे अमत्थके कप्पेम शीशं उद मालएम वा' (शकार १, ३०)—यहाँ 'असिः' का अशी और मारयामि का मालएम (र को ल) हो गया है।

(६) **चाण्डाली**—दोनों चाण्डाल इसका प्रयोग करते हैं। इसमें भी श स ष के स्थान पर तालव्य शकार ही होता है तथा रेफ के स्थान पर लकार। जैसे—'थावलअ अवि शच्चं भणाशि' (स्थावरक, अपि सत्यं भणसि), चाण्डाल (पृ० ४००) के इस कथन में स के स्थान पर श और र के स्थान पर ल हैं।

(७) **ढक्की**—द्यूतकर और माथुर इसका प्रयोग करते हैं। इसके विषय में पृथ्वीधर ने कहा है—'वकारप्राया ढक्कविभाषा। संस्कृतप्रायत्वे दन्त्यतालव्यसशकार-द्वययुक्ता च।' अर्थात् इसमें वकार की प्रचुरता होती है और जब यह संस्कृतप्राय होती है तो इसमें स, श दोनों का प्रयोग होता है (अन्यथा नहीं ?); जैसे, माथुरः—'अत्थि। दशसुवण्णं धालेदि। किं तस्य' अस्ति दशसुवर्णं धारयति। कि तस्य, (पृ० ९६) यहाँ दशसुवर्णं में श और स का संस्कृत के समान ही प्रयोग हुआ है, यहाँ संस्कृतप्राय ढक्की विभाषा है। किन्तु "माथुरः—अले, भणशि तं कुलपुत्तम्' (अरे भणसि, तं कुलपुत्रम् (पृ० ९६) यहाँ भणेशि में स का श हो गया है। 'वकारप्राय' होने की बात मृच्छकटिक में दिखलाई नहीं देती अपि तु उकारप्राय होना दिखलाई देता है जैसे—'अले भट्टा, दशसुवण्णाह लुद्धु जूदकरु पपलीणु' (पृ० ७०)। ढक्की के विषय में डा० कीथ का कथन है कि वस्तुतः यह 'ढक्की' होनी चाहिये। लिपि की अशुद्धता से इसे ढक्की पढ़ लिया गया होगा। पिशेल ने इसे पूर्वी बोली माना है और ग्रियर्सन के अनुसार यह पश्चिमी बोली है। यही उचित भी जान पड़ता है। नाट्य-शास्त्र में ढक्की नाम नहीं आया। हाँ, वनेचरों की उकारप्राय भाषा का उल्लेख अवश्य हुआ है। सम्भवतः यह वही विभाषा है।

इन सात भाषाओं में शकारी और चाण्डाली दोनों मागधी की ही विभाषायें हैं। इनके रेफ को लकार हो जाता है केवल यही भेद है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि पृथ्वीधर ने दाक्षिणात्य भाषा को क्यों छोड़ दिया ? जबकि यह स्पष्ट है कि चन्दनक दाक्षिणात्य है। इन प्राकृतों के विशेष अध्ययन से ही उपर्युक्त शंकाओं का निराकरण हो सकता है।

मृच्छकटिक में छन्द तथा अलङ्कार योजना—मृच्छकटिक में स्वाभाविक ढंग से अनेक अलङ्कार आ गये हैं। कवि ने बलपूर्वक अलङ्कारों को लादा नहीं है। इसके अलङ्कार अर्थव्यञ्जना में सहायक हैं तथा काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाने वाले हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालङ्कारों की स्थान-स्थान पर सुन्दर योजना दृष्टिगोचर होती है। अप्रस्तुत प्रशंसा (१, ८—५१) काव्यलिङ्ग (१, ११), विशेषोक्ति (१ १५), और समासोक्ति आदि अलङ्कारों का भी विशेषरूप से प्रयोग किया गया है। जिनके उदाहरण संस्कृतव्याख्या में देखे जा सकते हैं।

मृच्छकटिक के कवि ने अनेक छन्दों का सफल प्रयोग किया है जिसका विस्तार-पूर्वक आगे विवेचन किया गया है।

कहना न होगा कि मृच्छकटिक की भाषा-शैली भाव के सर्वथा अनुकूल है। नाटकीय दृष्टि से भी यह भाषा-शैली उपयुक्त ही है।

(iii) मृच्छकटिक की अभिनेयता

किसी रूपक की अभिनेयता के लिये आवश्यक है कि उसकी कथावस्तु अधिक विस्तृत न हो, कथोपकथन अधिक लम्बे न हों तथा दृश्यों का विभाजन रङ्गमञ्च के अनुकूल किया गया हो। इन दृष्टियों से जब मृच्छकटिक पर विचार किया जाता है तो प्रतीत होता है:—

(१) मृच्छकटिक की कथावस्तु अत्यन्त विस्तृत है। इसका अभिनय एक बैठक में नहीं किया जा सकता। कथावस्तु में गतिशीलता तो है; किन्तु इस कथावस्तु को पूर्णतया संश्लिष्ट नहीं कहा जा सकता। प्रथम अङ्क के अन्त में चारुदत्त वसन्तसेना को पहुँचाने उसके घर जाता है। इतनी लम्बी यात्रा बिना किसी कथोपकथन के रङ्गमञ्च पर नहीं दिखलाई जा सकती। द्वितीय अङ्क में संवाहक भिक्षु होने का निश्चय करके बाहर निकलता है त्यों ही कर्णपूरक द्वारा भिक्षु वेष में उसकी रक्षा की जाती है। चतुर्थ अङ्क में विदूषक द्वारा वसन्तसेना के भवन का विस्तृत वर्णन किया गया है जो सामाजिकों को ऊब पैदा करने वाला है। पञ्चम अङ्क का वर्षा-वर्णन भी इसी प्रकार का है। षष्ठ अङ्क में चारुदत्त वसन्तसेना को सोती छोड़कर प्रभात में ही पुष्पकरण्डक उद्यान में क्यों चला जाता है? यह बात समझ में नहीं आती; अतः यह दृश्य पञ्चम अङ्क तक की कथा को अग्रिम कथा से जोड़ने वाली एक शिथिल कड़ी कही जा सकती है। अष्टम अङ्क के अन्त में शकार यह कहकर उद्यान से निकलता है 'साम्प्रतम् अधिकरणं गत्वा व्यवहारं लेखयामि' किन्तु न्यायालय में दूसरे दिन जाता है। नवम अङ्क में न्यायाधीशों के बार-बार पूछने पर भी चारुदत्त मौन ही क्यों रहता है? इस प्रकार के दोषों से कथावस्तु की सुश्लिष्टता भंग होती है। डा० राइडर का विचार है है कि मृच्छकटिक में सुश्लिष्टता (proportion) का अभाव है तथा यह अत्यन्त विस्तृत है।[1]

(२) मृच्छकटिक में दृश्यों का समुचित विभाजन नहीं, प्रत्येक अङ्क में अनेक दृश्य हैं। एक ही समय कई दृश्यों की योजना की गई है। जैसे प्रथम अङ्क में चारुदत्त के घर का दृश्य और राजमार्ग पर वसन्तसेना का पीछा करते हुए शकार का दृश्य। दोनों एक ही समय रङ्गमञ्च पर कैसे दिखलाये जा सकते हैं?

इन आक्षेपों के विरोध में यह कहा जाता है कि मृच्छकटिक की कथा अत्यन्त रोचक तथा आकर्षक है। इसमें क्रिया-व्यापार की गतिशीलता है। यह अभिनय के विचार से एक आवश्यक बात है। जहाँ तक कथावस्तु के विस्तृत होने की बात है। कुछ अंशों को छोड़ा जा सकता है जैसे वर्षा-वर्णन आदि के स्थल हटाये जा सकते

१. एम० आर० काले, मृच्छकटिक, Introduction पृ० ५५.

हैं। दृश्यविभाजन का क्रम अभिनय के अनुकूल बनाया जा सकता है। यह भी व्यवस्था करना संभव है कि एक विशाल रङ्गमञ्च पर कई दृश्य एक साथ दिखलाये जा सकें। इसके अतिरिक्त मृच्छकटिक के संवाद अभिनय के सर्वथा अनुकूल हैं। इसकी भाषा भी रङ्गमञ्च के उपयुक्त है। यदि कोई घटना अभिनय के योग्य नहीं प्रतीत होती तो उसे छोड़ा जा सकता है। हाँ, कवि ने पात्रों की वेशभूषा का निर्देश नहीं किया है। देश काल के अनुसार उसकी योजना करनी होगी। इस प्रकार यह सम्भव ही है कि मृच्छकटिक की आत्मा को सुरक्षित रखते हुए इसमें उचित परिवर्तन करके इसका अभिनय किया जा सकता है।

११. मृच्छकटिक पर एक विहंगम दृष्टि—

संस्कृत साहित्य में मृच्छकटिक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। भारत की अनेक प्रचलित भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। वस्तुतः इनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण मृच्छकटिक एक अनुपम रूपक समझा जाता है—

(१) इसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें मध्यम वर्ग से कथावस्तु चुनी गई है। उज्जयिनी के मध्यमवर्ग के जीवन का स्वाभाविक वर्णन यहाँ किया गया है। यहाँ चोर, जुआरी, धूर्त, राजसेवक, भिक्षु, पुलिस, कर्मचारी, गणिका, उदार दरिद्र आदि का चित्रण किया गया है। इसके पात्र देव या दानव नहीं हैं। वे इसी लोक के प्राणी हैं। उनके सुख-दुःख, रुचि-अरुचि हमारे समान ही हैं। लोक-भाषा उनकी भाषा है; लोक-व्यवहार उनका जीवन है। उनकी कहानी सुनकर पाठक के हृदय में आनन्द, कौतूहल, आश्चर्य, करुणा और भय आदि के भाव स्वतः ही उमड़ आते हैं। 'मृच्छकटिक संस्कृत का एकमात्र यथार्थवादी नाटक है। कालिदास और भवभूति में हमें काव्य और भावना का उदात्त वातावरण मिलता है, जबकि मृच्छकटिक में जीवन की कठोर वास्तविकता के दर्शन होते हैं।'[1]

(२) मृच्छकटिक की कथावस्तु में घटनाचक्र की गतिशीलता है। कवि ने पालक तथा आर्यक की राजनैतिक कथा को चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रणय-कथा के साथ बड़ी कुशलता से मिलाया है। यहाँ आर्यक की कथा प्रेमकथा का अविच्छेद्य अङ्ग बन गई है और इससे मृच्छकटिक की कार्यान्विति (uniy of action) में कोई बाधा नहीं पड़ती।

(३) शूद्रक के संवाद सरल तथा संक्षिप्त हैं उनमें वाग्विदग्धता तथा व्यङ्ग का दर्शन होता है। हास्य रस की अभिव्यञ्जना में तो यह संस्कृत साहित्य का सर्व-श्रेष्ठ नाटक है: (देखिये रस विवेचन)।

(४) संस्कृत साहित्य में यह एकमात्र चरित्र-प्रधान नाटक है। मृच्छकटिक के चरित्र-चित्रण की प्रमुख विशेषता यह है कि इसका प्रत्येक पात्र अपना निजी

१. संस्कृतकविदर्शन; पृ० २८८.

व्यक्तित्व लेकर सामने आता है वह केवल प्रतिनिधि-पात्र (type) नहीं है ।[1] इस दृष्टि से शूद्रक की तुलना शेक्सपीयर से की जा सकती है ।

(५) अनेक स्मरणीय पद्यों एवं सूक्तियों से यह रूपक सुशोभित है । इनमें कहीं व्यावहारिक आदर्श हैं कहीं जीवन की शिक्षायें हैं, तथा कहीं काव्य सौन्दर्य विद्यमान है ।

(६) इसकी भाषा शैली सरल एवं रोचक है । वह नाट्य के सर्वथा अनुकूल है यहाँ पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है । विविध प्राकृत भाषाओं के सफल प्रयोग की दृष्टि से तो मृच्छकटिक अद्वितीय ही है ।

(७) मृच्छकटिक में तत्कालीन समाज का सच्चा चित्रण मिलता है । केवल राजवर्ग या भ्रान्त वर्ग का ही नहीं, अपितु सामान्य समाज का । चाण्डाल से लेकर पूजातत्पर ब्राह्मण का, वेश्या से लेकर पतिव्रता साध्वी का । अतः मृच्छकटिक जन-काव्य है ।

संक्षेप में मृच्छकटिक संस्कृत-साहित्य का एक अनूठा रूपक प्रबन्ध है । यद्यपि आलोचकों ने इसके विविध विषयों का विस्तारपूर्वक उद्घाटन किया है तथापि इसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण यह अत्यन्त लोकप्रिय बना हुआ है । भारत के ही नहीं पश्चिम के समालोचकों ने भी इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है । अवश्य ही कालिदास की चारुता और भावव्यञ्जना यहाँ नहीं है, भवभूति की उदात्तता यहाँ उपलब्ध नहीं होती, फिर भी यहाँ एक अनूठी रोचकता एवं मनोरमता है जो अन्यत्र दुर्लभ है ।

---

1. Each of the twenty-seven personages who take part in the action bears a particular mark, a special trait which strongly characterizes him. Prof. Levi.

श्रीशूद्रककविप्रणीतं

❁ मृच्छकटिकम् ❁

नाटक के पात्र

(पुरुष पात्र)

सूत्रधार—प्रधान नट, अभिनय--व्यवस्थापक

अं० १. चारुदत्त—नायक, उज्जयिनी का एक नागरिक

मैत्रेय--विदूषक, चारुदत्त का मित्र

शकार—प्रतिनायक, राजा पालक का श्यालक

विट—शकार का सहचर

चेट—शकार का सेवक

अं० २. संवाहक—चारुदत्त का भूतपूर्व सेवक, द्यूतकर होने के पश्चात् बौद्ध भिक्षु

माथुर—सभिक, प्रधान द्यूतकर

दर्दुरक—अन्य द्यूतकर

कर्णपूरक—वसन्तसेना का सेवक

अं० ३. वर्द्धमानक--(चेट)—चारुदत्त का यानवाहक

शर्विलक—एक साहसी ब्राह्मण, मदनिका का प्रेमी

अं० ४. चेट—वसन्तसेना का सेवक

बन्धुल—वेश्यापुत्र, वसन्तसेना का आश्रित

अं० ५. कुम्भीलक–वसन्तसेना का सेवक

विट—वसन्तसेना का शृङ्गार–सहचर

अं० ६. रोहसेन—चारुदत्त का पुत्र

स्थावरक चेट—शकार का यानवाहक

आर्यक—गोपालक, राजा पालक का बन्दी, पश्चात् राजा

वीरक, चन्दनक—नगर-रक्षक

अं० ९. शोधनक—न्यायालय का सेवक

अधिकरणिक—न्यायाधीश

श्रेष्ठी—एक सेठ, विवादनिर्णय में अधिकरणिक का सहायक (Assessor)

कायस्थ—न्यायालय का लेखक (पेशकार)

अं० १०. चाण्डाल—शूली पर चढ़ाने वाले

मञ्च पर न आने वाले पात्र

जूर्णवृद्ध—चारुदत्त का मित्र

पालक—अवन्ती का राजा

रेभिल—उज्जयिनी का एक व्यापारी, चारुदत्त का मित्र, एक विशिष्ट गायक

सिद्ध—आर्यक की राज्य-प्राप्ति का भविष्य-वक्ता

———

(स्त्री पात्र)

नटी—सूत्रधार की पत्नी

अं० १. वसन्तसेना—नायिका, गणिका

रदनिका—चारुदत्त की परिचारिका

चेटी—वसन्तसेना की दासी

मदनिका—वसन्तसेना की प्रिय दासी शर्विलक की प्रेयसी

अं० ३. धूता—चारुदत्त की पत्नी

अं० ५. छत्रधारिणी—वसन्तसेना की परिचारिका

अं० ९. वृद्धा माता—वसन्तसेना की माता

अथ

मृच्छकटिकम्

—:०:—

प्रथमोऽङ्कः

पर्यङ्कग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो-
रन्तः प्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य ।
आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्ट्या
शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः ॥१॥

अपि च,

पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामाम्बुदोपमः ।
गौरीभुजलता यत्र विद्युल्लेखेव राजते ॥२॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमनेन परिषत्कुतूहलविमर्दकारिणा परिश्रमेण । एवमह

अथ चिकीर्षितस्य प्रकरणस्य निर्विघ्नतया समाप्तिकामः तत्रभवान् शूद्रकः आशीर्वचनरूपां नान्दीमवतारयति—पर्यङ्केति । पर्यङ्कग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेष-जानोः, अन्तःप्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य, तत्त्वदृष्ट्या व्यपगतकरणम् आत्मनि आत्मानम् एव पश्यतः शम्भोः शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः वः पातु इत्यन्वयः ।

पर्यङ्कस्य योगासनविशेषस्य ग्रन्थिः रचनं तस्य बन्धेन द्विगुणितः सः भुजगः सर्पः तस्य आश्लेषेण परिवेष्टनेन संवीते बद्धे जानुनी जानुद्वयं यस्य (तथाभूतस्य शम्भोः) अन्तः शरीराभ्यन्तरे प्राणानां प्राणादिवायूनाम् अवरोधेन निरोधेन व्युपरतसकलज्ञानानि व्युपरतं निवृत्तं बाह्यविषज्ञानं येषां तानि रुद्धानि संयतानि च इन्द्रियाणि यस्य (तस्य), तत्त्वदृष्ट्या सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या (निर्विकल्पकज्ञानेनेत्यर्थः) व्यपगतं स्वव्यापाराद् उपरतं करणम् इन्द्रियादिकं यथा तथा आत्मनि स्वस्मिन् आत्मानमेव स्वचिद्रूपमेव पश्यतः साक्षात् कुर्वतः शम्भोः शिवस्य शून्यस्य निराकारस्य ईक्षणेन दर्शनेन घटितः निष्पादितः यः लयः तल्लीनता तेन ब्रह्मणि लग्नः समाधिः वः युष्मान् सामाजिकान् पातु रक्षतु । स्रग्धरा वृत्तम् ॥१॥

मृच्छकटिक-हिन्दी-अनुवाद

प्रथम अङ्क

पर्यङ्क नामक योगासन में सन्धि-स्थल पर बाँधने से द्विगुणित सर्प के लपेटने से जिस (शिव) के घुटने (जानु) बंधे हुए हैं, (योग-बल के द्वारा) प्राण-वायु को भीतर ही रोक देने से जिसकी समस्त इन्द्रियाँ (बाह्य) ज्ञान से विरत तथा संयत (रुद्ध) हो गई है, जिसने यथार्थ ज्ञान के द्वारा इन्द्रिय-व्यापार-निरोधपूर्वक अपने भीतर आत्मा का दर्शन किया है, उस शिव की समाधि जो निराकार (ब्रह्म) के दर्शन में होने वाली एकाग्रता (लय) के कारण ब्रह्म में लगी हुई है—आप सब (सभासदों) की रक्षा करे ॥१॥

शिवजी का काले बादल जैसा कण्ठ, जिसमें पार्वती की (गौर वर्ण) भुजा रूपी लता विद्युत् पंक्ति के समान शोभित होती है, आप सब की रक्षा करे ॥२॥

(नान्दी के पश्चात्)

सूत्रधार—सभ्य जनों के कौतूहल में बाधा डालने वाले इस परिश्रम

पात्विति ।.श्यामः नीलवर्णः अम्बुदः जलदः एव उपमा सादृश्यं यस्य तादृशः, नीलकण्ठस्य शिवस्य सः कण्ठः वः युष्मान् सामाजिकान् पातु रक्षतु । यत्र कण्ठे गौर्याः पार्वत्याः भुजलता भुज एव लता अथवा भुजः लता इव (वेष्टनसाम्यात् भुजे लतात्वा-रोपः) विद्युतः लेखापङ्क्तिः इव राजते शोभते । अत्र हि 'नीलकण्ठस्य कण्ठः' इति लाटानुप्रासः 'भुज एव लता' इति रूपकम् । 'विद्युल्लेखेव' इति उपमा च । अत्र चैषामलङ्काराणां परस्परानपेक्षतया संसृष्टिः । पथ्यावक्त्रम् वृत्तम् ॥२॥

नान्द्याः अन्ते अवसाने । नन्दन्ति देवता अस्यामिति नान्दी । तथा चोक्तम् 'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते । देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ।' अथवा—'आशीर्वचनसंयुक्तः श्लोकः काव्यार्थसूचकः । नान्दीति कथ्यते प्राज्ञैः' । इयं हि अष्टपदात्मिका पत्रावली नाम नान्दी तल्लक्षणन्तु—

'यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः ।
श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावलीति सा ॥'

सूत्रधारः—प्रधाननटः । सूत्रं प्रयोगानुष्ठानं धारयति । तदुक्तम्—
'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते । सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥'

परिषदां सभ्यानां कुतूहलस्य औत्सुक्यस्य विमर्दकारिणा हानिकरेण विघ्नकरेण

मार्यमिश्रान्प्रणिपत्य विज्ञापयामि—यदिदं वयं मृच्छकटिकं नाम प्रकरणं प्रयोक्तुं व्यवसिताः। एतत्कविः किल

द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च ।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः ॥३॥

अपि च,

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां,
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद्व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य ।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा,
लब्ध्वाः चायुः शताव्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥४॥

अपि च,

समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च ।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥५॥

वा परिश्रमेण अलम् अधिकतरनान्दीपाठादिश्रमो व्यर्थ इति भावः। आर्यान् मान्यान् मिश्रान् अभ्यस्तबहुशास्त्रान्। मृदः शकटं मृच्छकटं चारुदत्तपुत्ररोहसेनक्रीडनार्थं षष्ठेऽङ्के वर्णितम्, मृच्छकटम् अत्र अस्ति इति मृच्छकटिकम् 'अत इनिठनौ' (पा० ५।२।११५ इति ठन्। अथवा, मृन्निर्मिता शकटिका मृच्छकटिका सास्त्यस्मिन्निति। अथवा, मृदः शकटिकाऽस्मिन्निति बहुव्रीहिः। प्रकरणं रूपकविशेषः। तल्लक्षणं चोक्तं दशरूपके—

'अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजादेकं कुर्याच्च नायकम् ॥
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम् ।
शेषं नाटकवत् सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ॥
नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥
कुलजाभ्यन्तरा बाह्या वेश्या नातिक्रमोऽनयोः ।
आभिः प्रकरणं त्रेधा सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ॥

'उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्रयोजनम्' इति वचनानुसारेण सामाजिकानां प्रोत्साहनार्थं प्ररोचनामवतारयति—द्विरदेति। द्वौ रदौ दन्तौ यस्य सः द्विरदः हस्ती, द्विरदेषु इन्द्र इव द्विरदेन्द्रः गजपतिः तस्य गतिरिव गतिः यस्य सः गजेन्द्रवत् गम्भीरगतिः, चकोरस्य इव नेत्रे यस्य तादृशः परिपूर्णः सकलकलायुतः इन्दुः सुधाकरः इव मुखं यस्य तादृशः शोभनः विग्रहः शरीरं यस्य तादृशः, अगाधं सत्त्वं बलं यस्य

(मङ्गलाचरण) से वस करो। इस प्रकार मैं आप आदरणीयों (सभ्य लोगों) को प्रणाम करके सूचित करता हूँ कि हम इस मृच्छकटिक नामक प्रकरण का अभिनय करने को उद्यत हैं।

यह कवि निःसन्देह हाथियों (द्विरद-दो दाँतों वाला) के राजा के समान (मन्थर) गति वाला, चकोर जैसी आँखों वाला, पूर्ण चन्द्रमा के समान (कमनीय) मुख वाला, सुन्दर शरीर (=विग्रह) वाला क्षत्रियों (द्विजों) में श्रेष्ठतम, अगाध बलयुक्त शूद्रक नामक प्रसिद्ध कवि हुआ ।।३।।

और भी—

ऋग्वेद, सामवेद, गणित, कलाओं, नाटयशास्त्र और हस्तिचालन की शिक्षा प्राप्त करके, शिवजी की कृपा से अज्ञान रूपी अन्धकार से मुक्त ज्ञान-चक्षुओं को प्राप्त करके, (अपने) पुत्र को राजा के रूप में देखकर (अपनी) परम उन्नति करने वाला अश्वमेध यज्ञ करके सौ वर्ष और दस दिन की आयु पाकर शूद्रक अग्नि में प्रविष्ट हो गया ।।४।।

और भी—

युद्ध-प्रेमी, प्रमाद-रहित, वेद के ज्ञाताओं में प्रवीण (ककुद) तपस्वी, शत्रुओं के हाथियों के साथ वाहुयुद्ध (कुश्ती) करने का इच्छुक शूद्रक (नाम का) राजा हुआ ।।५।।

तादृशः, द्विजेषु मुख्यतमः श्रेष्ठः शूद्रक इति नाम्ना प्रथितः प्रसिद्धः कविः बभूव। उपमालङ्कारः। मालभारिणी वृत्तम् ।।३।।

प्रकारान्तरेण शूद्रकं विशेषयति— ऋग्वेदमिति । ऋग्वेदं, सामवेदं, गणितं, कलां नृत्यगीतादिरूपां चतुःषष्टिसंख्यकां विद्याम् अथवा वैशिकीं कलां वेशः नेपथ्यग्रहणं तत्सम्बन्धिनीं नाटचकलाम्; हस्तिशिक्षां गजचालनादिशिक्षां च ज्ञात्वा, शर्वस्य शिवस्य प्रसादात् कृपया व्यपगतं तिमिरम् अज्ञानान्धकारः ययोः तादृशे चक्षुषी ज्ञाननेत्रे च उपलभ्य प्राप्य, पुत्रं राजानं वीक्ष्य राज्ये स्थापयित्वा, परमः समुदयः समुत्कर्षः यस्मात् तथाभूतेन अश्वमेधनामकेन यागेन इष्ट्वा, दशदिनसहितं शताब्दं शतवर्षमितम् आयुः च लब्ध्वा शूद्रकः अग्निं प्रविष्टः स्रग्धरा वृत्तम् ।।४।।

पुनरपि प्रकारान्तरेण शूद्रकं प्रशंसति—समरेति । समरेषु व्यसनी प्रसक्तः, प्रमादेन अनवधानतया शून्यः रहितः [प्रमादोऽनवधानता-इत्यमरः] वेदविदां ककुदः श्रेष्ठः प्रमुखो वा, तपोधनः तप एव धनं यस्य तादृशः, परेषां वारणैः शत्रुगजैः सह बाहुयुद्धे मल्लयुद्धे लुब्धः प्रसक्तः परेषां वारणरूपे बाहुयुद्धे प्रसक्तो वा; शूद्रको नाम क्षितिपालः किल इति (प्रसिद्धो) बभूव । तथा च सर्वगुणसम्पन्नोऽयं राजा—इति व्यज्यते। मालभारिणी वृत्तम् ।।५।।

अस्यां च तत्कृतौ

अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः ।
गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ॥६॥
तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं नयप्रचारं व्यवहारदुष्टताम् ।
खलस्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः ॥७॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अये, शून्येयमस्मत्सङ्गीतशाला । क्व नु गताः कुशीलवा भविष्यन्ति । (विचिन्त्य) आं, ज्ञातम् ।

शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम् ।
मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य ॥८॥

कृतं च संगीतकं मया । अनेन चिरसंगीतोपासनेन ग्रीष्मसमये प्रचण्डदिनकरकिरणोच्छुष्कपुष्करबीजमिवं प्रचलिततारके क्षुधा ममाक्षिणी खटखटायेते । तद्यावद्गृहिणीमाहूय पृच्छामि, अस्ति किञ्चित्प्रातराशो न वेति । एषोऽस्मि भोः कार्यवशात्प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः । अविद अविद भो, चिरसंगीदोवासणेण सुक्खपोक्खरणालाइं विअ मे बुभुक्खाए मिलाणाइं अङ्गाइं । ता जाव गेहं ।

अस्य प्रकरणस्य वस्तु संक्षेपतः बोधयति अवन्तीति—(अस्यां च तत्कृतौ मृच्छकटिके) अवन्तिपुर्याम् उज्जयिन्यां (यः) सार्थवाहः सार्थं वणिक्समूहं वहति नयति इति, द्विजश्च असौ सार्थवाहश्च द्विजसार्थवाहः (पूर्वं) वाणिज्यपरः ब्राह्मणः, युवा (सम्प्रति) दरिद्रः चारुदत्तः किल आसीत् । वसन्तस्य शोभा इव वसन्तसेना एतन्नामिका गणिका च यस्य औदार्यदाक्षिण्यादिभिः गुणैः अनुरक्ता आसीत् । उपमालङ्कारः । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥६॥

तयोरिति—तयोः चारुदत्तवसन्तसेनयोः सत् शोभनः यः सुरतोत्सवः सुरतम् एव उत्सवः सः आश्रयः आधारः यस्य तं नयस्य नीतेः प्रचारं व्यवहारम् अथवा सत्सुरतोत्सवस्य आश्रयं विषयं नीतिव्यवहारम्; व्यवहारस्य विवादविचारस्य दुष्टतां सदोषताम्, खलानां (शकारादि) धूर्त्तानां स्वभावं तथा भवितव्यतां च इदं सर्वं (अस्यां स्वकृतौ) च शूद्रकः नृपः चकार किल ग्रथितवान् । वंशस्थं वृत्तम् ॥७॥

'अये' इति विषादवचकमव्ययम् । कुशीलवाः नटाः (नटाश्चारणाश्च कुशीलवाः इत्यमरः) 'आम्' इति स्वीकृतौ स्मरणे वाऽव्ययम् शून्यमिति—अपुत्रस्य पुत्रहीनस्य गृहं शून्यम् अभिमतकार्यरहितम्; यस्य सन्मित्रं श्रेष्ठमित्रं नास्ति तस्य चिरशून्यं चिरं दीर्घः समयः एव शून्यः सन्मित्रस्य अभिमतकार्यसाधकत्वात्; मूर्खस्य दिशः स्थानानि शून्याः शून्यानि, दरिद्रस्य तु सर्वं गृहं, कालः, स्थानं च शून्यम् । निर्धनस्य सर्वमेव दुःखकरम् अतः दरिद्रस्य मम संगीतशाला शून्येति भावः । अप्रस्तुतप्रशंसाऽ-

और उसकी इस रचना (मृच्छकटिक) में—उज्जयिनी में (पहले) ब्राह्मण—व्यापारी किन्तु (बाद में) दरिद्र युवक चारुदत्त (रहता था) और वसन्त (ऋतु) की सुन्दरता जैसी (रमणीय) 'वसन्तसेना' नामक वेश्या (चारुदत्त) के गुणों के कारण (उससे) प्रेम करती थी ॥३॥

(इस मृच्छकटिक नाटक में) उन दोनों (चारुदत्त और वसन्तसेना) के श्रेष्ठ आनन्दोत्सव पर आश्रित नीति का आचरण, विवाद-विचार (व्यवहार) की दोषपूर्णता दुष्टों का स्वभाव तथा होनहार, इन सबका राजा शूद्रक ने ग्रथन किया है ॥७॥

(घूमकर और देखकर)—अरे ! हमारी यह संगीतशाला (तो) खाली है । नट कहाँ गये होंगे ? (सोचकर) हाँ जान लिया ।

पुत्रहीन का घर सूना है, जिसका अच्छा मित्र नहीं है उसका सभी समय सूना (रहता) है । मूर्ख के लिये (सभी) दिशायें सूनी हैं, निर्धन के लिये सब कुछ सूना है ॥८॥

मैंने संगीत (का कार्य) कर लिया है । इतनी देर तक संगीत में तत्पर रहने से चंचल पुतलियों वाली मेरी आँखें भूख से, गर्मी के समय में प्रचण्ड सूर्य की किरणों से सूखे हुए कमल के बीज की भाँति खटखटा रही है, तो तब तक पत्नी को बुलाकर पूछता हूँ कुछ प्रातराश (कलेवा) है या नहीं । यह (मैं) कार्यवश और प्रयोगवश प्राकृत बोलने वाला हो गया हूँ ।

खेद है कि देर तक संगीत का कार्य करने के कारण भूख से मेरे अंग सूखे हुए कमलनाल की तरह मुरझा गये हैं, तो तब तक घर जाकर पता लगाता हूँ कि

लङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥८॥

सङ्गीतकं नृत्यं गीतं तथा वाद्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते—इति सङ्गीतरत्नाकरः । **प्रचण्डस्य दिनकरस्य किरणैः उच्छुष्कं** यत् पुष्करबीजं कमलबीजं तद्वत् । **प्रचलिते तारके** ययोः ते अक्षिणी क्षुधया बुभुक्षया खटखटायेते खटखटशब्दं कुरुतः (टि०)—इत्यसम्बद्धप्रलापेन भाविनः शकारासम्बद्धभाषणस्य सूचनम् इति पृथ्वीधरः । **कार्यवशात्** प्रयोजनवशात् । **प्रयोगवशात्**—'स्त्रीषु नाप्राकृतं वदेत्' इति सुकुमारत्वेन सुप्रयोगत्वं प्राकृतस्य—इति पृथ्वीधरः । तथा च प्रयोगवशात्=नाट्यप्रयोगनियमाद् इति भावः । नाट्यप्रयोगार्थे हि बहुलं दृश्यते प्रयोगशब्दव्यवहारः यथा 'यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते" (सा० दर्पणः ६.३६) । अत्र च नटीसूत्रधारौ शौरसेनीभाषा-पाठकौ ।

अविद अविद कष्टं कष्टम् । संविधीयते इति संविधानं तदेव संविधानकम् आयोजनम् । **आयामी** अतिदीर्घः **तण्डुलोदकस्य** तण्डुलप्रक्षालनजलस्य प्रवाहो यस्यां

गदुअ आणामि, अत्थि किंहि कुटुम्बणीए उववादिदं ण वेत्ति । (परिक्रम्यावलोक्य च ।) एदं तं अम्हाणं गेहम् । ता पविसामि । (प्रविश्यावलोक्य च) हीमाणहे । किं ण क्खु अम्हाणं गेहे अण्णं विअ संविहाणअं वट्टदि । आआमितण्डुलोदअप्पवाहा रच्छा लोहकडाहपरिवत्तणकसणसारा किदविसेसआ विअ जुअदी अहिअदरं सोहदि भूमी । सिणिद्धगन्धेण उद्दीविअन्ती विअ अहिअं बाधेदि मं बुभुक्खा । ता किं पुव्वज्जिदं णिहाणं उव्वण्णं भवे । आदु अहं ज्जेव बुभुक्खादो अण्णमअं जीअलोअं पेक्खामि । णत्थि किल पादरासो अम्हाणं गेहे । पाणाधिअं बाधेदि मं बुभुक्खा इध सव्वं णवं सविहाणअं वट्टदि । एक्का वण्णअं पीसेदि अवरा सुमणाइं गुम्फेदि । (विचिन्त्य) किं णेदम् । भोदु कुटुम्बिणिं सद्दाविअ परमत्थं जाणिस्सम् (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य ।) अज्जे, इदो दाव । [अविद, अविद, भोः चिरसंगीतोपासनेन शुष्कपुष्करनालानीव मे बुभुक्षया म्लानान्यङ्गानि । तद्यावद्गृहं गत्वा जानामि, अस्ति किमपि कुटुम्बिन्या उपपादितं न वेति । इदं तदस्माकं गृहम् । तत्प्रविशामि । आश्चर्यम् । किं नु खल्वस्माकं गृहेऽन्यदिव संविधानकं वर्तते । आयामितण्डुलोदकप्रवाहा रथ्या लोहकटाहपरिवर्तनकृष्णसारा कृतविशेषकेव युवत्यधिकतरं शोभते भूमिः । स्निग्धगन्धेनोद्दीप्यमानेवाधिकं बाधते मां बुभुक्षा । तत्किं पूर्वार्जितं निधानमुत्पन्नं भवेत् । अथवाहमेव बुभुक्षातोऽन्नमयं जीवलोकं पश्यामि । नास्ति किल प्रातराशोऽस्माकं गृहे । प्राणाधिकं बाधते मां बुभुक्षा इह सर्वं नवं संविधानकं वर्तते । एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो ग्रथ्नाति । किन्विदम् । भवतु । कुटुम्बिनीं शब्दाय्य परमार्थं ज्ञास्यामि-आर्ये इतस्तावत् ।]

नटी—(प्रविश्य) । अज्ज इअम्हि । [आर्य इयस्मि ।]

सूत्रधारः—अज्जे, साअदं दे [आर्ये स्वागतं ते ।]

नटी—आणवेदु अज्जो को णिओओ अणुचिट्ठीअदु त्ति । [आज्ञापयत्वार्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति ।]

सूत्रधारः—अज्जे, (चिरसंगीदोवासणेण' इत्यादि पठित्वा) अत्थि किं पि अम्हाणं गेहे असिदव्वं ण वेत्ति । [आर्ये, अस्ति किमप्यस्माकं गेहेऽशितव्यं न वेति ।]

नटी—अज्ज, सव्वं अत्थि । [आर्य सर्वमस्ति ।]

सूत्रधारः—किं किं अत्थि । [किं किमस्ति ।]

नटी—तं जधा—गुडोदणं घिअं दहिं तण्डुलाइं अज्जेण अत्तव्वं रसाअणं सव्वं अत्थि त्ति । एव्वं दे देवा आसासेदु । [तद्यथा—गुडौदनं घृतं दधि तण्डुलाः आर्येणात्तव्यं रसायनं सर्वमस्तीति । एवं तव देवा आशासन्ताम् ।]

गृहिणी ने कुछ (खाने के लिये) बनाया भी है या नहीं। (घूमकर और देखकर) यही हमारा घर है। इसमें प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश करके और देखकर) आश्चर्य ! हमारे घर में तो कुछ दूसरा ही आयोजन हो रहा है। गली विस्तृत चावलों के जल प्रवाह से व्याप्त है। लोहे की कड़ाही को (मांजने के लिये) घुमाने से चितकबरी हुई भूमि काला तिलक लगाये हुए युवती के समान अत्यधिक शोभित हो रही है। (घी आदि की) स्निग्ध गन्ध से उद्दीप्त हुई भूख मुझे अधिक पीड़ित कर रही है, तो क्या पूर्वजों द्वारा अर्जित खजाना (गुप्तधन) निकल आया। या मैं ही भूख से संसार को अन्नमय देख रहा हूँ। हमारे घर में कलेवा (तो) है ही नहीं। भूख के मारे मेरे प्राण निकले जा रहे हैं। यहाँ सब नया आयोजन है। एक सुगन्धित द्रव्य पीस रही है, दूसरी फूलों को गूंथ रही है। (सोचकर) यह क्या (बात) है ? अच्छा ! गृहिणी को पुकार कर यथार्थ बात जान लूं। (नेपथ्य की ओर देखकर) आर्ये, इधर तो आना।

नटी—(प्रवेश करके) आर्य, यह (मैं) हूँ।

सूत्रधार—आर्ये, तुम्हारा स्वागत है।

नटी—आर्य आज्ञा दें, आपकी किस आज्ञा का पालन किया जाय ?

सूत्रधार—आर्ये, (बहुत देर तक संगीत का सेवन करने से, इत्यादि को पढ़कर) हमारे घर में खाने योग्य कुछ है या नहीं ?

नटी—आर्य, सब कुछ है।

सूत्रधार—क्या क्या है ?

नटी—जैसे—गुड़भात, घी, दही, चावल—आर्य के खाने योग्य सब सरस-भोजन है। इस प्रकार आपके देवता (उपरोक्त पदार्थों की प्राप्ति के लिये) आशीर्वाद दें।

तथाभूता रथ्या। लोहस्य कटाह तस्य परिवर्तनेन इतस्ततः चालनेन कृष्णसारा चित्रा भूमिः कृतः विशेषकः तिलकः यया तथाभूता युवती इव शोभते। प्राणाधिकं प्राणेषु अधिकं=जीवने सोढुम् अशक्यं यथा स्यात् तथा प्राणात्ययम् इति पाठान्तरं प्राणानामत्ययो यथा स्यात् तथा इत्यर्थः। उभयथापि क्रियाविशेषणम्। वर्णकं कस्तूर्यादिकं हरिद्रादिकं वा।

गुडौदनं गुडेन ओदनं गुडमिश्रितम् ओदनं वा। रसायनं रसानाम् अयनम् आश्रयभूतं सरसं भोज्यमिति भावः। आशासन्तां प्रसादविषयीकुर्वन्तु। स्वगतम् प्रकाशं च द्वे नाट्योक्ती। एतयोश्च लक्षणं दर्पणे—"अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्। सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्"—इत्युक्तम् छेत्स्यति छिन्ना भग्ना वा

सूत्रधारः—किं अम्हाणं गेहे सव्वं अत्थि । आदु परिहससि । [किमस्माकं गेहे सर्वमस्ति । अथवा परिहससि ।]

नटी—(स्वगतम्) परिहसिस्सं दाव । (प्रकाशम्) अज्ज, अत्थि आवणे । [परिहसिष्यामि तावत् ।] [आर्य, अस्त्यापणे ।]

सूत्रधारः—(सक्रोधम्) आः अणज्जे, एव्वं दे आसा छिज्जिस्सदि । अभावं अ गमिस्ससि । जं दाणि अहं वरण्डलम्बुओ विअ दूरं उक्खिविअ पाडिदो । [आः अनार्ये, एदं तवाशा छेत्स्यति । अभावं च गमिष्यसि । यदिदानीमहम् वरण्ड-लम्बुक इव दूरमुत्क्षिप्य पातितः ।]

नटी—मरिसेदु मरिसेदु अज्जो । परिहासो क्खु एसो । [मर्षतु मर्षत्वार्यः परिहासः खल्वेषः ।]

सूत्रधारः—ता किं उण इदं णवं विअ संविहाणअं वट्टदि । एक्का वण्णअं पीसेदि, अवरा सुमणाओ गुम्फेद, इअं अ पञ्चवण्णकुसुमोवहारसोहिदा भूमी । [तत्किं पुनरिदं नवमिव संविधानकं वर्तते । एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो गुम्फति, इयं च पञ्चवर्णकुसुमोपहारशोभिता भूमिः ।]

नटी—अज्ज उववासो गहिदो । [अद्योपवासो गृहीतः ।]

सूत्रधारः—किं णामधेओ अअं उववासो ।] किं नामधेयोऽयमुपवासः ?]

नटी—अहिरूअवदी णाम । [अभिरूपपतिर्नाम ।]

सूत्रधारः—अज्जे, इहलोइओ आदु पारलोइओ । [आर्ये, इहलौकिकोऽथवा पारलौकिकः ?]

नटी—अज्ज, पारलोइओ । [आर्य, पारलौकिकः ।]

सूत्रधारः— (सरोषम्) पेक्खन्तु पेक्खन्तु अज्जमिस्सा । ममकेरकेण भत्तपरि-व्वारण पारलोइओ भत्ता अण्णेसीअदि । [प्रेक्षन्तां प्रेक्षन्तामार्यमिश्राः । मदीयेन भत्तपरिव्ययेन पारलौकिको भर्तान्विष्यते ।]

नटी—अज्ज, पसीद पसीद । तुमं ज्जेव जम्मन्तरे भविस्ससि त्ति । [आर्य, प्रसीद प्रसीद । त्वमेव जन्मान्तरे भविष्यसीति ।]

सूत्रधारः—अयं उववासो केण दे उवदिट्ठो । [अयमुपवासः केन तवोप-दिष्टः ?]

नटी—अज्जस्स ज्जेव पिअवअस्सेन जूण्णवुड्ढेण [आर्यस्यैव प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन ।]

सूत्रधारः—(सकोपम्) आः दासीए पुत्ता जूण्णवुड्ढा, कदा णु क्खु तुमं कुवि-देण रण्णा पालएण णववहूकेसहत्थं विअ सुअन्धं कप्पिज्जन्तं पेक्खिस्सम् । [आः दास्याः पुत्र जूर्णवृद्ध, कदा नु खलु त्वां कुपितेन राज्ञा पालकेन नववधूकेश-हस्तमिव सुगन्धं छेद्यमानं प्रेक्षिष्ये ।]

सूत्रधार—क्या हमारे घर में सब कुछ है, या परिहास कर रही हो ?

नटी—(अपने आप) तो परिहास करूँगी। (प्रकट रूप में) बाजार में है।

सूत्रधार—री दुष्टा। इसी प्रकार तेरी आशा नष्ट हो जायगी और तू अभाव (नाश) को प्राप्त होगी। क्योंकि इस समय में (ढेंकुली के) लम्बे लट्ठे से (एक कोने पर) बंधे हुए मिट्टी के बड़े ढेले के समान ऊँचा उठाकर पटक दिया गया हूँ।

नटी—आर्य, क्षमा करें, क्षमा करें। वास्तव में यह परिहास था।

सूत्रधार—तो फिर यह नवीन-सा आयोजन है ? एक (युवती) सुगन्धित द्रव्य पीस रही है, दूसरी पुष्पों को गूंथ रही है, और यह भूमि पचरंगे पुष्पों के उपहार से शोभित है।

नटी—आज उपवास ग्रहण किया है ?

सूत्रधार—इस उपवास का क्या नाम है ?

नटी—(इसका नाम) अभिरूपपति (जिससे अनुकूल पति मिलता है) व्रत है।

सूत्रधार—आर्ये, इस लोक में होने वाला (पति) अथवा परलोक में ?

नटी—आर्य, परलोक में होने वाला।

सूत्रधार—(क्रोधपूर्वक), सज्जनों देखिये, देखिये। मेरे भात के व्यय द्वारा पारलौकिक पति ढूंढा जा रहा है।

नटी—आर्य, प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न हो जाइये। तुम ही दूसरे जन्म में (पति) होगे (इसलिए व्रत कर रही हूँ)।

सूत्रधार—यह उपवास तुम्हें किसने बताया ?

नटी—आर्य के ही प्रिय मित्र जूर्णवृद्ध ने !

सूत्रधार—(क्रोधपूर्वक) अरे दासी के पुत्र जूर्णवृद्ध, क्रोधित राजा पालक के द्वारा, नववधू के सुवासित केशपाश के समान, तुझे चीरा जाता हुआ मैं कब देखूंगा।

भविष्यति। अभावं विनाशम् च प्राप्स्यसि—अनेन वसन्तसेनायाः प्रवहणविपर्यास-मोटनयोः सूचनमिति पृथ्वीधरः। वरण्डः दीर्घकाष्ठं तस्य लम्बुकः तत्प्रान्तनिबद्धः मृत्तिकास्थूणः सः हि द्रोण्यां पानीयोद्धारे दूरमुत्थाप्याधः पात्यते—इति पृथ्वीधरः (विशेषस्तु टिप्पण्यां द्रष्टव्यः)।

पञ्चवर्णानां कुसुमानाम् उपहारेण शोभिता भूमिः। उपवासः उपोष्यतेऽस्मिन्निति व्रतम्। पारलौकिक इत्यनेन पालकव्युदासेन नायकान्तरलाभसूचनम्—इति पृथ्वीधरः। अभिरूपः सुन्दरः विद्वान् वा पति यस्मात्। 'आः' इति आक्षेपे (अव्ययम्)।

केशहस्तम् इति पाठान्तरं केशकलापम्—इत्येवार्थः। छेद्यमानं 'कपिज्जन्तं' इति प्राकृतपाठः तस्य च जूर्णवृद्धपक्षे 'छेद्यमानं' वधूपक्षे च 'कल्प्यमानम्' इति संस्कृतम् (टि०)—अनेन संहाराङ्के चारुदत्तनिग्रहसूचनम् इति पृथ्वीधरः।

नटी—पसीददु अज्जो। अज्जस्स ज्जेव पारलोइओ अअं उववासो। (इति पादयोः पतति) [प्रसीदत्वार्यः आर्यस्यैव पारलौकिकोऽयमुपवासः।]

सूत्रधारः—अज्जे उट्ठेहि। कधेहि एत्थ उववासे केण कज्जम्। [आर्ये, उत्तिष्ठ। कथयात्रोपवासे केन कार्यम्।

नटी—अम्हारिसजणजोग्गेण ब्रह्मणेण उवणिमन्तिदेण। [अस्मादृशजन-योग्येन ब्राह्मणेनोपनिमन्त्रितेन।]

सूत्रधारः—अदो गच्छदु अज्जा। अहंपि अम्हारिसजणजोग्गं बह्मणं उवणिम-न्तेमि। [अतो गच्छत्वार्या। अहमप्यस्मादृशजनयोग्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि।

नटी—जं अज्जो आणवेदि। [यदार्य आज्ञापयति।] (इति निष्क्रान्ता)

सूत्रधारः—(परिक्रम्य) हीमाणहे। का कधं मए एव्वं सुसमिद्धाए उज्जइणीए अम्हारिसजणजोग्गो ब्रह्मणो अण्णेसिदव्वो (विलोक्य) एसो चारुदत्तस्स मित्तम् मित्तेओ इदो जेव्व आअच्छदि। भोदु। पुच्छिस्सं दाव। अज्ज मित्तेअ, अम्हाणं गेहे असिदुं अग्गणी भोदु अज्जो। [आश्चर्यम् तस्मात्कथं मयैवं सुसमृद्धाया-मुज्जयिन्यामस्मादृशजनयोग्छ ब्राह्मणोऽन्वेषितव्यः। एष चारुदत्तस्य मित्रम् मैत्रेय इत एवागच्छति। भवतु। प्रक्ष्यामि तावत्। अद्य मैत्रेय, अस्माकं गृहेऽशितुमग्रणीर्भवत्वार्यः।]

(नेपथ्ये)

भो अण्णं बह्माणं उवणिमन्तेदु भवम्। वबुडो दाणि अहम्। [भोः, अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयतु भवान्। व्यापृत इदानीमहम्।]

सूत्रधारः—अज्ज, संपण्णं भोअणं णीसवत्तं अ। अवि अ दक्खिणा वि दे भव्स्सिदि। [आर्य, सम्पन्नं भोजनं निःसपत्नं च। अपि च दक्षिणापि ते भविष्यति।]

(पुनर्नेपथ्ये)

भो, दाणिं पढमं ज्जेव पच्चादिठ्ठोसि ता को दाणिं दे णिब्बन्धी पदे पदे मम् अनुबन्धेदुम्। [भोः, इदानीं प्रथमेव प्रत्यादिष्टोऽसि, तत्किं इदानीं ते निर्बन्धः पदे पदे मामनुरोद्धुम्।]

सूत्रधारः—पच्चादिट्ठौम्हि एदिणा। भोदु अण्णं ब्रह्मणं उवणिमन्तेमि। [प्रत्यादिष्टोऽस्म्येतेन। भवतु। अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि।] (इति निष्क्रान्तः)।

इत्यामुखम्

अग्रणीः अग्रेसरः। नेपथ्ये वेशपरिग्रहस्थाने [अन्तर्जवनिकामाहुर्नेपथ्यम्]।

नटी—आर्य, प्रसन्न हों। यह पारलौकिक उपवास तो आर्य के ही लिये है। (पैरों पर गिरती है)

सूत्रधार—आर्ये, उठो। बतलाओ इन उपवास में किस (व्यक्ति) से प्रयोजन है।

नटी—अपने योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रित करने से।

सूत्रधार—तब आर्ये (तुम) जाओ। मैं भी अपने योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रित करता हूँ।

नटी—जो आर्य आज्ञा देते है। (चली जाती है)

सूत्रधार—(घूमकर) आश्चर्य ! तो किस प्रकार इस सुसम्पन्न उज्जयिनी में अपने योग्य ब्राह्मण को ढूंढा जाये ? यह चारुदत्त का मित्र मैत्रेय इधर ही आ रहा है। अच्छा पूछूँ तो। आर्य मैत्रेय, आज आप हमारे घर भोजन करने के लिये अग्रणी हों।

(नेपथ्य में)

अरे ! आप दूसरे ब्राह्मण को निमन्त्रण दें। इस समय मैं व्यस्त हूँ।

सूत्रधार—आर्य, भोजन बढ़िया (सम्पन्न) है तथा (इसमें) दूसरा विपक्षी भी नहीं (निःसपत्न)। इसके अतिरिक्त तुम्हारी दक्षिणा भी होगी।

(फिर नेपथ्य में)

अरे ! (तुम्हें जब) अभी पहले ही मना कर दिया गया है, तो इस समय पग-पग पर मुझसे अनुरोध के लिये तुम्हारा क्यों आग्रह है।

सूत्रधार—इसने (तो) मना (ही) कर दिया अच्छा, दूसरे ब्राह्मण को निमन्त्रित करता हूँ।

(बाहर चला जाता है)

(आमुख समाप्त)

व्यापृतः कार्यान्तरे व्यस्तः। **सम्पन्नं** मृष्टं पक्वम् समृद्धं वा (टि०)। **निःसपत्नं** विपक्षहीनम्। **प्रत्यादिष्टः** निराकृतः। **निर्बन्धः** आग्रहः। **अनुबन्धुम्** अनुरोद्धुम्।

आमुखं प्रस्तावना। यथोक्तं साहित्यदर्पणे (६.३१·३२)—

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताःसंलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥

सा च प्रस्तावना पञ्चविधा भवति। अत्र हि तेषां प्रयोगातिशयो नाम प्रस्तावनाभेदः। तथा हि—यदि अयोग एकस्मिन् प्रयोगेऽन्यः प्रयुज्यते तेन पात्र-

(प्रविश्य प्रावारहस्तः)

मैत्रेयः—('अण्णं बम्हणं' इति पूर्वोक्तं पठित्वा) अधवा, मए वि मित्तेएण परस्स आमन्तणआइं मच्छिदव्वाइं। हा अवत्थे, तुलीअसि। जो णाम अहं तत्तभवदो चारुदत्तस्स रिद्धीए अहोरत्त पअत्तणसिद्धेहिं उग्गारसुरहिगन्धेहिं मोदकेहिं ज्जेव असिदो अब्भन्तरचदुस्सालअदुआए उवविट्ठो मल्लकसदपरिबुदो चित्तअरो विअ अङ्गुलीहिं छिविअ-छिविअ अवणेमि। णअरचत्तरवुसहो विअ रोमन्थाअमाणो चिट्ठामि। सो दाणिं अहं तस्य दलिद्ददाए जहिं तहिं चरिअ गेहपारावदो विअ आवासणिमित्तं इध आ, अच्छामि। एसो अ अज्जचारुदत्तस्स प्पिअवअस्सेण जुण्णवुड्ढेण जादीकुसुमवासिदो पावारओ अणप्पेसिदो सिद्धीकिददेवकज्जस्स अज्जचारुदत्तस्स उवणेदव्वेत्ति। ता जाव अज्जचारुदत्तं पेक्खामि। (परिक्रम्यावलोक्य च।) एसो चारुदत्तो सिद्धीकिददेवकज्जो गिहदेवदाणं बलिं हरेन्तो इदो ज्जेव आअच्छदि। [अथवा मयापि मैत्रेयेण परस्यामन्त्रणकानि समीहितव्यानि। हा अवस्थे, तुलयसि। यो नामाहं तत्रभवतश्चारुदत्तस्य ऋद्ध्याहोरात्रं प्रयत्नसिद्धैरुद्गारसुरभिगन्धिभिर्मोदकैरेवाशितोऽभ्यन्तरचतुःशालकद्वारउप विष्टो मल्लकशतपरिवृतश्चित्रकर इवाङ्गुलीभिः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वापनयामि। नगरचत्वरवृषभ इव रोमन्थायमानस्तिष्ठामि। स इदानीमहं तस्य दरिद्रतया यत्र तत्र चरित्वा गृहपारावत इवावासनिमित्तमत्रागच्छामि। एष चार्यचारुदत्तस्य प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः प्रावारकोऽनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्यार्यचारुदत्तस्योपनेतव्य इति। तद्यावदार्यचारुदत्तं पश्यामि। एष चारुदत्तः सिद्धीकृतदेवकार्यो गृहदेवतानां बलिं हरन्नित एवागच्छति।]

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टश्चारुदत्तो रदनिका च)

चारुदत्तः—(ऊर्ध्वमवलोक्य सनिर्वेदं निश्वस्य)

यासां बलिः सपदि सद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।

प्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा"।

अत्र हि निमन्त्रणार्थं कस्यचिद् ब्राह्मणस्यान्वेषणम् एकः प्रयोगः। तस्मिन् प्रस्तुते एष चारुदत्तस्य मित्रं मैत्रेय इत एवागच्छति'। इति द्वितीयः प्रयोगः। अनेन च द्वितीयेन प्रयोगेण मैत्रेयरूपस्य पात्रस्य प्रवेशः, अत्र कथोद्घातो नाम प्रस्तावनाभेदः इति केचित्।

प्रावारः उत्तरीयं हस्ते यस्य सः। तुलयसि परीक्षसे। तूलयसि इति पाठे तूलङ्करोषि लघूकरोषि इत्यर्थः, 'तत्करोति तदाचष्टे' इति तुलशब्दात् णिच्।

(उत्तरीय हाथ में लिये प्रवेश करके)

मैत्रेय—(दूसरे ब्राह्मण को) इस पूर्वोक्त को पढ़ करके) या, मुझ मैत्रेय को भी दूसरों के निमन्त्रण की कामना करनी चाहिए। हाय (निर्धन) अवस्थे ! (मेरी) परीक्षा ले रही हो। जो मैं पूज्य चारुदत्त की सम्पन्नता के कारण रात-दिन यत्नपूर्वक तैयार किये गये, (खाने के वाद) जिनका उद्गार (डकार) भी सुगन्धित है, ऐसे लड्डुओं (के खाने) से परितृप्त हुआ, भीतरी चतुःशाला के द्वार पर बैठा हुआ खाद्य पदार्थों से पूर्ण) सैंकड़ो पात्रों से घिरा हुआ चित्रकार के समान अंगुलियों से छू-छू करके छोड़ देता था, नगर प्राङ्गण के सांड की तरह जुगाली करता बैठा रहता था, वही मैं आजकल उस (चारुदत्त) की धनहीनता के कारण पालतू कबूतर के समान जहाँ-तहाँ घूमकर (भटक कर) बसेरे के लिये यहाँ आ जाता हूँ। आर्य चारुदत्त के प्रिय मित्र जूर्णवृद्ध ने जाती पुष्पों (चमेली) से सुवासित यह उत्तरीय भेजा है कि देवताओं की पूजा से निवृत्त हो जाने पर आर्य चारुदत्त को (इसे) देना, तो तव तक देवपूजा से निवृत्त आर्य चारुदत्त को देखता हूँ। (घूमकर और देखकर) यह आर्य चारुदत्त गृह-देवताओं की बलि को लिये हुए इधर ही आ रहे हैं।

(इसके बाद यथानिर्दिष्ट चारुदत्त और रदनिका प्रवेश करते हैं।)

चारुदत्त—(ऊपर देखकर और दुःख सहित लम्वी साँस लेकर) जिन मेरे घर की देहलियों पर (डाली हुई) बलि हंस और सारसों के झुण्डों के द्वारा पहले

प्रत्येनन सिद्धैः निष्पन्नैः। उद्गारेषु सुरभिगन्धो येषां तथाभूतैः **मोदकैः अशितः** अशनेन तृप्तः मल्लकानां पात्रविशेषाणां [विदूषकपक्षे-व्यञ्जनादिपूरितपात्राणां, चित्रकारपक्षे-वर्णिकापात्राणाम्] शतेन परिवृतः अपनयामि त्यजामि, अत्यन्ततृप्तत्वात् चित्रकरोऽपि विन्दुपातभयात् वर्णिकापात्रं स्पृष्ट्वा-स्पृष्ट्वा विक्षिपति। **आवासनिमित्तं** निवासार्थम्। **सिद्धीकृतं** निष्पादितं **देवकार्यं** देवार्चनं येन तस्य। पष्ठीव्रतकृतदेवकार्यस्य इति पाठान्तरम्; षष्ठीव्रते कृतं देवकार्यं येन तस्य इत्यर्थः **बलिं** पूजाद्रव्यम्। 'प्राच्या विदूषकादीनाम् इति दर्पणोक्तेः विदूषकस्य प्राच्या भाषा। 'एषः चारुदत्तः' इत्यादिना चारुदत्तस्य प्रवेशः सूच्यते।

सनिर्वेदं निर्वेदेन सहितं; निर्वेदः दारिद्र्यजनितदुःखम्। 'निश्वस्य' इत्यस्य क्रियाविशेषणम्।

विगतवैभवश्चारुदत्तः सविषादं प्राक्तनीमवस्थां स्मृत्वा कथयति—**यासामिति**। **यासां मद्गृहस्य देहलीनां** तत्र दत्तः इत्यर्थः **बलिः** बल्यन्नं **सपदि** झटिति **हंसैः सारसगणैः** च **पूर्वं** पूर्वकाले **विलुप्तः** भक्षयित्वा समाप्यते स्म; **तासु एव** (पूर्वं बल्यन्नेन समृद्धासु देहलीसु) **सम्प्रति** अधुना मम दारिद्र्यावस्थायामिति यावत् (संस्काराभावात्)

तास्वेव संप्रति विरूढतृणाङ्कुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः ॥९॥
(इति मन्दं मन्दं परिक्रम्योपविशति)

विदूषकः—एसो अज्जचारुदत्तो। ता जाव संपदं उवसप्पामि। (उपसृत्य) सोत्थि भवदे। वड्ढदु भवम्। [एष आर्यचारुदत्तः। तद्यावत्सांप्रतमुपसर्पामि। स्वस्ति भवते। वर्धतां भवान्।]

चारुदत्तः—अये सर्वकालमित्रं मैत्रेयः प्राप्तः। सखे, स्वागतम्। आस्यताम्।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। (उपविश्य) भो वअस्स एसो दे पिअवअस्सेण जुण्णवुड्ढेण जादीकुसुमवासिदो पावारओ अणुप्पेसिदो सिद्धीकिददेवकज्जस्स अज्जचारुदत्तस्स तुए उवणेदव्वो त्ति। [यद्भवानाज्ञापयति। भो वयस्य, एष ते प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः प्रावारकोऽनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्यार्यचारुदत्तस्य त्वयोपनेतव्य इति। (समर्पयति)

(चारुदत्तो गृहीत्वा सचिन्तः स्थितः)

विदूषकः—भो किं इदं चिन्तीअदि [भोः, किमिदं चिन्त्यते]

चारुदत्तः—वयस्य,

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते
घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां
धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥१०॥

विदूषकः—भो वअस्स, मरणादो दालिद्दादो वा कदरं दे रोअदि। [भो वयस्य, मरणाद्दारिद्र्याद्वा कतरन्ते रोचते]

चारुदत्तः—वयस्य

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम्।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥११॥

विरूढाः उत्पन्नाः तृणाङ्कुराः यासु तथा भूतासु कीटमुखैः अवलीढः आस्वादितः खण्डितो वा बीजाञ्जलिः अञ्जलिपरिमितं बल्यन्नं पतति। पर्यायालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥९॥

विदूषकः नायकस्य मित्रं तस्य शृङ्गारे सहायकः। तल्लक्षणं चोक्तं दर्पणे—

"कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाद्यैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः॥"

(खाई जाकर) लुप्त कर दी जाती थी, आज उगे हुए तृणाङ्कुरों से युक्त उन्हीं देहलियों पर कीड़ों के मुख द्वारा खाये हुए बीजों की अञ्जलि गिरती हैं ॥९॥

(धीरे-धीरे घूमकर बैठ जाता है।)

विदूषक—यह आर्य चारुदत्त हैं, तो अब इनके समीप चलता हूँ। (समीप जाकर) आपका कल्याण हो। आप वृद्धि को प्राप्त हों।

चारुदत्त—अरे सब समयों का मित्र मैत्रेय आया है। मित्र, स्वागत है। बैठिये।

विदूषक—जैसी आप आज्ञा देते हैं। (बैठकर) हे मित्र, जाती-पुष्पों (चमेली) से सुगन्धित यह उत्तरीय आपके प्रिय मित्र जूर्णवृद्ध ने भेजा है और कहा है कि तुम (यह उत्तरीय) देवताओं की पूजा से निवृत्त हुए आर्य चारुदत्त को दे देना। (समर्पित कर देता है)।

(चारुदत्त ग्रहण करके विचारमग्न हो जाते हैं)

विदूषक—अरे, यह क्या सोचा जा रहा है ?

चारुदत्त—मित्र ! दुःखों का अनुभव करने के अनन्तर सुख शोभित होता (अच्छा लगता) है, जिस प्रकार गहन अन्धकार में दीपक का दर्शन। किन्तु जो मनुष्य सुख से (सुख भोगने के अनन्तर) निर्धनता को प्राप्त होता है, वह तो शरीर धारण किये हुए भी मृतक के समान जीवन व्यतीत करता है ॥१०॥

विदूषक—हे मित्र, मृत्यु और निर्धनता में से तुम्हें कौनसी अच्छी लगती है ?

चारुदत्त—मित्र, निर्धनता और मृत्यु में से मृत्यु मुझे अच्छी लगती है, निर्धनता नहीं। मृत्यु में थोड़ा कष्ट है, किन्तु निर्धनता कभी न समाप्त होने वाला दुःख है ॥११॥

सर्वकालेषु सम्पत्सु विपत्सु च मित्रम्। जातीकुसुमैः वासितः। चिन्तया सहितः सचिन्तः।

कुसुमवासितं प्रावारकमुपलभ्य 'अधुनाहं वयस्यानामपि कृतेऽनुकम्प्यो जातः' इति चिन्तयन् चारुदत्तः कथयति—सुखं हीति—घनाः अन्धकाराः येषु तादृशेषु स्थानेषु दीपदर्शनम् इव दुःखानि अनुभूय हि सुखं शोभते न तु सुखमनुभूय दुःखमिति भावः। किन्तु (तु) यः नरः सुखात् सुखमनुभूय दरिद्रतां निर्धनतां याति प्राप्नोति सः मनुष्यः शरीरेण धृत : अपि सन् मृतः मृतक इव जीवति प्राणान् धारयति। अत्र च पूर्वार्द्धे उपमालङ्कारः उत्तरार्द्धे च विरोधाभासः। वंशस्थं वृत्तम् ॥१०॥

'दारिद्र्यमरणयोः कतरत् ते रोचते' इति विदूषकस्य जिज्ञासायां चारुदत्तः कथयति दारिद्र्यादिति—दारिद्र्यात् मरणाद् वा दैन्यमरणयोः मम मह्यं चारुदत्ताय

विदूषकः—भो वअस्स, अलं संतप्पिदेण। पणइजणसंकामिदविहवस्स सुरजणपीदसेसस्स पडिवच्चन्दस्स विअ परिक्खओ वि दे अहिअदरं रमणीओ। [भो वयस्य, अलं संतप्तेन। प्रणयिजनसंक्रमितविभवस्य सुरजनपीतशेषस्य प्रतिपच्चन्द्रस्येव परिक्षयोऽपि तेऽधिकतरं रमणीयः।]

चारुदत्तः—वयस्य न ममार्थान्प्रति दैन्यम्। पश्य।

एतत्तु मां दहति यद्गृहमस्मदीयं,
क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति।
संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः,
कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम् ॥१२॥

विदूषकः—भो वअस्स, एदे क्खु दासीए पुत्ता अत्थकल्लवत्ता वरडाभीदा विअ गोवालदारआ अरण्णे जहिं जहिं ण खज्जन्ति तहिं तहिं गच्छन्ति। [भो वयस्य, एते खलु दास्याः पुत्रा अर्थकल्यवर्ता वरटाभीता इव गोपालदारका अरण्ये, यत्र यत्र न खाद्यन्ते तत्र तत्र गच्छन्ति।]

चारुदत्तः—वयस्य,

सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता,
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य,
यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥१३॥

अपि च,

मरणं रोचते न तु दारिद्र्यम्, यतः मरणम् अल्पक्लेशम् अल्पः क्लेशः यस्मिन् तादृशं अल्पसमयदुःखकरत्वात्, दारिद्र्यं तु अनन्तकं न विद्यते अन्तः समाप्तिः यस्य तादृशं दुःखम्। यावज्जीवनं दुःखकरत्वात्तु दारिद्र्यम् अनन्तदुःखमेवेति भावः। काव्यलिङ्गमलङ्कारः। आर्यावृत्तम् ॥११॥

प्रणयिजनेषु प्रियजनेषु संक्रमिताः विभवाः यस्य तादृशस्य ते तव सुरजनैः देवैः पीतात् (पीतस्य) शेषस्य प्रतिपदः शुक्लप्रतिपदायाः चन्द्रस्य इव (इत्युपमा) परिक्षयः अपि क्षीणता निर्धनता वा अपि अधिकतरं शोभते। तथा चोक्तं कामन्दके—'धर्मार्थं क्षीणकोषस्य क्षीणत्वमपि शोभते। सुरैः पीतावशेषस्य कृष्णपक्षे विधोरिव। रघुवंशे च—'पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः' (५.१६)।

चारुदत्तः—स्वसंतापस्य कारणं वर्णयति—एतदिति। भ्रमन्तः मधुकराः कालात्यये संशुष्कसान्द्रमदलेखं करिणः कपोलम् इव यद् अतिथयः क्षीणार्थमिति

विदूषक—हे मित्र ! सन्ताप से बस करो (मत करो) स्नेही जनों को सम्पत्ति अर्पित करने वाले आपका क्षय (दारिद्रय) भी देवताओं के पान करने से बचे हुए प्रतिपदा तिथि के चन्द्रमा के (क्षीणता के) समान और अधिक सुन्दर है।

चारुदत्त—मित्र ! मुझे धन नष्ट हो जाने के विषय में दुःख नहीं है। देखो—

यह तो मुझे तप्त कर रहा है (पीड़ा पहुँचा रहा है) कि हमारे घर को 'धन रहित है' इससे अतिथि लोग इसी प्रकार त्याग देते हैं जिस प्रकार (मद का) समय व्यतीत हो जाने पर भ्रमण करते हुए भौंरे जिसकी घनी मदराशि सूख गई है, ऐसे हाथी के कपोल को त्याग देते हैं ॥१२॥

विदूषक—हे मित्र ! ये दासी के पुत्र कलेवा (जैसे तुच्छ) धन बर्रे से डरे हुए गोपाल-बालकों के समान वन में, वहीं-वहीं जाते है जहाँ खाये (भोगे, काटे) नहीं जाते हैं।

चारुदत्त—मित्र !

सचमुच धन-नाश-जन्य चिन्ता मुझे नहीं है (क्योंकि) भाग्य के अनुसार धन (प्राप्त) होता है या चला जाता है (किन्तु) यह तो मुझे सन्तप्त करता है कि जिसका धन रूपी आश्रय नष्ट हो जाता है उसकी मित्रता से भी मनुष्य शिथिल हो जाते हैं ॥१३॥

और भी—

अस्मदीयं गृहं परित्यजन्ति, एतत्तु मां दहति-इत्यन्वयः।

भ्रमन्तः इतस्ततः गच्छन्तः मधुकराः भ्रमराः कालात्यये मदसमयापगमे संशुष्काः शोषं प्राप्ताः सान्द्राः घनाः मदलेखाः दानराजयः यस्य तथाभूतं करिणः गजस्य कपोलं यथा परित्यजन्ति तथैव यत् अतिथयः (इदानीम्) क्षीणार्थं धनहीनमेतद् गृहम् इति कृत्वा अस्मदीयं गृहं परिवर्जयन्ति परित्यज्य अन्यत्र गच्छन्ति। एतत् तु इदमेव मां दहति संतापयति, न तु अर्थस्य अभावः इति भावः। उपमालङ्कारः। वसन्ततिलका-वृत्तम् अत्र च विधेयाविमर्शो नाम दोषः इति केचित् ॥१२॥

दास्याः पुत्राः अधमाः। कल्ये प्रातःकाले वर्त्यते अनेन इति कल्यवर्तः प्रातराशः। अर्थाः एव कल्यवर्ताः अर्थकल्यवर्ताः। इमानि धनानि यत्र नोपभुज्यन्ते तत्रैव गच्छन्ति, कृपणानामेव गृहे तिष्ठन्ति इति भावः।

सन्तापकारणमेव वचनभङ्ग्या निर्वक्ति—सत्यमिति—सत्यं, विभवनाशेन धनक्षयेण कृता मे मम चिन्ता नास्ति हि यतः धनानि तु भाग्यक्रमेण भाग्यानुसारेण (कदाचित्) भवन्ति जायन्ते (कदाचिच्च) यान्ति विनश्यन्ति। किंकृता तर्हि चिन्ता इत्याह-यत् धनमेवाश्रयः धनाश्रयः नष्टः धनाश्रयः यस्य तादृशस्य जनस्य (मम वा) सौहृदादपि मैत्रीभावाद् अपि जनाः शिथिलीभवन्ति प्रयोजनाभावात् मैत्रीमपि न कुर्वन्ति, एतत्तु

दारिद्र्याद्धियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥१४॥

विदूषकः—भो वअस्स, तं ज्जेव अत्थकल्लवत्तं सुमरिअ अलं संतप्पिदेण । [भो वयस्य, तमेवार्थकल्यवर्तं स्मृत्वालं संतापितेन ।]

चारुदत्तः—वयस्य, दारिद्र्यं हि पुरुषस्य
निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम् ।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च ॥१५॥

तद्वयस्य, कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः । गच्छ । त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदूषकः—ण गमिस्सम् । [न गमिष्यामि ।]

चारुदत्तः—किमर्थम् ।

विदूषकः—जदो एव्वं पूइज्जन्ता वि देवदा ण दे पसीदन्ति । ता को गुणो देवेसु अच्चिदेसु । [यत एवं पूज्यमाना अपि देवता न ते प्रसीदन्ति । तत्को गुणो देवेष्वर्चितेषु ।]

मां दहति संतापयति । काव्यलिङ्गालङ्कारः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१३॥

दारिद्र्यस्य सर्वापत्कारणत्वं कथयति—दारिद्र्यादिति—मनुष्यः दारिद्र्यात् निर्धनत्वात् ह्रियं लज्जाम् एति प्राप्नोति लज्जितो भवति । ह्रीपरिगतः ह्रियं प्राप्तः लज्जितः पुरुषः तेजसः प्रतापात् प्रभ्रश्यते प्रभ्रष्टो भवति । निस्तेजाः तेजोरहितः परिभूयते तिरस्क्रियते भयकारणतेजोविरहात् । परिभवात् तिरस्कारात् निर्वेदं ग्लानिम् आपद्यते प्राप्नोति । निर्विण्णः ग्लानिमापन्नः खिन्नमनाः वा शुचं शोकम् एति वृथा जीवनमिति चिन्तयति । शोकपिहितं शोकयुक्तः बुद्ध्या विवेकेन परित्यज्यते । निर्बुद्धिः बुद्धिहीनश्च मनुजः क्षयं विनाशम् एति उक्तश्च 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' । अहो, निधनता निवृत्तं धनं यस्मात्सः निधनः तस्य भावः दरिद्रता सर्वासाम् आपदां विपदाम् आस्पदं स्थानम् । कारणमालालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१४॥

निश्वासः इति—दारिद्र्यं हि पुरुषस्य (इति वक्ष्यमाणेनान्वयः) चिन्तायाः

दरिद्रता से (मनुष्य) लज्जा को प्राप्त होता है, लज्जा को प्राप्त (व्यक्ति) तेज से भ्रष्ट (तेजरहित) हो जाता हैं, तेजहीन अपमानित होता है। अनादर से ग्लानि को प्राप्त हो जाता है, ग्लानि युक्त शोक को प्राप्त होता है, शोकाकुल व्यक्ति को विवेक के द्वारा त्याग दिया जाता है, विवेकशून्य नाश को प्राप्त हो जाता है। अहो! निर्धनता सब आपदाओं का निवास स्थान है ॥१४॥

विदूषक—हे मित्र! धन का स्मरण करके सन्ताप मत करो।

चारुदत्त—मित्र! दरिद्रता ही पुरुषों की चिन्ता का घर (निवास स्थान) है, परम अनादर (का कारण) है, दूसरी (अनोखी) शत्रुता है, मित्रों की घृणा, स्वजन तथा अन्य लोगों के द्वेष का कारण है, वन में चले जाने का मन होता है, और पत्नी द्वारा (भी) तिरस्कार होता है, हृदय में स्थित शोकानल भस्म नहीं कर देता, संतप्त कर रहा है ॥१५॥

तो मित्र! मैंने गृह-देवताओं को वलि दे दी है। जाओ, तुम भी चौराहे पर मातृ-देवियों को वलि भेंट कर दो।

विदूषक—मैं नहीं जाऊँगा।

चारुदत्त—क्यों?

विदूषक—जब इस प्रकार (विधिवत्) पूजे जाते हुए भी देवता तुम पर प्रसन्न नहीं होते हैं तो देवताओं की पूजा करने से क्या लाभ (पूजित देवों में क्या गुण है)?

[कथं मया जीवनं निर्वाह्यमेवंरूपायाः] निवासः आश्रयः, परेषां परिभवः तिरस्कारः तिरस्कारस्य स्थानमिति भावः। अथवा परश्चासौ परिभवश्चेति कर्मधारयः। अपरम् अन्यत् विलक्षणं वा वैरं दरिद्रं प्रति निर्हेतुकमेव वैरं जायते। मित्राणां जुगुप्सा घृणा तत्कारणमिति यावत्, स्वजनानां वन्धूनां जनानां साधारणजनानां च विद्वेषस्य करणं साधनं च भवति। यतश्च दरिद्रस्य कलत्रात् स्वभार्यातः (अपि) परिभवः अनादरो भवति अतस्तस्य वनं गन्तुं बुद्धिर्जायते [भवति चेति चकारो हेतौ वनगमने कलत्र-परिभवो हेतुः इति पृथ्वीधरः] तथा च दारिद्र्यम् हृदिस्थः हृदये स्थितः शोकस्य अग्निः (यः) न च दहति 'भस्मसात् तु न करोति संतापयपि च किन्तु संतापं जनयति। अत्र च अतिशयोक्ति—उल्लेख—रूपक--विशेषोक्तिप्रभृतयोऽलङ्काराः। शिखरिणी-वृत्तम् ॥१५॥

विदूषकेण उपेक्षितस्य देवार्चनस्य अवश्यकर्तव्यतां निरूपयति—वयस्येति। तपसा तपस्यया मनसा ध्यानेन वाग्भिः वचनैः स्तुतिपाठैः या बलिकर्मभिश्च पूजिताः अर्चिताः देवताः शमिनां शम एषां विद्यते इति शमिनः तेषां (फलाप्राप्तावपि कोपरहितानामिति भावः) नित्यं सततं तुष्यन्ति सन्तुष्टाः भवन्ति, अतः विचारितं

चारुदत्तः—वयस्य, मा मैवम् । गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः ।

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः ।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः ॥१६॥

तद्गच्छ । मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदूषकः—भो ण गमिस्सम् । अण्णो को वि पउञ्जीअदु । मम उण बम्हणस्स सव्वं ज्जेव विपरीदं परिणमदि । आदंसगता विअ छाआ वामादो दक्खिणा दक्खिणादो वामा । अण्ण अ एदाए पदोसवेलाए इध राअमग्गे गणिआ विडा चेडा राजवल्लहा अ पुरिसा संचरन्ति । ता मण्डूअलुद्धस्स कालसप्पक्स मूसिको विअ अहिमुहावदिदो वज्झो दाणिं भविस्सम् । तुमं इध उवविट्ठो किं करिस्ससि । [भोः न गमिष्यामि । अन्यः कोऽपि प्रयुज्यताम् । मम पुनर्ब्राह्मणस्य सर्वमेव विपरीतं परिणमिति । आदर्शगतेव छाया वामतो दक्षिणा दक्षिणतो वामा । अन्यच्चैतस्यां प्रदोषवेलायामिह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाश्च पुरुषाः संचरन्ति । तस्मान्मण्डूकलुब्धस्य कालसर्पस्य मूषिक इवाभिमुखापतितो वध्य इदानीं भविष्यामि । त्वमिह उपविष्टः किं करिष्यसि ।

चारुदत्तः—भवतु । तिष्ठ तावत् । अहं समाधिं निर्वर्तयामि ।

(नेपथ्ये)

तिष्ठ वसन्तसेने तिष्ठ ।

(ततः प्रविशति विटशकारचेटैरनुगम्यमाना वसन्तसेना ।)

विटः—वसन्तसेने, तिष्ठ तिष्ठ ।

किं त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या
नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती ।
उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टदृष्टि-
र्व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि ॥१७॥

वितर्कैः किं किं प्रयोजनम् ? नित्यविधीनामनुष्ठाने सफलं निष्फलं वेति वितर्को न कार्यः इति भावः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥१६॥

प्रयुज्यताम् नियुच्यताम् । आदर्शगता दर्पणगता । गणिका वेश्या । राजवल्लभाः राज्ञः प्रियाः । अत्र गणिकाशब्देन वसन्तसेना राजवल्लभशब्देन च शकारः सूच्यते । अत्र च 'नासूचितस्य प्रवेशः' सूच्यते । इति नाटयसिद्धान्तानुसारेण गणिकादीनां सञ्चारं वर्णयित्वा तेषां प्रवेशः सूच्यते मण्डूकलुब्धस्य मण्डूकभक्षणाभिलाषिणः कालसर्पस्य सम्मुखागतः मूषिको यथा बध्यो भवति तथाऽहं भविष्यामि । निर्वर्तयामि

चारुदत्त—मित्र ! ऐसा नहीं, गृहस्थी का यह (देवताओं की पूजा करना) नित्य कर्म है।

तप, मन वचन एवं बलिकर्मों के द्वारा पूजा किये गये देवता शान्त मन वाले लोगों से सदा सन्तुष्ट रहते हैं, (इस विषय में) विचार करने से क्या ॥१६॥

तो जाओ, मातृदेवियों को बलि भेंट कर दो।

विदूषक—जी, मैं नहीं जाऊँगा। किसी और को भेज दो। फिर मुझ (बेचारे) ब्राह्मण के लिये सब उल्टा ही फल होता है, जिस प्रकार दर्पण में पड़ने वाली परछाई बायें से दाहिनी ओर तथा दायें से बाईं ओर (होती है)।

और इस रात्रि (के प्रथम प्रहर) में यहाँ राजपथ (सड़क) पर गणिकायें, विट, चेट और राजा के स्नेही जन घूम रहे हैं, जिससे मेंढक के लोभी काले सर्प के सामने आये हुए चूहे के समान अब (मैं) वध्य हो जाऊँगा। तुम यहाँ बैठे हुए क्या करोगे ?

चारुदत्त—अच्छा, तब तक ठहरो। मैं सन्ध्या (समाधि) समाप्त करता हूँ।

(नेपथ्य में)

ठहर, वसन्तसेना ठहर !

(इसके अनन्तर विट, शकार और चेट से पीछा की जाती हुई वसन्तसेना प्रवेश करती है)।

विट—वसन्तसेने, ठहर ठहर।

भय से सुकुमारता को त्याग देने वाली, नृत्य के प्रयोग से दक्ष चरणों को शीघ्रता से रखती हुई, व्याकुल एवं चञ्चल कटाक्षों से दृष्टिपात करती हुई तुम शिकारी के पीछा करने से चकित हुई हरिणी के समान क्यों जा रही हो ॥१७॥

पूर्णं करोमि।

वेश्यानागरिकयोः सन्देशं परस्परं विटति इति विटः तल्लक्षणं तूक्तं दर्पणे-सम्भोगहीनसम्पद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः। वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् (३.४१)। भयेन त्वरितगमनां वसन्तसेनां प्रति तदनुगामी विटः कथयति—किमिति त्वं वसन्तसेने, भयेन परिवर्तितं द्रुतगमनाय अन्यथाकृतं सौकुमार्यं सुकुमारता यया सा नृत्यप्रयोगेण नृत्याभ्यासेन विशदौ स्वच्छौ दक्षौ वा चरणौ क्षिपन्ती इतस्ततः पातयन्ति उद्विग्नेन व्याकुलेन चञ्चलेन च कटाक्षेण अपाङ्गदर्शनेन विसृष्टा परिक्षिप्ता दृष्टिः यया सा व्याधस्य अनुसारेण अनुगमनेन चकिता त्रस्ता हरिणीव मृगीव किं कथं यासि ? उपमालङ्कारः। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१७॥

शकारः—च्यिष्ठ वशन्तशेणिए च्यिष्ठ ।

किं याशि धावशि पलाग्रशि पक्खलन्ती,
वाशू पशीद ण मलिस्सशि चिट्ठ दाव ।
कामेण दज्झदि हु मे हडके तवश्शी,
अङ्गाललाशिपडिदे विग्र मंशखण्डे ॥१८॥

(तिष्ठ वसन्तसेनिके, तिष्ठ ।)

[किं यासि धावसि पलायसे प्रस्खलन्ती,
वासु प्रसीद न मरिष्यसि तिष्ठ तावत् ।
कामेन दह्यते खलु मे हृदयं तपस्वि,
अङ्गारराशिपतितमिव मांसखण्डम् ॥]

चेटः—अज्जुके, चिट्ठ चिट्ठ ।

उत्ताशिता गच्छशि अन्तिका मे शंपुण्णपच्छा विग्र गिम्हमोरी ।
ओवग्गदी शामिग्रभट्टके मे वण्णे गडे कुक्कडशावके व्व ॥१९॥

(आर्ये, तिष्ठ तिष्ठ ।)

[उत्त्रासिता गच्छस्यन्तिकान्मम संपूर्णपक्षेव ग्रीष्ममयूरी ।
अववल्गति स्वामिभट्टारको मम वने गतः कुक्कुटशावक इव ॥]

विटः—वसन्तसेने, तिष्ठ तिष्ठ ।

किं यासि वालकदलीव विकम्पमाना,
रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती ।
रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती,
टङ्कैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा ॥२०॥

शकारः राष्ट्रीयः, 'शकारो राष्ट्रियः स्मृतः' इति वचनात् । तस्य लक्षणन्तु 'मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः । सोऽयमनूढाभ्राता, राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः । शकारस्य वचनं तु अपार्थमक्रमं व्यर्थं पुनरुक्तं हतोपमम्, लोकन्यायविरुद्धञ्च शकारवचनं विदुः ।

त्वरितगमनां वसन्तसेनामनुसरन् शकारः कथयति—**किं यासीति** । हे वासु बाले, त्वं **प्रस्खलन्ती** प्रस्खलनं कुर्वती सती किं **यासि धावसि पलायसे** (इति शकार-

शकार—ठहरो, वसन्तसेना ठहरो।

लड़खड़ाती हुई क्यों जा रही हो, दौड़ रही हो, भाग रही हो। वाले, प्रसन्न हो, मरोगी नहीं तनिक ठहरो। अङ्गारों के ढेर में गिरे हुए मांस के टुकड़े के समान मेरा वेचारा हृदय काम के द्वारा जलाया जा रहा है।

चेट—आर्ये ठहरो, ठहरो।

(तुम) मेरे पास से भयभीत हुई सम्पूर्ण पंखों वाली ग्रीष्म काल की मयूरी के समान जा रही हो। मेरा स्वामी (शकार) वत में गये हुए मुर्गे के वच्चे के समान (तुम्हारे-पीछे) उतावली के साथ आ रहा है ॥१९॥

विट—ठहरो, वसन्तसेना ठहरो।

अभिनव कदली के समान (भय से) कांपती हुई, वायु के द्वारा चञ्चल अंचल (दशा) वाले लाल रेशमी वस्त्र को धारण करती हुई टांकी द्वारा छेदी जाती हुई मनः शिला की कन्दरा (से निकलने वाली चिनगारियों) के समान (केशपाश में गुंथे हुए) रक्त-कमलों की कलियों को (वेग से दौड़ने के कारण) विखराती हुई कहाँ जा रही हो? ॥२०॥

वचनत्वेन पौनरुक्तचम्) प्रसीद प्रसन्ना भव, तिष्ठ तावत् स्थितावपि न मरिष्यसि। मे मम तपस्वि वराकं हृदयं अङ्गारराशौ पतितं अग्निपुञ्जपतितं मांसखण्डमिव कामेन दह्यते खलु। उपमालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१८॥

वसन्तसेनामुद्दिश्य चेटोऽपि कथयति उत्त्रासितेति। मम—अन्तिकात् समीपात् सम्पूर्णपक्षा परिपूर्णपुच्छयुक्ता ग्रीष्ममयूरी इव उत्त्रासिता भीता गच्छसि। वने गतः कुक्कुटस्य शावकः शिशुः इव मम स्वामी भट्टारकः नृपः (नृप इव प्रभावयुक्तः) अववल्गति ससंभ्रमम् आगच्छति। उपमालंङ्कारः। इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥१९॥

भूयोपि विटः सानुरोधं कथयति—किं यासीति। हे वसन्तसेने, त्वं बाल-कदली इव नूतनकदली इव विकम्पमाना कम्पिता पवनेन लोलदशा चञ्चलदशा यस्य तादृशं रक्तांशुकं रक्तवर्णं वसनं वहन्ती धारयन्ती तथा टङ्कैः पाषाणदारणैः विदार्यमाणा मनः शिलायाः गुहा इव रक्तोत्पलानां रक्तवर्णकमलानां प्रकरः समूहः तन्निर्मितमाल्यमिति यावत् तस्य कुड्मलं कलिकाम् उत्सृजन्ती गमनप्रवाहेण पातयन्ती मनः शिलानां विदारणसमयेऽपि रक्तोत्पलकलिका इव प्रादुर्भवन्ति तथा च—'पक्षे रक्तोत्पलप्रकरवत् कुड्मलान् कुड्मलसदृशप्रस्तरखण्डान् उत्क्षिपन्ती' इति काले-महोदयः। किं कथं यासि? अत्र उत्प्रेक्षा उपमा च। वसन्ततलिका वृत्तम् ॥२०॥

शकारः—चिट्ठ वसन्तशेणिए चिट्ठ ।

मम मअणमणङ्गं मम्मथं वड्ढअन्ती
णिशि अ शअणके मे णिद्दअं आक्खिवन्ती ।
पशलशि भअभीदा पक्खलन्ती खलन्ती
ममवशमणुजादा लावणश्शेव कुन्ती ॥२१॥

तिष्ठ वसन्तसेने, तिष्ठ ।

मम मदनमनङ्गं मन्मथं वर्धयन्ती
निशि च शयनके मम निद्रामाक्षिपन्ती ।
प्रसरसि भयभीता प्रस्खलन्ती स्खलन्ती
मम वशमनुयाता रावणस्येव कुन्ती ॥

विटः—वसन्तसेने,

किं त्वं पदैर्मम पदानि विशेषयन्ती
व्यालीव यासि पतगेन्द्रभयाभिभूता ।
वेगादहं प्रविसृतः पवनं न रुन्ध्यां
त्वन्निग्रहे तु वरगात्रि न मे प्रयत्नः ॥२२॥

शकारः—भावे भावे,

एशा णाणकमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका
णिण्णाशा कुलणाशिका अवशिका कामस्स मञ्जूशिका ।
एशा वेशवहू शुवेशणिलआ वेशङ्गणा वेशिआ
एशे शे दश णामके मइ कले अज्जावि मं णेच्छदि ॥२३॥

पुनः शकार एव वसन्तसेनामुद्दिश्य प्रलपति—ममेति । मम मदनम् अनङ्गं वर्द्धयन्ती उद्दीपयन्ती, निशि रात्रौ च शयनके शय्यायां मम निद्रां स्वचिन्तनेन आक्षिपन्ती विक्षिपन्ती, अधुना भयभीता प्रस्खलन्ती स्खलनं कुर्वती प्रसरसि धावसि रावणस्य कुन्ती इव मम वशं त्वम् अनुयाता आगता । शकारवचनत्वादत्र मदनमनङ्गम् इत्यादि पुनरुक्तम्, रावणस्येव कुन्ती इति हतोपमम् । मालिनीवृत्तम् ॥२१॥

तथापि वेगेन प्रसरन्तीं वसन्तसेनां विलोक्य विटः कथयति—किमिति । त्वं पदैः स्वपदविक्षेपैः मम पदानि विशेषयन्ती अतिशयाना पतगेन्द्रात् गरुडात् यद् भयं तेन अभिभूता आक्रान्ता व्याली इव सर्पी इव किं कथं यासि ? हे वरगात्रि, अहं

शकार—ठहर, वसन्तसेना ठहर।

मेरे मदन, अनङ्ग, मन्मथ (काम) को बढ़ाती हुई, और रात्रि में बिस्तर पर मेरी नींद को उचटाती हुई (तुम) भयभीत होकर लड़खड़ाती हुई भाग रही हो (किन्तु तुम) उसी प्रकार मेरे वश में आ गई हो जिस प्रकार रावण के वश में कुन्ती (आ गई थी) ॥२१॥

विट—हे वसन्तसेना!

पक्षिराज (गरुड) से भयभीत हुई सर्पिणी के समान अपने डगों से मेरे डगों को भी अतिक्रान्त करती हुई तुम क्यों जा रही हो? वेग से दौड़कर (क्या) मैं (अत्यन्त तीव्रगामी) वायु को (भी) नहीं रोक सकता? (अवश्य रोक सकता हूँ) हे सुन्दर शरीर वाली, मेरा प्रयत्न तुम्हें (बलात्) रोकने का नहीं है ॥२२॥

शकार—महानुभाव महानुभाव!

यह (वसन्तसेना) नाणक (शिवाङ्कचिह्नित सिक्के) को चुराने वाले (चोरों) के लिये काम-वासना की कशा (कोड़ा अर्थात् प्रेरक, उद्दीपक), मछली खाने वाली नर्तकी, नीची नाक वाली (अप्रतिष्ठित), कुल को नष्ट करने वाली, वश में न होने वाली (स्वच्छन्द), काम की पिटारी' यह वेश्यालय की स्त्री, सुन्दर वेश्यालय में निवास करने वाली, वेश्यालय की कामिनी, वेश्या—ये दस नाम मैंने इसके रक्खे हैं, अब भी यह मुझे नहीं चाहती है ॥२३॥

वेगात् प्रविसृतः प्रचलितः पवनम् न रुन्ध्याम् (काक्वा) किं न रुन्ध्याम्? अपि तु रुन्ध्याम् एव [निरुन्ध्याम् इति पाठान्तरं निरोद्धुं शक्नुयाम् इत्यर्थः], त्वन्निग्रहे तव ग्रहणे तु न मे प्रयत्नः अनायासेन एव त्वां ग्रहीतुं शक्नोमि इति भावः। यद्वा त्वां बलाद् ग्रहीतुमहं न प्रयते अपितु अनुनयेन एवेति भावः। उपमालङ्कारः। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥२२॥

पुनरपि शकारः विटमुद्दिश्य कथयति—एषेति। एषा वसन्तसेना नाणकानि टङ्कणादिवित्तानि मुष्णन्ति इति नाणकमोषिणः तेषां कामस्य कशिका कशा तस्कराणां कामस्य प्रेरिकेत्यर्थः उक्तञ्च—तस्कराः पाण्डकाः मूर्खाः सुख-प्राप्त-धनास्तथा लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या आसां प्रायेण वल्लभाः इति, मत्स्याशिका मत्स्य-भक्षिका, लासिका नर्तकी, निर्नासा निम्ननासा [प्रतिष्ठाशून्य इति भावः] निःस्वाशा इति पाठान्तरं निःस्वानां निर्धनानाम् आशा इत्यर्थः (अलभ्यत्वादाशामात्रमेव केवलम्—काले), कुलस्य नाशिका, अवशिका दानेनापि कस्याऽपि वशे नायाति इति कामस्य मञ्जूषिका पेटिका एषा वसन्तसेना वेशः वेश्यालयः तस्य वधूः सुवेशानां सुन्दरपरिधानानां निलयः आश्रयः अथवा सुवेशः सुन्दरवेश्यालयः एव निलयः यस्याः तथाभूता, वेशस्य अङ्गना रमणी, वेशिका वेशवती (वेशोऽस्याअस्तीति) एतानि दश नामानि मया शकारेण कृतानि किन्तु अद्यापि इयं मां नेच्छति नाभिलषति। अत्र शकारोक्तत्वात् पुनरुक्तिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२३॥

भाव भाव

[एषा नाणकमोषिकामकशिका मत्स्याशिका लासिका
निर्नासा कुलनाशिका अवशिका कामस्य मञ्जूषिका ।
एषा वेषवधूः सुवेशनिलया वेशाङ्गना वेशिका
एतान्यस्या दश नामकानि मया कृतान्यद्यापि मां नेच्छति ॥

विटः—

प्रसरसि भवविक्लवा किमर्थं प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा ।
विटजननखघट्टितेव वीणा जलधरगर्जितभीतसारसीव ॥२४॥

शकारः—

झणज्झणन्तबहुभूशणद्दमिश्शं
किं दोवदी विअ पलाअशि लामभीदा ।
एशे हलामि शहशत्ति जधा हणूमे
विश्शावशुश्श वहिणिं विअ तं शुभद्दम् ॥२५॥
[झणज्झणद् बहुभूषणशब्दमिश्रं किं द्रौपदीव पलायसे रामभीता ।
एष हरामि सहसेति यथा हनूमान्विश्वावसोर्भगिनीमिव तां सुभद्राम् ॥]

चेटः—

लामेहि अ लाअवल्लहं तो क्खाहिशि मच्छमंशकम् ।
एदेहिं मच्छमंशकेहिं शुणआ मलअं ण शेवन्ति ॥२६॥
[रमय च राजवल्लभं ततः खादिष्यसि मत्स्यमांसकम् ।
एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानो मृतकं न सेवन्ते ॥]

विटः—भवति वसन्तसेने,

किं त्वं कटीतटनिवेशितमुद्वहन्ती
ताराविचित्ररुचिरं रशनाकलापम् ।
वक्त्रेण निर्मथितचूर्णमनःशिलेन
त्रस्ताद्भुतं नगरदैवतवत्प्रयासि ॥२७॥

पुनरपि विटः वसन्तसेनां कथयति—प्रसरतीति—विटजननखविघट्टिता वीणा इव प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा त्वं) जलधरगर्जितभीतसारसीव भयविक्लवा किमर्थं प्रसरसि ? इत्यन्वयः ।

विटजनानां नखैः विघट्टिता परिमृष्टा घर्षिता वा वीणा इव प्रचलिताभ्यां

विट—विट लोगों के नख से घर्षित वीणा के समान (भागने के कारण) हिलते हुए कुण्डलों (के बार बार स्पर्श) से घर्षित कपोलों वाली (तुम) बादल के गर्जन से भयभीत सारसी की भाँति भयातुर होकर क्यों भागी जा रही हो ॥२४॥

शकार—राम से डरी हुई द्रौपदी के समान अनेक आभूषणों के शब्द से मिश्रित झनझनाहट के साथ तुम क्यों भागी जा रही हो ? हनुमान ने विश्वावसु की उस (विख्यात) वहिन सुभद्रा का जिस प्रकार अपहरण किया था, उसी प्रकार यह मैं बलात् तुम्हारा हरण करता हूँ ॥२५॥

चेट—राजा के कृपापात्र (शकार) के साथ रमण करो, तब तुम मछली और माँस खाना। इन दोनों मछली और माँस के कारण (परितृप्त हुए शकार के) कुत्ते मृतक (मृत पशु आदि की लाश) का सेवन नहीं करते हैं ॥२६॥

विट—सुश्री वसन्तसेने, कटि-प्रान्त से बंधी हुई, तारों के समान विचित्र और सुन्दर मेखला (तगड़ी) को धारण करती हुई, चूर्णीकृत मनःशिला (मनसिल) को भी (अपने गुलाबी वर्ण से) तिरस्कृत करने वाले मुख से युक्त, भयभीत हुई नगर देवता की भाँति विचित्र रूप से क्यों भागी जा रही हो ॥२७॥

चञ्चलाभ्यां कुण्डलाभ्यां घृष्टं गण्डयोः कपोलयोः पार्श्वं यस्याः तादृशी त्वं वसन्तसेना मनोहरत्वात् शब्दवत्वाद्वा वीणातुल्यत्वम् इति पृथ्वीधरः। जलधरस्य मेघस्य गर्जितेन भीता सारसी इव भयेन विक्लवा व्याकुला सती किमर्थं प्रसरसि त्वरितं गच्छसि। मालोपमालङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥२४॥

पुनः शकारः वसन्तसेनामुद्दिश्य कथयति—झणदिति। झणज्झणदिति यः बहुभूषणानां शब्दः तेन मिश्रं यथा स्यात् तथा (क्रियाविशेषणम्) [झणज्झणायमान- इति पाठान्तरम् झणज्झणायमानानि बहूनि भूषणानि तेषां शब्देन मिश्रं यथा स्यादेवम् इत्यर्थः] रामाद् भीता द्रौपदी इव किं कथं पलायसे ? यथा हनुमान विश्वा-वसोः एतन्नामकस्य सिद्धजातीयस्य नृपस्य भगिनीं तां प्रसिद्धां सुभद्रां हरति स्म तथा अहं शकारः सहसा बलात् त्वां वसन्तसेनां हरामि। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥२५॥

चेटोऽपि वसन्तसेनां प्रति पुनः कथयति—रमयेति। हे वसन्तसेने, राजवल्लभं नृपतेः प्रियं राजश्यालमिति यावत् रमय ततः तस्मात् मत्स्याश्च मांसं च मत्स्यमांसं तदेव मत्स्यमांसकं त्वं खादिष्यसि। (अस्य गृहे) एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां हेतुभ्यां मत्स्यमांसप्राचुर्याद् इति भावः श्वानः कुक्कुराः मृतकं न सेवन्ते न खादन्ति। मात्रा-समकं छन्दः इति पृथ्वीधरः। आर्यावृत्तम् इत्यन्वये ॥२६॥

वसन्तसेनामनुसरन् विटः पुनः कथयति—किं त्वमिति। हे वसन्तसेने त्वं कटितटनिवेशितं तारविचित्ररुचिरं रशनाकलापम् उद्वहन्ती निर्मथितचूर्णमनः

शकारः—

अम्हेहिं चण्डं अहिशालिअन्ती वणे शिआली विअ कुक्कुलेहिं ।
पलाशि शिग्घं तुलिदं शवेग्गं शवेण्टणं मे हलअं हलन्ती ॥२८॥

[अस्माभिश्चण्डमभिसार्यमाणा वने शृगालीव कुक्कुरैः ।
पलायसे शीघ्रं त्वरितं सवेगं सवृन्तं मम हृदयं हरन्ती ॥]

वसन्तसेना—पल्लवआ पल्लवआ, परहुदिए परहुदिए [पल्लवक पल्लवक, परभृतिके परभृतिके ।]

शकारः—(सभयम्) भावे भावे, मणुश्शे मणुश्शे । [भाव भाव मनुष्या मनुष्याः ।]

विटः—न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

वसन्तसेना—माहविए माहविए । [माधविके माधविके ।]

विटः—(सहासम् ।) मूर्खंपरिजनोऽन्विष्यति ।

शकारः—भावे भावे, इत्थिआं अण्णेशदि । [भाव भाव, स्त्रियमन्वेषयति]

विटः—अथ किम् ।

शकारः—इत्थिआणं शदं मालेमि । शूले हगे । [स्त्रीणां शतं मारयामि । शूरोऽहम् ।]

वसन्तसेना—(शून्यमवलोक्य ।) हद्धी हद्धी, कधं परिअणो वि परिब्भट्टो । एत्थ मए अप्पा शअं ज्जेव रक्खिदव्वो । [हा धिक् । हा धिक् । कथं परिजनोऽपि परिभ्रष्टः । अत्र मयात्मा स्वयमेव रक्षितव्यः ।]

विटः—अन्विष्यतामन्विष्यताम् ।

शकारः—वसन्तशेणिए, विलव विलवपरहुदिअं वा पल्लवअं वा शव्वं एव्व वशन्तमाशम् । मए अहिशालिअन्तीं तुमं को पलित्ताइश्शदि ।

किं भीमशेणे जमदग्गिपुत्ते कुन्तीशुदे वा दशकन्धले वा ।
एशे हगे गेण्हिअ केशहत्थे दुश्शाशणश्शाणुकिदिं कलेमि ॥२९॥

णं पेक्ख णं पेक्ख ।

थिलेन वक्त्रेण त्रस्ता नगरदैवतवद् अद्भुतं किं प्रयासि इत्यन्वयः ।

त्वं कटितटे निवेशितं संस्थापितं ताराभिः मुक्ताभिः विचित्रश्चासौ रुचिरश्च तं रशनाकलापं मेखलाभूषणम् उद्वहन्ती धारयन्ती, निर्मथिता तिरस्कृता चूर्णा चूर्णीकृता मनःशिला येन तादृशेन वक्त्रेण मुखेन उपलक्षिता ('इत्थंभूतलक्षणे' इति तृतीया) अथवा निर्मथिता अतएव चूर्णा या मनःशिला तत्तुल्येन मुखेन लक्षिता त्रस्ता भयभीता सती नगरदैवतेन तुल्यं नगरदैवतवत् अद्भुतं यथा स्यात् तथा ('द्रुतम्'

शकार—कुत्तों के द्वारा पीछा की जाती हुई शृगाली के समान हमारे द्वारा तीव्र गति से अनुसरण की जाती हुई मेरे हृदय को समूल हरण करती हुई (तुम) शीघ्र, तुरन्त और वेगपूर्वक भाग रही हो ॥२८॥

वसन्तसेना—हे पल्लवक ! पल्लवक ! !, परभृतिके ! परभृतिके ! !

शकार—(भयसहित) भाव ! मनुष्य, मनुष्य ।

विट—डरना नहीं चाहिये, डरना नहीं चाहिये ।

वसन्तसेना—माधविके ! माधविके !

विट—[हँसी पूर्वक मूर्ख, भृत्य को ढूंढ रही है ।

शकार—स्त्री को ढूंढ रही है ।

विट—और क्या ?

शकार—सौ स्त्रियों को मार डालूंगा । मैं शूर हूँ ।

वसन्तसेना—(सूना देखकर) हाय ! हाय ! क्या सेवक भी छूट गये । यहाँ मुझे स्वयं ही अपनी रक्षा करनी चाहिये ।

विट—ढूंढा जाय, ढूंढा जाय ।

शकार—हे वसन्तसेना ! विलाप कर, विलाप कर, परभृतिका के लिये, पल्लवक के लिये या सारे वसन्त मास के लिये । मेरे द्वारा अभिसरण की जाती हुई तुझको कौन बचायेगा ?

क्या जमदग्नि का पुत्र भीमसेन; या कुन्ती का पुत्र या दशशीश (रावण) ? यह मैं (तुम्हारे) केशपाश को पकड़ कर दुःशासन का अनुकरण करता हूँ ॥२९॥

देखो तो, देखो तो,

इति पाठान्तरम्) किं केन हेतुना प्रयासि गच्छसि ? तद्धितोपमा उत्प्रेक्षा वा । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥२७॥

पुनः शकारः वसन्तसेनामुद्दिश्य कथयति—अस्माभिरिति । वने कुक्कुरैः शृगाली इव अत्र अस्माभिः चण्ड शीघ्रम् अभिसार्यमाणा अनुगम्यमाना त्वं मम हृदयं सवृन्तं समूलबन्धं हरन्ती शीघ्रं त्वरितं सवेपं यथा स्यात् तथा पलायसे । शकारोक्तित्वात् शीघ्रत्वादीनां पुनरुक्तिः । उपमालङ्कारः । उपजाति वृत्तम् ॥२८॥

पल्लवकः वसन्तसेनायाः परिचारकः परभृतिका माधविका परिचारिके । भाव इत्यादरसूचकं सम्बोधनम् । परिजन सेवकः ।

वसन्तसेनां भीषयन् शकारः कथयति—किमिति । भीमसेनः, जमदग्निपुत्रः परशुरामः, कुन्तीसुतः अर्जुनः कर्णो वा अथवा दशकन्धरः दशग्रीवः रावणः किं त्वां रक्षितुं समर्थः इति शेषः । एषः अहम् शकारः केशहस्ते केशकलापे गृहीत्वा धृत्वा दुःशासनस्य अनुकृतिम् अनुकरणं करोमि । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥२९॥

अशी शुतिक्खे वलिदे अ मत्थके
कप्पेम शीशं उद मालएम वा ।
अलं तवेदेण पलाइदेण
मुमुक्खु जे होदि ण शे क्खु जीअदि ।।३०।।

[वसन्तसेनिके, विलप विलप परभृतिकां वा पल्लवकं वा सर्वं वा वसन्तमासम् । मयाभिसार्यमाणां त्वां कः परित्रास्यते ।

किं भीमसेनो जमदग्निपुत्रः कुन्तीसुतो वा दशकन्धरो वा ।
एषोऽहं गृहीत्वा केशहस्ते दुःशासनस्यानुकृतिं करोमि ॥

ननु प्रेक्षस्व ननु प्रेक्षस्व ।

असिः सुतीक्ष्णो वलितं च मस्तकं कल्पये शीर्षमुत मारयामि वा ।
अलं तवैतेन पलायितेन मुमूर्षुर्यो भवति न स खलु जीवति ॥]

वसन्तसेना—अज्ज, अबला क्खु अहम् । [आर्य अबला खल्वहम् ।]

विटः—अतएव ध्रियसे ।

शकारः—अदो ज्जेव ण मालीअशि । [अतएव न मार्यसे]

वसन्तसेना—(स्वगतम् ।) कथं अणुणओ वि शे भअं उप्पदेदि । भोदु । एव्वं दाव । (प्रकाशम् ।) अज्ज, इमादो किंपि अलंकरणं तक्कीअदि । [कथमनुनयोऽप्यस्य भयमुत्पादयति । भवतु । एवं तावत् । आर्य, अस्मात्किमप्यलङ्करणं तर्क्यते ।]

विटः—शान्तम् । भवति वसन्तसेने, न पुष्पमोषमर्हत्युद्यानलता । तत्कृतमलङ्करणैः ।

वसन्तसेना—ता किं क्खु दाणिम् । [तत्किं खल्विदानीम् ।]

शकारः—हगे वरपुलिशमणुश्शे वाशुदेवके कामइदव्वे [अहं वरपुरुषमनुष्यो वासुदेवः कामयितव्यः ।]

वसन्तसेना—(सक्रोधम् ।) शन्तं शन्तम् । अवेहि । अणज्जं मन्तेशि । [शान्तं शान्तम् । अपेहि । अनार्यं मन्त्रयसि ।]

शकारः—(सतालिकं विहस्य ।) भावे भावे पेक्ख दाव । मं अन्तलेण शुशिणिद्धा एशा गणिआदालिआ यम् । जेण मं भणादि 'एहि । शन्तेशि किलिन्तेशि' त्ति हगे ण गामन्तलं ण णअलन्तलं वा गडे । अज्जुके, शवामि भावश्श शीशं अत्तणकेहिं पादेहिंतव ज्जेव पश्चाणुपश्चिआए आहिण्डन्ते शन्ते

असिरिति मम असिः कृपाणः सुतीक्ष्णः अस्ति तव मस्तकं च वलितं लालितं सुन्दरं वा वर्तते । शीर्षं शिरः कल्पये छिनद्मि मारयामि वा अतएव तव एतेन पलायि-

किया है—'भगवति सह्यवासिनी प्रसीद प्रसीद'। भवभूति जैसे दाक्षिणात्य कवियों ने ही दुर्गादेवी का 'सह्यवासिनी' नाम से वर्णन किया है। उत्तरी कवियों ने उसका विन्ध्यावासिनी के' नाम से उल्लेख किया है। (२) इस नाटक में कुछ ऐसे अद्भुत शब्दों का प्रयोग किया गया है; जो दक्षिण में ही प्रचलित हैं; जैसे वसन्तसेना के हाथी का नाम 'खुण्टमोडक'। (३) नाटककार ने चन्दन के मुख से दाक्षिणात्यों की विशेषता का उल्लेख कराया है—'वयं दाक्षिणात्या अव्यक्तभाषिणः'। इसके साथ ही म्लेच्छ भाषाओं के नाम भी गिनाये हैं। इन भाषाओं में से अधिकांश दक्षिण में ही बोली जाती हैं। (४) 'कर्णाटककलह' जैसी दाक्षिणात्य विशेषताओं का भी वर्णन यहाँ किया गया है।

इस विवेचन से यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि कवि का निवासस्थान उज्जयिनी ही था। उज्जयिनी में दक्षिण के लोग भी राज्य के पदों पर प्रतिष्ठित रहा करते थे। चन्दनक ऐसा ही एक पदाधिकारी था। इसी हेतु मृच्छकटिक के वर्णनों में दक्षिणी भारत में प्रचलित शब्दों का प्रयोग तथा प्रथाओं का वर्णन मिलता है। दण्डी के कथन से भी शूद्रक की राजधानी उज्जयिनी ही प्रकट होती है।

शूद्रक का धार्मिक विश्वास—मृच्छकटिक के अनुशीलन से विदित होता है कि शूद्रक वैदिक धर्म का अनुयायी था। उसने ऋग्वेद और सामवेद का ज्ञान प्राप्त किया था तथा अश्वमेध यज्ञ भी किया था। 'अग्निं प्रविष्टः' कथन के आधार पर यह भी अनुमान किया जाता है कि उसने 'अग्निहोत्र' करने का व्रत धारण किया था। वह बड़ा तपस्वी (तपोधनः) था और शिव का भक्त था जैसा कि 'शम्भोः समाधिः वः पातु' 'नीलकण्ठस्य कण्ठः' तथा 'जयति वृषभकेतुः' (१०—४५) इत्यादि से प्रतीत होता है। उसने शिव के प्रसाद से अज्ञानरूपी अन्धकार से मुक्त ज्ञान-चक्षुओं को प्राप्त किया था। वह देवी देवताओं कि पूजा में भी विश्वास रखता था। यही कारण है कि उसने चारुदत्त के मुख से देवपूजा का महत्त्व प्रकट कराया है। वह वर्णाश्रम धर्म में भी निष्ठा रखता था। भरतवाक्य के श्लोकों में ब्राह्मणों के सदाचारी और राजाओं के धर्मनिष्ठ होने की कामना की गई है। इसी प्रकार उसके कुछ अन्य विश्वासों तथा मान्यताओं का परिचय भी मिलता है। जैसे 'कांश्चित्तुच्छयति॰' (१०, ६०) इत्यादि उक्तियों से प्रतीत होता है कि वह भाग्यवादी था 'चारुदत्त' आदि के संवादों में शूद्रक की अन्य मान्यताओं की भी झलक मिलती है।

शूद्रक की विद्वत्ता—मृच्छकटिक नाटक से प्रतीत होता है कि शूद्रक बहुज्ञ था। उसने विविध विषयों का अध्ययन किया था। वेद, गणित कला और हस्तिशिक्षा का ज्ञान प्राप्त किया था। कवि ने अपने आपको 'वेदविदां ककुदं' कहा है। 'अङ्गारककविरुद्धस्य॰' इत्यादि उक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि वह ज्योतिष विद्या का भी ज्ञाता था। वह शकुन-विज्ञान से भी परिचित था; वह विविध शकुनों के फलाफल

वर्णन से प्रतीत होता है। द्यूतकला और चौर्यकला का तो शूद्रक ने सूक्ष्म एवं गम्भीर अनुशीलन किया था। लोक-विद्या में वह अत्यन्त निपुण रहा होगा। तभी तो समाज के विविध वर्गों के कार्य तथा व्यापारों का सूक्ष्म विश्लेषण उसने किया है। धर्मशास्त्र से भी वह परिचित था तथा उसने धर्मशास्त्र में वर्णित न्यायाधीश आदि के गुणों एवं कर्त्तव्यों का भली भाँति अनुशीलन किया था; मनु के वचनों का उल्लेख करने से तथा न्यायाधीशों की मानसिक दशा के विश्लेषण से यह भली भाँति प्रतीत होता है।

शूद्रक का साहित्यिक ज्ञान भी उच्च कोटि का था। उसने विविध छन्दों और अलङ्कारों का सुन्दर प्रयोग किया है तथा नाटकीय रचना-विधान की दृष्टि से भी मृच्छकटिक नाटक विशेष महत्त्व रखता है। तभी तो दशरूपक आदि में अन्य नाटकों के उदाहरणों के साथ-साथ मृच्छकटिक के भी उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वामन ने भी मृच्छकटिक के उदाहरण दिये हैं तथा 'श्लेषगुण' की योजना करने वाले कवियों में शूद्रक को प्रमुख स्थान दिया है। शूद्रक का भाषा-सम्बन्धी पाण्डित्य भी गम्भीर था। वह संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का प्रौढ़ विद्वान् था। जितनी प्राकृत भाषाओं का प्रयोग मृच्छकटिक नाटक में मिलता है, उतनी भाषाओं का अन्य किसी नाटक में नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मृच्छकटिक का रचयिता अनेक विषयों का ज्ञाता था।

शूद्रक की रचनायें—इस समय शूद्रक की केवल एक कृति 'मृच्छकटिक' ही उपलब्ध है। दण्डी तथा वामन इत्यादि के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि शूद्रक की अन्य भी कोई रचना रही होगी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व 'पद्मप्राभृतक' नामक एक 'भाण' दक्षिणी भारत में प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक का कथन है कि यह मृच्छकटिक के कर्त्ता की ही रचना है। अभी इसकी वास्तविकता के विषय में कुछ कहना कठिन है। सम्पादक श्री वल्लभदेव ने यह भी बतलाया है कि 'वत्सराजचरित' (वीणावासवदत्त) भी शूद्रक की तृतीय रचना है तथा सम्भवतः शूद्रक की चतुर्थ रचना 'कामदत्त' नामक एक प्रकरण ग्रन्थ है। ये ग्रन्थ हमारे सामने उपस्थित नहीं है अतः इनके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्भवतः इनके अनुशीलन से मृच्छकटिक के रचयिता के जीवन तथा समय पर विशेष प्रकाश पड़ सकेगा।

—:o:—

१. 'Chaturbhani' श्री वल्लभदेव द्वारा सम्पादित, (मद्रास १६२२)।

तलवार बड़ी तीक्ष्ण है और तुम्हारा मस्तक बड़ा सुन्दर है, मैं तुम्हारा सिर काट डालूँगा या मार डालूँगा। तुम्हारा इस प्रकार भागना निरर्थक है, (क्योंकि) जो मरने वाला होता है वह निश्चित रूप से जीवित नहीं रहता ॥३०॥

वसन्तसेना—आर्य ! मैं तो अबला हूँ।

विट—इसीलिये (तुम अब तक) जीवन धारण कर रही हो।

शकार—इसीलिये तुम नहीं मारी जा रही हो।

वसन्तसेना—(अपने आप) इसकी नम्रता भी किस प्रकार भय उत्पन्न करती है ? अच्छा, तो ऐसा करूँ। (प्रकट रूप में) आर्य ! मुझसे किसी आभूषण की अपेक्षा है ?

विट—पाप शान्त हो ! हे वसन्तसेना, उद्यान-लता पुष्प-हरण के योग्य नहीं है। इसलिये आभूषणों को रहने दो।

वसन्तसेना—तो अब क्या ?

शकार—मुझ पुरुषश्रेष्ठ, मनुष्य वासुदेव की (तुम्हें) कामना करनी चाहिए।

वसन्तसेना—(क्रोध सहित) पाप शान्त हो ! दूर। अशिष्ट (आर्यों के अयोग्य) बात कहता है।

शकार—(ताली बजाकर और हँस कर) भाव ! भाव !! तनिक देखो तो सही। यह वेश्या-पुत्री वास्तव में मुझसे प्रेम करती है, जिससे मुझे यह कहती है "आओ, थक गये हो खिन्न हो गये हो।" मैं न किसी दूसरे गाँव को गया था, न किसी दूसरे नगर को गया था। भट्टालिके, मैं अपने पैरों से महानुभाव (विट) के सिर की शपथ उठाता हूँ कि तुम्हारे ही पीछे-पीछे घूमता हुआ श्रान्त (थका हुआ) और खिन्न हो गया हूँ।

तेन पलायनेन अलं व्यर्थमिति भावः (यतः) यः मुमूर्षुः आसन्नमरणः भवति स खलु निश्चयेन न जीवति। अत्र प्रथमचतुर्थचरणयोः वंशस्थं द्वितीये तृतीये च इन्द्रवज्रा। अतः उपजातिवृत्तम् ॥३०॥

ध्रियसे जीवसि। **अनुनयः** अनुकूलता। **तर्क्यते** अन्विष्यते। **शान्तं पापम्** न दैवं तथा कुर्यात्। **पुष्पमोषं** पुष्पत्रोटनम्। अयं भावः यथा उद्यानलतायाः पुष्पत्रोटनेन शोभाहानिर्जायते तथैव अलङ्कारहरणेन तव सौन्दर्यहानिर्भविष्यति तच्च **नोचितम्** !

शान्तं न वाच्यमेतद्। **अपेहि** दूरं गच्छ। **अनार्यम्** अनुचितम्। **सहस्ततालं** हस्ततालिकापूर्वकम्। **माम्** अन्तरेण मम विषये ('अन्तरान्तरेण युक्ते द्वितीया' इति द्वितीया)। **सुस्निग्धा** सम्यग् अनुरक्ता। **शपे** शपथं करोमि। **पृष्ठानुपृष्ठिकया** पश्चात् पश्चात्। **आहिण्डमानः** भ्राम्यन्। **वेशे** वेश्यालये वासः तस्य **विरुद्धं** प्रतिकूलम्।

किलिंन्ते म्हि शंवुत्ते। [भाव भाव, प्रेक्षस्व तावत्। मामन्तरेण सुस्निग्धैषा गणिकादारिका ननु। येन मां भणति—'एहि। श्रान्तोऽसि' 'क्लान्तोऽसि' इति। अहं न ग्रामान्तरं न नगरान्तरं वा गतः। भट्टालिके, शपे भावस्य शीर्षमात्मीयाभ्यां पादाभ्याम्। तवैव पृष्ठानुपृष्ठिकयाहिण्डमानः श्रान्तः क्लान्तोऽस्मि संवृत्तः]।

विटः—(स्वगतम्।) अये, कथं शान्तमित्यभिहिते श्रान्त इत्यवगच्छति मूर्खः। (प्रकाशम्।) वसन्तसेने, वेशवासविरुद्धमभिहितं भवत्या। पश्य,

तरुणजनसहायश्चिन्त्यतां वेशवासो
विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव।
वहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं
सममुपचर भद्रे सुप्रियं चाप्रियं च॥३१॥

अपि च—

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः
फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बर्हिणा।
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा तयैवेतरे
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज॥३२॥

वसन्तसेना—गुणो क्खु अणुराअस्य कारणम्, ण उण बल्लक्कारो। [गुणः खल्वनुरागस्य कारणम्, न पुनर्बलात्कारः]।

शकारः—भावे भावे एशा गब्भदाशी कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि ताह दलिद्दचालुदत्ताह अणुलत्ता ण मं कामेदि। वामदो तश्श घलभ्। जधा तव मम अ हत्यादो ण एशा पलिब्भंशदि तधा कलेदु भावे। [भाव भाव, एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्यानुरक्ता न मां कामयते। वामतस्तस्य गृहम्। यथा तव मम च हस्तान्नैषा परिभ्रश्यति तथा करोतु भावः]।

विटः—(स्वगतम्।) यदेव परिहर्तव्यं तदेवोदाहरति मूर्खः। कथं वसन्तसेनार्यचारुदत्तमनुरक्ता। सुष्ठु खल्विदमुच्यते—'रत्नं रत्नेन संगच्छते' इति। तद्गच्छतु। किमनेन मूर्खेण। (प्रकाशम्।) काणेलीमातः, वामतस्तस्य सार्थवाहस्य गृहम्?

वसन्तसेनायाः कथनं वेशवासविरुद्धमिति विटः द्वाभ्यां कथयति—तरुणेति—वेशवासः वेश्यालये निवासः तरुणजनः युवजनः सहायो यस्य तादृशः तरुणजनापेक्षी इत्यर्थः इति चिन्त्यताम् विचार्यताम्। त्वं च मार्गजाता मार्गे उत्पन्ना लताइव गणिका इति विगणय विचारय। हि यतः त्वं पण्यभूतं विक्रेयस्वरूपं तथा च धनहार्यं धनेन

विट—(अपने आप) अरे ! यह मूर्ख किस प्रकार 'शान्त' ऐसा कहे जाने पर श्रान्त (थका हुआ) समझ रहा है ? (प्रकट रूप से) वसन्तसेने, आपने (अपने) वेश्यालय के वास (जीवन) के विरुद्ध कहा है । देखो—

वेश्यालय के जीवन (वास) को युवकों की सहायता पर आश्रित समझो, सोचो, तुम मार्ग में उगी हुई लता के समान वेश्या हो, धन के द्वारा ग्रहण करने योग्य क्रय्य वस्तुरूप शरीर को तुम धारण करती हो इसलिये हे भद्र महिला, प्रिय और अप्रिय दोनों का समान रूप से सेवन करो ।।३१।।

और भी—

विद्वान् ब्राह्मण तथा नीच जाति वाला मूर्ख भी एक वापी (बावड़ी) में स्नान करता है, जो पुष्पित लता पहले मयूर के द्वारा (बैठकर) झुकाई गई थी, उसी लता को (उस पर बैठकर) कौआ भी झुका देता है, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जिस नाव से पार उतरते हैं उसी से दूसरे लोग भी । तुम वेश्या हो (इसलिये) वापी (बावड़ी) के समान, लता की भाँति और नाव की तरह ही सब जनों का सेवन करो ।।३२।।

वसन्तसेना—प्रेम का वास्तविक कारण गुण है न कि बलात्कार ।

शकार—भाव, भाव, यह जन्म-दासी कामदेवायतन उद्यान (में जाने) से लेकर उस दरिद्र चारुदत्त से प्रेम करने लगी है, मेरी कामना नहीं करती है । बाईं ओर उसका घर है, जिससे तुम्हारे और मेरे हाथ से यह निकलने न पाये, आप वैसा (उपाय) करें ।

विट—(अपने आप) मूर्ख वही कह रहा है जो छोड़ने योग्य है । क्या वसन्तसेना आर्य चारुदत्त से प्रेम करती है ? यह वस्तुतः ठीक ही कहा जाता है कि—'रत्न रत्न के साथ (ही) संयुक्त होता है ।' तो जाने दो । इस मूर्ख से क्या ? (प्रकट रूप में) काणेली के पुत्र, उस सार्थवाह चारुदत्त का घर बाईं ओर है ?

ग्राह्यं शरीरं वहसि धारयसि अतः हे भद्रे कल्याणि सुप्रियं च अप्रियं च समं समानरूपेण उपचर सेवस्व । उपमा काव्यलिङ्गं चालङ्कारौ । मालिनीवृत्तम् ।।३१।।

वाप्यामिति—विचक्षणः विद्वान् द्विजवरः अपि ब्राह्मणोऽपि वाप्यां दीर्घिकायां स्नाति स्नानं करोति, वर्णेन अधमः शूद्रादिः मुर्खोऽपि च स्नाति । या लता बर्हिणा मयूरेण नामिता भवति तां फुल्लां पुष्पितां लतां वायसः अपि काकोऽपि नाम्यति नमयति (नाम्यतीति कण्ड्वादि पाठात् 'नामं करोति' इत्यर्थे यकि अकारलोपे च रूपम् इति पृथ्वीधरः) । यया च नावा नौकया ब्रह्मक्षत्रविशः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः तरन्ति तया एव इतरे शूद्रादयोऽपि तरन्ति । त्वं वेश्या असि अतः वापी इव लता इव नौः इव च असि तस्मात् सर्वं जनं सुप्रियम् अप्रियम् वा भज सेवस्व । मालोपमा काव्यलिङ्गं चालङ्कारौ । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ।।३२।।

गर्भदासी जन्मप्रभृति दासी । कामदेवस्य आयतनं स्थानं तदेव उद्यानम् एतन्नामकमुद्यानम् इति भावः । यदेव परिहर्तव्यं त्यक्तव्यम् उदाहरति कथयति । चारुदत्तस्य गृहं समीपे वर्तते इति कथनं नोचितं तदेव च मूर्खः शकारः कथयति । 'वसन्तसेना

शकारः—अध इं। वामदो तश्श घलम्। [अथ किम्। वामतस्तस्य गृहम्।]

वसन्तसेना—(स्वगतम्।) अम्हहे। वामदो तश्श गेहं त्ति जं शच्चम्, अवरज्झन्तेण वि दुज्जणेण उवकिदम्, जेण पिअसङ्गमं पाविदम्। [आश्चर्यम्। वामतस्तस्य गृहमिति यत्सत्यम्, अपराध्यतापि दुर्जनेनोपकृतम्, येन प्रियसङ्गमः प्रापितः।]

शकारः—भावे भावे, बलिए क्खु अन्धआले माशलाशिपविट्टा विअ मशिगुडिआ दीशन्दी ज्जेव पणट्टा वशन्तशेणिआ। [भाव भाव, बलीयसि खल्वन्धकारे माषराशि-प्रविष्टेव मसीगुटिका दृश्यमानैव प्रनष्टा वसन्तसेना।]

विटः—अहो, बलवानन्धकारः। तथाहि।

आलोकविशाला मे सहसा तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना।
उन्मीलितापि दृष्टिर्निमीलितेवान्धकारेण ॥३३॥

अपि च—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥३४॥

शकारः—भावे भावे, अण्णेशामि वशन्तशेणिअम्। [भाव भाव, अन्विष्यामि वसन्तसेनिकाम्।]

विटः—काणेलीमातः अस्ति किञ्चिच्चिह्नं यदुपलक्षयसि?

शकारः—भावे भावे, किं विअ। [भाव भाव, किमिव।]

विटः—भूषणशब्दं सौरभ्यानुविद्धं माल्यगन्धं वा।

शकारः—शुणामि मल्लगन्धम्, अन्धआलपूलिदाए उण णाशिआए ण शुव्वत्तं पेक्खामि भूशणशद्दम्। [शृणोमि माल्यगन्धम्, अन्धकारपूरितया पुनर्नासिकया न सुव्यक्तं पश्यामि भूषणशब्दम्।]

विटः—(जनान्तिकम्।) वसन्तसेने,

चारुदत्तेऽनुरक्ता' इति शकारमुखात् निशम्य विटः कथयति यत् रत्नस्य सङ्गतिः रत्नेन सार्धं भवति। वसन्तसेना चारुदत्तश्च एतौ रत्नतुल्यौ एतयोश्च अनुरागः स्पृहणीय एवेति भावः। काणेलीमातः काणेली कन्यका असती वा माता यस्य तत्सम्बुद्धौ।

अपराध्यता अपराधं कुर्वता। माषाणां राशौ प्रविष्टा प्रक्षिप्ता या मसीगुटिका तद्वत् दृश्यमाना एव वसन्तसेना प्रणष्टा अदृश्या जाता।

विटः द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां घनान्धकारं वर्णयति—आलोकेति-आलोके प्रकाशे दर्शने वा विशाला विस्तृता महती वा मे मम दृष्टिः सहसा तिमिरे प्रवेशः तेन विच्छिन्ना

शकार—ओर क्या ? उसका घर बाईं ओर है ।

वसन्तसेना—(अपने आप) आश्चर्य यदि सचमुच बाईं ओर उसका घर है; (तो) अपराध करते हुए भी दुष्ट ने उपकार कर दिया, जिसने प्रिय समागम तो प्रा त कराया ।

शकार—भाव, भाव, गहन अन्धकार में माष (उर्द) के ढेर में प्रविष्ट हुई स्याही की टिक्की के समान—दृष्टिगोचर होती हुई ही वसन्तसेना तिरोहित हो गयी।

विट—अहो, प्रवल अन्धकार है, क्योंकि—

प्रकाश में विस्तृत (दूर तक देखने वाली) मेरी दृष्टि अन्धकार में प्रवेश करने से सहसा अवरुद्ध हो गई । मेरी आँखें खुली होकर भी अन्धकार ने बन्द-सी कर दी हैं ॥३३॥

और भी—

अन्धकार अङ्गों को लिप्त-सा कर रहा है, आकाश मानो काजल (अंजन) वरसा रहा है । दुष्ट मनुष्यों की सेवा की भाँति मेरी दृष्टि निष्फलता को प्राप्त हो गई है ॥३४॥

शकार—भाव, भाव, वसन्तसेना को ढूंढता हूँ ।

विट—काणेली के पुत्र, कुछ चिह्न है जो (वसन्तसेना को) ढूंढ रहे हो ।

शकार—भाव, भाव, कैसा (चिह्न) ?

विट—आभूषण की ध्वनि या सुगन्धयुक्त माला की गन्ध को ?

शकार—माला की गन्ध (तो) सुन रहा हूँ, (किन्तु) अन्धकारयुक्त नाक से आभूषणों के शब्द को स्पष्ट नहीं देख रहा हूँ ।

विट (जनान्तिक) हे वसन्तसेने !

विनष्टा जाता उन्मीलिता अपि च दृष्टिः अन्धकारेण निमीलिता मुद्रिता । इव उत्प्रेक्षालङ्कारः । आर्यावृत्तम् ॥३३॥

लिम्पतीति—तमः अन्धकारः अङ्गानि लिम्पति इव नभः आकाशम् अञ्जनं कज्जलं वर्षति इव । दृष्टिः असत्पुरुषस्य अधमपुरुषस्य सेवा इव विफलतां विगतं फलं यस्याः सा विफला तस्याः भावः तां निष्फलतां गता अत्र पूर्वार्द्धे उत्प्रेक्षा उत्तरार्द्धे च उपमा । तयोः संसृष्टिः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥३४॥

चिह्नं भूषणशब्दादि । सौरभ्येण सुगन्धेन अनुविद्धं व्याप्तम् । शृणोमि माल्यगन्धम् इत्यादि शकारस्य असम्बद्धोक्तिः ।

जनान्तिकम् इति नाटचोक्तिभेदः तस्य । च लक्षणमुक्तं दर्पणे—
"त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ॥" (टि०)

कामं प्रदोषतिमिरेण दृश्यसे त्वं
सौदामिनीव जलदोदरसन्धिलीना ।
त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं
गन्धश्च भीरु मुखराणि च नूपुराणि ॥३५॥

श्रुतं वसन्तसेने ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) सुदं गहिदं अ । (नाट्येन नूपुराण्युत्सार्य माल्यानि चापनीय किञ्चित् परिक्रम्य हस्तेन परामृश्य ।) अम्मो, भित्ति-परामरिससूइदं पक्खदुआरअं क्खु एदम् । जाणामि अ संजोएण गेहस्स संवुदं पक्खदुआरअम् । [श्रुत गृहीतं च । अहो, भित्तिपरामर्शसूचितं पक्षद्वारकं खल्वेतत् । जानामि च संयोगेन गेहस्य संवृत्तं पक्षद्वारकम् ।]

चारुदत्तः वयस्य, समाप्तजपोऽस्मि । तत्साम्प्रतं गच्छ । मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विदूषकः—भो, ण गमिस्सम् । [भोः, न गमिष्यामि ।]

चारुदत्तः—धिक्कष्टम् ।

दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः ।
सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते ॥३६॥

अपि च—

सङ्गं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते संभाषते नादरा—
त्संप्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमलोक्यते ।

विटः वसन्तसेनां प्रति कथयति—काममिति हे भीरु, कामं यद्यपि त्वं जलदानां मेघानाम् उदरसन्धौ मध्ये लीना अन्तर्हिता सौदामिनी विद्युत् इव प्रदोषतिमिरेण प्रदोषस्य निशामुखस्य तिमिरेण अन्धकारेण न दृश्यसे तु किन्तु माल्यसमुद्भवः माल्य-निर्गतः अयं गन्धः त्वां वसन्तसेनां सूचयिष्यति मुखराणि शब्दयुतानि नूपुराणि चरण-भूषणानि सूचयिष्यन्ति । आत्मरक्षार्थम् अवसरानुकूलं क्रियताम् इति व्यज्यते । उपमा-लङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥३५॥

भित्तेःपरामर्शेन स्पर्शेन सूचितम् । पक्षस्य पार्श्वभागस्य द्वारम् । संयोगेन स्पर्शेन्द्रियानुभवेन । समाप्तजपः समाप्तः जपः येन सः ।

बादलों के भीतर सन्धि-स्थल में छिपी हुई बिजली के समान तुम भले ही रात्रि के प्रथम भाग (प्रदोष) के अन्धकारवश न दिखाई देती हो, परन्तु हे डरपोक (भीरु) ! (तुम्हारी) माला से उत्पन्न होने वाली यह गन्ध और शब्द करने वाले नूपुर तुम्हें प्रकट (सूचित) कर देंगे ॥३५॥

सुना, वसन्तसेना, !

वसन्तसेना—(अपने आप) सुना और समझ लिया। (नाटच से नूपुरों को उतार कर और मालाओं को फेंक कर कुछ घूमकर हाथ से छूकर) अहो। दीवार (भित्ति) के छूने से ज्ञात हुआ यह अवश्य ही बगल का दरवाजा (पक्षद्वार) है और लगता है दैवयोग (संयोग) से घर का (यह) पक्षद्वार बन्द है।

चारुदत्त—मित्र ! (मैं) जप समाप्त कर चुका हूँ। तो अब जाओ। मातृ-देवियों के लिये बलि ले जाओ।

विदूषक—हे (मित्र) ! नहीं जाऊँगा।

चारुदत्त—हाय ! बड़ा दुःख है।

बन्धु लोग भी निर्धनता के कारण (निर्धन) पुरुष के कहने में नहीं रहते, अत्यन्त स्नेही मित्र भी विपरीत हो जाते हैं, आपत्तियाँ अधिक हो जाती हैं। शक्ति क्षय को प्राप्त हो जाती है, चरित्र (शील) रूपी चन्द्रमा की शोभा धुँधली हो जाती है, जो दूसरों के द्वारा भी किया गया पाप-कर्म है, वह उसी का (किया हुआ) समझा जाता है ॥३६॥

कोई इसका संग नहीं करता, न ही (कोई उसके साथ) आदर से बोलता है, धनी लोगों के घर (विवाहादि) उत्सवों में गया हुआ अनादरपूर्वक देखा जाता है,

---

यदा मैत्रेयः बलिप्रदानाय गन्तुं नोद्यतो भवति चारुदत्तोऽस्य आज्ञाभङ्गस्य कारणं दरिद्रतैवेति मन्वानः मैत्रेयं प्रति (श्लोकत्रयेण) कथयति-दारिद्र्याद् इति। दारिद्र्यात् धनाभावात् बान्धवजनः पुरुषस्य वाक्ये न सन्तिष्ठते वचनं न पालयति। सुस्निग्धा अतिस्नेहयुक्ताः सुहृदः मित्राणि अपि विमुखीभवन्ति विमुखाः जायन्ते। आपदः आपत्तयः स्फारीभवन्ति विस्तारं यन्ति। सत्त्वं बलं ह्रासं क्षीणताम् उपैति गच्छति। शीलशशिनः शीलरूपस्य चन्द्रस्य कान्ति. परिम्लायते क्षीणताम् आप्नोति। यच्च पापं कर्म चौर्यादिकं निन्दितं कार्यं परैः अन्यैः अपि कृतं भवति तत् तस्य संभाव्यते तेनैव कृतम् इति आशङ्क्यते। रूपकालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३६॥

सङ्गमिति-कश्चिदपि जनः अस्य निर्धनस्य सङ्गं नैव कुरुते, आदरात् आदरपूर्वकं न सम्भाषते। उत्सवेषु धनिनां गृहं सम्प्राप्तः समागतः स जनैः सावज्ञम् अवज्ञया सहितं तिरस्कारपूर्वकम् अवलोक्यते। सः च अल्पच्छदः अल्पवस्त्रः सन् लज्जया महाजनस्य दूरादेव विहरति गच्छति। अतोऽहं मन्ये निर्धनता अपरम् अन्यत् षष्ठं प्रकामं प्रवृद्धं

दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया
मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम् ॥३७॥

अपि च—

दारिद्र्य शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा ।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम् ॥३८॥

विदूषकः—(सवैलक्ष्यम्) भो वअस्स, जइ मए गन्तव्यम्, ता एसा वि मे सहाइणी रदणिआ भोदु । [भो वयस्य, यदि मया गन्तव्यम्, तदेषापि मम सहायिनी रदनिका भवतु ।]

चारुदत्तः—रदनिके, मैत्रेयमनुगच्छ ।

चेटी—जं अज्जो आणवेदि । [यदार्य आज्ञापयति] ।

विदूषकः—भोदु रदणिए, गेण्ह बलिं पदीवं अ । अहं अवावुदं पक्खदुआरअं करोमि । [भवति रदनिके, गृहाण बलिं प्रदीपं च अहमपावृतं पक्षद्वारकं करोमि] (तथा करोति ।)

वसन्तसेना—मम अब्भुववत्तिणिमित्तं विअ अवावुदं पक्खदुआरअम् । ता जाव पविसामि । (दृष्ट्वा) हद्धी हद्धी । कधं पदीवो । [ममाभ्युपपत्तिनिमित्तमिवापावृतं पक्षद्वारकम् । तद्यावत्प्रविशामि । हा धिक्, हा धिक् । कथं प्रदीपः] (पटान्तेन निर्वाप्य प्रविष्टा ।)

चारुदत्तः—मैत्रेय किमेतत् ।

विदूषकः—अवावुदपक्खदुआरएण पिण्डीभूदेण वादेण णिव्वाविदो पदीवो । भोदि रदणिए, णिक्कम तुमं पक्खदुआरएण । अहंपि अब्भन्तरचदुस्सालादो पदीवं पज्जालिअ आअच्छामि । [अपावृतपक्षद्वारेण पिण्डीभूतेन वातेन निर्वापितः प्रदीपः । भवति रदनिके, निष्क्राम त्व पक्षद्वारकेण अहमप्यभ्यन्तरचतुःशालातः प्रदीपं प्रज्वाल्यागच्छामि ।] (इति निष्क्रान्तः ।)

शकारः—भावे भावे अण्णेशामि वशन्तशेणिअम् । [भाव भाव, अन्वेषयामि वसन्तसेनिकाम् ।]

विटः—अन्विष्यतामन्विष्यताम् ।

शकारः—(तथा कृत्वा) भावे भावे, गहिदा गहिदा । [भाव भाव, गृहीता गृहीता] ।

विटः—मूर्ख, नन्वहम् ।

शकारः—इदो दाव भविअ एअन्ते भावे चिट्ठदु । (पुनरन्विष्य चेटं गृहीत्वा) । भावे भावे, गहिदा, गहिदा (इतस्तावद्भूत्वा एकान्ते भावस्तिष्ठतु । भाव भाव, गृहीता गृहीता) ।

अल्प वस्त्र वाला होने से लज्जा के कारण बड़े लोगों से दूर ही घूमता है। मानता हूँ कि (मेरे विचार में) निर्धनता भी एक अन्य छटा महापाप है ॥३७॥

और भी—

हे दारिद्रय, तुम्हारे विषय में (मैं) इस प्रकार दुःखी होता हूँ कि मेरे शरीर में मित्र के समान वास करके मुझ अभागे के शरीर त्याग देने (मर जाने) पर तुम कहाँ जाओगे ? मुझे यही चिन्ता है ॥३८॥

विदूषक—(लज्जापूर्वक) हे मित्र ! यदि मुझे जाना (ही) है तो यह रदनिका भी (बलि सामग्री ले चलने में) मेरी सहायिका होवे।

चारुदत्त—रदनिके, मैत्रेय का अनुगमन करो।

रदनिका—जो आर्य आज्ञा देते हैं।

विदूषक—हे रदनिके, बलि और दीपक को पकड़ो। मैं बगल के दरवाजे (पक्षद्वार) को खोलता हूँ (वैसा करता है)।

वसन्तसेना—मानों मुझ पर अनुग्रह (= अभ्युपपत्ति) करने के लिये बगल का द्वार खुल गया है तो (जब तक) प्रवेश करती हूँ। (देखकर) हाय ! हाय ! ! क्या दीपक (जल रहा) है ? (वस्त्र के छोर से बुझाकर प्रविष्ट हो जाती है)।

चारुदत्त—मैत्रेय, यह क्या ?

विदूषक—बगल का द्वार खुलने के कारण एकत्रीभूत वायु (के झोंके) ने दीपक बुझा दिया। हे रदनिके ! पक्षद्वार से तुम बाहर चलो। मैं भी भीतरी चतुःशाला से दीपक जला कर आ रहा हूँ। (निकल जाता है)।

शकार—भाव, भाव वसन्तसेना को ढूँढ़ता हूँ।

विट—ढूँढ़िये, ढूँढ़िये।

शकार—(वैसा करके) भाव, भाव, पकड़ ली, पकड़ ली।

विट मूर्ख ! (यह तो) मैं हूँ।

शकार—तो आप (भाव) इधर होकर एकान्त में खड़े रहें (फिर ढूँढकर चेट को पकड़ कर) भाव, भाव पकड़ ली, पकड़ ली।

महापातकम् अस्ति। मनुना पञ्च महापातकानि उक्तानि "ब्रह्महत्या' सुरापानं, स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह।" तदतिरिक्तं दारिद्रयं षष्ठं पातकम् इति भावः। उत्प्रेक्षालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३७॥

दारिद्रय इति-हे दारिद्रय, भवन्तं एवं शोचामि यत् त्वम् अस्माकं शरीरे सुहृद् इति 'अयं मम मित्रमिति' बुद्धया उषित्वा वासं कृत्वा, अधुना च मयि मन्दभाग्ये विपन्नदेहे विपन्नः देहः यस्य तस्मिन् विनष्टदेहे त्वं क्व गमिष्यसि इति मम चिन्ता भवति। अत्र 'दारिद्रयम्' इति नपुंसकमतः 'भवन्तम्' इति पुंल्लिङ्ग-निर्देशश्चिन्त्यः। उपजाति वृत्तम् ॥३८॥

चेटः— भट्टके, चेडे हगे। [भट्टारक चेटोऽहम्]

शकारः—इदो भावे, इदो चेडे। भावे, चेडे, चेडे भावे। तुम्हे दाव एअन्ते चिट्ठ। (पुनरन्विष्य रदनिकां केशेषु गृहीत्वा।) भावे भावे शंपदं गहिदा गहिदा वशन्तशेणिआ।

अन्धआले पलाअन्ती मल्लगन्धेण शूइदा।
केशविन्दे पलामिट्टा चाणक्केणंव्व दोवदी ॥३९॥

[इतो भावः, इतश्चेटः। भावश्चेटः, चेटो भावः। युवां तावदेकान्ते तिष्ठतम्। भाव भाव, सांप्रतं गृहीता वसन्तसेनिका।]

[अन्धकारे पलायमाना माल्यगन्धेन सूचिता।
केशवृन्दे परामृष्टा चाणक्येनेव द्रौपदी ॥]

विटः—

एषासि वयसो दर्पात्कुलपुत्रानुसारिणी।
केशेषु कुसुमाढ्येषु सेवितव्येषु कर्षिता ॥४०॥

शकारः—

एशाशि वाशू शिलशि ग्गहीदा केशेषु बालेषु शिलोलुहेशु।
अक्कोश विक्कोश लवाहिचण्डं शभुं शंकलमीश्शलं वा ॥४१॥
[एषासि वासु शिरसि गृहीता केशेषु वालेषु शिरोरुहेषु।
आक्रोश विक्रोश लपाधिचण्ड शम्भुं शिवं शङ्करमीश्वरं वा ॥]

रदनिका—(सभयम्।) किं अज्जमिस्सेहिं ववसिदम्। [किमार्यमिश्रैर्व्यवसितम्।]

विटः—काणेलीमातः, अन्य एवैष स्वरसंयोगः।

शकारः—भावे भावे, जधा दहिशरपलिलुद्धाए मज्जालिए शलपलिवत्ते होदि तधा दाशीए धीए शलपलिवत्ते कडे। [भाव भाव, यथा दधिशरपरिलुब्धाया मार्जारिकायाः स्वरपरिवृत्तिर्भवति, तथा दास्याः पुत्र्या स्वरपरिवृत्तिः कृता।]

विटः—कथं स्वरपरिवर्तः कृतः। अहो चित्रम्। अथवा किमत्र चित्रम्।

अपावृतम् उद्घाटितम्। अभ्युपपत्तिनिमित्तम् अनुग्रहार्थम्। अपावृतं तव पक्षद्वारं तेन निमित्तेन। पिण्डीभूतेन एकीभूतेन।

शकारः कथयति—अन्धकारे इति अन्धकारे पलायमाना धावन्ती वसन्तसेना माल्यस्य गन्धेन सूचिता चाणक्येन द्रौपदी इव केशवृन्दे केशपाशे परामृष्टा गृहीता।

चेट स्वामिन्, मैं तो सेवक हूँ ।

शकार— इधर भाव (विट), इधर चेट । भाव-चेट, चेट-भाव, । तुम दोनों तो एकान्त में खड़े रहो । (फिर ढूँढ़कर रदनिका को केशों से पकड़कर) भाव, भाव, अब वसन्तसेना पकड़ ली, पकड़ ली ।

अन्धकार में भागती हुई माला की गन्ध से सूचित वसन्तसेना मेरे द्वारा इस प्रकार केशों से पकड़ ली गई है, जैसे चाणक्य के द्वारा द्रौपदी ।।३९।।

विट (यौवन) अवस्था के गर्व से कुलीन पुत्र (चारुदत्त) का अनुगमन करने वाली यह (तुम) पुष्पयुक्त, सेवा (रक्षा) करने योग्य बालों से (पकड़कर) खीचीं जा रही हो ।।४०।।

शकार—हे बाले, यह (तुम) सिर के बालों के (शिरोरुह, सिर पर उत्पन्न होने वाले बालों के) द्वारा पकड़ ली गई हो अब गाली दो, चिल्लाओ, शम्भु, शिव, शंकर या ईश्वर को पुकारो (हमें किसी से भय नहीं है) ।।४१।।

रदनिका—(भयपूर्वक) (आप) महानुभावों ने (यह) क्या किया ?

विट—अरे काणेली के पुत्र, यह स्वर तो दूसरा सा (लगता) है ।

शकार—भाव, भाव, जिस प्रकार दही की मलाई की इच्छुक (लुब्ध) बिल्ली के स्वर में परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार (इस) दासी की पुत्री (नीच वसन्तसेना) ने स्वर में परिवर्तन कर लिया है ।

विट—क्या स्वर में परिवर्तन कर लिया ? अहो आश्चर्य है ! या इस (स्वर-परिवर्तन) में आश्चर्य ही क्या है ?

शकारवाक्यत्वात् असम्बद्धोपमा । अनुष्टुप् वृत्तम् । ।।३९।।

विटः कथयति – एतेति । वयसः यौवनावस्थायाः दर्पात् कुलपुत्रानुसारिणी कुलपुत्रं चारुदत्तं प्रति गमनशीला एषा वसन्तसेना त्वं सेवितव्येषु सेवायोग्येषु कुसुमाढ्येषु पुष्पैः समृद्धेषु अलङ्कृतेषु इत्यर्थ केशेषु कर्षिता बलाद् गृहीता असि । अनुष्टुप् वृत्तम् ।।४०।।

शकारः वसन्तसेनामुद्दिश्य कथयति – एषासीसि । हे वासु बाले एषा वसन्तसेना त्वं शिरसि केशेषु बालेषु शिरोरुहेषु गृहीता असि । अधुना आक्रोश शापं देहि, विक्रोश आह्वय कमपि अथवा शम्भुं शिवं शङ्करम् ईश्वरं वा प्रति अधिचण्डम् अत्युच्चैः लप विलापं कुरु । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।।४१।।

आर्यमिश्रैः मान्यैः । व्यवसितम् आरब्धम् । दधिशरः दध्नः उपरिभागः इति पृथ्वीधरः, तत्र परिलुब्धायाः साभिलाषायाः ।

इयं रङ्गप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया ।
वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता ॥४२॥

(प्रविश्य ।)

विदूषकः—ही ही भोः, पदोसमन्दमारुदेण पशुबन्धोवणीदस्स विअ छागलस्स हिअअम् फुरफुराअदि पदीवो । (उपसृत्य रदनिकां दृष्ट्वा ।) भो रदणिए । [आश्चर्यं भोः, प्रदोषमन्दमारुतेन पशुबन्धोपनीतस्येव छागलस्य हृदयम्, फुरफुरायते प्रदीपः । भो रदनिके ।]

शकारः—भावे भावे, मणुश्शे मणुश्शे । [भाव भाव, मनुष्यो मनुष्यः] ।

विदूषकः—जुत्त णेदम्, सरिस, णेदम् ज अज्जचारुदत्तस्स दलिद्ददाए संपदं परपुरिसा गेहं पविशन्ति । [युक्तं नेदम् सदृशं नेदम्, यदार्यचारुदत्तस्य दरिद्रतया सांप्रतं परपुरुषा गेहं प्रविशन्ति ।]

रदनिका—अज्ज मित्तेअ, पेक्ख मे परिहवम् । [आर्य मैत्रेय, प्रेक्षस्व मे परिभवम् ।]

विदूषकः—किं तव परिहवो । आदु अम्हाणम् । [किं तव परिभवः । अथवास्माकम् ।]

रदनिका—णं तुम्हाणं ज्जेव । [ननु युष्माकमेव ।]

विदूषकः—किं एसो बलक्कारो । [किमेष बलात्कारः ।]

रदनिका—अध इं [अथ किम् ।]

विदूषकः—सच्चम् । [सत्यम्]

रदनिका—सच्चम् । [सत्यम् ।]

विदूषकः—(सक्रोधं दण्डकाष्ठमुद्यम्य) मा दाव । भो, सके गेहे कुक्कुरो वि दाव चण्डो भोदि, किं उग अहं बह्मणो । ता एदिणा अह्मारिसजणभाअधेअकुडिलेण दण्डकट्ठेण दुट्ठस्स विअ सुक्खाणवेणुअस्स मत्थअं दे पहारेहिं कुट्टइस्सम् । [मा तावत् । भोः, स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावच्चण्डो भवति किं पुनरहं ब्राह्मणः । तदेतेनास्मादृशजनभागधेयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन दुष्टस्येव शुष्कवेणुकस्य मस्तकं ते प्रहारैः कुट्टयिष्यामि ।]

विटः वसन्तेनायाः स्वरनैपुण्ये हेतुं दर्शयति–इयमिति । इयं वसन्तसेना रङ्गः नृत्यशाला तत्र प्रवेशेन कलानां संगीतादीनां च उपशिक्षया अभ्यासेन, वञ्चनायां लोकप्रतारणायां पण्डितत्वेन नैपुण्येन स्वरनैपुण्यं स्वरपरिवर्तनकौशलम् आश्रिता प्राप्तवती । समुच्चयालङ्कारः (काले) । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥४२॥

इस (वसन्तसेना) ने रङ्गशाला (नाटयशाला) में प्रवेश तथा कलाओं की शिक्षा के द्वारा (दूसरों को) ठगने में कुशल हो जाने के कारण स्वर (परिवर्तन) में निपुणता प्राप्त कर ली है ॥४२॥

(प्रवेश करके)

विदूषक—अरे आश्चर्य है।

रात्रि के प्रथम पहर की धीमी-धीमी वायु से यूपकाष्ठ,[वध्य पशु को बाँधने के खूंटे] के समीप ले जाये गये बकरे के हृदय के समान, दीपक काँप रहा है। (समीप आकर रदनिका को देखकर) हे रदनिके।

शकार—भाव, भाव, मनुष्य, मनुष्य।

विदूषक—यह उचित नहीं है, यह योग्य नहीं है कि आर्य चारुदत्त की निर्धनता के कारण आजकल दूसरे लोग (उसके) घर में प्रवेश करते हैं।

रदनिका—आर्य मैत्रेय! मेरा अनादर (तो) देखो।

विदूषक—क्या तुम्हारा अनादर अथवा हमारा?

रदनिका—आप सबका ही।

विदूषक—क्या यह बलात्कार?

रदनिका—और क्या?

विदूषक—सचमुच।

रदनिका—सचमुच।

विदूषक—(क्रोधपूर्वक लकड़ी का डण्डा उठाकर) ऐसा नहीं (होगा)। अरे! अपने घर में तो कुत्ता भी बलवान् (शेर) होता है, फिर मैं ब्राह्मण तो क्या?

अतः इस हमारे भाग्य जैसे टेढ़े काठ के डण्डे से विकृत (दुष्ट) सूखे हुए बाँस के समान तेरे मस्तक को प्रहारों के द्वारा कूट डालूंगा।

पशुः वध्यते अत्र इति पशुबन्धः यूपकाष्ठं तत्र उपनीतस्य प्रापितस्य। फुरफुरायते अत्यन्तं प्रकम्पते। परिभवः तिरस्कारः। चण्डः भीषणः बलीयान् वा अस्मादृशजनानां मादृशानां जनानां भागधेयवत् भाग्यवत् कुटिलेन वक्रेण। दुष्टस्य दोषयुक्तस्य विकृतस्य। संस्थानक इति शकारस्य नाम। उपमर्दः तिरस्कारः।

शकारकृतमपमानं दारिद्र्यहेतुकमिति मन्वानः मैत्रेयः कथयति—मेति। दुर्गतः दरिद्रः इति एवं मत्वा परिभवः तिरस्कारः मा न कर्त्तव्यः यतः कृतान्तस्य

विटः— महाब्राह्मण, मर्षय मर्षय ।

विदूषकः—(विटं दृष्ट्वा) ण एत्थ एसो अवरज्झदि (शकारं दृष्ट्वा), एसो क्खु एत्थ अवरज्झदि । अरे रे राअसालअ संट्ठाणअ दुज्जण दुम्मणुस्स, जुत्तं णेदम् । जइ वि णाम तत्तभवं अज्जचारुदत्तो दलिद्दो संवुत्तो, ता किं तस्स गुणेहिं ण अलंकिदा उज्जइणी । जेण गेहं पविसिअ परिअणस्स ईरिसो उवमद्दो करीअदि ।

मा दुग्गदोत्ति परिहवो णत्थि कअन्तस्स दुग्गदो णाम ।
चारित्तेण विहीणो अड्ढो वि अ दुग्गदो होइ ।।४३।।

[नात्र एषोऽपराध्यति । एष खल्वत्रापराध्यति । अरे रे राजश्यालक संस्थानक दुर्जन दुर्मनुष्य; युक्तं नेदम् । यद्यपि नाम तत्रभवानार्यचारुदत्तो दरिद्रः संवृत्तः । तत्किं तस्य गुणैर्नालङ्कृतोज्जयिनी । येन तस्य गृहं प्रविश्य परिजनस्येदृश उपमर्दः क्रियते ।

मा दुर्गत इति परिभवो नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम ।
चारित्रेण विहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो भवति ।।]

विटः—(सवैलक्ष्यम्) महाब्राह्मण, मर्षय मर्षय । अन्यजनशङ्कया खल्विदमनुष्ठितम्, न दर्पात् । पश्य,

सकामान्विष्यतेऽस्माभिः ।

विदूषकः—किं इअम् । [किमियम्]

विटः—शान्तं पापम् ।

काचित्स्वाधीनयौवना ।

सा नष्टा शङ्कया तस्याः प्राप्तेयं शीलवञ्चना ।।४४।।

सर्वथा इदमनुनयसर्वस्वं गृह्यताम् । (इति खड्गमुत्सृज्य कृताञ्जलिः पादयोः पतति ।)

यमराजस्य दैवस्य वा समक्षे दुर्गतः निर्धनः नास्ति नाम इति संभावानायाम् अपि च प्रत्युत तस्य तु चारित्रेण सदाचारेण विहीनः आढ्यः समृद्धोऽपि दुर्गतः दरिद्रः एव भवति । दुर्दशां प्राप्नोति । गाथा वृत्तम् ।।४३।।

विट—महाब्राह्मण, क्षमा करो, क्षमा करो।

विदूषक—(विट को देखकर) यहाँ वह अपराध नहीं कर रहा है। (शकार को को देखकर) निश्चय ही यह अपराध कर रहा है। अरे, रे राजश्यालक (राजा के साले) संस्थानक! दुष्ट! दुर्मनुष्य! यह ठीक नहीं है। यद्यपि पूजनीय आर्य चारुदत्त निर्धन हो गये हैं। तो (भी) क्या उनके गुणों से उज्जयिनी भूषित नहीं है? जिससे उसके घर में घुमकर उसके सेवक का इस प्रकार अपमान किया जा रहा है। 'दरिद्र हैं' यह जानकर अपमान मत करो, यमराज के (समक्ष) निर्धन (कोई) नहीं है और चरित्रहीन धनवान् भी दुर्दशा (दुर्गति) को प्राप्त होता है ॥४३॥

विट-(लज्जापूर्वक) महाब्राह्मण, क्षमा करो, क्षमा करो। वास्तव में यह (रदनिका के केश पकड़ने का कार्य) दूसरे व्यक्ति के सन्देह के कारण किया गया है, गर्व से नहीं। देखो—हमारे द्वारा (एक) कामासक्त (युवती) ढूंढी जा रही है।

विदूषक—क्या यह (रदनिका)?
f
वट—पाप शान्त हो।

कोई अपने यौवन की स्वामिनी स्त्री। वह खो गई उसी की आशंका के कारण (रदनिका को पकड़ने से) यह शील की हानि हुई है ॥४४॥

(आप) सब प्रकार से मेरी इस विनती (मनौती) को स्वीकार कीजिए (ऐसा कहकर तलवार त्याग कर अञ्जलि बाँधकर पैरों पर गिर जाता है)।

क्षमां याचमानः विटः वस्तुतथ्यं वर्णयति—**सकामेति**। **अस्माभिः सकामा** कामोत्सुका युवती अन्विष्यते किमियं रदनिकैव सकामा? इति विदूषकस्य शङ्कायां सत्यां कथयति—काचित् स्वाधीनयौवना स्वाधीनं यौवनं यस्याः स्वेच्छया विहारिणी वेश्या इति यावत्। सकामा-स्वाधीनयौवना—इति विशेषणाभ्यां 'सा वेश्या' इति सूच्यते तथा च तस्याः धारणं न दोषाय। सा पूर्वोक्ता युवती च नष्टा अदर्शनीया जाता तस्याः शङ्कया एव इयं शीलवञ्चना रदनिकाग्रहणरूपा दुश्चरितसंभावना प्राप्ता संजाता। नास्माकं कश्चिद् दोषः इति भावः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥४४॥

अनुनयसर्वस्वं अनुनयस्य आदरातिशयस्य अनुकूलीकरणस्य सर्वस्वम्। **उपालब्धः** उपालम्भं प्रापितः अनुनयामि अनुकूलीकरोमि। समयतः शपथतः, समयः क्रियाबन्धः ('शर्त' इति भाषायाम्)।

विदूषकः—सप्पुरिस, उट्ठेहि उट्ठेहि। अआणन्तेण मए तुमं उवालद्धे। संपदं उण जाणन्तो अणुणेमि। [सत्पुरुष, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। अजानता मया त्वमुपालब्धः। साम्प्रतं पुनर्जानन्ननुनयामि।]

विटः—ननु भवानेवात्रानुनेयः। तदुत्तिष्ठामि समयतः।

विदूषकः—भणादु भवम् [भणतु भवान्।]

विटः—यदीमं वृत्तान्तमार्यचारुदत्तस्य नाख्यास्यसि।

विदूषकः—न कधइस्सम्। [न कथयिष्यामि]

विटः—

एष ते प्रणयो विप्र शिरसा धार्यते मया।
गुणशस्त्रैर्वयं येन शस्त्रवन्तोऽपि निर्जिताः ॥४५॥

शकारः—(सासूयम्) किंणिमित्तं उण भावे, एदश्श दुट्ठबडुअश्श किविणअञ्जलिं कडुअ पाएशु णिवडिदे। [किंनिमित्तं पुनर्भाव, एतस्य दुष्टवटुकस्य कृपणाञ्जलिं कृत्वा पादयोर्निपतितः।]

विटः—भीतोऽस्मि।

शकारः—कश्श तुमं भीदे। [कस्मात्त्वं भीतः।]

विटः—तस्य चारुदत्तस्य गुणेभ्यः।

शकारः—के तश्श गुणा जश्श गेहं पविशिअ अशिदव्वं पि णत्थि। [के तस्य गुणा यस्य गृहं प्रविश्याशितव्यमपि नास्ति।]

विटः—मा मैवम्।

सोऽस्मद्विधानां प्रणयैः कृशीकृतो
न तेन कश्चिद्विभवैर्विमानितः।
निदाघकालेष्विव सोदको ह्रदो
नृणां स तृष्णामपनीय शुष्कवान् ॥४६॥

इममपराधं चारुदत्ताय न कथयिष्यामि इति विदूषकवचनं निशम्य विटः विदूषकमभिनन्दयति—एष इति। हे विप्र एष ते प्रणयः स्नेहः मया नितेन शिरसा धार्यते येन यस्मात् कारणात् (टि०) शस्त्रवन्तः शस्त्रधारिणोऽपि वयं गुणशस्त्रैः गुणाः एव शस्त्राणि तैः (साधनभूतैः) निर्जिताः। रूपकालङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥४५॥

कृपणाञ्जलिं दीनाञ्जलिम्। अशितव्यं खाद्यम्।

विदूषक—हे सज्जन, उठो, उठो। अनजाने में मैंने तुम्हें बुरा कहा। इस समय तो (आपको निर्दोष) जानकर (आपकी) विनती करता हूँ।

विट—यहाँ तो आपकी ही विनती करनी चाहिए। तो एक शर्त, (समय) पर उठता हूँ।

विदूषक - कहिए आप।

विट—यदि इस वात को आर्य चारुदत से नहीं बताओगे।

विदूषक—नहीं बताऊँगा।

विट—हे ब्राह्मण (मैत्रेय), तुम्हारे इस अनुग्रह को मैं शिरोधार्य करता हूँ (अर्थात् आदर करता हूँ)। क्योंकि शस्त्रयुक्त भी हम लोग गुणरूपी शस्त्रों के द्वारा जीत लिये गये हैं ॥४५॥

शकार—(ईर्ष्या के साथ) भाव, आप दीनता से हाथ जोड़कर इस दुष्ट ब्राह्मण के पैरों पर क्यों गिर पड़े ?

विट—(मैं) डर गया हूँ

शकार—तुम किससे डर गये हो ?

विट—उस चारुदत्त के गुणों से।

शकार—उसके क्या गुण हैं जिसके घर में घुसकर खाने को भी नहीं है।

विट—ऐसा नहीं,

वह (चारुदत्त) हम जैसे लोगों की (धन सम्बन्धिनी) याचनाओं की स्वीकृति (प्रणय) के द्वारा क्षीण (धनहीन) कर दिया गया है। सम्पत्ति के द्वारा उसने कोई अपमानित नहीं किया (अर्थात् धन सम्पन्न होते हुए भी वह विनम्र बना रहा)। मनुष्यों की (धनसम्बन्धिनी) प्यास मिटाकर वह गर्मी के समय में जलयुक्त तालाब के समान सूख गया है ॥४६॥

शकारमुखात् चारुदत्तस्य उपहासं निशम्य विटः चारुदत्तस्योदारतां वर्णयति — स इति। सः चारुदत्तः अस्मद्विधानाम् अस्मादृशानां प्रणयैः प्रार्थनाभिः कृशीकृतः दरिद्रः कृत. तेन कश्चित् जनः विभवैः धनैः न विमानितः न तिरस्कृतः। निदाघकालेषु ग्रीष्मसमये सोदकः जलयुक्तः ह्रदः जलाशय इव सः चारुदत्तः नृणां जनानां तृष्णां अभिलाषां (ह्रदपक्षे पिपासाम्) अपनीय दूरीकृत्य शुष्कवान् क्षीणः संजातः। उपमालङ्कारः। उपजाति वृत्तम् ॥४६॥

शकारः—(सार्षम्) के शे गब्भदासीए पुत्ते ?

शूले विक्कन्ते पाण्डवे शेदकेदू
पुत्ते लाधाए लावणे इन्ददत्ते ।
आहो कुन्तीए तेण लामेण जादे
अश्शत्थामे धम्मपुत्ते जडाउ ॥४७॥

[कः स गर्भदास्याः पुत्रः ।
शूरो विक्रान्तः पाण्डवः श्वेतकेतुः पुत्रो राधायाः रावण इन्द्रदत्तः ।
आहो कुन्त्यां तेन रामेण जातः अश्वत्थामा धर्मपुत्रो जटायुः ॥]

विटः—मूर्ख, आर्यचारुदत्तः खल्वसौ ।

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः ।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ॥४८॥

तदितो गच्छामः ।

शकारः—अगेण्हिअ वशन्तशेणिअम् । [अगृहीत्वा वसन्तसेनाम् ।]

विटः—नष्टा वसन्तसेना ।

शकारः—कथं विअ । [कथमिव ।]

विटः—

अन्धस्य दृष्टिरिव पुष्टिरिवातुरस्य
मूर्खस्य बुद्धिरिव सिद्धिरिवालसस्य ।
स्वल्पस्मृतेर्व्यसनिनः परमेव विद्या
त्वां प्राप्य सा रतिरिवारिजने प्रनष्टा ॥४९॥

विटस्य वचनं श्रुत्वा शकारः सक्रोधं पृच्छति–शूर इति । कः सः विक्रान्तः पराक्रमी शूरः ? सः किं पाण्डवः पाण्डुपुत्रः श्वेतकेतुः अथवा इन्द्रेण प्रदत्तः राधायाः पुत्रः रावणः ? आहो अथवा तेन प्रसिद्धेन रामेण कुन्त्यां जातः समुत्पन्नः अश्वत्थामा अथवा धर्मस्य पुत्रः जटायुः ? इदं सर्वम् असम्बद्धार्थकम् ॥४७॥

शकारमुखात् चारुदत्तविषयकमुपालम्भं निशम्य विटः चारुदत्तस्य गुणान् वर्णयति दीनानामिति । सः चारुदत्तः दीनानां कृते स्वस्य आत्मनः गुणाः एव फलानि तैः नतः नम्रः कल्पवृक्षः, सज्जनानां कुटुम्बी बन्धुः, शिक्षितानां शिक्षितजनानाम्

शकार – (रोषपूर्वक) कौन है वह जन्मदासी का पुत्र।
शूरवीर पाण्डुपुत्र श्वेतकेतु? अथवा इन्द्र-प्रदत्त राधा का पुत्र रावण (है) या उस (प्रसिद्ध) राम से उत्पन्न कुन्ती का (पुत्र) अश्वत्थामा (है) अथवा धर्मपुत्र जटायु है ॥४७॥

विट – मूर्ख, यह तो आर्य चारुदत्त हैं।

जो दीन लोगों के लिये अपने गुणरूपी फलों से नम्र कल्पवृक्ष हैं। सत्पुरुषों के परिपालक (कुटुम्बी), शिक्षितों के आदर्श, सच्चरित की कसौटी, सदाचरण रूपी मर्यादा के (न लांघने वाले) सागर, सत्कार करने वाले, किसी का अनादर न करने वाले, मनुष्योचित गुणों के आगार सरल तथा उदार स्वभाव वाले हैं, गुणों की प्रचुरता के कारण एक सराहनीय वही (आर्य चारुदत्त सच्चे अर्थों में) जीवित हैं दूसरे लोग तो सिसकते ही हैं ॥४८॥

तो यहाँ से चलें।

शकार—वसन्तसेना को लिये बिना?

विट—वसन्तसेना तो अदृश्य हो गई।

शकार—कैसे!

विट—अन्धे की दृष्टि के समान, रोगी के बल के समान, मूर्ख की बुद्धि की भाँति, आलसी की सफलता की भाँति, अल्पस्मृति वाले दुर्गुणासक्त की उत्तम विद्या के सदृश, शत्रुओं में प्रेम के तुल्य तुम्हें प्राप्त करके वह लुप्त हो गई ॥४९॥

आदर्शः आदर्शभूतः, सुचरितानां निकषः परीक्षणपाषाणः (कसौटी), शीलं सद्वृत्तमेव वेला मर्यादा तस्याः समुद्रः यथा सागरः मर्यादां न लङ्घयति तथाऽयमपि कदाचित् शीलं न लङ्घयति इति भावः, सत्कर्ता सर्वेषां सत्कारकर्त्ता, न कस्यचिदपि अवमन्ता तिरस्कर्ता, पुरुषगुणानां उदारतादीनां निधिः, दक्षिणं सरलम् उदारं महत् च सत्त्वं स्वभावो यस्य सः तादृशः। सः चारुदत्तः एकः केवलः हि खलु अधिकगुणतया अधिका गुणाः यस्य सः तस्य भावः तया इतरातिशायिगुणवत्त्वेन जीवति प्राणान् धारयति। अन्ये च जनाः उच्छ्वसन्ति इव केवलं (चर्मभस्त्रा इव) उच्छ्वासं कुर्वन्ति न तु वस्तुतः जीवन्ति इति भावः। अत्र उल्लेखः, रूपकम्, उपमा, उत्प्रेक्षा चालङ्काराः। स्रग्धरावृत्तम् ॥४८॥

कथमिव वसन्तसेना अदर्शनीया जातेति शकारस्य प्रश्नं निशम्य विटः कथयति— अन्धस्येति। सा वसन्तसेना त्वां शकारं प्राप्य अन्धस्य दृष्टिः दर्शनशक्तिः इव, आतुरस्य व्याधिपीडितस्य पुष्टिः शारीरिकशक्तिः इव, मूर्खस्य बुद्धिः विचारशक्तिः इव, अलसस्य सिद्धिः कार्यसफलता इव, स्वल्पा स्मृतिः यस्य तस्य व्यसनिनः आपत्तिग्रस्तस्य द्यूतादिव्यसनासक्तस्य वा परमा उत्कृष्टा विद्या इव तथा अरिजने शत्रुजने रतिः अनुराग इव प्रनष्टा अदर्शनं गता। मालोपमालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥४९॥

शकारः—अगेण्हिअ वशन्तशेणिअं ण गमिश्शम् । [अगृहीत्वा वसन्तसेनां न गमिष्यामि ।]

विटः—एतदपि न श्रुतं त्वया ।

आलाने गृह्यते हस्ती वाजी वल्गासु-गृह्यते ।
हृदये गृह्यते नारी यदिदं नास्ति गम्यताम् ॥५०॥

शकारः—यदि गच्छशि, गच्छ तुमम् । हगे ण गमिश्शम् । [यदि गच्छसि, गच्छ त्वम् । अहं न गमिष्यामि ।]

विटः—एवम् । गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः ।)

शकारः—गडे क्खु भावे अभावम् । (विदूषकमुद्दिश्य) अले काकपदशीशमस्तक बुड्डबडुका, उवविश उवविश । [गतः खलु भावोऽभावम् । अरे काकपदशीर्षमस्तक दुष्टबटुक, उपविशोपविश ।]

विदूषकः—उववेसिदा ज्जेव अम्हे । [उपवेशिता एव वयम् ।]

शकारः—केण । [केन ।]

विदूषकः—कअन्तेण । [कृतान्तेन ।]

शकारः—उट्ठेहि उट्ठेहि । [उत्तिष्ठोत्तिष्ठ ।]

विदूषकः—उट्ठिस्सामो । [उत्थास्यामः ।]

शकारः—कदा । [कदा ।]

विदूषकः—जदा पुणो वि देव्वं अणुऊलं भविस्सदि । [यदा पुनरपि दैव मनुकूलं भविष्यति ।]

शकारः—अले, लोद लोद । [अरे, रुदिहि रुदिहि ।]

विदूषकः—रोवाविदा ज्जेव अम्हे । [रोदिता एव वयम् ।]

शकारः—केण । [केन ।]

विदूषकः—दुग्गदीए । [दुर्गत्या ।]

शकारः—अले, हश हश । [अरे, हस हस ।]

विदूषकः—हसिस्सामो । [हसिष्यामः ।]

शकारः—कदा । [कदा ।]

विदूषकः—पुणो वि ऋद्धीए अज्जचारुदत्तस्स । [पुनरपि ऋद्धयार्यचा दत्तस्य ।]

शकारः—अले बुड्डबडुका, भणेशि मम वअणेण तं दलिद्दचालुदत्तकं एशा शशुवण्णा शहिलण्णा णवणाडअदंशणुट्ठिदा शुत्तधालि व्व वसन्तशे णाम [illegible] पहुदि तुमं अणुलत्ता,

शकार—वसन्तसेना को बिना लिये नहीं जाऊँगा।

विट—यह भी नहीं सुना तुमने—हाथी खम्बे (में बाँधने) से रोका जाता है। घोड़ा लगाम से रोका जाता है, स्त्री हृदय से (प्रेम करने से) वश में की जाती है, यदि यह (हृदय में प्रेम) नहीं है तो जाइये ॥५०॥

शकार—यदि जाते हो तो तुम जाओ। मैं नहीं जाऊँगा।

विट—अच्छा (ऐसे ही), जाता हूँ (निकल जाता है)।

शकार—भाव तो अभाव को प्राप्त हुए (चले गये)। (विदूषक को लक्ष्य करके) अरे कौए के पंजे के समान शिर वाले दुष्ट बटुक, बैठ जा, बैठ जा।

विदूषक—हम तो बैठा ही रक्खे हैं।

शकार—किसने ?

विदूषक—भाग्य ने।

शकार—खड़ा हो खड़ा हो।

विदूषक—उठेंगे।

शकार—कब ?

विदूषक—जब फिर भी भाग्य अनुकूल होगा।

शकार—अरे रोओ, रोओ।

विदूषक—हम तो रुला ही रक्खे हैं।

शकार—किसने ?

विदूषक—दुर्दशा ने।

शकार—अरे, हँस, हँस।

विदूषक—हँसेंगे।

शकार—कब ?

विदूषक—पुनः आर्य चारुदत्त की समृद्धि से।

शकार—अरे दुष्ट बटुक, मेरे वचन (मेरी ओर से उस दरिद्र चारुदत्त से कहना—"यह सुन्दर वर्ण (रंग) वाली सुवर्ण (के आभूषणों) से युक्त, नूतन नाटक के प्रदर्शन के लिए उठ कर खड़ी हुई मुख्य नटी जैसी वसन्तसेना नाम की वेश्या-पुत्री

आलाने इति। हस्ती आलाने बन्धनस्तम्भे गृह्यते वशीक्रियते। वाजी अश्वः वल्गासु मुखरज्जुषु गृह्यते। नारी हृदये अनुरागपूर्णे मनसि गृह्यते। यदि इदम् अनुरागपूर्णं हृदयं नास्ति तदा गम्यताम्। नात्र स्थित्या कोऽपि लाभः इति भावः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥५०॥

अभावम् अदर्शनम्। काकपदवत् (कुटिलं पञ्चधा विभक्तं वा) शीर्षं मस्तकं च यस्य अलकसयुक्तमस्तकः इत्यर्थः सुवर्णा शोभनवर्णसहिता, सहिरण्या

बलक्कालाणुणीअमाणा तुइ गेहं पविट्ठा । ता जइ मम हत्थे शअं ज्जेव पट्ठाविअ एणं शमप्पेशि, तदो अधिअलणे ववहालं विणा लहु णिज्जादमाणाह तव मए अणुबद्धा पीवी हुविश्शदि । आदु अणिज्जादमाणाह मलणन्तिके वेले हुविश्शदि । अवि अ पेक्ख ।

कश्चालुका गोच्छडलित्तवेण्टा
शाके अ शुक्खे तलिदे हु मंशे ।
भत्ते अ हेमन्तिअलत्तिशिद्धे लीणे
अ वेले ण हु होदि पूदी ।५१।।

शोश्तकं भणेशि लहुकं भणेशि । तधा भणेशि जधा हगे अत्तणकेलिकाए पाशादबालग्गकवोदवालिआए उवविट्ठे शुणामि । अण्णधा जदि भणेशि, ता कवालपविट्ठकवित्थगुडिअं विअ मत्तअं दे मडमडाइश्शम् [अरे दुष्टबटुक, भणिष्यसि मम वचनेन तं दरिद्रचारुदत्तकम्—'एषा ससुवर्णा सहिरण्या नवनाटकदर्शनोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेनानाम्नी गणिकादारिका कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्तास्माभिर्बलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा । तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्यैनां समर्पयसि, ततोऽधिकरणे व्यवहारं विना लघु निर्यातयतस्तव मयानुबद्धा प्रीतिर्भविष्यति । अथवाऽनिर्यातयतो मरणान्तिकं वैरं भविष्यति । अपि च प्रेक्षस्व—

कूष्माण्डी गोमयलिप्तवृन्ता शाकं च शुष्कं तलितं खलु मांसम् ।
भक्तं च हैमन्तिकरात्रिसिद्धं लीनायां च वेलायां न खलु भवति पूति ॥

शोभनं भणिष्यसि, लघुकं भणिष्यसि । तथा भणिष्यसि यथाहमात्मकीयायां प्रासादबालाग्रकपोतपालिकायामुपविष्टः शृणोमि । अन्यथा यदि भणसि, तटा कपाटप्रविष्टकपित्थगुलिकमिव मस्तकं ते मडमडायिष्यामि ।]

विदूषकः— भणिस्सम् । [भणिष्यामि ।]

शकारः—(अपवार्य) चेडे, गडे शच्चकं ज्जेव भावे । [चेट, गतः सत्यमेव भावः ।]

चेटः— अधइं । [अथ किम् ।]

शकारः— ता शिग्घं अवक्कमम्ह । [तच्छीघ्रमपक्रमावः ।]

चेटः—ता गेण्हदु भट्टके असिम् । [तद्गृह्णातु भट्टारकोऽसिम् ।]

शकारः—तव ज्जेव हत्थे चिट्ठदु । [तवैव हस्ते तिष्ठतु ।]

सुवर्णाभूषणैः युक्ता । नवनाटकस्य दर्शनाय प्रदर्शनाय उत्थिता उद्यता । बलात्कारेण अनुनीयमना प्रसाद्यमाना । अधिकरणे न्यायालये । व्यवहारं विवादम्

जो कि कासदेवायतनोद्यान (में जाने) से लेकर तुमसे प्रेम करती है, हमारे द्वारा बल पूर्वक मनाई जाती हुई (भी) तुम्हारे घर में प्रविष्ट हो गई है। तो यदि स्वयं ही भेजकर मेरे हाथ में इस (वसन्तसेना) को सौंप देते हो तो न्यायालय में विवाद (मुकदमे) के बिना शीघ्र ही वसन्तसेना को लौटाने वाले तुम्हारा मेरे साथ दृढ़ प्रेम हो जायगा, अथवा न लौटने पर मृत्युपर्यन्त शत्रुता हो जायगी।"

और भी देखो—

गोबर से लिप्त डण्ठल वाला कुम्हड़ा (कुष्माण्ड), सूखा हुआ शाक, तला हुआ माँस, हेमन्त (ऋतु) की रात्रि में बनाया हुआ भात, (अधिक) काल बीत जाने पर भी विकृत नहीं होते हैं ॥५२॥

भली प्रकार कहोगे, शीघ्र कहोगे, उस प्रकार कहोगे जिससे मैं मत्तवारणी से चिह्नित (लक्षित) छज्जे की कपोतपालिका पर बैठा हुआ सुनता रहूँ। यदि ऐसे नहीं कहोगे, तो किवाड़ों के बीच में फँसे हुये कपित्थ (कैथ) के गोले के समान तेरा मस्तक कुचल दूँगा (मरोड़ दूँगा)।

विदूषक—कह दूँगा।

शकार—(अलग हटकर) चेट, सचमुच ही भाव (विट) चले गये?

चेट—और क्या?

शकार—तो (हम दोनों) शीघ्र चलें।

चेट—तो स्वामी तलवार ग्रहण करें।

शकार—तुम्हारे ही हाथ में रहे।

अभियोगं वा (अनेन व्यवहारनाम्नो नवमाङ्कस्य सूचनमिति पृथ्वीधरः) लघु शीघ्रं। निर्यातयतः समर्पयतः। अनुबद्धा दृढा।

शकारः अप्रस्तुतप्रशंसया कथयति—कूष्माण्डीति। गोमयेन लिप्तं वेष्टितं वृन्तं यस्याः सा कूष्माण्डी, शुष्कं च शाकं, तलितं घृतादिना संभृष्टं मांसं, हैमन्तिकरात्रौ हेमन्तस्य रात्रौ सिद्धं पक्वं च भक्तम् अन्नं ('भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः) च वेलायां लीनायां काले व्यतीते सति पूति दुर्गन्धयुतं न भवति। समर्पणस्य च कालातिपाते प्रीतिविच्छेदो भविष्यति अत्र अप्रस्तुतानां कूष्माण्डादीनां कालातिपातेऽपि दुर्गन्धतायाः अभाववर्णनात् प्रस्तुतस्य (वसन्तसेनायाः समर्पणाभावे) वैररूपदोषस्य प्रतीतिः—इति अप्रस्तुतप्रशंसा। उपजाति वृत्तम् ॥५१॥

प्रासादस्य बालाग्रं मत्तवारणं (टि०) तेन उपलक्षितायां कपोतपालिकायां गृहोपरिभागे तत्र उपविष्टः शृणोमि। कपाटे प्रविष्टं यत् कपित्थगुलिकं कपित्थफलं (कैथ इति भाषायाम्) तदिव तव मस्तकं मडमडायिष्यामि चूर्णयिष्यामि (टि०)।

चेटः—एशे भट्टालके । गेण्हदु णं भट्टके अशिम् । [एष भट्टारकः । गृह्णात्वेनं भट्टारकोऽसिम् ।]

शकारः—(विपरीतं गृहीत्वा ।)

णिव्वक्कलं मूलकपेशिवण्णं खन्धेण घेत्तूण अ कोशशुत्तम् ।
कुक्केहि कुक्कीहि अ बुक्कअन्ते जधा शिआले शलणं पलामि ॥५२॥
[निर्वल्कलं मूलकपेशिवर्णं स्कन्धेन गृहीत्वा च कोशसुप्तम् ।
कुक्कुरैः कुक्कुरीभिश्च बुक्क्यमानो यथा शृगालः शरणं प्रयामि ॥]

(परिक्रम्य निष्क्रान्तौ)

विदूषकः—भोदि रदणिए ण क्खु दे अअं अवमाणो तत्तभवदो चारुदत्तस्स णिवेदइदव्वो । दोग्गच्चपीडिअस्स मण्णे दिउणदरा पीडा हुविस्सदि । [भवति रदनिके, न खलु तेऽयमपमानस्तत्रभवतश्चारुदत्तस्य निवेदयितव्यः । दौर्गत्यपीडितस्य मन्ये द्विगुणतरा पीडा भविष्यति ।]

रदनिका-अज्ज मित्तेअ, रदणिआ क्खु अहं संजदमुही । [आर्य मैत्रेय, रदनिका खल्वहं संयतमुखी ।]

विदूषकः—एवं ण्णेदम् । [एवमिदम्] ।

चारुदत्तः—(वसन्तसेनामुद्दिश्य) रदनिके, मारुताभिलाषी प्रदोषसमयशीतार्तो रोहसेनः । ततः प्रवेश्यतामभ्यन्तरमयम् । अनेन प्रावारकेण छादयैनम् । (इति प्रावारकं प्रयच्छति ।)

वसन्तसेना-(स्वगतम्) कधं परिअणोत्ति मं अवगच्छदि । (प्रावारकं गृहीत्वा समाघ्राय च स्वगतं सस्पृहम्) अम्हहे, जादीकुसुमवासिदो पावारओ । अणुदासीणं से जोव्वणं पडिभासेदि । [कथं परिजन इति मामवगच्छति । आश्चर्यम्, जातीकुसुमवासितः प्रावारकः । अनुदासीनमस्य यौवनं प्रतिभासते ।] (अपवारितकेन प्रावृणोति ।)

चारुदत्तः—ननु रदनिके, रोहसेनं गृहीत्वाभ्यन्तरं प्रविश ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) मन्दभाइणी क्खु अहं तुम्हे अब्भन्तरस्स । [मन्दभागिनी खल्वहं तवाभ्यन्तरस्य ।]

चारुदत्तः—ननु रदनिके, प्रतिवचनमपि नास्ति । कष्टम् ।

अपवार्येति तस्य लक्षणं तूक्तं दर्पणे—'तद्भवेदपवारितम् । रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाशते ।'

शकारः असिं गृहीत्वा स्वगमनस्य वर्णनं करोति—निर्वल्कलमिति । निर्गतं

चेटः—यह (तलवार) स्वामी की है (अतएव) तलवार को स्वामी ग्रहण करें।

शकार—(उल्टी पकड़कर) नग्न (कोशरहित) दशा में मूली के छिलके के सदृश (कुछ लाल) रंग वाली कोष (म्यान) में स्थित तलवार को कन्धे पर रखकर मैं कुत्ते और कुतियों के द्वारा भौंके गये सियार के समान घर को जाता हूँ ॥५२॥

(घूमकर निकल जाते हैं)

विदूषकः—अरी, रदनिका अपने इस अनादर को पूज्य चारुदत्त से निवेदन नहीं करना चाहिए। मैं समझता हूँ (यह दुःखद समाचार सुनकर) दुर्दशा से पीड़ित (आर्य चारुदत्त) की पीड़ा दुगुनी हो जायेगी।

रदनिका—आर्य मैत्रेय, मैं रदनिका मुख (जिह्वा) को संयम में रखने वाली हूँ।

विदूषकः—हाँ, (वह) ऐसा ही है।

चारुदत्तः—(वसन्तसेना को लक्ष्य करके) हे रदनिके, वायु (सेवन) का इच्छुक रोहसेन रात्रि के प्रथम पहर की ठण्ड से पीड़ित है। इसलिए इसे भीतर ले जाओ। इस उत्तरीय से इसे ढक दो। (उत्तरीय प्रदान करता है)

वसन्तसेना—(अपने आप) क्या (भूल से) मुझे परिजन समझ रहे हैं। (उत्तरीय ग्रहण करके और सूंघकर अपने आप अभिलाषापूर्वक) आश्चर्य! उत्तरीय जाती पुष्पों से सुवासित है। इसका यौवन उदासीनता रहित (साभिलाष) प्रतीत होता है। (अलग हटकर अपने आप को ढक लेती है)

चारुदत्तः—अरी रदनिके रोहसेन को लेकर भीतर जाओ।

वसन्तसेना—(अपने आप) तुम्हारे अन्तःपुर के (प्रवेश के) लिए मैं मन्द भाग्य वाली हूँ—

चारुदत्तः—अरी रदनिके! उत्तर भी नहीं, खेद है।

वल्कलं लक्षणया कोशः यस्य तं नग्नावस्थं मूलकस्य पेशिः त्वक् तद्वर्णः इव वर्णः यस्य तं (असिं) कोशसुप्तं कोशस्थितं कृत्वा स्कन्धेन गृहीत्वा अहं तथैव शरणं गृहं प्रयामि गच्छामि यथा कुक्कुरैः कुक्कुरीभिः च बुक्कयमानः भषणं कृत्वा अनुस्रियमाणः शृगालः शरणं शरणयोग्यं स्थानं गच्छति। उपमालङ्कारः। उपजातिवृत्तम् ॥२५॥

संयतमुखी संयतं नियन्त्रितं मुखं यस्य (टि०)। मारुताभिलाषी वायुसेवनस्य इच्छुकः। प्रदोषसमयस्य रात्रेः प्रथमप्रहरस्य शीतेन आर्तः। रोहसेनः चारुदत्तस्य पुत्रः। प्रावारकेण उत्तरीयकेण अनुदासीनम् औदासीन्यरहितं साभिलाषम्। अपवारितकेन अपवार्य पृथक् भूत्वा इति यावत्। अभ्यन्तरस्य मन्दभागिनी अभागिनी इति पाठान्तरम् अहं वेश्यास्मि, अतः भवतः गृहे प्रवेशं नार्हामि इति भावः।

यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशां नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते ।
तदास्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रतां चिरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः ।।५३।।

(रदनिकामुपसृत्य)

विदूषकः—भो, इअं सा रदणिआ । [भोः, इयं सा रदनिका ।]

चारुदत्तः—इयं सा रदनिका । इयमपरा का ।

अविज्ञातावसक्तेन दूषिता मम वाससा ।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) एं भूसिदा । [ननु भूषिता ।]

चारुदत्तः—

छादिता शरदभ्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते ।।५४।।

अथवा, न युक्तं परकलत्रदर्शनम् ।

विदूषकः भो, अलं परकलत्तदंसणसङ्काए । एसा वसन्तसेणा कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि भवन्तमणुरत्ता । [भोः, अलं परकलत्रदर्शनशङ्कया । एषा वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्ता ।]

चारुदत्तः—इयं वसन्तसेना । (स्वगतम्)

यया मे जनितः कामः क्षीणे विभवविस्तरे ।
क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीदति ।।५५।।

विदूषकः—भो वअस्स, एसो क्खु राअसालो भणादि । [भो वयस्य, एष खलु राजश्यालो भणति ।]

चारुदत्तः—किम् ।

विदूषकः—एसा ससुवण्णा सहिलण्णा णवणाडअदंसणुट्ठिदा सुत्तधालि व्व वसन्तसेणा णाम गणिआदालिआ कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि तुमं अणुलत्ता अम्हेहिं बलक्कालाणणीअमाणा तुह गेहं पविट्ठा । [एषा ससुवर्णा सहिरण्या नवनाटकदर्शनोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेनानाम्नी गणिकादारिका कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्तास्माभिर्बलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा ।]

चारुदत्तः स्वकथनस्य प्रतिवचनं न प्राप्नोति तस्मात् खिन्नः सन् कथयति—यदेति । यदा तु नरः मानवः कृतान्तेन दैवेन उपहितां प्रापितां भाग्यक्षयेण विभवनाशेन शोभनकर्मनाशेन वा पीडितां दशाम् अवस्थां प्रपद्यते प्राप्नोति तदा अस्य मित्राणि अपि अमित्रतां स्नेहराहित्यं यान्ति । चिरेण अनुरक्तः प्रीतः अपि च जनः विरज्यते विरक्तः भवति । अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । वंशस्थं वृत्तम् ।।५३।।

रदनिकाबुद्धया अन्येयं का मम वस्त्रेण अपवित्रीकृता ? इति चारुदत्तः विदूषकं पृच्छति-अविज्ञातेति । या अविज्ञाता यथार्थरूपेण अज्ञाता अतः अवसक्तेन स्पृष्टेन

जब मनुष्य दैव (कृतान्त) द्वारा प्राप्त कराई गयी, भाग्यनाश के कारण दलित (पीडित) दशा को प्राप्त हो जाता है, तब इस (निर्धन) के मित्र भी शत्रुता को प्राप्त हो जाते हैं, दीर्घकाल से अनुराग करने वाला व्यक्ति भी विरक्त हो जाता है ॥५३॥

विदूषक—(रदनिका के पास जाकर) अरे ! यह तो वह रदनिका है।

चारुदत्त—यह तो वह रदनिका है। यह दूसरी कौन है ? जो अनजाने में स्पर्श किये हुए मेरे वस्त्र से दूषित हो गई।

वसन्तसेना—(अपने आप) अपितु भूषित हो गई।

चारुदत्त—शरद् (ऋतु) के मेघ से आच्छन्न चन्द्रकला के तुल्य दृष्टिगोचर होती है ॥५४॥

या पराई स्त्री का दर्शन करना उचित नहीं।

विदूषक—अरे ! पराई स्त्री के दर्शन की शङ्का से बस (मत) करो। यह वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यान (में गमन) से लेकर तुझ में अनुरक्त है।

चारुदत्त—यह वसन्तसेना है !—(अपने आप) धनराशि के क्षीण हो जाने पर जिसके द्वारा उत्पन्न की हुई मेरी कामवासना कायर मनुष्य के क्रोध की भाँति अपनी देह में ही विनष्ट हो जाती है ॥५५॥

विदूषक—हे मित्र ! यह राजश्याल (शकार) कहता है—

चारुदत्त—क्या ?

विदूषक—यह सुन्दर वर्ण (रंग) वाली, सुवर्ण के आभूषणों से युक्त, नूतन नाटक के प्रदर्शन के लिये उठकर खड़ी हुई मुख्य नटी जैसी वसन्तसेना नाम की वेश्या-पुत्री जो कि कामदेवायतनोद्यान (में जाने) से लेकर तुमसे प्रेम करती है, हमारे द्वारा बलपूर्वक मनाई जाती हुई (भी) तुम्हारे घर प्रविष्ट हो गई है।

अथवा अविज्ञातं यथा तथा अवसिक्तेन (काले) मम वाससा वस्त्रेण दूषिता परपुरुष-धृतवसनस्य स्पर्शनाद् इति भावः। या च शरदः अभ्रेण मेघेन छादिता आच्छा-दिता चन्द्रलेखा चन्द्रकला इव दृश्यते। उपमालङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥५४॥

अत्र 'अलं परकलत्रशङ्कया इत्यारभ्य 'अये इयं वसन्तसेना' इत्यन्तेन नायकोप-कारिकाया अर्थसम्पत्तेरवगमात् प्रथमं पताकास्थानम् (काले)।

'इयं वसन्तसेना' इति श्रुत्वा चारुदत्तः मनसि चिन्तयति ययेति। विभवविस्तरे धनराशौ क्षीणे विनष्टे सति यया वसन्तसेनया जनितः उत्पादितः मे मम चारुदत्तस्य कामः अभिलाषः साफल्याभावात् कुपुरुषस्य कुत्सितस्य जनस्य क्रोध इव स्वगात्रेषु स्वाङ्गेषु एव सीदति गलति। यथा निस्तेजकस्य पुरुषस्य क्रोधोऽकिञ्चित्करः तथैव मम अभिलाषोऽपि निष्फलः जातः धनाभावाद् इति भावः। उपमालङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥५५॥

वसन्तसेना—(स्वगतम्) बलक्कालाणुणीअमाणेत्ति जं सच्चम्, अलंकिदह्मि एदेहिं अक्खरेहिं। [बलात्कारानुनीयमानेति यत्सत्यम्, अलङ्कृतास्म्येतैरक्षरैः।]

विदूषकः—ता जइ मम हत्थे सअं ज्जेव पट्ठाविअ एणं समप्पेसि, तदो अधिअलणे ववहालं विणा लहुं णिज्जादमाणाह तव मए अणुबद्धा पीदी हुविस्सदि। अण्णधा मलणन्तिके वेले हुविस्सदि। [तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्यैनां समर्पयसि, ततोऽधिकरणे व्यवहारं विना लघु निर्यातयतस्तव मयानुबद्धा प्रीतिर्भविष्यति। अन्यथा मरणान्तिकं वैरं भविष्यति।]

चारुदत्तः—(सावज्ञम्) अज्ञोऽसौ। (स्वगतम्) अये, कथं देवतोपस्थानयोग्या युवतिरियम्। तेन खलु तस्यां वेलायाम्।

प्रविश गृहमिति प्रतोद्यमाना
न चलति भाग्यकृतां दशामवेक्ष्य।
पुरुषपरिचयेन च प्रगल्भं
न वदति यद्यपि भाषते बहूनि ॥५६॥

वसन्तसेना—एदिणा अणुचिदभूमिआरोहणेण अवरज्झा अज्जं सीसेण पणमिअ पसादेमि। [एतेनानुचितभूमिकारोहणेनापराद्धाऽयं शीर्षेण प्रणम्य प्रसादयामि।]

विदूषकः—भो, दुवेवि तुम्हे सुहं पणमिअ कलमकेदारा अण्णोण्णं सीसेण सीसं समाअदा। अहं पि इमिणा करहजाणुसरिसेण सीसेण दुवेवि तुम्हे पसादेमि। [भोः, द्वावपि युवां सुखं प्रणम्य कलमकेदारावन्योन्यं शीर्षेण शीर्षं समागतौ। अहमप्यमुना करभजानुसदृशेन शीर्षेण द्वावपि युवां प्रसादयामि।] (इत्युत्तिष्ठति)

चारुदत्त—भवतु। तिष्ठतु प्रणयः।

वसन्तसेना—(स्वगतम्) चदुरो मधुरो अ अअं उवण्णासो। ण जुत्तं

अलङ्कृतास्मि 'तस्याः अन्यत्र अभिलाषो नास्ति' इति 'बलात्कारानुनीयमाना' इत्यनेन शब्देन व्यज्यते, अतः सा अनेन शब्देन अलङ्कृता। देवता इव उपस्थानं देवतोपस्थानं तद्योग्या अथवा देवतायाः उपस्थानं देवपूजा तद्योग्या देवतेव पूज्येति भावः।

चारुदत्तः रोहसेनस्य अभ्यन्तरप्रवेशाज्ञासमये प्रकटितां वसन्तसेनायाः शालीनतां विचारयति-प्रविशेति। गृहम् अभ्यन्तरं प्रविशेति प्रतोद्यमाना मया प्रेर्यमाणा भाग्यकृतां

वसन्तसेना—'बलात् मनाई जाती हुई' यदि यह सत्य है तो मैं इन अक्षरों से अलङ्कृत हो गई।

विदूषक—'तो यदि स्वयं भेजकर मेरे हाथ में इस (वसन्तसेना) को सौंप देते हो तो न्यायालय में विवाद (मुकदमे) के बिना शीघ्र ही वसन्तसेना को लौटाने वाले तुम्हारा मेरे साथ दृढ़ प्रेम हो जायेगा। अन्यथा मृत्युपर्यन्त शत्रुता हो जायेगी।

चारुदत्त—(अनादरपूर्वक) वह मूर्ख है। (अपने आप) अरे! यह कैसी देवता के तुल्य पूजा करने के योग्य युवती है। तभी तो उस समय—

(रोहसेन को लेकर) 'घर में प्रवेश करो', इस प्रकार प्रेरित की गई भाग्यकृत दशा को देखकर (भीतर) नहीं गई। यद्यपि यह (गणिका है अतः) बहुत बोलने वाली है तथापि मेरे जैसे पुरुष की उपस्थिति में (टि०) धृष्टता से नहीं बोलती ॥५६॥

(प्रकट रूप में) हे वसन्तसेने, अज्ञान के कारण ठीक से न जानी गई तुम्हारे साथ सेवक के समान व्यवहार करने से मैं अपराधी हूँ अतः मैं आपकी सिर झुकाकर मनौती करता हूँ।

वसन्तसेना—(पक्ष द्वार से प्रवेश आदि) अनुचित कार्य करने के कारण अपराधिनी मैं (वसन्तसेना) शिर से प्रणाम करके आर्य को प्रसन्न करती हूँ।

विदूषक—अरे! सुखपूर्वक प्रणाम करके आप दोनों, धान की दो क्यारियों के समान सिर से मिल गये। मैं भी ऊँट के बच्चे के घुटने जैसे इस सिर से आप दोनों को ही प्रसन्न करता हूँ।

(उठता है)

चारुदत्त—जाने दो। औपचारिकता (प्रणय) को रहने दो।

वसन्तसेना—(अपने आप) यह कथन (तिष्ठतु प्रणयः) चतुर और मधुर है।

दुर्दैवकृतां दशाम् अवस्थाम् अवेक्ष्य विचार्य न चलति अभ्यन्तरं न गता। यद्यपि च इयं गणिका अतः बहूनि भाषते तथापि पुरुषपरिचयेन मादृशस्य पुरुषस्य सङ्गेन सङ्गं प्राप्येति यावत् प्रगल्भं धृष्टं न वदति लज्जावशात्। विवादास्पदमस्य पद्यस्य अन्वयः (टि०) पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥५६॥

अविज्ञानात् अज्ञानात्। अपरिज्ञातायां त्वयि परिजनवत् सेवकवद् उपचारेण आज्ञाप्रदानादिव्यवहारेण अनुचितभूमिकारोहणम् पक्षद्वारेण आवास-प्रवेशादिकम् (पृथ्वी०)। कलमानां शालीनां केदारौ क्षेत्रौ समागतौ करभः उष्ट्रशिशुः तस्य जानु तत्तुल्येन। प्रणयः स्नेहः। उपचारः प्रयोगः प्रस्तावः।

अज्ज एरिसेण इध आअदाए मए पडिवसिदुम्। भोदु। एव्वं दाव भणिस्सम्। (प्रकाशम्) अज्ज, जइ एव्वं अहं अज्जस्स अणुगेज्झा ता इच्छे अहं इमं अलंकारअं अज्जस्स गेहे णिक्खिविदुम्। अलंकारस्स णिमित्तं एदे पावा अणुसरन्ति। [चतुरो मधुरश्चायमुपन्यासः। न युक्तमद्य दृशेनेहागतया मया प्रतिवस्तुम्। भवतु एवं तावद्भणिष्यामि। आर्य, यद्येवमहमार्यस्यानुग्राह्या तदिच्छाम्यहमिममलङ्कारकमार्यस्य गेहे निक्षेप्तुम्। अलङ्कारस्य निमित्तमेते पापा अनुसरन्ति।

चारुदत्तः—अयोग्यमिदं न्यासस्य गृहम्।

वसन्तसेना—अज्ज, अलीअम्। पुरुसेसु णासा णिक्खिविअन्ति, ण उण गेहेसु। [आर्य अलीकम्। पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहेषु।]

चारुदत्तः—मैत्रेय, गृह्यतामयमलङ्कारः।

वसन्तसेना—अणुग्गहीदह्मि [अनुगृहीतास्मि।])इत्यलङ्कारमर्पयति।)

विदूषकः—(गृहीत्वा) सोत्थि भोदीए। [स्वस्ति भवत्यै।]

चारुदत्तः—धिङ्मूर्ख, न्यासः खल्वयम्।

विदूषकः—(अपवार्य जइ एव्वं ता चोरेहिं हरिज्जउ! [यद्येवं तदा चोरैर्ह्रियताम्!]

चारुदत्तः—अचिरेणैव कालेन।

विदूषकः—एसो से अह्माणं विण्णासो। [एषोऽस्या अस्माकं विन्यासः।]

चारुदत्तः—निर्यातयिष्ये।

वसन्तसेना—अज्ज, इच्छे अहम् इमिणा अज्जेण अणुगच्छिज्जन्ती सकं गेहं गन्तुम्। [आर्य, इच्छाम्यहमनेनार्येणानुगम्यमाना स्वकं गेहं गन्तुम्।]

चारुदत्तः—मैत्रेय, अनुगच्छ तत्रभवतीम्।

विदूषकः—तुमं ज्जेव एदं कलहंसगामिणीं अणुगच्छन्तो राअहंसो विअ सोहसि अहं उण बह्मणो जहिं जणेहिं चउप्पहोवणीदो उवहारो कुक्कुरेहिं विअ खज्जमाणो विवज्जिस्सम्। [त्वमेवैतां कलहंसगामिनीमनुगच्छन्राजहंस इव शोभसे। अहं पुनर्ब्राह्मणो यत्र तत्र जनैश्चतुष्पथोपनीत उपहारः कुक्कुरैरिव खाद्यमानो विपत्स्ये।]

चारुदत्तः—एवं भवतु। स्वयमेवानुगच्छामि तत्रभवतीम्। तद्राजमार्गविश्वासयोग्याः प्रज्ज्वाल्यन्तां प्रदीपिकाः।

विदूषकः—वड्ढमाणअ, पज्जालेहि पदीविआओ। [वर्धमानक, प्रज्ज्वालय प्रदीपकान्।]

चेटी—(जनान्तिकम्) अले, तेल्लेण विणा पदीविआओ पज्जालीअन्ति। [अरे, तैलेन बिना प्रदीपकाः प्रज्ज्वाल्यन्ते।]

इस प्रकार (बिना बुलाये) आई मेरे द्वारा आज (यहाँ) रहना उपयुक्त नहीं है। अच्छा ! तो इस प्रकार कहूँगी। (प्रकट रूप से) आर्य ! यदि इस प्रकार मैं आर्य के द्वारा अनुगृहीत की जाती हूँ, तो मैं इस आभूषण को आर्य के घर में धरोहर रखना चाहती हूँ। आभूषण के निमित्त ये पापी मेरा पीछा कर रहे हैं।

चारुदत्त—यह घर धरोहर के योग्य नहीं है।

वसन्तसेना—आर्य, झूठ है। पुरुषों पर धरोहर रक्खी जाती है, न कि घरों में।

चारुदत्त—मैत्रेय, यह आभूषण ले लो।

वसन्तसेना—अनुगृहीत हुई। (आभूषण दे देती है)।

विदूषक—(लेकर) आपका कल्याण हो।

चारुदत्त—धिक्कार मूर्ख ! यह तो धरोहर है।

विदूषक—(अलग हटकर) यदि ऐसा है तो चोरों के द्वारा भले ही यह (आभूषण) चुरा लिया जाय।

चारुदत्त—स्वल्प समय में ही ......

विदूषक—यह उसकी हमारे यहाँ विशेष धरोहर है।

चारुदत्त—लौटा दूँगा।

वसन्तसेना—आर्य, मैं इस आर्य (मैत्रेय) के द्वारा अनुसरण की जाती हुई अपने घर जाना चाहती हूँ।

चारुदत्त—मैत्रेय ! आप का अनुगमन करो (साथ जाओ)।

विदूषक—तुम ही इस कलहंस के समान (सुन्दर) गमन करने वाली (वसन्तसेना) का अनुगमन करते हुए राजहंस के समान शोभित होते हो। फिर मैं (बेचारा) ब्राह्मण उसी प्रकार मारा जाऊँगा जिस प्रकार जहाँ तहाँ चौराहे पर मनुष्यों द्वारा लाई (चढ़ाई) हुई बलि कुत्तों द्वारा खा ली जाती है।

चारुदत्त—ऐसा ही हो। स्वयं ही आपका अनुगमन करता हूँ। तो राजमार्ग में विश्वसनीय दीपकों को जलाओ।

विदूषक—वर्धमानक दीपक जलाओ।

चेटी—(अलग से) अरे, तेल के बिना दीपक जलाये जाते हैं ?

ईदृशेन एतादृशरूपेण, अगृहीतसंभोगोपकरणादिना (पृथ्वी०) चौरैः ह्रियताम् इति सन्धिच्छेदनाम्नस्तृतीयाङ्कस्य सूचनम्। तेन चेह तृतीयं पताकास्थानकमुक्तम् (काले)।

कलहंस इव गच्छति तच्छीला इति कलहंसगामिनी ताम्। उपनीतः समर्पितः

विदूषकः—(जनान्तिकम्) ही, ताओ क्खु अम्हाणं पदीविआओ अवमाणिदणिद्धणकामुआ विअ गणिआ णिस्सिणेहाओ दाणिं संवुत्ता। [आश्चर्यम्, ताः खल्वस्माकं प्रदीपिका अपमानितनिर्धनकामुका इव गणिका निःस्नेहा इदानीं सवृत्ताः।]

चारुदत्तः—मैत्रेय, भवतु। प्रदीपिकाभिः। पश्य।

उदयति हि शशाङ्कः कामिनीगण्डपाण्डुः
ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
स्रुतजल इव पङ्के क्षीरधाराः पतन्ति ॥५७॥

(सानुरागम्) भवति वसन्तसेने, इदं भवत्या गृहम्। प्रविशतु भवती।

(वसन्तसेना सानुरागमवलोकयन्ती निष्क्रान्ता)

चारुदत्तः—वयस्य, गता वसन्तसेना। तदेहि। गृहमेव गच्छावः।

राजमार्गो हि शून्योऽयं रक्षिणः संचरन्ति च।
वञ्चना परिहर्तव्या बहुदोषा हि शर्वरी ॥५८॥

(परिक्रम्य) इदं च सुवर्णभाण्डं रक्षितव्यं त्वया रात्रौ, वर्धमानकेनापि दिवा।

विदूषकः—जधा भवं आणवेदि। [यथा भवानाज्ञापयति।]

(इति निष्क्रान्तौ)

इति मृच्छकटिकेऽलङ्कारन्यासो नाम प्रथमोऽङ्कः।

विपत्स्ये मरिष्यामि विपत्तिग्रस्तो वा भविष्यामि। अपमानितः तिरस्कृतः निर्धनकामुकः यया सा, (निर्धनत्वादेव अपमानितः) निःस्नेहाः तैलरहिताः अनुरागरहिता च; स्नेहोऽनुरागः तैलं च। कृतम् अलम् सम्प्रति प्रदीपिकानाम् आवश्यकता नास्ति, इति भावः।

चारुदत्तः प्रदीपिकानां व्यर्थतामेव प्रकटयति—उदयतीति। हि यतः कामिन्याः गण्डः कपोल इव पाण्डु गौरवर्णः, ग्रहगणः नक्षत्रसमूहः एव परिवारः यस्य तादृशः राजमार्गस्य प्रदीपः शशाङ्कः चन्द्रः उदयति। यस्य चन्द्रस्य गौराः शुभ्राः रश्मयः किरणाः स्रुतं गतं जलं यस्मात् तादृशे पङ्के क्षीरस्य दुग्धस्य धाराः इव तिमिरनिकरस्य अन्धकारसमूहस्य मध्ये पतन्ति। कामिनीगण्डपाण्डुः इत्यत्र लुप्तोपमा। राजमार्गप्रदीपः इति रूपकम्। उत्तरार्धे च श्रौती उपमा। मालिनी वृत्तम् ॥५७॥

विदूषक—(अलग से) आश्चर्य ! वस्तुतः वे हमारी प्रदीपिकायें धनहीन कामुकों को अपमानित करने वाली वेश्याओं के सदृश आजकल स्नेहहीन (वेश्या पक्ष मे प्रेम-रहित, प्रदीपिका पक्ष में—तेल रहित) हो गई हैं ।

चारुदत्त—मैत्रेय रहने दो । प्रदीपिकाओं की आवश्यकता नहीं है । देखो—

तरुणी के कपोल के समान गौरवर्ण, नक्षत्र समुदाय रूपी परिवार वाला तथा राजमार्ग का दीपक चन्द्रमा उदित हो रहा है । अन्धकार-समूह के बीच में जिसकी उज्ज्वल किरणें जल-रहित कीचड़ में दूध की धाराओं के समान पड़ रही हैं ॥५७॥

(प्रेमपूर्वक) वसन्तसेने, यह आपका घर है । आप प्रवेश करें । (वसन्तसेना प्रेमपूर्वक देखती हुई निकल जाती है ।

चारुदत्त—मित्र, वसन्तसेना गयी, तो आओ । घर को ही चलें । यह राजमार्ग सूना है और रक्षक लोग (पहरेदार) घूम रहे हैं, ठगी (चोरी) से बचाना चाहिये (क्योंकि) रात्रि वास्तव में बड़ी दोषपूर्ण होती है ॥५८॥

(घूमकर) और इस स्वर्ण-पात्र ("Jewel-case or golden casket R. P. Oliver की तुझे रात्रि में और वर्धमानक को दिन में रक्षा करनी चाहिये ।

विदूषक—जैसी आप आज्ञा देते हैं

(निकल जाते हैं ।)

अलङ्कार—न्यास नामक प्रथम अङ्क समाप्त ।

चारुदत्तः विदूषकं प्रति कथयति—राजमार्ग इति । आवां गृहमेव गच्छावः हि यतः अयं राजमार्गः शून्यः जनरहितः रक्षिणः रक्षकाः च सञ्चरन्ति इतस्ततः गच्छन्ति तथापि वञ्चना प्रतारणा (अलङ्कारहरणरूपा) परिहर्तव्या निवारणीया हि यतः शर्वरी रात्रिः बहुदोषा बहवः दोषा चौरादिकृताः उपद्रवाः यस्यां तादृशी भवति । काव्यलिङ्गम् अर्थान्तरन्यासश्चालङ्कारौ । तयोः अङ्गाङ्गित्वेन सङ्करः पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥५८॥

'इति समाप्तौ । अलङ्काराणां वसन्तसेनाभूषणानां न्यासः निक्षेपः यस्मिन् वर्णितः तथाभूतः प्रथमः अङ्कः समाप्तः । अङ्कस्य लक्षणं तूक्तं दर्पणे (टि०) ।

(६, १२–१९)

इति मृच्छकटिकटीकायां प्रथमोऽङ्कः ।

द्वितीयोऽङ्कः

(प्रविश्य)

चेटी—अत्ताए अज्जआसआसं संदेसेण पेसिदम्हि । ता जाव पविसिअ अज्जआसआसं गच्छामि । (प्रक्रिम्यावलोक्य च) एसा अज्जआ हिअएण किंपि आलिहन्ती चिट्ठदि । ता जाव उवसप्पामि । [मात्रार्यासकाशं संदेशेन प्रेषितास्मि । तद्यावत्प्रविश्यार्यासकाशं गच्छामि । एषार्या हृदयेन किमप्यालिखन्ती तिष्ठति । तद्यावदुपसर्पामि ।]

(ततः प्रविशत्यासनस्था सोत्कण्ठा वसन्तसेना मदनिका च)

वसन्तसेना—हञ्जे, तदो तदो । [चेटी ततस्ततः]

चेटी—अज्जए ण किंपि मन्तेसि । किं तदो तदो । [आर्ये, न किमपि मन्त्रयसि किं ततस्ततः ।]

वसन्तसेना—किं मए भणिदम् । [किं मया भणितम् ।]

चेटी—तदो तदो त्ति । [ततस्तत इति ।]

वसन्तसेना—(सभ्रूक्षेपम्) आं, एव्वम् । [आम् एवम् ।]

(उपसृत्य)

प्रथमा चेटी—अज्जए, अत्ता आदिसदि—'ण्हादा भविअ देवदाणं पूअं णिव्वत्तेहि त्ति' । [आर्ये, मातादिशति—'स्नाता भूत्वा देवतानां पूजां निर्वर्तय' इति ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, विण्णवेहि अत्तम्—अज्ज ण ण्हाइस्सम् । ता बह्मणो ज्जेव पूअं णिव्वत्तेदु त्ति । [चेटि, विज्ञापय मातरम्—'अद्य न स्नास्यामि । तद्ब्राह्मण एव पूजां निर्वर्तयतु' इति ।]

चेटी—जं अज्जआ आणवेदि । [यदार्याज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता) ।

मदनिका—अज्जए, सिणेहो पुच्छदि ण पुरोभाइदा, ता किं णेदम् । [आर्ये, स्नेहः पृच्छति, न पुरोभागिता, तत्किन्विदम् ।]

वसन्तसेना—मदणिए, केरिसिं मं पेक्खसि । [मदनिके, कीदृशीं मां प्रेक्षसे ।]

मात्रा वसन्तसेनामात्रा । सन्देशेन सन्देशं दत्वा । आलिखन्ती चिन्तयन्ती उपसर्पामि समीपे गच्छामि । सोत्कण्ठा उत्कण्ठया सहिता । मन्त्रयसि कथयसि । हञ्जे इति चेटी सम्बोधनम् । आं स्मरणार्थकम् अव्ययम् ।

द्वितीय अङ्क

(प्रवेश करके)

चेटी—माता ने आर्या (वसन्तसेना) के पास संदेश लेकर भेजी हूँ। तो जब तक प्रवेश करके आर्या के समीप जाती हूँ। (घूमकर और देखकर) यह आर्या हृदय से कुछ विचार करती हुई बैठी है। तो जब तक उसके समीप चलती हूँ।

(इसके वाद आसन पर बैठी हुई उत्कण्ठित वसन्तसेना तथा मदनिका प्रविष्ट होती हैं)

वसन्तसेना—चेटी ! इसके वाद ?

चेटी—आर्ये ! कुछ भी नहीं कह रही हो, 'इसके वाद' क्या ?

वसन्तसेना—मैंने क्या कहा ?

चेटी—'इसके वाद'।

वसन्तसेना—(भौं चढ़ाकर)—हाँ इसी प्रकार।

(समीप जाकर)

पहली चेटी—आर्ये ! माता जी यह आज्ञा दे रही हैं कि "स्नान करके देवताओं की पूजा को निबटालो।"

वसन्तसेना—चेटी ! माता जी को यह सूचना दो कि आज नहीं नहाऊँगी इसलिये ब्राह्मण ही पूजा को निवटा ले।'

चेटी—जो आर्या आज्ञा देती हैं। (निकल जाती है)

मदनिका—आर्ये ! दोपदृष्टि नहीं अपितु प्रेम पूछने को प्रेरित करता है कि यह क्या (बात) है ?

वसन्तसेना—मुझे कैसी देख रही हो ?

मदनिका नाम्नी चेटी पृच्छति—स्नेहः इत्यादि। स्नेहः पृच्छति स्नेहात् पृच्छामि अथवा स्नेहो मां प्रष्टुं प्रेरयति। पुरोभागिता दोषदर्शिता। 'कुतः तवेदृशी दशा जाता' इति स्नेहवशात् पृच्छामि न तु दोषदृष्ट्येति भावः।

परस्य हृदयग्रहणे चित्तवृत्तिज्ञाने पण्डिता चतुरा। एष खलु भगवान् कामः भवत्या (वसन्तसेनया) अनुगृहीतः (टि०)। यः कामः तरुणजनस्य युवजनस्य महान्

मदनिका—अज्जाआए सुण्णहिअअत्तरोण जाणामि हिअअगदं कंपि अज्जआ अहिलसदि त्ति। [आर्यायाः शून्यहृदयत्वेन जानामि हृदयगतं कमप्यार्याभिलषतीति।]

वसन्तसेना—सुट्ठु तुए जाणिदम्। परहिअअग्गहणपण्डिआ मदणिआ क्खु तुमम्। [सुष्ठु त्वया ज्ञातम्। परहृदयग्रहणपण्डिता मदनिका खलु त्वम्।]

मदनिका—पिअं मे पिअम्। कामो क्खु णाम एसो भअवं अणुगहिदो महूसवो तरुणजणस्स। ता कधेदु अज्जआ, किं राआ राअवल्लहो वा सेवीअदि। [प्रियं मे प्रियम्। कामः खलु नामैष भगवान् अनुगृहीतो महोत्सवस्तरुणजनस्य। तत्कथयत्वार्या, किं राजा राजवल्लभो वा सेव्यते।]

वसन्तसेना—हञ्जे, रमिदुमिच्छामि ण सेविदुम्। [चेटि, रन्तुमिच्छामि, न सेवितुम्।]

मदनिका—विज्जाविसेसालंकिदो किं कोवि बह्मणजुआ कामीअदि। [विद्याविशेषालङ्कृतः किं कोऽपि ब्राह्मणयुवा काम्यते।]

वसन्तसेना—पूअणीओ मे बह्मणजणो। [पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः।]

मदनिका—किं अणेअणअराहिगमणजणिदविहववित्थारो वाणिअजुआ वा कामीअदि? [किमनेकनगराभिगमनजनितविभवविस्तारो वाणिजयुवा वा काम्यते?]

वसन्तसेना—हञ्जे उवारूढसिणेहं पि पणइजणं परिच्चइअ देसन्तरगमणेण वाणिअजणो महन्तं विओअजं दुक्खं उप्पादेदि। [चेटि, उपारूढस्नेहमपि प्रणयिजनं परित्यज्य देशान्तरगमनेन वाणिजजनो महद्वियोगजं दुःखमुत्पादयति।]

मदनिका—अज्जए, ण राआ, ण राअवल्लहो, ण बह्मणो, ण वाणिअजणो। ता को दाणिं सो भट्टिदारिए कामीअदि? [आर्ये, न राजा, न राजवल्लभः, न ब्राह्मणः, न वाणिजजनः। तत्क इदानीं स भर्तृदारिकया काम्यते]

वसन्तसेना—हञ्जे तुमं मए सह कामदेवाअदणुज्जाणंगदा आसि। [चेटि, त्वं मया सह कामदेवायतनोद्यानं गतासीः।]

मदनिका—अज्जए; गदह्मि। [आर्ये गतास्मि।]

वसन्तसेना—तह वि मं उदासीणा विअ पुच्छसि। [तथापि मामुदासीनेव पृच्छसि।]

मदनिका—जाणिदम्। किं सो ज्जेव जेण अज्जआ सरणाअदा अब्भुववण्णा। [ज्ञातम्। किं स एव येनार्या शरणागताभ्युपपन्ना।]

वसन्तसेना—किंणामहेओ क्खु सो? [किं नामधेयः खलु सः?]

त्सवः अत्यन्तं हर्षप्रदः। कामप्रभावम् अनुभवन्ती वसन्तसेना मामपि बन्धनाद् मोचयि-

मदनिका--आर्या के शून्य हृदय के कारण यह जान रही हूँ कि हृदयस्थ किसी (प्रेमी) को आर्या चाहती है ?

वसन्तसेना—तुमने ठीक जाना। वस्तुतः तुम दूसरे के हृदय (की बातों) को ग्रहण करने में कुशल 'मदनिका' हो।

मदनिका—मेरा बहुत प्रिय हुआ । सचमुच यह भगवान् कामदेव जो युवा पुरुषों का महोत्सव है आपके द्वारा अनुगृहीत हो गया है, तो आर्या बतलायें कि क्या राजा या राजा का प्रिय सेवित हुआ है।

वसन्तसेना—चेटी ! रमण करने की इच्छा करती हूँ न कि (धन प्राप्ति की इच्छा से) सेवा करने की।

मदनिका—क्या विशिष्ट विद्या से अलङ्कृत किसी ब्राह्मण युवक की कामना की जा रही है ?

वसन्तसेना—ब्राह्मण लोग तो मेरे पूज्य हैं।

मदनिका—क्या अनेक नगरों में गमन से प्रचुर सम्पत्ति अर्जित करने वाले व्यापारी युवक की कामना की जा रही है ?

वसन्तसेना—हे चेटी ! व्यापारी पुरुष प्रवृद्ध प्रेम वाले प्रेमीजन को छोड़ कर विदेश चले जाने से महान् वियोग जनित दुःख को उत्पन्न करता है।

मदनिका—आर्ये ! न राजा, न राजपुरुष, न ब्राह्मण, न व्यापारी। तो कौन है वह जो अब स्वामिनी के द्वारा चाहा जा रहा है।

वसन्तसेना—चेटी ! तुम मेरे साथ कामदेवायतन उद्यान में गई थी।

मदनिका—आर्ये ! गई थी।

वसन्तसेना--फिर भी अनजान के समान मुझ से पूछ रही हो ?

मदनिका—जान लिया। क्या वही जिसने शरण में आई हुई आर्या को (शरण देना) स्वीकार किया था ?

वसन्तसेना—वह किस नाम वाला है (उसका क्या नाम है) ?

ष्यति तथा ममापि शर्विलकप्राप्तिर्भविष्यति इति हृदि निधाय मदनिकया 'प्रियं मे: प्रियम्' इत्युक्तम्। रन्तुं रमणं कर्तुम् कामोपभोगरसिका अस्मि न द्रव्यार्थिनीति भावः।

विद्याविशेषेण अलङ्कृतः। पूजनीयः पूजनीयाः खलु न रमणयोग्या इति भावः। अनेकनगरेषु अभिगमनेन व्यापारार्थं गमनेन जनितः विभवस्य सम्पत्तेः विस्तारः येन तादृशः वाणिजयुवा।

मदनिका—सो क्खु सेट्ठिचत्तरे पडिवसदि । [स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति ।]

वसन्तसेना—अइ णामं से पुच्छिदासि । [अपि, नामास्य पृष्टासि ।]

मदनिका—सो क्खु अज्जए, सुगहीदणामहेओ अज्जचारुदत्तो णाम । [स खलु आर्ये, सुगृहीतनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम ।]

वसन्तसेना—(सहर्षम्) साहु मदणिए, साहु । सट्ठु तुए जाणिदम् । [साधु मदनिके, साधु । सुष्ठु त्वया ज्ञातम् ।]

मदनिका—(स्वागतम्) एव्वं दाव । (प्रकाशम्) अज्जए, दलिद्दो क्खु सो सुणीअदि । [एवं तावत् । आर्ये, दरिद्रः खलु स श्रूयते ।]

वसन्तसेना—अदो ज्जेव कामीअदि । दलिद्दपुरिससंकन्तमणा क्खु गणिआ लोए अवअणीआ भोदि । [अत एव काम्यते । दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति ।]

मदनिका—अज्जए किं हीणकुसुमं सहआरपादवं महुअरीओ उण सेवन्ति ? [आर्ये, किं हीनकुसुमं सहकारपादपं मधुकर्यः पुनः सेवन्ते ?]

वसन्तसेना—अदो ज्जेव ताओ महुअरीओ वुच्चन्ति । [अत एव ता मधुकर्य उच्यन्ते ।]

मदनिका—अज्जए, जइ सो मणीसिदो ता कीस दाणिं सहसा ण अहिसारीअदि ? [आर्ये, यदि स मनीषितस्तत्किमर्थमिदानीं सहसा नाभिसार्यते ?]

वसन्तसेना—हञ्जे, सहसा अहिसारीअन्तो पच्चुअआरदुब्बलदाए, मा दाव, जणो दुल्लहदंसणो पुणो भविस्सदि । [चेटि, सहसाभिसार्यमाणः प्रत्युपकारदुर्बलतया, मा तावत्, जनो दुर्लभदर्शनः पुनर्भविष्यति ।]

मदनिका किं अदो ज्जेव सो अलंकारओ तस्स हत्थे णिक्खित्तो ! [किमत एव सोऽलङ्कारस्तस्य हस्ते निक्षिप्तः ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, सुट्ठु दे जाणिदम् । [चेटि, सुष्ठु त्वया ज्ञातम् ।]

(नेपथ्ये)

अले भट्टा, दससुवण्णस्स लुद्ध जूदकरु पपलीणु पापलीणु । ता गेण्ह गेण्ह । चिट्ठ चिट्ठ । दूलात्पदिट्ठो सि । [अरे भट्टारक, दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूतकरः प्रपलायितः प्रपलायितः । तद्गृहाण गृहाण । तिष्ठ तिष्ठ । दूरात्प्रदृष्टोऽसि ।]

उपारूढः विवृद्धः स्नेहः यस्य तथाभूतमपि प्रणयिजनं प्रियजनम् । उदासीना मध्यस्था अपरिचितेव इत्यर्थः । शरणागता शरणं प्राप्ता । अभ्युपगन्ना स्वीकृता ।

मदनिका—वह सेठों के चौक में रहते हैं।

वसन्तसेना—अरी, (मैं तो) उनका नाम पूछ रही थी।

मदनिका—आर्ये! वह सुन्दर नाम वाले आर्य चारुदत्त हैं।

वसन्तसेना—(प्रसन्नतापूर्वक) बहुत अच्छी, मदनिके! बहुत अच्छी। तुमने ठीक (अच्छा) जाना।

मदनिका—(अपने आप) तो ऐसा है। (प्रकट रूप में) आर्ये! ऐसा सुना जाता है कि वह निर्धन है।

वसन्तसेना—इसीलिए चाहा जाता है। निर्धन व्यक्ति में मन लगाने (प्रेम करने) वाली वेश्या निःसन्देह संसार में निन्दनीय नहीं होती।

मदनिका—आर्ये! क्या भ्रमरियाँ बौर (कुसुम) रहित आम के वृक्ष का भी सेवन करती हैं?

वसन्तसेना—इसीलिए तो वे 'मधुकरियाँ' कही जाती हैं।

मदनिका—आर्ये! यदि यह मनचाहा (वाञ्छित प्रेमी) है तो क्यों नहीं तुरन्त इसी समय अभिसार करती हो?

वसन्तसेना—चेटि! सहसा अभिसरण किये जाने पर प्रत्युपकार करने में अशक्त होने के कारण, ऐसा न हो, कि फिर इस जन (आर्य चारुदत्त) का दर्शन भी दुर्लभ हो जाये।

मदनिका—क्या इसीलिए वह आभूषण उसके हाथ में धरोहर रक्खा है।

वसन्तसेना—चेटि! तुमने ठीक जाना।

(नेपथ्य में)

हे स्वामी! दस सुवर्ण (तत्कालीन सोने का सिक्का—देखिए टिप्पणी) के लिए रोका हुआ जुआरी भाग गया। तो पकड़ो, पकड़ो! ठहर, ठहर। दूर से ही दिखलाई दे गया है।

सुगृहीतं दातृत्वेन शोभनं (श्रद्धया) गृहीतं नामधेयं नाम यस्य सः। दरिद्रपुरुषे संक्रान्तं सक्तं। मनः यस्याः तादृशी अवचनीया निन्दनीया न भवति यतो हि न धनाभिलाषेण तस्या अनुरागो भवति किन्तु गुणानुरागेण। मधु कुर्वन्ति रावन्ते मत्ताः इत्यर्थः इति पृथ्वीधरः। तस्मादेव ताः मधुकर्यः कथ्यन्ते।

मनीषितः अभिलषितः। अभिसार्यते तं प्रत्यभिरणं क्रियते। सहसा विश्वासोत्पादनात् प्राग् अभिसार्यमाणः प्रत्युपकारे दुर्बलतया धनाभावात् ममोपकारं कर्तुम् असमर्थतया। दुर्लभदर्शनः दुर्लभं दर्शनं यस्य सः। अतएव नाहं धनमभिलषामि अपि तु भवद्गुणानुरक्तैवेति विश्वासोत्पादनायैव।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण संभ्रान्तः)

संवाहकः—हीमाणहे । कट्टे एशे जुदिअलभावे ।

णवबन्धणमुक्काए विअ
गद्दहीए हा ताडिदो म्हि गद्दहीए ।
अङ्गलाअमुक्काए विअ शत्तीए
घडुक्की विअ घादिदो म्हि शत्तीए ॥१॥
लेखअवावडहिअअं शहिअं दट्ठूण झत्ति पब्भट्टे ।
एण्हि मग्गणिवडिदे कं णु क्खु शलणं पपज्जे ॥२॥

ता जाव एदे शहिअजूदिअला अण्णदो मं अण्णेशन्ति, ताव हक्के विप्पडीवेहिं पादेहिं एदं शुण्णदेउलं पविशिअ देवी भविश्शम् । [आश्चर्यम् । कष्ट एष द्यूतकर-भावः ।]

नवबन्धनमुक्तयेव गर्दभ्या हा ताडितोऽस्मि गर्दभ्या ।
अङ्गराजमुक्तयेव हा शक्त्या घटोत्कच इव घातितोऽस्मि शक्त्या ॥
लेखकव्यापृतहृदयं सभिकं दृष्ट्वा झटिति प्रभ्रष्टः ।
इदानीं मार्गनिपतितः कं नु खलु शरणं प्रपद्ये ॥

[तद्यावदेतौ सभिकद्यूतकरावन्यतो मामन्विष्यतः, तावदहं विपरीताभ्यां पादाभ्यामेतच्छून्यदेवकुलं प्रविश्य देवीभविष्यामि ।] । (बहुविधं नाट्यं कृत्वा तथा स्थितः)

(ततः प्रविशति माथुरो द्यूतकरश्च)

माथुरः—अले भट्टा दशसुवण्णाह लुद्धु जूदकरु पपलीणु पपलीणु । ता गेण्ह गेण्ह । चिट्ठ चिट्ठ । दूरात्पदिट्ठोऽसि । [अरे भट्टारक, दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूत-करः प्रपलायितः । तद्गृहाण गृहाण । तिष्ठ तिष्ठ । दूरात्प्रदृष्टोसि ।]

द्यूतकरः—
जइ वज्जसि पादालं इन्दं शलणं च संपदं जासि ।
सहिअं वज्जिअ एकं रुद्दो वि ण रक्खिदुं तरइ ॥३॥
[यदि व्रजसि पातालमिन्द्रं शरणं च सांप्रतं यासि ।
सभिकं वर्जयित्वैकं रुद्रोऽपि न रक्षितुं तरति ॥]

दशसुवर्णस्य कृते रुद्धः । द्यूतकरस्य भावः द्यूतकरत्वं द्यूतक्रीडा इति भावः । द्यूतक्रीडया खिन्नः संवाहकः कथयति—नवेति । नवबन्धनात् मुक्तया गर्दभ्या

[विना पर्दा गिरे घबराता हुआ प्रवेश करके]

संवाहक—आश्चर्य ! यह जुआरीपन भी कष्टदायक है—

हाय ! नवीन बन्धन से खुली हुई गर्दभी (गधी) के समान गर्दभी नामक पाये ने मुझे मार दिया। अङ्गराज (कर्ण) द्वारा छोड़ी हुई शक्ति से घटोत्कच के समान मैं भी शक्ति (जुए में कौडियों की एक विशेष चाल) के द्वारा मारा गया ॥१॥

सभिक (द्यूत क्रीड़ा करने वाले) को लेख (द्यूतक्रीड़ा का लिखित विवरण) की ओर मन लगाये देखकर तुरन्त भागा। अब मार्ग पर आ पहुँचा हूँ, किस की शरण में जाऊँ? ॥२॥

तो जब तक सभिक और जुआरी मुझे दूसरी ओर ढूंढे तब तक मैं उल्टे पैरों से इस सूने देव मन्दिर में घुसकर देवी हो जाऊँ। (बहुत प्रकार का अभिनय करके वैसा हो जाता है)।

(इसके पश्चात् माथुर जुआरी के साथ प्रवेश करता है)

माथुर—अरे स्वामी, दस सुवर्ण के लिये रोका हुआ जुआरी भाग गया, भाग गया। तो पकड़ो, पकड़ो। ठहरो, ठहरो। दूर से ही दिखाई दे गया है।

जुआरी—यदि (अपनी रक्षा के लिये तुम) पाताल में जाते हो या इन्द्र की शरण में चले जाते हो तो इस समय एकमात्र सभिक को छोड़कर शिव भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता ॥३॥

पशुविशेषेण इव गर्दभ्या एतन्नामधेयया द्यूतवराटिकया ताडितः अस्मि। अङ्गराजेन कर्णेन मुक्तया शक्त्या अस्त्रविशेषेण घटोत्कचः भीमसेनसुत इव अहं शक्त्या एतन्नामधेयया द्यूतवराटिकया ताडितः अस्मि। उत्तरार्द्धे पूर्वार्द्धे चोपमालङ्कारः। तयोः संसृष्टिः। चित्रजाति वृत्तम् ॥१॥

लेखकेति। लेखः लेखनं तदेव लेखकः स्वार्थे कन् (काले)। लेखे व्यापृतं तत्परं हृदयं यस्य तथाभूतं सभिकं द्यूतकारकं दृष्ट्वा झटिति त्वरितं प्रभ्रष्टः अदर्शनं गतः पलायितो वा। इदानीं मार्गे राजमार्गे निपतितः स्थितः कं नु खलु इति विमर्शे शरणं प्रपद्ये प्राप्नोमि। गाथा वृत्तम् ॥२॥

शून्यं प्रतिमारहितम् देवकुलं देवमन्दिरम्।

द्यूतकरः संवाहकमुद्दिश्य कथयति—यदीति। यदि त्वं पातालं व्रजसि आत्मरक्षार्थं गच्छसि, साम्प्रतम् इदानीम् इन्द्रं च शरणं यासि शरणार्थं गच्छसि। तथापि एकं सभिकं द्यूतकारकं वर्जयित्वा त्यक्त्वा रुद्रः अपि शिवः अपि त्वां रक्षितुं न तरति शक्नोति। आर्या वृत्तम् ॥३॥

माथुरः—

कहिं कहिं सुसहिअविप्पलम्भआ
पलासि ले भअपलिवेविदङ्गआ ।
पदे पदे समविसमं खलन्तआ
कुलं जसं अदिकसणं कलेन्तआ ॥४॥

[कुत्र कुत्र सुसभिकविप्रलम्भक पलायसे रे भयपरिवेपिताङ्गक ।
पदे पदे समविषमं स्खलन्कुलं यशोऽतिकृष्णं कुर्वन् ॥]

द्यूतकरः—(पदवीं वीक्ष्य) एसो वज्जदि । इअं पणट्ठा पदवी । [एष व्रजति । इयं प्रनष्टा पदवी ।]

माथुरः—(आलोक्य सवितर्कम्) अले, विप्पदीवु पादु । पडिमाशुण्णु देउलु (विचिन्त्य) धुत्तु जूदकरु विप्पदीवेहिं पादेहिं देउलं पविट्ठो । [अरे, विप्रतीपौ पादौ । प्रतिमाशून्यं देवकुलम् । धूर्तो द्यूतकरो विप्रतीपाभ्यां पादाभ्यां देवकुलं प्रविष्टः ।]

द्यूतकरः—ता अणुसरेम्ह । [ततोऽनुसरावः ।]

माथुरः—एव्वं भोदु । [एवं भवतु ।]

(उभौ देवकुलप्रवेशं निरूपयतः । दृष्ट्वान्योन्यं संज्ञाप्य)

द्यूतकरः—कधं कट्ठमयी पडिमा । [कथं काष्ठमयी प्रतिमा ।]

माथुरः—अले णहु णहु । शैलपडिमा । (इति बहुविधं चालयति । संज्ञाप्य च) एव्वं भोदु । एहि । जूदं किलेह्म । [अरे, न खलु न खलु । शैलप्रतिमा । एवं भवतु । एहि । द्यूतं क्रीडावः ।] (इति बहुविधं द्यूतं क्रीडति)

संवाहकः—(द्यूतेच्छाविकारसंवरणं बहुविधं कृत्वा स्वगतम्) अले,

कत्ताशद्दे णिण्णाणअश्श हलइ हडकं मनुश्शश्श ।
ढक्काशद्दे व्व णडाधिवश्श पब्भट्टलज्जश्श ॥५॥

संवाहकमुद्दिश्य माथुरः कथयति—कुत्रेति । रे सुसभिकस्य श्रेष्ठद्यूतकारकस्य विप्रलम्भक वञ्चक, भयेन परिवेपितानि अङ्गानि यस्य तत्सम्बुद्धौ भयकम्पितगात्र त्वं पदे पदे समविषमं स्थानं स्खलत् (समविषमं यथा स्यात्तथा स्खलन् वा) कुलं यशश्च

माथुर—अरे श्रेष्ठ सभिक को ठगने वाले तथा भय से प्रकम्पित अङ्ग वाले (संवाहक) अपने कुल की कीर्ति को अत्यन्त काली करता हुआ ऊँची-नीची भूमि पर लड़खड़ाता हुआ कहाँ भाग रहा है ॥४॥

जुआरी—(पैरों को देखकर) यह जा रहा है। यह मार्ग अदृश्य हो गया।

माथुर—(अनुमानपूर्वक देखकर) अरे उल्टे पैर! पूर्तिरहित देवमन्दिर! धूर्त जुआरी उल्टे पैरों से देवमन्दिर में प्रविष्ट हो गया है।

जुआरी—एसलिए पीछा करते हैं।

माथुर—ऐसा ही हो।

(दोनों देवमन्दिर में प्रवेश करने का अभिनय करते हैं। देखकर और एक दूसरे को संकेत करके)

जुआरी—क्या काठ की मूर्ति ?

माथुर—अरे नहीं नहीं। पत्थर की मूर्ति (है)। नाना प्रकार से उसे हिलाता है। (संकेत करके)। (ऐसा ही करें) आओ जुआ खेलते हैं। (नाना प्रकार से जुआ खेलता है)।

संवाहक—(जुए की इच्छा से उत्पन्न होने वाले विकारों (भावों) का नाना प्रकार से संवरण करके अपने आप)—अरे,

जिस प्रकार भ्रष्ट राज्य वाले राजा के हृदय को ढक्का (नामक वाद्य पटह) का शब्द हर लेता है उसी प्रकार कत्ता (फाड़, जुए का एक विशेष चिह्न) धनरहित भी (जुआरी) मनुष्य के मन को हर लेता है ॥५॥

अतिकृष्णं कलुषितं कुर्वन् कुत्र कुत्र कस्मिन् स्थाने पलायसे। रुचिरा वृत्तम् ॥४॥

प्रनष्टा अदृश्या जाता, पदवी मार्गः, पदचिह्नाभावात् ततः परं मार्गो न दृश्यते इति भावः।

माथुरद्यूतकरयोः द्यूतक्रीडां दृष्ट्वा संवाहकः स्वमनसि विचारयति—कत्तेति। कत्ता 'पाश' संज्ञकं द्यूतसाधनं तस्य शब्दः ध्वनिविशेषः निर्नाणकस्य नास्ति नाणकं धनं यस्य तस्य निर्धनस्य हृदयं तथा हरति आकर्षति यथा ढक्काशब्दः प्रभ्रष्टं राज्यं यस्य तादृशस्य नराधिपस्य हृदयं हरति। उपमालङ्कारः। विपुला वृत्तम् ॥

जाणागि ण कीलिश्शं शुमेलुशिहलपडणण्णिहं जूअम् ।
तह वि हु कोइलमहुले कत्ताशद्दे मणं हलदि ॥६॥
[अरे, कत्ताशब्दो निर्नाणकस्य हरति हृदयं मनुष्यस्य ।
ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराजस्य ॥]
[जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरुशिखरपतनसंनिभं द्यूतम् ।
तथापि खलु कोकिलमधुरः कत्ताशब्दो मनो हरति ॥]

द्यूतकरः– मम पाठे, मम पाठे । [मम पाठे, मम पाठे]

माथुरः—ण हु । मम पाठे, मम पाठे । [न खलु । मम पाठे, मम पाठे ।]

संवाहक—(अन्यतः सहसोपसृत्य) णं मम पाठे । [ननु मम पाठे ।]

द्यूतकरः—लद्धे गोहे । [लब्धः पुरुषः ।]

माथुरः—(गृहीत्वा) अले लुत्तदण्डा, गहीदोसि । पअच्छ तं दशसुवण्णम् ।
[अरे लुप्तदण्डक गृहीतोऽसि । प्रयच्छ तद्दशसुवर्णम् ।]

संवाहकः—अज्ज दइश्शम् । [अद्य दास्यामि ।]

माथुरः—अहुणा पअच्छ । [अधुना प्रयच्छ ।]

संवाहकः—दइश्शम् । पशादं कलेहि । [दास्यामि । प्रसादं कुरु ।]

माथुरः—अले, णं संपदं पअच्छ । [अरे, ननु सांप्रतं प्रयच्छ ।]

संवाहकः—शिलु पडवि । [शिरः पतति ।] (इति भूमौ पतति) ।

(उभौ बहुविधं ताडयतः)

माथुरः– एसु तुमं हु जूदिअरमण्डलीए बद्धोसि । [एष त्वं खलुद्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽसि ।]

संवाहकः—(उत्थाय सविषादम्) कधं जूदिअलमण्डलीए बद्धो ह्मि । ही; एशे अह्माणं जूदिअलाणं अलङ्घणीए शमए । ता कुदो दइश्शम् । [कथं द्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽस्मि । कष्टम्, एषोऽस्माकं द्यूतकराणामलङ्घनीयः समयः । तस्मात् कुतो दास्यामि ।]

माथुरः—अले, गण्डे कुलु कुलु । [अरे, गण्डः क्रियतां क्रियताम् ।]

संवाहकः—एव्वं कलेमि । (द्यूतकरमुपस्पृश्य) अद्धं ते देमि, अद्धं मे मुञ्चदु । [एवं करोमि अर्धं तुभ्यं ददामि, अर्धं मे मुञ्चतु ।]

द्यूतकरः—एव्वं भोदु । [एवं भवतु]

संवाहकः—(सभिकमुपगम्य) अद्धश्श गण्डे कलेमि । अद्धं पि मे अज्जो मुञ्चदु [अर्धस्य गण्डं करोमि । अर्धमपि म आर्यो मुञ्चतु ।]

जानता हूँ कि सुमेरु (पर्वत) की चोटी से गिरने जैसे (दुःखदायी) जुए को नहीं खेलूँगा, फिर भी कोयल के (मधुर स्वर) जैसा कत्ता का शब्द मन को हर ही लेता है ॥६॥

जुआरी—मेरा दांव, मेरा दांव।

माथुर—नहीं। मेरा दांव है, मेरा दांव है।

संवाहक—(दूसरी ओर से अचानक पास आकर) दांव तो मेरा है।

जुआरी—(अपराधी) व्यक्ति मिल गया।

माथुर—(पकड़ कर) अरे दण्ड न देने वाले, पकड़ लिये गये हो, तो वह दस सुवर्ण दो।

संवाहक—आज दे दूँगा।

माथुर—इसी समय दो।

संवाहक—दे दूँगा, दया करो।

माथुर—अरे, नहीं इसी समय दो।

संवाहक—सिर चक्कर खा रहा है। (भूमि पर गिर पड़ता है) (दोनों नाना प्रकार से पीटते हैं)।

माथुर—यह तुम जुआरियों की मण्डली के द्वारा निबद्ध हो।

संवाहक—(विषादपूर्वक उठकर) क्या जुआरियों की मण्डली के द्वारा निबद्ध हो गया हूँ। दुःख है, यह हम जुआरियों का न उल्लंघन करने योग्य नियम (समय) है। इस लिये कहाँ से दूँ।

माथुर—अरे, वायदा (गण्ड) करो।

संवाहक—ऐसा ही करता हूँ (जुआरी को छूकर) आधा तुम्हें दिये देता हूँ, आधा मेरे लिये छोड़ दें।

जुआरी—ऐसा ही हो।

संवाहक—सभिक के पास जाकर आधे का वायदा करता हूँ। आर्य, आधा मेरे लिये छोड़ दें।

जानामीति सुमेरोः शृङ्गात् पतनसंनिभं पतनसदृशं कष्टकरं द्यूतं न क्रीडिष्यामि इत्यहं जानामि। तथापि कोकिलशब्दवत् मधुरः कत्ताशब्दः मम मनः हरति। उपमालङ्कारः। विपुला वृत्तम्। ॥६॥

लुप्तदण्डकः लुप्तः दण्डः येन। प्रसादं कृपाम्।

अलङ्घनीयः लङ्घयितुम् अयोग्यः। समयः नियमः आचारः। गण्डः शपथः। उपस्पृश्य स्पर्शं कृत्वा।

माथुरः—को दोसु । एव्वं भोदु । [को दोषः । एवं भवतु ।]

संवाहकः—(प्रकाशम्) अज्ज, अद्धे तुए मुक्के । [आर्य, अर्धं त्वया मुक्तम् ।]

माथुरः—मुक्के [मुक्तम् ।]

संवाहकः—(द्यूतकरं प्रति) अद्धे तुए वि मुक्के । [अर्धं त्वयापि मुक्तम् ।]

द्यूतकरः—मुक्के । [मुक्तम् ।]

संवाहकः—संपदं गमिश्शम् । [सांप्रतं गमिष्यामि ।]

माथुरः—पअच्छ तं दशसुवण्णम् कहिं गच्छसि । [प्रयच्छ तं दशसुवर्णम् । कुत्र गच्छसि ?]

संवाहकः—पेक्खध पेक्खध भट्टालआ । हा, संपदं ज्जेव एक्काह अद्धे गण्डे कडे, अवलाह अद्धेमुक्के । तहवि मं अबलं संपदं ज्जेव मग्गदि । [प्रेक्षध्वं प्रेक्षध्वं भट्टारकाः । हा, सांप्रतमेव एकस्यार्धे गण्डः कृतः, अपरार्धः मुक्तः । तथापि मामबलं सांप्रतमेव याचते ।]

माथुरः - (गृहीत्वा) धुत्त, माथुर अहं णिउण्णु । एत्थ तुए ण अहं धुत्तिज्जामि । ता पअच्छ तं पेदण्डआ, सव्वं सुवण्णं संपदम् । [धूर्त, माथुरोऽहं निपुणः । अत्र त्वया नाहं धूर्तयामि, तत्प्रयच्छ तं लुप्तदण्डक, सर्वं सुवर्णं सांप्रतम् ।]

संवाहकः—कुदो दइश्शम् । [कुतो दास्यामि ।]

माथुरः—पिदरं विक्किणिज्ज पअच्छ । [पितरं विक्रीय प्रयच्छ ।]

संवाहकः—कुदो मे पिदा । [कुतो मे पिता ।]

माथुरः—मादरं विक्किणिज्ज पअच्छ । [मातरं विक्रीय प्रयच्छ ।]

संवाहकः—कुदो मे मादा । [कुतो मे माता ।]

माथुरः—अप्पाणं विक्किणिज्ज पअच्छ । [आत्मानं विक्रीय प्रयच्छ ।]

संवाहकः—कलेध पशादम् । णेध मं लाजमग्गम् । [कुरुत प्रसादम् । नयता मां राजमार्गम् ।]

माथुरः—पसरु । [प्रसर ।]

साम्प्रतं गमिष्यामि उभाभ्यां राशिरेव मुक्त इति मुक्तदेयत्वात् यामि इति ब्रूते । (पृथ्वी०) । अबलं निर्बलम् । धूर्तयामि धूर्तकर्म करोमि ।

आकाशे दृष्ट्वा एषा हि आकाशभाषितं नाम नाट्योक्तिः । तस्याः लक्षणं तूक्तं दर्पणे—

किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥

माथुर—क्या बुराई है ? ऐसा ही हो ।

संवाहक—(प्रकट रूप में) आर्य, आधा तुमने छोड़ दिया ।

माथुर—छोड़ दिया ।

संवाहक—(जुआरी के प्रति) आधा तुमने भी छोड़ दिया ।

जुआरी—छोड़ दिया ।

संवाहक—अब जाऊँ ।

माथुर—वह दस सुवर्ण दो, कहाँ जाते हो ?

संवाहक—राजकीय पुरुषो ! देखिये, देखिये । हाय अभी तो एक से आधे का वायदा किया है, दूसरे ने भी आधा छोड़ दिया है । फिर भी मुझ निर्बल से इसी समय मांगता है ।

माथुर—(पकड़ कर) धूर्त, मैं कुशल माथुर हूँ । यहाँ मैं धूर्तता नहीं कर रहा हूँ, तो दण्ड न देने वाले हमारा वह सभी सोना इसी समय दो ।

संवाहक—कहाँ से दूँ ?

माथुर—पिता को बेचकर दो ।

संवाहक—मेरे पिता कहाँ हैं ?

माथुर—माता को बेचकर दो ।

संवाहक—मेरी माता कहाँ हैं ?

माथुर—अपने को बेचकर दो ।

संवाहक—कृपा कीजिये । मुझे राजमार्ग पर ले चलिये ।

माथुर—चलो ।

कर्मकरः भृत्यः । अवधीर्य उपेक्ष्य । विघटिते नष्टे सति । एष एतादृशावस्थो वर्ते सम्प्राप्तः ।

दर्दुरकः द्यूतस्य प्रशंसां करोति—न गणयतीति । द्यूतं हि नाम नृपतिः इव कुतश्चिदपि कस्मादपि पराभवं तिरस्कारं न गणयति, नृपः स्वसामर्थ्यात्, द्यूतं च द्यूतकराणां मानापमानयोः अविगणनात् । नित्यम् अर्थजातं धनसमूहं हरति अर्जयति ददाति च द्यूते तु विजितात् धनं ह्रियते जेत्रे च दीयते राजाऽपि प्रजाभ्यः बलिं

संवाहकः—एव्वं भोदु (परिक्रामति) अज्जा, विक्किणिध मं इमश्श शहिअश्श हत्थादो दशेहि शुवण्णकेहिं। (दृष्ट्वा आकाशे) किं भणाध 'किं कलइश्शशि' त्ति। गेहे दे कम्मकले हुविश्शम्। कधम् अदइअ पडिवअणं गदे। भोदु एव्वम् इमं अण्णं भणइश्शम्। (पुनस्तदेव पठति) कधम्। एशे वि मं अवधीलिअ गदे। हा, अज्जचालुदत्तस्स विहवे विहडिदे एशे वड्ढामि मन्दभाए। [एवं भवतु। आर्याः, क्रीणीध्वं मामस्य सभिकस्य हस्ताद्दशभिः सुवर्णकैः। किं भणत 'किं करिष्यसि' इति। गेहे ते कर्मकरो भविष्यामि। कथम् अदत्त्वा प्रतिवचनं गतः। भवत्वेवम्। इममन्यं भणिष्यामि। कथम् एषोऽपि मामवधीर्य गतः। हा, आर्यचारुदत्तस्य विभवे विघटिते एष वर्ते मन्दभाग्यः।]

माथुरः—णं देहि। [ननु देहि।]

संवाहकः—कुदो दइश्शम्। [कुतो दास्यामि।] (इति पतति)

(माथुरः कर्षति)

संवाहकः—अज्जा, पलित्ताअध पलित्तअध। [आर्याः, परित्रायध्वं परित्रायध्वम्।]

(ततः प्रविशति दर्दुरकः)

दर्दुरकः—भो द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्।
न गणयति पराभवं कुतश्चिद्धरति ददाति च नित्यमर्थजातम्।
नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्यते जनेन ॥७॥

अपि च—
द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारा मित्रं द्यूतेनैव।
दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव ॥८॥

अपि च—
त्रेताहृतसर्वस्वः पावरपतनाच्च शोषितशरीरः।
नर्दितदर्शितमार्गः कटेन विनिपातितो यामि ॥९॥

हरति कर्मचारिभ्यश्च ददाति। निकामम् अत्यन्तम् आयं धनागमं दर्शयति इति समानमुभयोः पक्षयोः। इदं च द्यूतं राजा इव विभववता ऐश्वर्ययुक्तेन अपि जनेन समुपास्यते सेव्यते। अतः द्यूतं हि सिंहासनरहितं राज्यमेव। पूर्णोपमा। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥७॥

द्रव्यमिति (मया दर्दुरकेण) द्यूतेन एव द्रव्यं द्यूतेन एव दाराः लब्धा मित्रं च लब्धम्, द्यूतेन एव दत्तं दानादिकं कृतं, भुक्तं सुखादिभोगः कृतः, द्यूतेन एव सर्वं धनादिकं नष्टं हारितम्। विषमालङ्कारः। विद्युन्माला वृत्तम् ॥८॥

संवाहक—ऐसा ही हो। (चूमता है) भद्रपुरुषों ! इस सभिक (द्यूतकारक) के हाथ से मुझे दस सुवर्णों से खरीद लीजिए। (आकाश की ओर देखकर) क्या यह कहते हो "क्या करोगे ?" तुम्हारे घर में नौकर हो जाऊँगा । क्यों ? उत्तर दिये बिना ही चला गया ? अच्छा रहने दो। इस दूसरे (व्यक्ति) से कहूँगा। (फिर वही पढ़ता है) क्यों ? वह भी मेरी उपेक्षा करके चला गया ? हाय आर्यचारुदत्त की सम्पत्ति के क्षीण हो जाने पर मैं अभागा इस दशा में हो गया हूँ।

माथुर—दो न !

संवाहक—कहाँ से दूँ ? (गिर जाता है)

(माथुर खींचता है)

संवाहक—भद्रपुरुषो, रक्षा करो, रक्षा करो।

(इसके पश्चात् दर्दुरक प्रवेश करता है)

दर्दुरक—अरे, जुआ भी मनुष्य का बिना सिंहासन का राज्य है।

(जुआ) अपमान होने को नहीं गिनता हैं (चिन्ता नहीं करता है) कहीं से (धन) हर लेना है और (जीतने वाले को) निरन्तर धनराशि देता रहता है। राजा के सदृश अत्यन्त लाभ दिखलाने वाला (जुआ) सम्पत्तिशाली पुरुष के द्वारा भी सेवन किया जाता है ॥७॥

और भी—

मैंने द्यूत द्वारा ही धन प्राप्त किया, स्त्री और मित्र जुए से ही प्राप्त किए, जुए से ही (किसी को दानादि) दिया और खाया तथा जुए से ही सब कुछ नष्ट कर दिया ॥८॥

और भी—

त्रेता ('तीया' नामक एक विशेष दांव) के द्वारा सर्वस्व गँवा देने वाला, पावर 'दूआ' नामक दांव–विशेष) से शुष्क शरीर वाला, नर्दित (नक्का' नामक विशेष दांव) के द्वारा (घर का) रास्ता दिखाया जाने वाला, कट ('पूरा' नामक दांव विशेष. के द्वारा मारा हुआ, मैं जाता हूँ ॥९॥

त्रेतेति। त्रेतया 'तीया' इति प्रसिद्धेन द्यूतविशेषेण हृतं सर्वस्वं यस्य सः, पावरस्य ,दूआ' इति प्रसिद्धस्य.पतनात् च शोषितं शरीरं यस्य तथाभूतः, नर्दितेन 'नर्दी' (नक्का) इति प्रसिद्धेन दर्शितः मार्गः पलायन–मार्गः यस्मै तादृशः, कटेन 'पूरा' इति प्रसिद्धेन च विनिपातितः सर्वथा भ्रष्टः अहं दर्दुरकः यामि गच्छामि। 'पावरः पूरा, कटो दूआ' इति केचित् (पृथ्वी०) ॥९॥

(अग्रतोऽवलोक्य) अयमस्माकं पूर्वसभिको माथुर इत एवाभिवर्तते । भवतु । अपक्रमितुं न शक्यते । तदवगुण्ठयाम्यात्मानम् । (बहुविधं नाट्यं कृत्वा स्थितः । उत्तरीयं निरीक्ष्य ।)

अयं पटः सूत्रदरिद्रतां गतो ह्ययं पटश्छिद्रशतैरलङ्कृतः ।
अयं पटः प्रावरितुं न शक्यते ह्ययं पटः संवृत एव शोभते ॥१०॥

अथवा किमयं तपस्वी करिष्यति । यो हि

पादेनैकेन गगने द्वितीयेन च भूतले ।
तिष्ठाम्युल्लम्बितस्तावद्यावत्तिष्ठति भास्करः ॥११॥

माथुरः—दापय दापय । [दापय दापय ।]

संवाहकः—कुदो दइश्शम् । [कुतो दास्यामि ।]

(माथुरः कर्षति)

दर्दुरकः—अये, किमेतदग्रतः । (आकाशे) किं भवानाह—'अयं द्यूतकरः सभिकेन खलीक्रियते, न कश्चिन्मोचयति ।' इति । नन्वयं दर्दुरो मोचयति । (उपसृत्य) अन्तरमन्तरम् । (दृष्ट्वा) अये, कथं माथुरो धूर्तः । अयमपि तपस्वी संवाहकः ।

यः स्तब्धं दिवसन्तमानतशिरा नास्ते समुल्लम्बितो ।
यस्योद्घर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः किणः ।।

स्वकीयं जीर्णमुत्तरीयं दृट्ष्वा दर्दुरकः कथयति—अयमिति । अयं पटः सूत्राणां तन्तूनां दरिद्रतां क्षीणतां गतः प्राप्तः । अयं पटः छिद्रशतैः शतसंख्याकैः छिद्रैः अलङ्कृतः युक्तः । अयं पटः प्रावरितुं परिधातुं न शक्यते हि निश्चितम् अयं पटः संवृतः वेष्टितः एव शोभते । वंशस्थं वृत्तम् ॥१०॥

तपस्वी—वराकः, क्षुद्रः इति यावत्

दर्दुरकः माथुरस्य भीषणतां ध्यात्वा स्वकीयां सहिष्णुतां विचारयति—यो हीति । यः अहम् एकेन पादेन गगने आकाशे द्वितीयेन च भूतले उल्लम्बितः ऊर्ध्वं लम्बितशरीरः सन् तावत् तिष्ठामि यावत् कालं भास्करः सूर्यः तिष्ठति अस्तं न गच्छति । एतादृशस्य मम माथुराद् भयं नास्तीति भावः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥११॥

खलीक्रियते भर्त्स्यते । अन्तरमन्तरम् इति जनसंमर्दे प्रवेशाय अवकाशप्रार्थना (पृथ्वी०)

द्यूतं हि नाम महाकष्टसाध्यं, यश्च संवाहकसदृशः जनः क्लेशं न सोढुं शक्नोति तस्य द्यूतेन किं प्रयोजनमित्याशयेन दर्दुरक आह—य इति । यः समुल्लम्बितः आनत

(सामने देखकर) यह हमारा भूतपूर्व सभिक (जुआ कराने वाला) माथुर इधर ही आ रहा है। अस्तु, भागा तो जा नहीं सकता। तो अपने को ढकता हूँ। अनेक प्रकार का अभिनय करके खड़ा हो जाता है (उत्तरीय को देखकर)

यह वस्त्र धागों की दरिद्रता (क्षीणता अथवा नाश को प्राप्त हो गया है), यह वस्त्र तो सैंकड़ों छिद्रों से शोभित है (अर्थात् अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण है) यह वस्त्र (शरीर को) ढक नहीं सकता है, वास्तव में यह वस्त्र लिपटा हुआ (संवृतः) ही अच्छा लगता है ॥१०॥

या यह बेचारा (माथुर) क्या करेगा ? जो (मैं)—

एक पैर से आकाश में और दूसरे से पृथ्वी पर, तभी तक लटका हुआ ठहर सकता हूँ जब तक सूरज रहता है अर्थात् सारे दिन इतने कष्टप्रद कार्य को भी कर सकता हूँ, माथुर बेचारा तो इससे कठिन क्या दण्ड देगा ॥११॥

माथुर—दिलाओ, दिलाओ।

संवाहक—कहाँ से दूँ ?

(माथुर खींचता है)

दर्दुरक—अरे, यह सामने क्या है ? (आकाश की ओर) क्या यह कहा आपने कि 'यह जुआं कराने वाले (सभिक) के द्वारा भर्त्सित (अपमानित किया जा रहा है), कोई नहीं छुड़ाता है। लो यह दर्दुरक छुड़ाता है। (समीप जाकर) मार्ग छोड़िये। (देखकर) अरे, क्या धूर्त माथुर ? यह भी बेचारा संवाहक—

जो (मेरे समान) दिन के अन्त तक नीचे सिर करके (और ऊपर पैर करके) चुपचाप लटका हुआ नहीं रह सकता, घर्षण करने वाले ढेलों के द्वारा जिसकी पीठ पर भी चिह्न (किण जनभाषा में घट्टा, चोट का निशान) नहीं पड़ा और जिसका यह

शिराः दिवसान्तं स्तब्धं न आस्ते, यस्य पृष्ठे उद्घर्षणलोष्टकैः अपि सदा किणः न जातः। यस्य च एतत् जङ्घान्तरं कुक्कुरैः अहः अहः न चर्व्यते, तस्य अत्यायत-कोमलस्य सततं द्यूतप्रसङ्गेन किम् ? इत्यन्वयः।

यः जनः अहमिव समुल्लम्बितः ऊर्ध्वं लम्बमानः आनतशिराः आनतं शिरो यस्य तादृशः (अधः शिरः कृत्वा ऊर्ध्वं च पादौ विधाय इत्यर्थः) दिवसान्तं सूर्यास्तं यावद् स्तब्धं निश्चलं न आस्ते न स्थातुं शक्नोति। यस्य च पृष्ठे उद्घृष्यते एभिः इति उद्घर्षणानि तानि च लोष्टकानि तैः सदा किणः शुष्कव्रणः न जातः। यस्य च एतत् पुरोवर्ति जङ्घान्तरं जङ्घान्तरभागः कुक्कुरैः अहः अहः प्रतिदिनं न चर्व्यते न खाद्यते। तस्य साद्यस्य अत्यायतस्य अतिदीर्घं च असौ कोमलश्च तस्य अस्य

यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहर्जङ्घान्तरं चर्व्यते
तस्यात्यायतकोमलस्य सततं द्यूतप्रसङ्गेन किम् ॥१२॥

भवतु, माथुरं तावत्सान्त्वयामि (उपगम्य) माथुर, अभिवादये ।

(माथुरः प्रत्यभिवादयते)

दर्दुरकः—किमेतत् ।

माथुरः—अअं दशसुवण्णं धालेदि । [अयं दशसुवर्णं धारयति ।]

दर्दुरकः—ननु कल्यवर्तमेतत् ।

माथुरः—(दर्दुरकस्य कक्षतललुण्ठीकृतं पटमाकृष्य) भट्टा, पश्शत पश्शत । जज्जरपडप्पावुदो अअं पुलिसो दशसुवण्णं कल्लवत्तं भणादि । [भर्तारः, पश्यत पश्यत । जर्जरपटप्रावृतोऽयं पुरुषो दशसुवर्णं कल्यवर्तं भणति ।]

दर्दुरकः—अरे मूर्ख नन्वहं दशसुवर्णान्कटकरणेन प्रयच्छामि । तत्किं यस्यास्ति धनं स किं क्रोडे कृत्वा दर्शयति । अरे,

दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात् ।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया ॥१३॥

माथुरः—भट्टा, तुए दशसुवण्णु कल्लवत्तु । मए एसु विहवु । [भर्तः, तव दशसुवर्णः कल्यवर्तः । ममैष विभवः ।]

दर्दुरकः—यद्येवम्, श्रूयतां तर्हि । अन्यांस्तावद्दशसुवर्णानस्यैव प्रयच्छ । अयमपि द्यूतं शीलयतु ।

माथुरः—तत्किं भोदु । [तत्किं भवतु ।]

दर्दुरकः—यदि जेष्यति तदा दास्यति ।

माथुरः—अह ण जिणादि । [अथ न जयति ।]

दर्दुरकः—तदा न दास्यति ।

माथुरः—अह ण जुत्तं जप्पिदुम् । एव्वं भणन्तो तुमं पयच्छ धुत्तआ । अहं पि णाम माथुरु धुत्तु जूदं मित्था आदंसआमि । अण्णस्स वि अहं ण बिभेमि । धुत्ता, खण्डिदवुत्तो सि तुमम् । [अथ न युक्तं जल्पितुम् । एवमाचक्षाणस्त्वं प्रयच्छ धूर्तक । अहमपि नाम माथुरो धूर्तो द्यूतं मिथ्या दर्शयामि । अन्यस्मादप्यहं न बिभेमि । धूर्त, खण्डितवृत्तोऽसि त्वम् ।]

संवाहकस्य सततं निरन्तरं द्यूतप्रसङ्गेन द्यूतव्यापारेण किं प्रयोजनम् । न किमपीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१२॥

कल्यवर्तं प्रातर्भोजनम् । तद्वत् स्वल्पमिति यावत् ।

जंघा का भीतरी भाग कुत्तों के द्वारा प्रतिदिन नहीं चबाया जाता, उस लम्बे शरीर वाले तथा कोमल (संवाहक) को निरन्तर द्यूतकार्य से क्या प्रयोजन ।।१२।।
अस्तु, तब तक माथुर को सान्त्वना देता हूँ। (समीप जाकर) माथुर, प्रणाम करता हूँ।

(माथुर प्रणाम का उत्तर देता है)

दर्दुरक—यह क्या है ?

माथुर—यह दस सुवर्ण लिये हुए है।

दर्दुरक—यह तो कलेवे जैसा (तुच्छ धन) है।

माथुर—(दर्दुरक की बगल में दबाये हुए कपड़े को खींचकर) प्रभुगण, देखिए देखिए, जीर्ण शीर्ण वस्त्र से ढका हुआ यह व्यक्ति दस सुवर्ण को कलेवा मात्र बता रहा है।

दर्दुरक—अरे मूर्ख, मैं तो दस सुवर्ण को वायदे के द्वारा ('कट' फेंककर दे सकता हूँ। तो क्या जिसके पास धन होता वह गोद में (रख) करके दिखलाता है ? अरे—(तुम) वर्णाधम (नीच) हो भ्रष्ट हो। दस सुवर्ण के कारण पाँच इन्द्रियों से युक्त पुरुष तुम्हारे द्वारा मारा जा रहा है ।।१३।।

माथुर – महाराज, दस सुवर्ण तुम्हारे लिए कलेवा (तुच्छ) हैं। यह दस) सुवर्ण ही मेरी तो सम्पत्ति हैं।

दर्दुरक—यदि ऐसा है, तो सुनो ...। इसको दस सुवर्ण ही और दो। यह भी जुआ खेले।

माथुर—तो क्या होगा ?

दर्दुरक—यदि जीत जायेगा तो दे देगा।

माथुर—यदि नहीं जीतता है ?

दर्दुरक—तब नहीं देगा।

माथुर—और प्रलाप (बकवास) करना उचित नहीं है। रे धूर्त, ऐसा कहते हो, तो तुम्हीं दे दो। मैं भी तो धूर्त माथुर हूँ, जुए का मिथ्या प्रदर्शन करता हूँ। दूसरे से भी नहीं डरता हूँ। धूर्त, तुम चरित्रहीन हो।

कक्षतले लुण्ठीकृतं वेष्टितं गोपितं वा। भट्टा इति आदरसूचकं सम्बोधनम्। जर्जरपटप्रावृतः जीर्णवस्त्रसंवृतः। कटकरणेन पूरापतनेन इतिकाले सामयिकप्रतिज्ञायाः करणेन इत्यन्ये।

दर्दुरकः माथुरं प्रति कथयति—दुर्वर्णः इति। हे माथुर, त्वं दुर्वर्णः दुष्टः वर्णः यस्य, वर्णाधमः नीचः इत्यर्थः असि, विनष्टः (क्रूराचरणात्) भ्रष्टः असि। यत् त्वया माथुरेण दशस्वर्णस्य कारणात् पञ्चेन्द्रियैः नेत्रादिभिः समायुक्तः नरः मनुष्यः व्यापाद्यते हन्यते। काव्यलिङ्गमलङ्कारः। अनुष्टुप् वृत्तम् ।।१३।।

दर्दुरकः—अरे, कः खण्डितवृत्तः ।

माथुरः—तुमं हु खण्डिअवुत्तो । [त्वं खलु खण्डितवृत्तः ।]

दर्दुरकः—पिता ते खण्डितवृत्तः (संवाहकस्यापक्रमितुं संज्ञां ददाति)

माथुरः—गोसाविआपुत्ता, एव्वं ज्जेव जूदं तुए सेविदम् । [वेश्यापुत्र, एवमेव द्यूतं त्वया सेवितम् ।]

दर्दुरकः— मयैवं द्यूतमासेवितम् ।

माथुरः—अले संवाहआ, पअच्छ तं दशसुवण्णम् । [अरे संवाहक, प्रयच्छ तद्दशसुवर्णम् ।]

संवाहक—अज्ज दइश्शम् दाव वइश्शम् । [अद्य दास्यामि । तावद्दास्यामि ।]

(माथुरः कर्षति)

दर्दुरकः—मूर्ख, परोक्षे खलीकर्तुं शक्यते, न ममाग्रतः खलीकर्तुम् ।

(माथुरः संवाहकमाकृष्य घोणायां मुष्टिप्रहारं ददाति । संवाहकः सशोणितं मूर्च्छां नाटयन् भूमौ पतति । दर्दुरक उपसृत्यान्तरयति । माथुरो दर्दुरकं ताडयति । दर्दुरको विप्रतीपं ताडयति ।)

माथुरः—अले दुट्ठ छिण्णालिआपुत्तआ, फलंपि पाविहसि । [अरे अरे दुष्ट पुंश्चलीपुत्रक, फलमपि प्राप्स्यसि ।]

दर्दुरकः—अरे मूर्ख अहं त्वया मार्गगत एव ताडितः । श्वो यदि राजकुले ताडयिष्यसि, तदा द्रक्ष्यसि ।

माथुरः—एसु पेक्खिस्सम् । [एष प्रेक्षिष्ये ।]

दर्दुरकः—कथं द्रक्ष्यसि ।

माथुरः—(प्रसार्य चक्षुषी) एव्वं पेक्खिस्सम् । [एवं प्रेक्षिष्ये ।]

(दर्दुरको माथुरस्य पांशुना चक्षुषी पूरयित्वा संवाहकस्यापक्रमितुं संज्ञां ददाति । माथुरोऽक्षिणी निगृह्य भूमौ पतति । संवाहकोऽपक्रामति ।)

आचक्षाणः कथयन् । अहमपि······न बिभेमि इत्यस्य—'अहमेवान्यं निर्भयः प्रतारयामि न तु मामन्यः' इत्यर्थः इति पृथ्वीधरः । 'अहमपि नाम माथुरो धूर्तो द्यूतं मिथ्याऽऽदर्शयामीति काकुः । पणग्रप्रतियाततं त्यजन् हि द्यूतमेव वितथयति । नाहमेवं द्यूतस्य व्यपदेशं दूषयामीत्यर्थः' । नेदं धनस्पृहया पीडनं किं तर्हि द्यूतधर्मरक्षार्थमिति भावः—इतिश्रीनिवासाचार्यः' कालेमहोदयेन उद्धृतम्) खण्डितवृत्तः खण्डितं वृत्तं यस्य सः चरित्रहीन इत्यर्थः । अपक्रमितुं पलायितुम् ।

दर्दुरक—अरे, कौन है चरित्रहीन !

माथुर—तुम्हीं चरित्रहीन हो।

दर्दुरक—तेरा पिता चरित्रहीन है। (संवाहक को भागने के लिये संकेत देता है)

माथुर—वेश्यापुत्र, तुमने ऐसे ही जुआ खेला है।

दर्दुरक—मैंने ऐसे ही जुआ खेला है।

माथुर—अरे संवाहक, वह दस सुवर्ण दो।

संवाहक—आज दे दूंगा। तब तक दे दूंगा।

(माथुर खींचता है)

दर्दुरक—मूर्ख, (मेरे) पीछे अपमानित कर सकते हो, मेरे आगे अपमानित नहीं कर सकते। माथुर संवाहक को खींचकर (उसकी) नाक पर घूंसा लगाता है। संवाहक रक्त-प्रवाह पूर्वक मूर्छा का अभिनय करता हुआ धरती पर गिरता है। दर्दुरक समीप आकर बीच में पड़ता है। माथुर दर्दुरक को पीटता है। दर्दुरक उल्टा (माथुर को पीटता है।)

माथुर—अरे, अरे दुष्ट कुलटापुत्र (इस दुर्व्यवहार का) फल भी पाओगे।

दर्दुरक—अरे मूर्ख तुम्हारे द्वारा (निर्दोष) मैं मार्ग में चलता हुआ ही पीटा गया हूँ, कल को यदि राजकुल में पीटोगे, तब देखना।

माथुर—यह मैं देख लूंगा।

दर्दुरक—कैसे देख लोगे ?

माथुर—(आँख फाड़कर) ऐसे देख लूंगा।

(दर्दुरक माथुर की आंखों को धूल से भरकर संवाहक को भागने का संकेत दे देता व। माथुर आँखों को पकड़ कर भूमि पर गिर पड़ता है] संवाहक भाग जाता है।)

परोक्षे अक्ष्णः परम् इति परोक्षम्। खलीकर्तुं निरस्कर्तुं। घोणायां नासिकायाम्। अन्तरयति अन्तरं व्यवधानं करोति। विप्रतीपं विपरीतम्।

पांसुना धूलिसमूहेन। निगृह्य निमील्य। सिद्धस्य आदेशेन निर्देशेन। समादिष्टः निर्दिष्टः। अनपावृतम् उद्घाटितं पक्षद्वारं यस्य तद् गृहम्। पिधेहि आवृणु। अपावृणु उद्घाटय।

दर्दुरकः—(स्वगतम्) प्रधानसभिको माथुरो मया विरोधितः। तन्नात्र युज्यते स्थातुम्। कथितं च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन, यथा किल—'आर्यक-नामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति।' इति। सर्वश्चास्मद्विधो जनस्तमनुसरति। तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः)

संवाहकः—(सत्रासं परिक्रम्य दृष्ट्वा) एसे कश्शावि अणपावुदपक्खदुआलके गुहे। ता एत्थ पविशिश्शम्। (प्रवेशं रूपयित्वा वसन्तसेनामालोक्य) अज्जे, शलणागदे म्हि। [एतत्कस्याप्यनपावृतपक्षद्वारकं गेहम्। तदत्र प्रविशामि। आर्ये, शर-णागतोऽस्मि।]

वसन्तसेना—अभअं सरणागदस्स। हञ्जे, ढक्केहि, पक्खदुआरअम्। [अभयं शरणागतस्य। चेटि, पिधेहि पक्षद्वारकम्।]

(चेटि तथा करोति)

वसन्तसेना—कुदो दे भअम्। [कुतस्ते भयम्]

संवाहकः—अज्जे धणिकादो। [आर्ये धनिकात्]

वसन्तसेना—हञ्जे, संपदं अवावुणु पक्खदुआरअम्। [चेटि सांप्रतमपावृणु पक्षद्वारकम्।]

संवाहक—(आत्मगतम्) कध धणिकादो तुलिद शे भअकालणम्। शुट्ठु क्खु एवं वुच्चवि।

जे अत्तवलं जाणिअ भालं तुलिदं वहेइ माणुस्से।
ताहं खलणं ण जाअदि ण अ कन्तालगदो विवज्जदि॥१४॥

एत्थ लक्खिदोह्मि। [कथं धनिकात्तुलितमस्या भयकारणम्। सुष्ठु खल्वेवमु-च्यते।

य आत्मबलं ज्ञात्वा भारं तुलितं वहति मनुष्यः।
तस्य स्खलनं न जायते न च कान्तारगतो विपद्यते॥

अत्र लक्षितोऽस्मि।]

माथुरः—(अक्षिणी प्रमृज्य द्यूतकरं प्रति) अले, देहि देहि। [अरे, देहि देहि।]

द्यूतकरः—भट्टा, जावदेव अह्मे दद्दुरेण कलहाइदा तावदेव सो गोहो अव-क्कन्तो। [भर्तः, यावदेव वयं दर्दुरेण कलहायितास्तावदेव स पुरुषोऽप-क्रान्तः।]

माथुरः—तस्स जूदकलस्स मुट्ठिप्पहालेण णासिका भग्गा आसि। ता एहि। रुहिरपहं अणुसरेम्ह। [तस्य द्यूतकरस्य मुष्टिप्रहारेण नासिका भग्नासीत्। तदेहि। रुधिरपथमनुसरावः।]

दर्दुरक—(अपने आप) मुख्य द्यूतकारक मेरे द्वारा विरोधी बना लिया गया है, तो यहाँ ठहरना उपयुक्त नहीं है और मेरे प्रिय मित्र शर्विलक ने यह कहा भी है 'कि सिद्ध के आदेश के द्वारा निर्दिष्ट आर्यक नामक गोपाल–बालक राजा होगा'। और हमारे जैसा प्रत्येक व्यक्ति उसका अनुसरण करता है। तो मैं भी उसके पास ही जाता हूँ। (निकल जाता है)

संवाहक—(भयपूर्वक घूमकर और देखकर) यह किसी का घर है जिसका पक्ष द्वार (बगल का दरवाजा—Side door) खुला है। तो यहाँ प्रवेश करता हूँ (प्रवेश करने का अभिनय करके वसन्तसेना को देख कर) आर्या शरणागत हूँ।

वसन्तसेना—शरणागत के लिये अभय है। चेटि, पक्ष द्वार को बन्द कर दो।

(चेटी वैसा करती है)

वसन्तसेना—तुम्हें किस से डर है?

संवाहक—आर्ये, धनिक से।

वसन्तसेना—चेटि, अब पक्षद्वार को खोल दो।

संवाहक—(अपने आप) क्यों? धनिक से इसके भय का कारण सीमित (कम) हो गया? वास्तव में यह ठीक ही कहा जाता है—

जो मनुष्य अपने बल को जानकर उसके अनुसार (तुलित=मित) भार को वहन करता है, उसका पतन नहीं होता है, वह दुर्गमपथ पर चलने से भी विपद्ग्रस्त नहीं होता है ॥१४॥

इस विषय में मैं परख (देख) लिया गया हूँ।

माथुर—(आँखें पोंछकर जुआरी के प्रति) अरे दो-दो।

जुआरी—स्वामिन्, जैसे ही हम दर्दुरक के साथ झगड़ा करने लगे, तभी वह पुरुष भाग गया।

माथुर—उस जुआरी की नाक घूंसे के प्रहार से टूट गई थी। तो आओ। रक्त गिरने के पथ का अनुसरण करें।

यदि धनिकाद् भयं तर्हि अपावृणु पक्षद्वारकम् इति वसन्तसेनायाः वचनं श्रुत्वा संवाहकः मनसि करोति कथम् इति। आश्चर्यं धनिकाद् अस्याः वसन्तसेनायाः भयकारणं तुलितम् आकलितं मितं वा जातम्! सुष्ठु शोभनं खलु उच्यते बुधैः। य इति। यः मनुष्यः आत्मबलं स्वसामर्थ्यं ज्ञात्वा तुलितं तुल्यं मितं वा भारं वहति धारयति तस्य मनुष्यस्य स्खलनं पतनं न जायते स च कान्तारगतः दुर्गममार्गपतितः अपि न विपद्यते विपद्ग्रस्तो न भवति। अप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः। आर्या वृत्तम् ॥१४॥

अत्र अस्मिन् विषये लक्षितः परीक्षितः अस्मि। अस्मिन् श्लोकोक्तविषये

(अनुसृत्य)

द्यूतकरः—भट्टा, वसन्तसेणागेहं पविट्ठो सो । [भर्तः, वसन्तसेनागृहं प्रविष्टः सः ।]

माथुरः—भूदाइं सुवण्णाइं । [भूतानि सुवर्णानि ।]

द्यूतकरः—लाअउलं गदुअ णिवेदेम्ह । [राजकुलं गत्वा निवेदयावः ।]

माथुरः—एसो धुत्तो अदो णिक्कमिअ अण्णत्त गमिस्सदि । ता उअरोधेणेव्व गेण्हेम्ह । [एसो धूर्तोऽतो निष्क्रम्यान्यत्र गमिष्यति । तदुपरोधेनैव गृह्णीवः ।]

(वसन्तसेना मदनिकायाः संज्ञां ददाति)

मदनिका—कुदो अज्जो ? को वा अज्जो ? कस्स वा अज्जो ? किं वा वित्तिं अज्जो उवज्जीअदि ? कुदो वा भअम् ? [कुत आर्यः ? को वार्यः ? कस्य वार्यः ? कां वा वृत्तिमार्य उपजीवति ? कुतो वा भयम् ?]

संवाहकः—शुणादु अज्जआ । अज्जे पाडलिउत्ते मे जम्मभूमी । गहवइदालके हुगे । संवाहअश्श वित्तिं उवजीआमि । [शृणोत्वार्या । आर्ये, पाटलिपुत्रं मे जन्मभूमिः । गृहपतिदारकोऽहम् । संवाहकस्य वृत्तिमुपजीवामि ।]

वसन्तसेना—सुउमारा क्खु कला सिक्खिदा अज्जेण । [सुकुमारा खलु कला शिक्षितार्येण ।]

संवाहकः—अज्जए, कलेत्ति शिक्खिदा । आजीविआ दाणिं संवुत्ता । [आर्ये, कलेति शिक्षिता । आजीविकेदानीं संवृत्ता ।]

चेटी—अदिनिव्विण्णं अज्जेण पडिवअणं दिण्णम् । तदो तदो । [अतिनिर्विण्णमार्येण प्रतिवचनं दत्तम् । ततस्ततः ।]

संवाहक—तदो अज्जए, एशे निजगेहे आहिण्डकाणं मुहादो शुणिअ अपुव्वदेशदंशणकुदूहलेण इह आगदे । इहवि मए पविशिअ उज्जइणिं एक्के अज्जे शुश्शूशिदे । जे तालिशे पिअदंशणे पिअवादी दइअ ण कित्तेदि, अवकिदं विशुमलेदि । किं बहुणा पलन्तेण । दक्खिणदाए पलकेलकं विअ अत्ताणअं अवगच्छदि, शलणागअवच्छले अ । [तत आर्ये, एष निजगृह आहिण्डकानां मुखाच्छ्रुत्वापूर्वदेशदर्शनकुतूहलेनेहागतः । इहापि मया प्रविश्योज्जयिनीमेक आर्यः शुश्रूषितः । यस्तादृशः प्रियदर्शनः प्रियवादी, दत्त्वा न कीर्तयति, अपकृतं विस्मरति । किं बहुना प्रलपितेन । दक्षिणतया परकीयमिवात्मानमवगच्छति, शरणागतवत्सलश्च ।]

(अनुसरण करके)

जुआरी—स्वामिन्, वह वसन्तसेना के घर में प्रविष्ट हो गया है।

माथुर—(तब तो) सुवर्ण प्राप्त हो गये।

जुआरी—राजकुल में जाकर निवेदन किये देते हैं।

माथुर—यह दुष्ट यहाँ से निकल कर अन्यत्र चला जायेगा। तो (वसन्तसेना के) अनुनय (अनुरोध) के द्वारा ही (संवाहक को) पकड़ लें। (वसन्तसेना मदनिका को संकेत देती है)

मदनिका—आर्य कहाँ से (आ रहे हैं)? अथवा आर्य कौन हैं? आर्य किसके (पुत्र) हैं आप किस वृत्ति से जीवनयापन करते हैं? और किस से डर है?

संवाहक—आर्या सुनें। आर्ये पाटलिपुत्र (पटना) मेरी जन्मभूमि है। मैं गृहस्थ का बालक हूँ। संवाहक (शरीर दबाने वाले) की वृत्ति के द्वारा जीवन-यापन करता हूँ।

वसन्तसेना—आर्य ने वास्तव में सुकुमार कला सीखी है।

संवाहक—आर्ये कला (मान करके) सीखी थी। इस समय तो (वह) आजीविका हो गई है।

वसन्तसेना—आर्य ने अत्यन्त दुःखपूर्ण उत्तर दिया है। इसके बाद?

संवाहक—इसके अनन्तर आर्ये, अपने घर पर यात्रियों के मुख से (इस प्रदेश के विषय में सुनकर) अपूर्व देश का दर्शन करने के कौतूहल से यहाँ आया। यहाँ भी उज्जयिनी में प्रवेश करके मैंने एक सज्जन की सेवा की, जो ऐसा सुन्दर आकृति वाला है, प्रिय बोलने वाला है, देकर कथन नहीं करता, बुरा किये हुए को भूल जाता है। अधिक कहने से क्या? उदारता के कारण अपने को दूसरों का-सा समझता है और शरण में आये हुए को प्रेम करने वाला है।

वैधर्म्येण दृष्टान्तीभूतोऽस्मि इति भावः। रेडीमहोदयेनापि (Mr. Raddi) तथैव व्याख्यातम् स्वस्थितिमनालोच्य द्यूते प्रवृत्तोऽहमित्यर्थस्य मयि समन्वयाल्लक्ष्यतां प्राप्तोऽस्मि (काले नोट्स पृ० ५२)।

भूतानि सुवर्णानि प्राप्तानि, शरणागतवत्सला वसन्तसेना दास्यतीत्यर्थः। तदुपरोधेन तस्याः वसन्तसेनायाः उपरोधेन अनुनयेन अथवा तद् ततः उपरोधेन वसन्तसेनागृहस्य उपरोधनेन संवाहकं गृह्णीवः। संज्ञां सङ्केतम् ददाति। संवाहकस्य परिचयं पृच्छेति कटाक्षेण सूचयति। कां वृत्तिम् उपजीवति कां जीविकाम् आश्रयति।

चेटी— को दाणिं अज्जआए मणोरहन्तरस्स गुणाइं चोरिअ उज्जइणिं अलङ्करेदि। [क इदानीमार्याया मनोरथान्तरस्य गुणांश्चोरयित्वोज्जयिनीमलङ्करोति।]

वसन्तसेना - साहु हञ्जे, साहु। मए वि एव्वं ज्जेव हिअएण मन्तिदम्। [साधु चेटि, साधु। मयाप्येवमेव हृदयेन मन्त्रितम्।]

चेटी—अज्ज, तदो तदो। [आर्य, ततस्ततः।]

संवाहकः अज्जए, शे दाणिं अणुक्कोशकिदेहिं पदाणेहिं। [आर्ये, स इदानीमनुक्रोशकृतैः प्रदानैः।]

वसन्तसेना—किं उवरदविहवो संवुत्तो। [किमुपरतविभवः संवृत्तः।]

संवाहकः—अणाजक्खिदे ज्जेव कधं अज्जआए विण्णादम्। [अनाख्यातमेव कथमार्यया विज्ञातम् ?]

वसन्तसेना—किं एत्थ जाणीअदि। दुल्लाहा गुणा विहवा अ। अपेएसु तडाएसु बहुदरं उदअं भोदि। [किमत्र ज्ञातव्यम्। दुर्लभा गुणा विभवाश्च। अपेयेषु तडागेषु बहुतरमुदकं भवति।]

चेटी—अज्ज किंणामधेओ क्खु सो। [आर्य, किंनामधेयः खलु सः।]

संवाहकः—अज्जे, के दाणिं तश्श भूदलमिअङ्कस्स णामं ण जाणादि। शो क्खु शेट्ठिचत्तले पडिवशदि। शलाहणिज्जणामधेए अज्जचालुदत्ते णाम। [आर्ये, क इदानीं तस्य भूतलमृगाङ्कस्य नाम न जानाति। स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति। श्लाघनीयनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम।]

वसन्तसेना—(सहर्षमासनादवतीर्य) अजस्स अत्तणकेरकं एदं गेहम्। हञ्जे, देहि से आसणम्। तालवेण्ठेअं गेण्ह। परिस्समो अज्जस्स बाधेदि [आर्यस्यात्मीयमेतद्गेहम्। चेटि, देह्यस्यासनम्। तालवृन्तकं गृहाण। परिश्रम आर्यस्य बाधते।]

(चेटि तथा करोति)

संवाहका—(स्वगतम्) कधं अज्जचालुदत्तस्स णामशंकीत्तणेण ईदिशे मे आदले। शाहु अज्जचालुदत्तो, शाहु। पहुवीए तुमं एक्के जीवशि शेषे उण जणे शशदि। (इति पादयोर्निपत्य) भोदु अज्जए, भोदु। आशणे णिशीदद्दु अज्जआ। [कथमार्यचारुदत्तस्य नामसंकीर्तनेनेदृशो म आदरः। साधु आर्यचारुदत्त, साधु। पृथिव्यां त्वमेको जीवसि। शेषः पुनर्जनः श्वसिति। भवत्वार्ये, भवतु। आसने निषीदत्वार्या।]

चेटी—(ऐसा) कौन है जो आजकल आर्या (वसन्तसेना) के मनोरथाभिमुख (प्रिय, आर्य चारुदत्त) के गुणों का हरण करके उज्जयिनी को भूषित कर रहा है।

वसन्तसेना—बहुत अच्छा, चेटि, बहुत अच्छा। मैंने भी हृदय से यही विचारा था।

चेटी—आर्य तत्पश्चात्।

संवाहक—आर्यें वह इस समय दया के कारण किए हुए दान से…

वसन्तसेना—क्या क्षीणवैभव (सम्पत्तिहीन) हो गए ?

संवाहक—बिना कहे ही आर्या ने कैसे जान लिया ?

वसन्तसेना—यहां जानने योग्य ही क्या है ? गुण और सम्पत्ति (का एकत्र पाया जाना) दुर्लभ है। न पीने योग्य (पानी वाले) तालावों में बहुत पानी होता है।

चेटी—आर्य, वह किस नाम वाले हैं ?

संवाहक—आर्यें, इस समय उस पृथ्वी के चन्द्रमा का नाम कौन नहीं जानता ? वह सेठों के मुहल्ले में रहते हैं। वह प्रशंसनीय नाम वाले 'आर्य चारुदत्त' हैं।

वसन्तसेना—(हर्षपूर्वक आसन से उतर कर) आर्य का यह अपना ही घर है। चेटि, इन्हें आसन दो। पंखा ले लो। आर्य को थकान (परिश्रम) पीड़ित कर रही है।

(चेटी वैसा करती है)

संवाहक—(अपने आप) क्या आर्य चारुदत्त का नाम लेने से मेरा ऐसा सम्मान ? धन्य आर्य चारुदत्त, धन्य हो। पृथ्वी पर (वास्तव में) तुम अकेले ही जीते हो, जब कि शेष मनुष्य तो केवल सांस लेते हैं। (पैरों पर गिरकर) रहने दो, आर्यें रहने दो। आर्या आसन पर बैठें।

गृहपतिः ग्रामाध्यक्षः, गृहस्वामी वा, तस्य दारकः पुत्र। संवाहकस्य शरीर-मर्दकस्य। सुकुमारा कोमला। आजीविका वृत्तिः। संवृत्ता संजाता। अतिनिर्विण्णम् अतिनिर्वेदयुक्तम्। प्रतिवचनम् उत्तरम्। आहिण्डकानां पर्यटकानाम्। अपूर्वदेशस्य अद्भुतप्रदेशस्य। प्रियं दर्शनं यस्य तादृशः मधुराकृतिः। अपकृतम् अपकारम्। दक्षिणतया दाक्षिण्येन (नम्रतया उदारतया च)।

मनोरथस्य अन्तरः तस्य, मनोरथाभिमुखस्य प्रियस्य काम्यस्य वा। मन्त्रितं विचारितम्। अनुक्रोशः करुणा तेन कृतैः प्रदानैः उपरतः नष्टः विभवः सम्पत्तिः यस्य तथाभूतः नष्टधनः।

वसन्तसेना—(आसने समुपविश्य) अज्ज, कुदो सो धणिओ। [आर्य, कुतः स धनिकः।]

संवाहकः—

शक्कालधणे क्खु शज्जणे काह ण होइ चलाचले धणे।
जे पूइदुं पि ण जाणादि शे पूआविशेशं पि जाणादि ॥१५॥
[सत्कारधनः खलु सज्जनः कस्य न भवति चलाचलं धनम्।
यः पूजयितुमपि न जानाति स पूजाविशेषमपि जानाति ॥

वसन्तसेना— तदो तदो। [ततस्ततः।]

संवाहकः—तदो तेण अज्जेण शवित्ती पलिचालके किदो म्हि। चालित्तावशेशे अ तस्सिं जूदोवजीवी म्हि शंवुत्ते। तदो भाअधेअविशमदाए दशशुवण्णअं जूदे हालिदम्। [ततस्तेनार्येण सवृत्तिः परिचारकः कृतोऽस्मि। चारित्र्यावशेषे च तस्मिन्द्यूतोपजीव्यस्मि संवृत्तः। ततो भागधेयविषमतया दशसुवर्णं द्यूते हारितम्।]

माथुरः—उच्छादिदो म्हि। मुसिदो म्हि। [उत्सादितोऽस्मि। मुषितोऽस्मि।]

संवाहकः—एदे दे शहिअजूदिअला मं अणुशंधअन्ति। शंपदं शुणिअ अज्जआ पमाणम्। [एतौ तौ सभिकद्यूतकरौ मामनुसंधत्तः। सांप्रतं श्रुत्वार्या प्रमाणम्।]

वसन्तसेना—मदणिए, वासपादवविसंठुलदाए पक्खिणो इदो तदो वि आहिण्डन्ति। हञ्जे, ता गच्छ। एदाणं सहिअजूदिअराणम्, अअं अज्जो ज्जेव पडिवादे त्ति इमं हत्थाभरणअं तुमं देहि। [मदनिके, वासपादपविसंष्ठुलतया पक्षिण इतस्ततोऽप्याहिण्डन्ते। चेटि, तद्गच्छ। एतयोः सभिकद्यूतकरयोः, अयमार्य एव प्रतिपादयतीति, इदं हस्ताभरणं त्वं देहि।] (इति हस्तात्कटकमाकृष्य चेट्याः प्रयच्छति)

गुणाः औदार्यादयः विभवाश्च एकत्र दुर्लभाः। यत्र उदारतादयः गुणाः सन्ति तत्र सम्पत्तिः न चिरं तिष्ठतीति भावः। एतदर्थस्य समर्थनाय कथयति यत् अपेयेषु पातुम् अयोग्येषु तडागेषु बहुतरम् अत्यधिकम् उदकं भवति न तु पेयेषु तथा। अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः। भुतलस्य मृगाङ्कः चन्द्रः तस्य। श्लाघनीयं प्रशसनीयं नामधेयं यस्य तादृशः।

वसन्तसेना—(आसन पर बैठकर) आर्य, वह (आर्य चारुदत्त) धनी (कैसे) कहाँ से हों ?

संवाहक—दूसरों का सत्कार करना ही सत्पुरुषों का धन होता है । चञ्चल (अस्थायी क्षणिक) सम्पति किसके पास नहीं होती ? जो (दूसरों का) सम्मान करना भी नहीं जानता, (क्या) वह (अपने प्रति किये गये) विशेष सम्मान को जान सकता है ? ॥१५॥

वसन्तसेना—तदनन्तर ?

संवाहक—तब उस आर्य ने (मुझे) सवेतन सेवक बना लिया । उनके चरित्र मात्र शेष रह जाने (धनहीन हो जाने) पर द्यूत से जीविका चलाने वाला हो गया । इसके पश्चात् भाग्य की विषमता (वक्रता) से जुए में दस सुवर्ण हरा दिये ।

माथुर—नष्ट हो गया हूँ । लूट लिया गया हूँ ।

संवाहक—ये दोनों वे सभिक और जुआरी मुझे ढूंढ रहे हैं । अब मेरी कहानी सुनकर आप निर्णय करें (क्या किया जाय) ।

वसन्तसेना—मदनिके, निवास वृक्ष की अस्थिरता के कारण पक्षी इधर उधर ही भटकते हैं । चेटि, तो जाओ । इन दोनों सभिक और जुआरी को यह हाथ का आभूषण (यह कहकर) तुम दे दो कि यह आर्य (संवाहक) ही दे रहे हैं

(हाथ से कंगन उतार कर चेटी को देती है)

नामसंकीर्तनेन नामकथनेन । सः औदार्यादियुक्तः चारुदत्तः धनिकः कुतः भवेद् इति भावः ।

संवाहकः अप्रस्तुतप्रशंसया चारुदत्तस्य प्रशंसां करोति— सत्करोति । सत्कारः शरणागतानां सत्करणम् एव धनं यस्य सः सज्जनः श्रेष्ठो जनो भवति । इदं चलाचलं चञ्चलं धनं कस्य न भवति सर्वस्यैव जनस्य भवितुं शक्यते इति भावः । यः जनःपूजयितं परेषां सम्मानं कर्तुं न जानाति सः पूजाविशेषं स्वं प्रति कृतम् आदरविशेषम् अपि जानाति किम् ? इति काकुः, न जानात्येव इत्यर्थः । यदि तु तृतीयचरणे नकारो नास्ति तर्हि—यः अन्येषां सम्मानं कर्तुं जानाति स स्वं प्रति कृतं सत्कारविशेषमपि अनुभवितुं शक्नोति इत्यर्थः । अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । मात्रासमकं वृत्तम् ॥१५॥

चेटी (गृहीत्वा) जं अज्जआ आणवेदी । [यदार्याज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

माथुरः—उच्छादिदो म्हि । मुसिदो म्हि । [उत्सादितोऽस्मि मुषितोऽस्मि ।]

चेटी—जधा एदे उद्ध' पेक्खन्ति, दीहं णीससन्ति, अहिलहन्ति अ दुआरणिहिदलोअणा, तधा तक्केमि, एदे दे सहिअजूदिअरा हुविस्सन्ति । (उपगम्य अज्ज, वन्दामि । [यथैतावूर्ध्वं प्रेक्षेते, दीर्घं निश्वसतः अभिलपतश्च द्वारनिहितलोचनौ, तथा तर्कयामि, एतौ तौ सभिकद्यूतकरौ भविष्यतः । आर्य, वन्दे ।]

माथुरः—सुहं तुए होदु । [सुखं तव भवतु ।]

चेटी—अज्ज, कदमो तुम्हाणं सहिओ । [आर्य, कतरो युवयोः सभिकः ।]

माथुरः—

कस्स तुहु तणुमज्झे अहरेण रददट्ठदुव्विणीदेण ।
जम्पसि मणोहलवअणं आलोअन्ती कडक्खेण ॥१६॥

णत्थि मम विहवो अण्णत व्वज ।

[कस्य त्वं तनुमध्ये अधरेण रतदष्टदुर्विनीतेन ।
जल्पसि मनोहरवचनमालोकयन्ती कटाक्षेण ॥

नास्ति मम विभवः । अन्यत्र व्रज ।]

चेटी—जइ ईदिसाइं णं मन्तेसि, ता ण होसि जूदिअरो । अत्थि कोवि तुम्हाणं धारओ । [यदीदृशानि ननु मन्त्रयसि, तदा न भवसि द्यूतकरः । अस्ति कोऽपि युष्माकं धारकः ।]

माथुरः—अत्थि दशसुवण्णं धालेदि । किं तस्स । [अस्ति । दशसुवर्णं धारयति । किं तस्य ।]

चेटी—तस्स कारणादो अज्जआ इमं हत्थाभरणं पडिवादेदि । णहि णहि सो ज्जेव पडिवादेदि । [तस्य कारणादार्येदं हस्ताभरणं प्रतिपादयति । नहि नहि स एव प्रतिपादयति ।]

माथुरः—(सहर्षं गृहीत्वा) अले, भणेशि तं कुलपुत्तम् 'भूदं तुए गण्डे आअच्छ । पुणो जूदं रमअ' [अरे, भणसि तं कुलपुत्रम्—भूतस्तव गण्डः । आगच्छ । पुनर्द्यूतं रमस्व' ।]

(इति निष्क्रान्तौ)

चेटी—(वसन्तसेनामुपसृत्य) अज्जए, पडितुट्ठा गदा सहिअजूदिअरा । [आर्ये परितुष्टौ गतौ सभिकद्यूतकरौ' ।]

चेटी—(लेकर) जो आर्या आज्ञा देती हैं (निकल जाती है)

माथुर—नष्ट हो गया हूँ, लुट गया हूँ।

चेटी—क्योंकि ये ऊपर को देख रहे हैं, लम्बे साँस ले रहे हैं, द्वार पर आँखें गड़ाये बातें कर रहे हैं, इससे अनुमान लगाती हूँ, (कि) ये दोनों वे ही सभिक और जुआरी होंगे। (समीप जाकर) आर्य, प्रणाम करती हूँ,।

माथुर—तुम्हें सुख हो।

चेटी—आर्य आप दोनों में से सभिक कौन से हैं?

माथुर—हे क्षीण कटि वाली, कटाक्ष से देखती हुई रतिकाल में क्षत इस धृष्ट (दुर्विनीत) ओठ से मनोहर वचन किससे बोल रही हो॥१६॥

मेरे पास सम्पत्ति नहीं है, अन्यत्र जाओ।

चेटी—यदि तुम ऐसी बात करते हो, तब तुम जुआरी नहीं हो (सकते) क्या आप लोगों का कोई ऋणी है?

माथुर—है। दस स्वर्ण का ऋणी है। उसका क्या?

चेटी—उसके कारण से आर्या यह कंगन दे रही है। नहीं, नहीं वही दे रहा है।

माथुर—(हर्षपूर्वक लेकर) अरी उस कुलीन पुत्र से कह देना, 'तुम्हारा वायदा (पूर्ण) हो गया। आओ फिर जुआ खेलो।'

(बाहर चले जाते हैं)

चेटी—(वसन्तसेना के निकट आकर) आर्ये सभिक और जुआरी सन्तुष्ट होकर चले गये।

सवृत्तिः सवेतनः। चारित्र्यावशेषे चारित्र्यम् एव अवशेषो यस्य स तस्मिन् चारित्र्यमात्रावशेषे धनहीने जाते सति। द्यूतम् उपजीवति इति द्यूतोपजीवी। भागधेयस्य विषमतया वक्रतया उत्सादितः विनाशितः। मुषितः चोरितः, लुण्ठितः। अनुसन्धत्तः अन्वेषणं कुरुतः। आर्या तत्रभवती वसन्तसेना। प्रमाणम् निर्णायिका।

वासपादपस्य निवासवृक्षस्य विसंष्ठुलतया अस्थिरतया अस्तव्यस्ततया। आहिण्डन्ते भ्रमन्ति। चारुदत्तस्य दरिद्रतया तस्य उपजीविनोऽपि इतस्ततः भ्रमन्तीति भावः। अप्रस्तुतप्रशंसा। अयमार्यः संवाहक एव प्रतिपादयति ददाति।

द्वारे निहिते स्थिते लोचने ययोः तौ। तर्कयामि कल्पयामि। मदनिकायाः वचनं श्रुत्वा माथुरः पृच्छति—कस्येति। हे तनुमध्ये तनु क्षीणं मध्यं यस्याः तत्सम्बुद्धौ कृशोदरि, त्वं कटाक्षेण आलोकयन्ती रते दष्टः अतएव दुर्विनीतः धृष्टः रतिसूचकत्वात् तेन अधरेण मनोहरवचनं मधुरं वचनं कस्य कं प्रति जल्पसि? गाथा वृत्तम्॥१६॥

वसन्तसेना—ता गच्छदु । अज्ज बन्धुअणो समस्ससदु । [तद्गच्छतु । अद्य बन्धुजनः समाश्वसितु ।]

संवाहकः—अज्जए, जइ एव्वं ता इअं कला पलिअणहत्थगदा कलीअदु। [आर्ये, यद्येवं तदियं कला परिजनहस्तगता क्रियताम् ।]

वसन्तसेना—अज्ज, जस्स कारणादो इअं कला सिक्खीअदि, सो ज्जेव अज्जेण सुस्सूसिदपुव्वो सुस्सूसिदव्वो । [आर्य, यस्य कारणादियं कला शिक्ष्यते, स एवार्येण शुश्रूषितपूर्वः शुश्रूषितव्यः ।]

संवाहकः—(स्वगतम्) अज्जआए णिउअं पच्चादिट्ठो म्हि । कधं पच्चुवकलिश्शम् (प्रकाशम्) अज्जए, अहं एदिणा जूदिअलावमाणेण शक्कशमणके हुविश्शम्। ता शंवाहके जूदिअले शक्कशमणके शंवुत्तेति शुमलिदव्वा अज्जआए एदे अक्खलु। [आर्यया निपुणं प्रत्यादिष्टोऽस्मि । कथं प्रत्युपकरिष्ये । आर्ये, अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि । तत्संवाहको द्यूतकरः शाक्यश्रमणकः संवृत्त इति स्मर्तव्यान्यार्ययैतान्यक्षराणि ।]

वसन्तसेना—अज्ज, अलं साहसेण । [आर्य, अलं साहसेन ।]

संवाहकः—अज्जए कले णिच्चए । [आर्ये, कृतो निश्चयः ।] (इति परिक्रम्य)

जूदेण तं कदं मे जं वीहत्थं जणश्श शव्वश्श ।
एण्हिं पाअडशीशे णलिन्दमग्गेण विहलिश्शम् ॥१७॥
[द्यूतेन तत्कृतं मम यद्विहस्तं जनस्य सर्वस्य ।
इदानीं प्रकटशीर्षो नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि ॥]

(नेपथ्ये कलकलः)

संवाहकः—(आकार्ण्य) अले, किं ण्णेदम् । (आकाशे) किं भणाध—'एशे क्खु वशन्तशेणाआए खुण्टमोडके णाम दुट्ठहत्थी विअलेदि' त्ति । अहो, अज्जआए गन्धगअं पेक्खिश्शं गदुअ । अहवा किं मम एदिणा । जधाववशिदं अणुचिट्ठिश्शम् । [अरे, किन्निवदम् । किं भणत—'एष खलु वसन्तसेनायाः खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती विचरति' इति । अहो, आर्याया गन्धगजं प्रेक्षिष्ये गत्वा अथवा किं ममैतेन । यथाव्यवसितमनुष्ठास्यामि ।] (इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण प्रहृष्टो विकटोज्ज्वलवेषः कर्णपूरकः)

धारकः धारयतीति अधमर्णः, ऋणी । कुलपुत्रं सद्वंशजातम्, कुलीनम् । गण्डः समयः, शपथः ।

इयं कला संवाहनरूपा । परिजनस्य भवत्परिचारिकायाः हस्तगता प्राप्ता (शिक्षिता) । "त्वया अनुमन्यते चेदहं भवद्गेहे कियत्कालं स्थित्वा भवत्याः सेविका

वसन्तसेना—तो अब (आप भी) जायें। आज बान्धवों को सान्त्वना दें।

संवाहक—आर्ये, यदि ऐसा है तो यह (अङ्गमर्दन की) कला (अपनी) सेविका को हस्तगत (प्राप्त) करा दें ?

वसन्तसेना—जिसके कारण से यह कला सीखी गई है, वही (आर्य चारुदत्त) जो आपके द्वारा पहले सेवित हुआ है, (अब भी) सेवित होना चाहिये।

संवाहक—(अपने आप) आर्या के द्वारा कुशलतापूर्वक अस्वीकृत कर दिया गया हूँ इनका प्रत्युपकार कैसे करूँ ? (प्रकट रूप में) आर्ये, मैं इस जुआरी के (रूप में) अपमान के कारण बौद्ध भिक्षु हो जाऊँगा तो 'संवाहक जुआरी बौद्धभिक्षु हो गया है' ये अक्षर आर्या को स्मरण रखने चाहियें।

वसन्तसेना—आर्य साहस से बस करो।

संवाहक—आर्य, (मैंने) निश्चय कर लिया है। (घूमकर) जुए ने मेरे लिये ऐसा किया कि सब व्यक्तियों से व्याकुल (अपमानित) करा डाला। इस समय खुले सिर राजमार्ग से (पर) घूमूँगा ॥१७॥

(नेपथ्य में कलकल)

संवाहक—(सुन कर) अरे, यह क्या है ? (आकाश की ओर) क्या कहते हो ? यह वसन्तसेना का खुण्टमोडक (बन्धन स्तम्भ को तोड़ने वाला) नाम वाला दुष्ट हाथी घूम रहा है।, अहो जाकर आर्या के गन्धगज (देखिये टिप्पणी) को देखूँ। अथवा मेरा इससे क्या (सम्बन्ध) ? निश्चायानुसार करूँगा (निकल जाता है)।

(तदनन्तर पर्दे के बिना गिरे, प्रसन्न एवं भयङ्कर उज्ज्वल वेशवाला कर्णपूरक प्रवेश करता है)।

मिमाम् अङ्गमर्दनविद्यां शिक्षयित्वा स्वस्थानं गमिष्यामीति भावः" (J. V. नवीन संस्करण, काले)। पूर्वं शुश्रूषितः इति शुश्रूषितपूर्वः। प्रत्यादिष्टः निराकृतः, प्रत्याख्यातः। शाक्यश्रमणकः बौद्धभिक्षुः।

वसन्तसेनायाः वचनं श्रुत्वा संवाहकः कथयति—द्यूतेनेति। द्यूतेन मम संवाहकस्य तत् तादृशं कृतम् यत् सर्वस्य जनस्य सर्वस्मात् जनात् विहस्तं व्याकुलीकरणम् (विहस्तव्याकुलौ समौ) अवमाननमिति यावत्। इदानीं सम्प्रति द्यूतदेयदशसुवर्णनिर्यातनकाले बौद्धभिक्षुः भूत्वा प्रकटशीर्षः प्रकटं शीर्षं यस्य (भयरहितत्वात्) तथाभूतः नरेन्द्रमार्गेण राजमार्गेण विहरिष्यामि स्वतन्त्रं भ्रमिष्यामि। आर्या वृत्तम् ॥१७॥

खुण्टमोडकः खुण्टं स्तम्भं मोडयति इति, स्तम्भभञ्जकः। गन्धगजं गन्धप्रधानः गजः गन्धगजः। यथोक्तम्—"यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपः तं गन्धहस्तिन प्राहुर्नृपतेर्विजयावहम्।' यथाव्यवसितं व्यवसितं निश्चितम् अनतिक्रम्य निश्चयानुरूपं परिव्रज्याग्रहणमिति यावत्। अनुष्ठास्यामि करिष्यामि।

कर्णपूरकः—कहिं कहिं अज्जआ । [कुत्र कुत्रार्या ।]

चेटी—दुम्मणुस्स, किं ते उव्वेअकालणम्, जं अग्गदो वट्ठिदं अज्जअं ण पेक्खसि । [दुर्मनुष्य, किं त उद्वेगकारणम्, यदग्रतोऽवस्थितामार्यां न प्रेक्षसे ।]

कर्णपूरकः—(दृष्ट्वा) अज्जए, वन्दामि । [आर्ये, वन्दे]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ, परितुट्ठमुहो लक्खीअसि । ता किं ण्णेदम् । [कर्णपूरक परितुष्टमुखो लक्ष्यसे । तत्किं न्विदम् ।]

कर्णपूरकः—(सविस्मयम्) अज्जए, वञ्चिदासि, जाए अज्ज कण्णऊरअस्स परक्कमो ण दिट्ठो । [आर्ये, वञ्चितासि यया‌द्य कर्णपूरकस्य पराक्रमो न दृष्टः ।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ, किं किम् । [कर्णपूरक किं किम् ।]

कर्णपूरकः—सुणादु अज्जआ । जो सो अज्जआए खुण्टमोडओ णाम दुट्टहत्थी सो आलाणत्थम्भं भञ्जिअ महमेत्थं वावादिअ महन्तं संखोहं करन्तो राअमग्गं ओदिण्णो । तदो एत्थन्तरे उग्घुट्टं जणेण—

अवणेध वालअजणं तुरिदं आरुहध वुक्खपासादम् ।
किं ण हु पेक्खध पुरदो दुट्ठो हत्थी इदो एदि ॥१८॥

अवि च ।

विचलइ णेउरजुअलं छिज्जन्ति अ मेहला मणिक्खइआ ।
वलआ अ सुन्दरदरा रअणङ्कुरजालपडिबद्धा ॥१९॥

तदो तेण दुट्टहत्थिणा करचरणरदणेहिं फुल्लणलिणिं विअ णअरिं उज्जइणिं अवगाहमाणेण समासादिदो परिव्वाजओ । तच्च परिब्भट्टदण्डकुण्डिआभाअणं सीअरेहिं सिञ्चिअ दन्तन्तरे क्खित्तं पेक्खिअ पुणोवि उग्घुट्टं जणेण—'हा परिव्वाजओ वावादीअदि' त्ति [शृणोत्वार्या । यः स आर्यायाः खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती स आलानस्तम्भं भङ्क्त्वा महामात्रं व्यापाद्य महान्तं संक्षोभं कुर्वन्राजमार्गमवतीर्णः । ततोऽत्रान्तरे उद्घुष्टं जनेन—

'अपनयत बालकजनं त्वरितमारोहत वृक्षप्रासादम् ।
किं न खलु प्रेक्षध्वं पुरतो दुष्टो हस्ती इत एति ।१८॥

अपि च ।

विचलति नूपुरयुगलं छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिताः ।
वलयाश्च सुन्दरतरा रत्नाङ्कुरजालप्रतिबद्धाः ॥१९॥

ततस्तेन दुष्टहस्तिना करचरणरदनैः फुल्लनलिनीमिव नगरीमुज्जयिनीमवगाहमानेन समासादितः परिव्राजकः । तं च परिभ्रष्टदण्डकुण्डिकाभाजनं शीकरैः सिक्त्वा दन्तान्तरे क्षिप्तं प्रेक्ष्य पुनरप्युद्घुष्टं जनेन—'हा, परिव्राजको व्यापाद्यते' इति ॥]

अपटीक्षेपेण विना जवनिकापातमेव । विकटः उज्ज्वलश्च वेषः यस्य तथाभूतः ।

कर्णपूरक—कहाँ हैं, कहाँ हैं, आर्या !

चेटी—रे दुर्जन, तुम्हारी घबराहट का क्या कारण है जो सामने स्थित आर्या को नहीं देखते हो ?

कर्णपूरक—(देखकर) आर्ये प्रणाम करता हूँ।

वसन्तसेना—कर्णपूरक, अत्यन्त प्रसन्नमुख दिखाई दे रहे हो। तो यह क्या (बात) है।

कर्णपूरक—(आश्चर्यपूर्वक) आर्या वञ्चित रह गयीं (क्योंकि) तुमने आज कर्णपूरक का पराक्रम नहीं देखा।

वसन्तसेना - कर्णपूरक, क्या, क्या ?

कर्णपूरक– आर्या सुनें। वह जो आपका (आर्या का) खुण्टमोडक नामक दुष्ट हाथी है' वह बन्धनस्तम्भ को तोड़कर, महावत को मारकर महान् उपद्रव करता हुआ सड़क (राजमार्ग) पर उतर आया। तब इसी बीच में मनुष्यों ने घोषणा की—

'बालकों को हटा लो, तुरन्त पेड़ों या घरों पर चढ़ जाओ। क्या देख नहीं रहे हो (कि) सामने से दुष्ट हाथी इधर आ रहा है ॥१८॥

और भी—

नूपुरों का जोड़ा गिर पड़ा है, मणिजटित मेखलायें तथा लघुरत्नसमूह से जड़े हुए अति सुन्दर कंगन (भागने से परस्पर संघर्ष होने के कारण) टूट रहे हैं ॥१९॥

इसके पश्चात् (अपने) सूंड, पैर और दांतों के द्वारा उज्जयिनी नगरी को विकसित कमलिनी वाली सरसी के तुल्य मथते हुए वह दुष्ट हाथी एक संन्यासी पर पहुँचा। और जिसका दण्ड और कमण्डलु गिर गए हैं, ऐसे उस (संन्यासी) को जलबिन्दुओं से खींचकर दांतों के बीच में रक्खा हुआ देखकर जनता ने फिर से यह कोलाहल किया—हाय ! संन्यासी मारा जा रहा है।

परिभ्रष्टं मुखं यस्य तादृशः।

महामात्रं हस्तिपालकं, हस्तिचालकं वा।

बन्धनस्तम्भं भङ्क्त्वा राजमार्गे समागतं वसन्तसेनायाः गजं विलोक्य जनैरेतद् उद्घुष्टमिति कर्णपूरकः कथयति— अपनीयत इति। बालकजनम् अपनयत राजमार्गात् दूरं नयत, वृक्षं प्रासादं च त्वरितम् आरोहत किं न खलु प्रेक्षध्वं पश्यथ यूयम् ? पुरतः अग्रतः दुष्टः हस्ती इतः एतद्दिशां प्रति एति आगच्छति। गाथा वृत्तम् ॥१८॥

विचलतीति। (गजभयात् नारीणां गमनवेगात्) नूपुरयुगलं (पादेभ्यः) विचलति स्वस्थानात् पतति। मणिखचिताः मणिजटिताः मेखलाः रत्नाङ्कुराणां लघुरत्नानां जालैः समूहैः प्रतिबद्धाः जटिताः सुन्दरतराः वलयाः कटकाः च छिद्यन्ते छिन्नाः भवन्ति। गाथावृत्तम् ॥१९॥

वसन्तसेना—(ससंभ्रमम्) अहो पमादो, अहो पमादो। [अहो प्रमादः, अहो प्रमादः।]

कर्णपूरकः—अलं संभमेण। सुणादु दाव अज्जआ। तदो विच्छिण्णविसंठुलसिङ्खलाकलावअं उव्वहन्तं दन्तन्तरपरिग्गहिदं परिव्वाजअं उव्वहन्तं तं पेक्खिअ कण्णऊरएण मए, णहि णहि, अज्जआए अण्णपिण्डपुट्ठेण दासेण, वामचलणेण जूदलेक्खअं उग्घुसिअ उग्घुसिअ तुरिदं आवणादो लोहदण्डं गेहिण्अ आआरिदो सो दुट्ठहत्थी। [अलं संभ्रमेण। शृणोतु तावदार्या। ततो विच्छिन्नविसंष्ठुलशृङ्खलाकलापमुद्वहन्तं दन्तान्तरपरिगृहीतं परिव्राजकमुद्वहन्तं तं प्रेक्ष्य कर्णपूरकेण मया, नहि नहि, आर्याया अन्नपिण्डपुष्टेन दासेन, वामचरणेन द्यूतलेखकं उद्घुष्योद्घुष्य त्वरितमापणाल्लौहदण्डं गृहीत्वाकारितः स दुष्टहस्ती।]

वसन्तसेना—तदो तदो। [ततस्ततः।]

कर्णपूरकः—

आहणिऊण सरोसं तं हत्थि विञ्झसैलसिहराभम्।
मोआविओ मए सो दन्तन्तरसंठिओ परिव्वाजओ ॥२०॥
[आहत्य सरोषं तं हस्तिनं विन्ध्यशैलशिखराभम्।
मोचितो मया स दन्तान्तरसंस्थितः परिव्राजकः ॥]

वसन्तसेना—सुट्ठु दे किदम्। तदो तदो। [सुष्ठु त्वया कृतम्। ततस्ततः।]

कर्णपूरकः—तदो अज्जए, 'साहु रे कण्णऊरअ, साहु' त्ति एत्तिअमेत्तं भणन्ती विसमभरक्कन्ता विअ णावा, एक्कदो पल्हत्था सअला उज्जइणी आसि। तदो अज्जए एक्केण सुण्णाइं आहरणट्ठाणाइं परामुसिअ उद्धं पेक्खिअ दीहं णीससिअ अअं पावारओ मम उवरि क्खित्तो। [तत आर्ये 'साधु रे कर्णपूरक, साधु' इत्येतावन्मात्रं भणन्ती, विषमभराक्रान्ता इव नौः एकतः पर्यस्ता सकलोज्जयिन्यासीत्। तत आर्ये, एकेन शून्यान्याभरणस्थानानि परामृश्य ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वस्यायं प्रावारको ममोपरि क्षिप्तः।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ, जाणीहि दाव किं एसो जादीकुसुमवासिदो पावारओ ण वेत्ति। [कर्णपूरक, जानीहि तावत्किमेष जातीकुसुमवासितः प्रावारको न वेति।]

कर्णपूरकः—अज्जए, मदगन्धेण सुट्ठु तं गन्धं ण जाणामि। [आर्ये मदगन्धेन सुष्ठु तं गन्धं न जानामि।]

वसन्तसेना—(घबड़ाहटपूर्वक) अहो अनवधानता (लापरवाही) ! अहो अनवधानता !

कर्णपूरक—घबड़ाहट से बस करो। आर्या सुनें तो। तदनन्तर टूटी हुई तथा अस्थिर (हिलने वाली) शृङ्खला (जंजीर) को धारण किये हुये दांतों के बीच में गृहीत संन्यासी को उठाने वाले उस दुष्ट हाथी को देखकर मुझ कर्णपूरक ने, नहीं नहीं, आर्या के अन्नपिण्ड से पुष्ठ हुए सेवक ने द्यूतलेखक को बार बार चेताकर तुरन्त बाजार से लोहे का डण्डा लेकर बाईं ओर चल करके (बाईं ओर पैंतरा बदलने से) उस दुष्ट हाथी को ललकारा। (टिप्पणी भी देखिये)

वसन्तसेना—तत्पश्चात्।

कर्णपूरक—विन्ध्यपर्वत की चोटी जैसे (विशाल) एवं क्रोधित उस हाथी पर प्रहार करके मैंने वह (हाथी के) दांतों के बीच में दबा हुआ (या स्थित) संन्यासी छुड़ा दिया।

वसन्तसेना—तुमने बड़ा अच्छा किया। तदनन्तर ?

कर्णपूरक—इसके पश्चात् आर्ये 'धन्य रे कर्णपूरक, धन्य !' एकमात्र यही कहती हुई सम्पूर्ण उज्जयिनी, विषम भार से दबी हुई नौका के समान एक ओर झुक गई। तब आर्ये, एक (नागरिक) ने अपने शून्य आभूषण-स्थानों (जिन अङ्गों में पहले आभूषण धारण करता था और अब जो आभूषणहीन थे ऐसे अङ्गों) को छूकर ऊपर देखकर, लम्बी सांस लेकर यह उत्तरीय मेरे ऊपर फेंक दिया।

वसन्तसेना—कर्णपूरक, देखो तो, क्या यह उत्तरीय चमेली के पुष्पों से सुवासित है या नहीं ?

कर्णपूरक—आर्ये, मद की गन्ध के कारण भली प्रकार उस (चमेली की गन्ध) को नहीं पहचान रहा हूँ।

फुल्लानि विकसितानि नलिनानि कमलानि यस्यां तां फुल्लपद्मां सरसीम् इव अवगाहमानेन मथनं कुर्वता। समासादितः प्राप्तः, गृहीतो वा। दण्डश्च कुण्डिकाभाजनं च दण्डकुण्डिकाभाजने, परिभ्रष्टे हस्ताभ्यां पतिते दण्डकुण्डिकाभाजने यस्य तं शीकरैः जलबिन्दुभिः। दन्तान्तरे दन्तमध्ये। व्यापाद्यते हन्यते।

संभ्रमः उद्वेग। विच्छिन्नः त्रुटितः अतएव विसंष्ठुलः अस्थिरः इतस्ततः विकीर्णो वा यः शृङ्खलाकलापः शृङ्खलासमूहः तम् उद्वहन्तं धारयन्तं। अन्नपिण्डेन अन्नग्रासेन पुष्टः पालितः तेन। उद्घुष्य उन्प्रार्थ्य। आकारितः आहूतः।

आहत्येति—विन्ध्यशैलशिखरस्य आभा इव आभा यस्य तं सरोषं क्रोध-युक्तं हस्तिनम् आहत्य लोहदण्डेन प्रहृत्य मया कर्णपूरकेण दन्तान्तरे दन्तमध्ये संस्थितः गृहीतः सः परिव्राजकः मोचितः। गाथावृत्तम् ॥२०॥

वसन्तसेना—णामं पि दाव पेक्ख। [नामापि तावत्प्रेक्षस्व।]

कर्णपूरकः—इमं णामं अज्जआ एव्व वाएदु। [इदं नामार्यैव वाचयतु।] (इति प्रावारकमुपनयति।)

वसन्तसेना—अज्जचारुदत्तस्स। [आर्यचारुदत्तस्य।] (इति वाचयित्वा सस्पृहं गृहीत्वा प्रावृणोति)

चेटी—कण्णऊरअ, सोहदि अज्जआए पावारओ। [कर्णपूरक, शोभत आर्यायाः प्रावारकः।]

कर्णपूरकः—आ सोहदि अज्जआए पावारओ। [आं शोभत आर्यायाः प्रावारकः।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ, इदं दे पारितोसिअम्। [कर्णपूरक, इदं ते पारितोषिकम्।] (इत्याभरणं प्रयच्छति)

कर्णपूरकः—(शिरसा गृहीत्वा प्रणम्य च) संपदं सुट्ठु सोहदि अज्जआए पावारओ। [सांप्रतं सुष्ठु शोभत आर्यायाः प्रावारकः।]

वसन्तसेना—कण्णऊरअ, एदाए वेलाए कहिं अज्जचारुदत्तो। [कर्णपूरक, एतस्यां वेलायां कुत्रार्यचारुदत्तः।]

कर्णपूरकः—एदेण ज्जेव मग्गेण पवुत्तो गन्तुं गेहम्। [एतेनैव मार्गेण प्रवृत्तो गन्तुं गेहम्।]

वसन्तसेना—हञ्जे, उवरिदणं अलिन्दअं आरुहिअ अज्जचारुदत्तं पेक्खेम्ह। [चेटि, उपरितनमलिन्दकमारुह्यार्यचारुदत्त पश्यामः।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति द्यूतकरसंवाहको नाम द्वितीयोऽङ्कः।

विषमभरेण गुरुतरभारेण आक्रान्ता नौः इव सकला उज्जयिनी एकतः एकदिशायां पर्यस्ता आनता, एकत्रीभूता वा। परामृश्य स्पृष्ट्वा, विचार्य वा मदस्य

वसन्तसेना—तो नाम भी देखो।

कर्णपूरक—यह नाम आर्या ही पढ़ें (उत्तरीय दे देता है)

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त का। (यह पढ़कर प्रेमपूर्वक लेकर ओढ़ लेती है)

चेटी—कर्णपूरक, आर्या के उत्तरीय अच्छा लगता है।

कर्णपूरक—हाँ, आर्या के उत्तरीय अच्छा लगता है।

वसन्तसेना—कर्णपूरण, यह तुम्हारा पुरस्कार है। (आभूषण देती है)

कर्णपूरक—(झुके सिर से ग्रहण करके और प्रणाम करके) अब आर्या के उत्तरीय अधिक अच्छा लगता है।

वसन्तसेना—कर्णपूरण, इस समय आर्य चारुदत्त कहाँ हैं ?

कर्णपूरक—इसी मार्ग से जाने लगे हैं।

वसन्तसेना—चेटि, ऊपर छत पर चढ़कर आर्य चारुदत्त को देखें।

(सब निकल जाते हैं)

द्यूतकर संवाहक नामक द्वितीय अङ्क समाप्त

हस्तिमदस्य गन्धेन। सुष्ठु सम्यग्रूपेण क्रियाविशेषणम्। अलिन्दकं बहिर्द्वारप्रकोष्ठकम्।

द्यूतकरः संवाहकः यस्मिन् विशेषेण वर्णितः तथाभूतोऽयं द्वितीयः अङ्कः समाप्तः।

इति मृच्छकटिकटीकायां द्वितीयोऽङ्कः

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटः)

चेटः—

शुअणे क्खु भिच्चाणुकम्पके शामिए णिद्धणके वि शोहदि।
पिशुणे उण दव्वगव्विदे दुक्कले क्खु पलिणामदालुणे ॥१॥

अवि अ।

शश्शपलक्कबलद्दे ण शक्कि वालिदुं
अण्णकलत्तपशत्ते ण शक्कि वालिदुम्।
जूदपशत्तमणुश्शे ण शक्कि वालिदुं
जे वि शहाविअदोशे ण शक्कि वालिदुम् ॥२॥

का वि वेला अज्जचारुदत्तश्श गन्धव्वं शुणिदुं गदश्श। अविक्कमदि अद्धलअणी। अज्ज वि ण आअच्छदि। ता जाव बाहिलदुआलशालाए, गदुअ शुविश्शम्।

[सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्धनकोऽपि शोभते।
पिशुनः पुनर्द्रव्यगर्वितो दुष्करः खलु परिणामदारुणः ॥]

अपि च।

सस्यलम्पटबलीवर्दो न शक्यो वारयितु-
मन्यकलत्रप्रसक्तो न शक्यो वारयितुम्।
द्यूतप्रसक्तमनुष्यो न शक्यो वारयितुं
योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम् ॥

[कापि वेलार्यचारुदत्तस्य गान्धर्वं श्रोतुं गतस्य। अतिक्रामत्यर्धरजनी। अद्यापि नागच्छति तद्यावद्बहिर्द्वारशालायां गत्वा स्वप्स्यामि।] (इति तथा करोति)

(ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषकश्च)

चारुदत्तः—अहो अहो, साधु साधु, रेभिलेन गीतम्। वीणा हि नामासमुद्रोत्थितं रत्नम्। कुतः—

तृतीय अङ्कः

(तत्पश्चात् चेट प्रवेश करता है)

चेट—सेवकों पर दया करने वाला सज्जन स्वामी धनहीन होता हुआ भी शोभित होता है। किन्तु धन से गर्वित दुर्जन (स्वामी) दुःख से सेवा करने योग्य एवं अन्त में भयङ्कर होता है ॥१॥

और भी—

धान्य का लोभी बैल रोका नहीं जा सकता, दूसरे की स्त्री में आसक्त पुरुष को रोका नहीं जा सकता, जुए में अनुरक्त मनुष्य को रोका नहीं जा सकता, जो भी स्वाभाविक बुराई होती है, उसका भी निवारण नहीं किया जा सकता ॥२॥

गीत (गान्धर्व) सुनने के लिये गये हुए आर्य चारुदत्त को कितना समय हो गया? अर्धरात्रि व्यतीत हो रही है। अब भी नहीं आ रहे हैं, तो तब तक बाहरी दरवाजे वाली कोठरी में जाकर सोऊँ। (वैसा करता है)।

(इसके पश्चात् चारुदत्त और विदूषक प्रवेश करते हैं)

चारुदत्त—अहो, अहो, रेभिल ने बहुत अच्छा गाया। वीणा तो वास्तव में बिना समुद्र से निकला हुआ रत्न है। क्योंकि—

चारुदत्तस्य चेटः वर्धमानकः स्वकीयस्वामिनः चारुदत्तस्य स्वभावं चिन्तयन् कथयति—सुजन इति। सुजनः सज्जनः भृत्यानाम् अनुकम्पकः सेवकेषु दयावान् स्वामी निर्धनकः अपि निर्धनः अपि सन् शोभते खलु। पुनः किन्तु स द्रव्यगर्वितः द्रव्येण गर्वितः पिशुनः दुर्जनः चेत् दुष्करः दुःखेन सेवनीयः सेवितोऽपि सन् च परिणामे फल-दानसमये दारुणः भयङ्करः भवति। यद्यपि मम स्वामी चारुदत्तो निर्धनः तथापि भृत्या-नुकम्पकोऽतः शोभते इति व्यज्यते। अत्र च अप्रस्तुतात् सामान्यात् प्रस्तुतस्य विशेषस्य (चारुदत्तस्य) प्रतीतेः अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः।। वैतालीयं वृत्तम् ॥१॥

सस्येति। सस्यलम्पटः सस्यभक्षणे प्रसक्तः बलीवर्दः वृषभः वारयितुं न शक्यः। अन्येषां कलत्रेषु प्रसक्तः मनुष्यः वारयितुं न शक्यः। द्यूते प्रसक्तः मनुष्यः वारयितुं न शक्यते। एवं यः अपि मनुष्यस्य स्वाभाविकः स्वभावसिद्धः दोषः भवति सः अपि वारयितुं न शक्यते। मम स्वामिनः चारुदत्त अतिरिक्तदातृत्वं स्वभावदोष एव तच्च न त्यक्तुं शक्यते इति भावः। अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः। शक्वरी जातिः वृत्तम् ॥२॥

गन्धर्वाणामिदं गान्धर्वं गीतम्।

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
सङ्केतके चिरयति प्रवरो विनोदः ।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः ॥३॥

विदूषकः—भो, एहि । गेहं गच्छेम्ह । [भोः, एहि । गृहं गच्छावः ।]

चारुदत्तः—अहो, सुष्ठु भावरेभिलेन गीतम् ।

विदूषकः—मम दाव दुवेहि ज्जेव हस्सं जाअदि । इत्थिआए सक्कअं पठन्तीए, मणुस्सेण अ काअलीं गाअन्तेण । इत्थिआ दाव सक्कअं पठन्ती, दिण्णणवणस्सा विअ गिट्ठी, अहिअं सुसुआअदि । मणुस्सो वि काअलीं गाअन्तो, सुक्खसुमणोदामवेट्ठिदो बुड्ढपुरोहिदो विअ मन्तं जवन्तो दिढं मे ण रोअदि । [मम तावद्द्वाभ्यामेव हास्यं जायते । स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या मनुष्येण च काकलीं गायता । स्त्री तावत् संस्कृतं पठन्ती, दत्तनवनस्येव गृष्टिः अधिकं सूसूशब्दं करोति । मनुष्योऽपि काकलीं गायन् शुष्कसुमनोदामवेष्टितो वृद्धपुरोहित इव मन्त्रं जपन् दृढं न रोचते ।]

चारुदत्तः—वयस्य सुष्ठु खल्वद्य गीतं भावरेभिलेन । न च भवान् परितुष्टः ।

रक्तं च नाम मधुरं च समं स्फुटं च
भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च ।
किंवा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तै-
रन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये ॥४॥

रेभिलः चारुदत्तस्य मित्रं कश्चित् सार्थवाहः, एको निपुणो गायकः । समुद्रात् उत्थितं समुद्रोत्थितं इति न समुद्रोत्थितम् असमुद्रोत्थितम् । संगीतश्रवणानन्तरं चारुदत्तः वीणायाः प्रशंसां करोति—उत्कण्ठितस्येति । वीणा हि उत्कण्ठितस्य उत्कण्ठा संजाता अस्य असौ उत्कण्ठितः तस्य विरहोत्सुकस्य हृदयानुगुणा हृदयानुरूपा वयस्या सखी । सङ्केतके सङ्केतदायिनि प्रियजने चिरयति विलम्बं कुर्वति प्रवरः उत्तमः विनोदः । विरहेण प्रियवियोगेन आतुराणां जनानां प्रियतमा अत्यन्तप्रिया संस्थापना आश्वास-प्रदात्री । रक्तस्य अनुरक्तस्य जनस्य च रागस्य अनुरागस्य परिवृद्धिकरः संवर्धकः प्रमोदः विनोदः । विविधासु परिस्थितिषु वीणावादनं मनोविनोदस्योत्कृष्टं साधनमिति भावः । रूपकेणानुप्राणितः उल्लेखालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥३॥

भावः विद्वान् । भावश्चासौ रेभिलश्च भावरेभिलः तेन ।

(वीणा) उत्कण्ठित (मनुष्य) की मनचाही (हृदय के अनुकूल) सखी है। संकेत (वायदा) करने वाले प्रेमी के देर कर देने पर एक उत्कृष्ट मनोरंजन है। विरह-पीड़ितों को अत्यन्त प्रिय समाश्वासन देने वाली है। यह मनोरंजन (वीणावादन) प्रेमी के अनुराग को बढ़ाने वाला है ॥३॥

विदूषक—श्रीमान् जी, आइये घर को चलें।

चारुदत्त—अहो ! रेभिल महोदय (भाव) ने अच्छा गाया।

विदूषक—मुझे तो दोनों से ही हँसी उत्पन्न होती है। संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री से, मधुर एवं सूक्ष्म ध्वनि में गाते हुए पुरुष से। स्त्री तो संस्कृत पढ़ती हुई, नवीन रज्जु डाली हुई एक बार प्रसूता गाय (गृष्टि) की भाँति अधिक 'सू, सू' शब्द करती है। शुष्क पुष्पमाला से वेष्टित (पहने हुए) मन्त्र जपते हुए वृद्ध पुरोहित की भाँति, मनुष्य भी मधुर एवं सूक्ष्म ध्वनि में गाता हुआ मुझे बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता।

चारुदत्त— मित्र, रेभिल महोदय ने आज वास्तव में बहुत अच्छा गाया और आप सन्तुष्ट नहीं हुए।

(भाव रेभिल का वह गीत)—रागपूर्ण, मधुर, (स्वर) तथा लय आदि की समता वाला, स्पष्ट, भावपूर्ण, ललित एवं मनोहर (था)। या मेरे कहे बहुत से प्रशंसा के वचनों से क्या ? ऐसा लगता था कि (रेभिल के रूपमें) स्त्री छिपी हुई हो ॥४॥

काकलीं सूक्ष्ममधुरध्वनिं ["काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ" इत्यमरः]। दत्ता नवा नस्या नासिकाविवररज्जुः यस्यै सा गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौ सा इव। शुष्काणां सुमनसां पुष्पाणां दाम्ना मालया वेष्टितः वृद्धपुरोहित इव। शुष्केत्यादि विशेषणेन चिरकालजपप्रवणता व्यज्यते। यथा स वृद्धपुरोहितः चिराय मन्त्रं जपन् न रोचते तथैव काकलीं गायन् पुरुषोऽपि।

विदूषकस्य वचनं निशम्य चारुदत्तः भूयः रेभिलस्य गीतस्य प्रशंसां करोति—रक्तमिति। तस्य गीतं हि च नाम रक्तं रागयुक्तं च मधुरं श्रुतिसुखं च समं स्वराणां सामञ्जस्ययुक्तं स्फुटं च स्पष्टं सुश्राव्यमिति यावत् भावान्वितं च भावपूर्णं ललितं च लालित्याख्यधर्मविशेषशालि (पृथ्वी०) मनोहरं च हृदयाकर्षकं च आसीत्। वा अथवा बहुभिः मदुक्तैः मया कथितैः प्रशस्तवचनैः प्रशंसावचनैः किं को लाभः ? यदि वनिता सुन्दरी अन्तर्हिता रेभिलरूपेण प्रच्छन्ना भवेत्, इति मन्ये संभावयामि। अन्तर्हिता योषिदेव गायति न रेभिलः इति प्रतीयते। अनेन गीतस्य माधुर्यातिरेको व्यज्यते—उत्प्रेक्षालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥४॥

अपि च !

तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम् ।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव ॥५॥

विदूषकः--भो वअस्स, आवणन्तररच्छाविभाएसु सुहं कुक्कुरा वि सुत्ता। ता गेहं गच्छेम्ह। (अग्रतोऽवलोक्य) वअस्स, पेक्ख पेक्ख। एसो वि अन्धआरस्स विअ अवआसं देन्तो अन्तरिक्खपासादादो ओदरदि भअवं चन्दो। [भो वयस्य, आपणान्तररथ्याविभागेषु सुखं कुक्कुरा अपि सुप्ताः। तद्गृहं गच्छावः। वयस्य, पश्य पश्य। एषोऽप्यन्धकारस्येवावकाशं ददन्तरिक्षप्रासादादवतरति भगवांश्चन्द्रः।]

चारुदत्तः--सम्यगाह भवान्।

असौ हि दत्वा तिमिरावकाशमस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दुः।
जलावगाढस्य वनद्विपस्य तीक्ष्णं विषाणाग्रमिवावशिष्टम् ॥६॥

विदूषकः--भो, एदं अह्माणं गेहम्। वड्ढमाणअ, वड्ढमाणअ उग्घाटेहि दुआरअम्। [भोः, इदमस्माकं गेहम्। वर्धमानक, वर्धमानक, उद्घाटय द्वारम्।]

चेटः--अज्जमित्तेअस्स शलशंजोए शुणीअदि। आगदे अज्ज, चालुदत्ते। ता जाव दुआलअं शे उग्घाटेमि। (तथा कृत्वा) अज्ज वन्दामि। मित्तेअ, तुमंपि वन्दामि एत्थ वित्थिण्णे आशणे णिशीदन्तु अज्जा। [आर्यमैत्रेयस्य स्वरसंयोगः श्रूयते। आगत आर्यचारुदत्तः। तद्यावद्द्वारमस्योद्घाटयामि। आर्य, वन्दे। मैत्रेय, त्वामपि वन्दे। अत्र विस्तीर्ण आसने निषीदतमार्यौ।]

(उभौ नाट्येन प्रविश्योपविशतः)

विदूषकः--वड्ढमाणअ, रअणिअं सद्दावेहि पादाइं धोइदुम्। [वर्धमानक, रदनिकामाकारय। पादौ धावितुम्।]

तमिति। सत्यं यत् गीतसमये विरते अपि वर्णानां मूर्च्छनान्तरगतम् अपि तारं विरामे मृदुं पुनश्च हेलासंयमितं रागद्विरुच्चारितं तस्य (रेभिलस्य) मधुरगिरः तं स्वरसंक्रमं श्लिष्टं तन्त्रीस्वनं च शृण्वन् इव अहं गच्छामि-इत्यन्वयः।

इदं सत्यं यत् गीतसमये गीतकाले विरते व्यतीते अपि तस्य रेभिलस्य मधुरगिरः मधुरवाण्याः तं तदानीं श्रुतं स्वरसंक्रमं स्वराणां निषादादीनां सप्तानां संक्रमं समीचीनं क्रमं सञ्चारं च श्लिष्टं गीताक्षरैरभिन्नतया श्रूयमाणं तन्त्र्याः वीणायाः स्वनं ध्वनिं

और भी--

सत्य है, कि गीत (गाने) का समय बीत जाने पर भी वर्णों की मूर्च्छना (स्वरों का क्रम से आरोह तथा अवरोह) के अन्तर्गत (आरोह के समय) अत्युच्च, विराम के समय कोमल और फिर लीलापूर्वक (हेलया) नियन्त्रित, सुन्दर, एवं रागों में दो बार उच्चारण की हुई उस (रेभिल) की कोमल वाणी की उस स्वरयोजना को एवं (उससे) मिली हुई वीणा की ध्वनि को, मैं सुनता-सा जा रहा हूँ ॥५॥

विदूषक--हे मित्र, बाजार की मध्यवर्तिनी गलियों की शाखाओं में कुत्ते भी सुख से सो गये हैं। तो घर चलें। (सामने देखकर) मित्र, देखो देखो। यह भी अंधेरे को अवकाश-सा देते हुए भगवान् चन्द्रमा आकाशरूपी महल से उतर रहे हैं।

चारुदत्त-- आपने ठीक कहा।

अन्धकार को अवकाश प्रदान करके उन्नत अग्रभाग वाला यह चन्द्रमा इसी प्रकार अस्त होने जा रहा है जिस प्रकार जल में डूबे हुए वन्य हाथी के दाँत का तीक्ष्ण अग्रभाग (पानी में डूबने से) शेष रह गया हो ॥६॥

विदूषक--श्रीमान् जी यह हमारा घर है। वर्धमानक, वर्धमानक, दरवाजा खोलो।

चेट--आर्य मैत्रेय का स्वरसंयोग सुनाई दे रहा है। आर्य चारुदत्त आ गये। तो अब दरवाजा खोलता हूँ। (वैसा करके) आर्य प्रणाम करता हूँ। मैत्रेय, तुम्हें भी वन्दना करता हूँ। यहाँ बिछे हुए आसन पर आप दोनों बैठें।

(दोनों अभिनय के द्वारा प्रवेश करके बैठ जाते हैं।)

विदूषक--वर्धमानक, पैर धोने के लिए रदनिका को बुलाओ।

च इदानीमपि शृण्वन् इव अहं (चारुदत्तः) गच्छामि। स्वरसंक्रममेव विशिनष्टि, कीदृशं स्वरसंक्रमम्? वर्णानां गीताक्षराणां मूर्च्छना स्वराणां क्रमेण आरोहावरोहौ तस्याः अन्तरगतं मध्ये स्थितमपि तारम् उच्चं विरामे वर्णानां विश्रामे च मृदु कोमलम्। पुनश्च हेलया लीलया संयमितं नियन्त्रितं रागेषु संगीतविद्यायाः रागविशेषेषु द्विः वारद्वयम् उच्चारितम्। उत्प्रेक्षालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५॥

आपणस्य हट्टस्य अन्तरे मध्ये ये रथ्यानां विभागाः तेषु। अन्तरिक्षमेव प्रासादः तस्मात्।

चारुदत्तोऽस्तं गच्छन्तं चन्द्रमसं वर्णयति--असाविति। जले अवगाढस्य निमग्नस्य वनद्विपस्य वनगजस्य अवशिष्टं जलावगाहनात् शिष्टं तीक्ष्णं विषाणाग्रम् इव दन्तस्य अग्रभाग इव दृश्यमानः हि खलु उन्नता कोटिः अग्रभागो यस्य तथाभूतः असौ इन्दुः चन्द्रः तिमिरस्य अन्धकारस्य अवकाशं प्रसरणावसरं दत्वा अस्तं व्रजति गच्छति। उपमालङ्कारः उपजातिः वृत्तम् ॥६॥

चारुदत्तः—(सानुकम्पम्) अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम् ।

चेटः—अज्जमित्तेअ, अहं पाणिअं गेण्हे । तुमं पादाइं धोवेहि । [आर्यमैत्रेय, अहं पानीयं गृह्णामि । त्वं पादौ धाव ।]

विदूषकः—(सक्रोधम्) भो वअस्स, एसो दाणिं दासीए पुत्तो भविअ पाणिअं गेण्हेदि । मं उण बम्हणं पादाइं धोवावेदि । [भो वयस्य, एष इदानीं दास्याः पुत्रो भूत्वा पानीयं गृह्णाति । मां पुनर्ब्राह्मणं पादौ धावयति ।]

चारुदत्तः—वयस्य मैत्रेय, त्वमुदकं गृहाण । वर्धमानकः पादौ प्रक्षालयतु ।

चेटः—अज्जमित्तेअ, देहि उदअम् । [आर्यमैत्रेय, देह्युदकम् ।]

(विदूषकस्तथा करोति । चेटश्चारुदत्तस्य पादौ प्रक्षाल्यापसरति)

चारुदत्तः—दीयतां ब्राह्मणस्य पादोदकम् ।

विदूषकः—किं मम पादोदएहिं । भूमीए ज्जेव मए ताडिदगद्दहेण विअ पुणोवि लोट्ठिदव्वम् । [किं मम पादोदकैः । भूम्यामेव मया ताडितगर्दभेनेव पुनरपि लोठितव्यम् ।]

चेटः—अज्जमित्तेअ, बम्हणे क्खु तुमम् । [आर्यमैत्रेय, ब्राह्मणः खलु त्वम् ।]

विदूषकः—जधा सव्वणागाणं मज्झे डुण्डुओ तधा सव्वबम्हणाणं मज्झे अहं बम्हणो । [यथा सर्वनागानां मध्ये डुण्डुभः, तथा सर्वब्राह्मणानां मध्येऽहं ब्राह्मणः ।]

चेटः—अज्जमित्तेअ, तधा वि धोइश्शम् । (तथा कृत्वा) अज्जमित्तेअ, एवं तं शुवण्णभण्डअं मम दिवा, तुह लत्तिं च । ता गेण्ह । (इति दत्त्वा निष्क्रान्तः) [आर्यमैत्रेय, तथापि धाविष्यामि । आर्यमैत्रेय, एतत्तत्सुवर्णभाण्डं मम दिवा, तव रात्रौ च । तद्गृहाण ।]

विदूषकः—(गृहीत्वा) अज्ज वि एदं चिट्ठदि । किं एत्थ उज्जइणीए चोरो वि णत्थि, जो एदं दासीए पुत्तं णिद्दाचोरं ण अवहरदि । भो वअस्स अब्भन्तरचदुस्सालअं पवेसआमि एणम् । [अद्याप्येतत्तिष्ठति । किमत्रोज्जयिन्यां चौरोऽपि नास्ति य एतं दास्याः पुत्रं निद्राचौरं नापहरति । भो वयस्य, अभ्यन्तरचतुःशालकं प्रवेशयाम्येनम् ।]

चारुदत्तः—

अलं चतुःशालमिमं प्रवेश्य प्रकाशनारीधृत एष यस्मात् ।
तस्मात्स्वयं धारय विप्र तावद्यावन्न तस्याः खलु भोः समर्प्यते ॥७॥

(निद्रां नाटयन् तं तस्य स्वरसंक्रमम्—' (३।५) इति पुनः पठति)

चारुदत्त—(दया सहित) सोये हुए जन (रदनिका) को जगाने को रहने दो।

चेट—आर्य मैत्रेय, मैं पानी लेता हूँ। तुम पैरों को धोओ।

विदूषक—(क्रोधपूर्वक) यह (चेट) दासी का पुत्र होकर अब पानी ग्रहण करता है और मुझ ब्राह्मण से पैर धुलवाता है।

चारुदत्त—मित्र मैत्रेय, तुम पानी लो। वर्धमानक पैरों को धोवे।

चेट—आर्य मैत्रेय, पानी दो।

(विदूषक वैसा करता है। चेट चारुदत्त के पैरों को धोकर हट जाता है)

चारुदत्त—ब्राह्मण के लिए पादोदक दीजिए।

विदूषक—पादोदक से मेरा क्या? पीटे हुए गधे की भाँति मुझे तो फिर धरती पर ही लेटना होगा।

चेट—आर्य मैत्रेय तुम ब्राह्मण हो।

विदूषक—जिस प्रकार सब साँपों के बीच में (विषरहित) जल सर्प (डुण्डुभ) है, उसी प्रकार सब ब्राह्मणों के बीच में मैं (तेजहीन) ब्राह्मण हूँ।

चेट—फिर भी धुलाऊँगा (वैसा करके) आर्य मैत्रेय, यह स्वर्ण-पात्र दिन में मेरा और रात में तुम्हारा (है)। तो लो (देकर निकल जाता है)।

विदूषक—(लेकर) यह आज भी स्थित है। क्या यहाँ उज्जयिनी में चौर भी नहीं है जो इस दासी के पुत्र नींद के चौर (सुवर्णपात्र) को नहीं चुरा लेता है। मित्र! इसको भीतरी चतुःशाला में प्रवेश कराता (रखता) हूँ।

चारुदत्त—इस (सुवर्णपात्र) को चतुःशाला में पहुँचाने को रहने दो, क्योंकि यह वेश्या के द्वारा रक्खा गया है। इसलिये हे ब्राह्मण, इसको तब तक स्वयं रक्खो, जब तक उसका वह (पात्र) लौटा नहीं दिया जाता ॥७॥

(निद्रा का अभिनय करता हुआ, 'उसकी उस स्वरयोजना को—(३।५) यह फिर पढ़ता है)

डुण्डुभः जलसर्पः। यथा सर्पेषु जलसर्पः विषहीनो भवति तथैव अहमपि ब्रह्मणेषु ब्रह्मतेजोहीनोऽस्मि—इति भावः।

अलमिति—। इमं वसन्तसेनायाः सुवर्णभाण्डं चतुःशालं प्रवेश्य अलं प्रविष्टं न कुरुत यस्मात् यतः एषः प्रकाशनार्या वेश्यया धृतः न्यासीकृतः [धृतः परिहितः, अतः कुटुम्बिन्यलङ्कारसन्निवेशनस्थाने स्थापयितुमयोग्य इत्यर्थः—इति काले] तस्मात् कारणात् भोः विप्र, तावत् कालं स्वयं धारय रक्ष यावत् खलु तस्याः वसन्तसेनायाः (अयं भाण्डः) न समर्प्यते न दीयते। उपजातिः वृत्तम् ॥७॥

विदूषकः—अवि णिद्दाअदि भवम् । [अपि निद्राति भवान् ।]

चारुदत्तः—अथ किम् ।

इयं हि निद्रा नयनावलम्बिनी ललाटदेशादुपसर्पतीव माम् ।
अदृश्यरूपा चपला जरेव या मनुष्यसत्त्वं परिभूय वर्धते ॥८॥

विदूषकः—ता सुवेह्म । [तत्स्वपिवः ।] (नाट्येन स्वपिति)

(ततः प्रविशति शर्विलकः)

शर्विलकः—

कृत्वा शरीरपरिणाहसुखप्रवेशं
शिक्षाबलेन च बलेन च कर्ममार्गम् ।
गच्छामि भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वो
निर्मुच्यमान इव जीर्णतनुर्भुजङ्गः ॥९॥

(नभोऽवलोक्य सहर्षम्) अये, कथमस्तमुपगच्छति स भगवान् मृगाङ्कः ।
तथा हि—

नृपतिपुरुषशङ्कितप्रचारं परगृहदूषणनिश्चितैकवीरम् ।
घनपटलतमोनिरुद्धतारा रजनिरियं जननीव संवृणोति ॥१०॥

विदूषकप्रश्नस्योत्तरं ददानश्चारुदत्तः निद्रायाः आगमनं वर्णयति-इयमिति। ललाटदेशात् हि नयनावलम्बिनी इव इयं निद्रा माम् उपसर्पति या अदृश्यरूपा चपला जरा इव मनुष्यसत्त्वं परिभूय वर्धते । इत्यन्वयः (टि०) । यतः (=हि) ललाटदेशात् मस्तकप्रदेशात् नयने अवलम्बते इति नयनावलम्बिनी नेत्राश्रयिणी इव इयम् अनुभूयमाना निद्रा माम् उपसर्पति मम समीपम् आगच्छति इव । या निद्रा अदृश्यं रूपं यस्याःतथाभूता अप्रत्यक्षा चपला चञ्चला जरा वृद्धावस्था इव मनुष्याणां सत्त्वं बलं परिभूय तिरस्कृत्य वर्द्धते परिसरति । उत्प्रेक्षा उपमा च । वंशस्थं वृत्तम् ॥८॥

नाट्येन स्वपिति स्वापस्य अभिनयं करोति ।

चौर्यकर्मणि तत्परः शर्विलकः स्वकीयं कर्म वर्णयति-कृत्वेति । शिक्षा-बलेन चौर्यकलायाः शिक्षासामर्थ्येन बलेन शरीरशक्त्या च शरीरस्य परिणाहः विशालता तस्य सुखेन प्रवेशो यत्र तथाभूतं कर्ममार्गं सन्धिच्छेदं (टि०) कृत्वा निर्मुच्यमानः कञ्चुकेन हीयमानः जीर्णा तनुः यस्य सः भुजङ्गः सर्पः इव भूमौ परिसर्पणेन घृष्टौ घर्षणयुक्तौ पार्श्वौ यस्य तथाभूतः सन् गच्छामि । उपमा । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥९॥

विदूषक—अरे आप तो सो (निंदिया) रहे हैं ?

चारुदत्त—और क्या ? क्योंकि मस्तक प्रदेश से नेत्रों में उतरती-सी यह निद्रा मेरी ओर आ रही है। जो अदृश्य रूप वाली चञ्चल वृद्धावस्था के समान मनुष्य के बल को अभिभूत करके बढ़ती है ॥८॥

विदूषक—तो सोते हैं। (अभिनय के द्वारा सो जाता है)

(तत्पश्चात् शर्विलक प्रवेश करता है)

शर्विलक—शिक्षा के बल एवं शक्ति के द्वारा देह की विशालता के सुख से प्रवेश करने योग्य सेंध (कर्ममार्ग) करके भूमि एर रेंगने से घर्षित (छिले हुए) पार्श्व-भाग वाला मैं (शर्विलक) केंचुली को छोड़ते हुए जर्जर देह वाले सर्प के सयान (सेंध में) जाता हूँ ॥९॥

(आकाश की ओर देखकर हर्षपूर्वक) अरे ! क्या वह भगवान् चन्द्रमा अस्त होने जा रहे है। क्योंकि—

राजपुरुषों के द्वारा जिसके गमनागमन में भी शङ्का की जाती है, तथा जो दूसरों के घरों को दूषित करने में निश्चित (माना हुआ) एकमात्र वीर है, ऐसे मुझ को घने अन्धकार समूह के कारण आच्छन्न हो गये हैं तारे जिसमें [माता के पक्ष में पटल नामक रोगविशेष रूपी अन्धकार से व्याप्त हैं पुतली जिसकी] ऐसी यह रात्रि माता के तुल्य ढक रही है ॥१०॥

अस्तं गच्छन्तं चन्द्रमसं दृष्ट्वा शर्विलकः स्वमनसि करोति—नृपतीति। घनं निविडं पटलं समूहो यस्य तथाभूतेन तमसा निरुद्धाः आच्छन्ना ताराः यत्र सा इयं रजनिः रात्रिः [‘घनतिमिरनिरुद्धसर्वभावा’ इति वा पाठः घनतिमिरेण निरुद्धाः सर्वे भावाः यत्र इत्यर्थः] नृपतिपुरुषेभ्यः राजपुरुषेभ्यः शङ्कितः शङ्काविषयीकृतः प्रचारः सञ्चरणं यस्य तादृशं परगृहाणां दूषणे निश्चितः एकवीरः प्रधानवीरः तं मां शर्विलकं घनं यत् पटलं रोगविशेषः तस्य तमसा निरुद्धाः ताराः कनीनिकाः यस्याः [पाठान्तरे तु घनतिमिरं प्रेमान्धता तेन निरुद्धाः सर्वे भावाः यस्याः सा केवलं वात्सल्यप्रेरितेत्यर्थः, काले] तादृशी जननी इव संवृणोति गोपायति। यथा वात्सल्यवत्परा माता राजपुरुषाणां शङ्कास्पदं परगृहाणां दूषकमपि च स्वपुत्रं गोपायति तथेयं रात्रिरपि मां गोपायति-इति भावः। उपमालङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥१०॥

वृक्षवाटिकापरिसरे सन्धिं कृत्वा प्रविष्टोऽस्मि मध्यमकम् । तद्यावदिदानीं चतुःशालकमपि दूषयामि । भोः,

कामं नीचमिदं वदन्तु पुरुषाः स्वप्ने च यद्वर्धते
विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत् ।
स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलि-
र्मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥११॥

तत्कस्मिन्नुद्देशे सन्धिमुत्पादयामि ।

देशः को नु जलावसेकशिथिलो यस्मिन्न शब्दो भवे-
द्भित्तीनां च न दर्शनान्तरगतः सन्धिः करालो भवेत् ।
क्षारक्षीणतया च लोष्टककृशं जीर्णं क्व हर्म्यं भवे-
त्कस्मिन्स्त्रीजनदर्शनं च न भवेत्स्यादर्थसिद्धिश्च मे ॥१२॥

वृक्षवाटिकायाः परिसरे समीपवर्ति देशे ।

शर्विलकः चौर्यकर्मविषये तर्कयति—कामभिति । यत् स्वप्ने निद्रायां न तु जाग्रदवस्थायां वर्धते प्रसरति, विश्वस्तेषु विश्वासम् आपन्नेषु शङ्कारहितेषु वा जनेषु वञ्चनया द्रव्यादिहरणेन परिभवः तिरस्कारः भवति तत् तथाभूतं चौर्यं चौरकर्म न शौर्यं न शूराणां कर्म न पराक्रमः इति यावत् । तस्मात् कामं पुरुषाः इदं चौरकर्म नीचं वदन्तु कथयन्तु तथापि वचनीयता अपि निन्दनीयता अपि निन्दायाः निमित्तं कर्मापीति भावः यदि स्वाधीना स्वायत्ता तदा हि निश्चयेन वरं श्रेष्ठं न सेवाञ्जलिः सेवायाः अञ्जलिः बद्धः तथा । सेवा हि श्ववृत्तिः तदपेक्षया स्वाधीनं चौर्यादिकमपि निन्दितं कर्म श्रेष्ठमिति भावः । यतः (= हि) एष मार्गः विश्वस्तानां वञ्चनारूपः पूर्वं पुरा एव नरेन्द्रस्य युधिष्ठिरस्य पुत्राणां सौप्तिकवधे सुप्तावस्थायां वधे कृतः निर्मितः । 'सौप्तिकम्' इति भावक्तान्ताद् अध्यात्मादित्वाट्ठञ् (पृथ्वी०) काव्यलिङ्गम् अर्थान्तरन्यासश्च । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥११॥

वृक्ष-वाटिका के समीप सेंध करके चारदीवारी के अन्दर घुस गया हूँ। तो अब तनिक चतुःशाला को भी (सन्धि करके) दूषित करता हूँ।

जो लोगों के सो जाने पर वृद्धि पाता है, विश्वस्त जनों का द्रव्यहरण (वञ्चना) रूपी पराभव करने वाला है वह चौर्यकर्म शूरों का कार्य नहीं है। इसीलिये मनुष्य इसे भले ही नीच कार्य कहें, तथापि निन्दनीय कार्य भी जो स्वाधीन है, वह श्रेष्ठ है, सेवा मे हाथ जोड़ना अच्छा नहीं और यह (चोरी का) मार्ग तो पहले ही राजा (पाण्डव) के सोते हुए (योधाओं या पुत्रों) के वध में द्रोणाचार्य के पुत्र (अश्वत्थामा) ने बना दिखा) दिया था ॥११॥

तो किस स्थान पर सेंध बनाऊँ।

जल के सिञ्चन से शिथिल हुआ दीवारों का कौनसा ऐसा स्थान है जिसमें (सेंध लगाने से) शब्द न हो, सेंध विशाल (=कराल) हो जाये किन्तु दृष्टिगोचर न हो [अथवा यह सेंध चौर्य शास्त्र में विहित नियमों से विपरीत (कराल) न हो जाय] ? और, कहाँ घर (=हर्म्य) क्षार (खार-अथवा रेह) से क्षीण हो जाने के कारण दुर्बल ढेलों से युक्त एवं जीर्ण है ? किस स्थान पर स्त्रीजन का दर्शन न होगा तथा मेरे प्रयोजन (चोरी) में सफलता हो जायेगी ? ॥१२॥

शर्विलकः सन्धिकरणयोग्यं स्थानं विचारयति—देश इति। कः नु भित्तीनां देशः जलावसेकशिथिलः भवेत् यस्मिन् शब्दः न भवेत्, सन्धिः च करालः भवेत् न च दर्शनान्तरगतः, क्व च हर्म्यं क्षारक्षीणतया लोष्टककृशं जीर्णं च भवेत्, कस्मिन् स्त्रीजनदर्शनं च न भवेत्, मे अर्थसिद्धिः च स्यात्। इत्यन्वयः।

कः नु भित्तीनां देशः भागः जलस्य अवसेकेन पतनेन शिथिलः भवेत्, यस्मिन् खननजन्यः शब्दः न स्यात्, सन्धिः च करालः विशालो भीषणो वा भवेत् न च दर्शनान्तरगतः दृष्टिविषयं प्राप्तः भवेत्। यत्र रक्षकपुरुषा न द्रष्टुं प्रभवेयुरिति भावः। दर्शनान्तरं कनकशक्त्यादिमतविशेषस् तदनुगतः तद्बोधितः। करालो विपरीतः इति पृथ्वीधरः। क्व च हर्म्यं गृहं गृहभित्तिर्वा क्षारेण क्षीणतया दुर्बलतया लोष्टककृशं कृशानि लोष्टकानि यत्र (आहिताग्न्यादित्वात् कृशशब्दस्य परनिपातः) तथाभूतमत एव जीर्णं च भवेत्। कस्मिन् प्रदेशे स्त्रीजनस्य दर्शनं न भवेत् तस्य चौर्यशास्त्रे निषिद्धत्वात्। मे मम शर्विलकस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य सिद्धिः च स्यात्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१२॥

(भित्तिं परामृश्य) नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन दूषितेयं भूमिः क्षारक्षीणा। मूषिकोत्करश्चेह। हन्त! सिद्धोऽयमर्थः। प्रथममेतत्स्कन्दपुत्राणां सिद्धिलक्षणम्। अत्र कर्मप्रारम्भे कीदृशमिदानीं सन्धिमुत्पादयामि। इह खलु भगवता कनकशक्तिना चतुर्विधः सन्ध्युपायो दर्शितः। तद्यथा पक्वेष्टकानामाकर्षणम्, आमेष्टकानां छेदनम्, पिण्डमयानां सेचनम्, काष्ठमयानां पाटनमिति। तदत्र पक्वेष्टके इष्टिकाकर्षणम्। तत्र,

पद्मव्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं
वापीविस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकुम्भम्।
तत्कस्मिन्देशे दर्शयाम्यात्मशिल्पं
दृष्ट्वा श्वो यं यद्विस्मयं यान्ति पौराः ॥१३॥

तदत्र पक्वेष्टके पूर्णकुम्भ एव शोभते। तमुत्पादयामि।

अन्यासु भित्तिषु मया निशि पाटितासु
क्षारक्षतासु विषमासु च कल्पनासु।
दृष्ट्वा प्रभातसमये प्रतिवेशिवर्गो
दोषांश्च मे वदति कर्मणि कौशलं च ॥१४॥

आदित्यदर्शनस्य सूर्यदर्शनसम्बन्धिनः उदकस्य सेचनेन। मूषिकाणाम् उत्करः उद्धृतधूलिपुञ्जः। हन्त इति हर्षसूचकमव्ययम्। स्कन्दपुत्राणां स्कन्दशिष्याणां चौराणाम् एतत् प्रथमं प्रधानं सिद्धिलक्षणं सफलतायाः चिह्नम्। कनकस्य शक्तिः आयुधविशेषः यस्य तेन कनकशक्तिनामकेन चौर्यशास्त्रकारेण।

आमानाम् अपक्वानाम् इष्टकानाम्। पिण्डमयानां मृत्तिकालोष्टकनिर्मितानाम्। चौर्यशास्त्रे प्रोक्तानां सप्तविधानां सन्धीनां मध्येऽत्र कीदृशः विधातव्यः इति तर्कयति पद्मेति। तत्र चौर्यशास्त्रे सप्त सन्धयः प्रोक्ताः। पद्मव्याकोशादयः तेषां नामानि तथाहि—१. पद्मवत् व्याकोशं विकसितम्, २. भास्करवत् गोलाकारं विशालं वा ३. बालचन्द्रः इव वक्राकारं, ४. वापी सदृशं, ५. विस्तीर्णं विस्तृतं, ६. स्वस्तिकं स्वस्तिकचिह्नसदृशं, ७. पूर्णकुम्भम् अधः स्थूलम् ऊर्ध्वं च कृशम्। तत् ततः कस्मिन् देशे सन्धौ आत्मशिल्पम् आत्मकौशलं दर्शयामि दर्शयेयम् यत् यस्मात् यं सन्धि

(दीवार को छूकर) नित्य सूर्य दर्शन के समय जल देने (सिंचन करने) से यह भूमि दूषित है और रेह से जर्जर है। यहाँ चूहों द्वारा किया हुआ (मिट्टी आदि का) ढेर (मूषिकोत्करः) भी है। हर्ष है ! यह प्रयोजन (चोरी) सफल हो गया। स्कन्द के पुत्रों (शिष्य—अर्थात् चोरों) की सफलता का यह प्रथम चिह्न है।

यहाँ कार्य प्रारम्भ करने पर कैसी सेंध बनाऊँ ? वस्तुतः इस सम्वन्ध में भगवान् कनकशक्ति (चौर्यशास्त्र के एक आचार्य) ने चार प्रकार का सेंध लगाने का उपाय प्रदर्शित किया है, जैसे कि—पक्की ईंटों (वाले भवनों में ईंटों) का खींचना, कच्ची ईंटों (के घरों में ईंटों) का छेदना, मिट्टी के ढेलों (गोंदों) (से निर्मित घरों में भित्ति) का सिञ्चन करना, काष्ठ (निर्मित घरों में काष्ठ को) उखाड़ना। तो यहाँ पक्की ईंटों (वाले भवन) में ईंटों का खींचना (उचित है)।

वहाँ—

खिला हुआ कमल, सूर्य (गोल), बाल चन्द्रमा (अर्धचन्द्राकार), बावड़ी जैसी), विस्तृत, स्वस्तिक के चिह्न जैसा, पूर्ण कुम्भ—(सेंध लगाने के इन सात प्रकारों में से किसका प्रयोग करके) किस स्थान पर अपना कौशल दिखलाऊँ जिसे देखकर कल को नागरिक लोग आश्चर्य को प्राप्त हो जायें ॥१३॥

तो यहाँ पक्की ईंटों (वाले घर) में पूर्ण कुम्भ (नामक सेंध) ही अच्छी लगती है। वही वनाता हूँ।

पड़ोसियों का समुदाय प्रातःकाल देखकर मेरे द्वारा रात्रि के समय फोड़ी गई खार (रेह) से जर्जरित हुई अन्य भित्तियों में तथा (मेरी) विषम (दुष्कर) कल्पनाओं में मेरे दोषों को एवं कार्य-कौशल को कहता है ॥१४॥

दृष्ट्वा श्वः पौराः पुरे भवाः नागरिकाः विस्मयम् आश्चर्यं यान्ति प्राप्नुवन्ति। वैश्वदेवी वृत्तम् ॥१३॥

अन्यास्विति। प्रतिवेशिवर्गः प्रभातसमये दृष्ट्वा मया निशि पाटितासु अन्यासु क्षारक्षतासु भित्तिषु, विषमासु कल्पनासु च मे दोषान्, कर्मणि कौशलं च वदति, इत्यन्वयः।

प्रतिवेशिनां पार्श्ववर्तिनां वर्गः समुदायः प्रातःकाले (मत्कृतं सन्धि) दृष्ट्वा मया शर्विलकेन निशि रात्रौ पाटितासु विदारितासु अन्यासु क्षारेण क्षतासु जीर्णासु भित्तिषु विषमासु अन्यैः दुष्करासु कल्पनासु रचनासु च मे मम दोषान् अपवादान् कर्मणि सन्धिकार्ये कौशलं नैपुण्यं च वदति (टि०)। तुल्ययोगितालङ्कारः। वसन्त-तिलका वृत्तम् ॥१४॥

नमो वरदाय कुमारकार्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय देवव्रताय नमो भास्करनन्दिने, नमो योगाचार्याय यस्याहं प्रथमः शिष्यः। तेन च परितुष्टेन योगरोचना मे दत्ता।

अनया हि समालब्धं न मां द्रक्ष्यन्ति रक्षिणः।
शस्त्रं च पतितं गात्रे रुजं नोत्पादयिष्यति ॥१५॥

(तथा करोति) धिक्कष्टम्। प्रमाणसूत्रं मे विस्मृतम्। (विचिन्त्य) आं, इदं यज्ञोपवीतं प्रमाणसूत्रं भविष्यति। यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम्, विशेषतोऽस्मद्विधस्य। कुतः।

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्ग-
मेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च ॥१६॥

मापयित्वा कर्म समारभे। (तथा कृत्वावलोक्य च) एकलोष्टावशेषोऽयं सन्धिः। धिक्कष्टम्। अहिना दष्टोऽस्मि। (यज्ञोपवीतेनाङ्गुलीं बद्ध्वा विषवेगं नाटयति। चिकित्सां कृत्वा) स्वस्थोऽस्मि। (पुनः कर्म कृत्वा। दृष्ट्वा च) अये, ज्वलति प्रदीपः। तथा हि—

शिखा प्रदीपस्य सुवर्णपिञ्जरा महीतले सन्धिमुखेन निर्गता।
विभाति पर्यन्ततमः समावृता सुवर्णरेखेव कषे निवेशिता ॥१७॥

कार्तिकेयः परमगुरुः। "ब्रह्मण्यदेवादयोऽपरगुरवः इत्याहुः सर्वे" इति पृथ्वीधरः अथवा कनकशक्तये नमः कीदृशाय ब्रह्मणि साधुः ब्रह्मण्यः स चासौ देवश्च तस्मै। पुनः कीदृशाय देवानां व्रतं यस्मिन् तथाभूताय योगरोचना योगेन साधिता रोचना द्रव्यविशेषः।

शर्विलकः योगरोचनायाः प्रभावं वर्णयति—अनयेति। निश्चयेन हि अनया योगरोचनया समालब्धं लिप्तशरीरं मां शर्विलकं रक्षिणः रक्षकपुरुषाः न द्रक्ष्यन्ति। गात्रे मम देहे च पतितं शस्त्रं रुजं पीडां न उत्पादयिष्यति। अनुष्टुप् वृत्तम् ॥१५॥

शर्विलकः आत्मविधानां जनानां कृते यज्ञोपवीतस्योपयोगं वर्णयति- एतेनेति। मादृशः चौरजनः एतेन यज्ञोपवीतेन भित्तिषु कर्मणः चौर्यकर्मणः मार्गं सन्धिरूपं मापयति। एतेन च भूषणानां कटकवलयादीनां संप्रयोगान् श्लिष्टबन्धान् मोचयति शिथिलीकरोति। यन्त्रेण अर्गलादिना दृढे कपाटे उद्घाटकः भवति। कीटैः भुजगैः

वर प्रदान करने वाले कुमार कार्तिकेय के लिये नमस्कार है, कनकशक्ति ब्रह्मण्यदेव एवं देवव्रत के लिये नमस्कार है, भास्करनन्दी के लिये नमस्कार है योगाचार्य के लिये नमस्कार है जिसका मैं प्रथम शिष्य हूँ। सन्तुष्ट हुए उस (योगाचार्य) ने योगरोचना (ऐसी वस्तु जिससे मनुष्य अदृश्य हो सके और शस्त्रादि के प्रहार से चोट न लगे) मेरे लिये दी है।

इस (योगरोचना) से लेपन किये हुए मुझको रक्षक लोग नहीं देख पायेंगे और शरीर पर पड़ा हुआ शस्त्र पीड़ा उत्पन्न नहीं करेगा। (वैसा करता है)।

हाय, खेद! अपना नापने का धागा (प्रमाणसूत्र) भूल आया। (सोचकर) हाँ, यह यज्ञोपवीत नापने का धागा बन जायेगा। यज्ञोपवीत भी ब्राह्मण की बड़ी उपयोगी वस्तु है, विशेषतः हम जैसे की।

क्योंकि—

इससे (व्यक्ति) दीवारों में सेंध नापता है, इससे आभूषणों के जोड़ (सन्धिस्थल) खोल देता है। किवाड़ के यन्त्र (सिटकनी) से बन्द किये होने पर (उसका) खोलने वाला होता है तथा यह कीड़े और सर्पों के द्वारा काटे हुए का (विष निवारण के लिये लगाये जाने वाला बन्द) बन्धन (बांधने की वस्तु) हो जाता है ॥१६॥

नापकर कार्य (सेंध लगाना) आरम्भ करता हूँ। (वैसा करके और देखकर) इस सेंध में एक ईंट बची है। हाय, कष्ट। साँप के द्वारा काट लिया गया हूँ।

(यज्ञोपवीत से अंगुली को बाँधकर विषवेग का अभिनय करता है। चिकित्सा करके)

स्वस्थ हो गया हूँ। (फिर कार्य करके और देखकर) अरे! दीपक जल रहा है। क्योंकि—

स्वर्ण जैसी पीली, सेंध के मार्ग से (बाहर) भूमि पर निकली हुई (तथा) चारों ओर अन्धकार से आवृत दीपक की शिखा ऐसी शोभित हो रही है जैसे कसौटी पर खींची गई स्वर्ण की रेखा ॥१७॥

सर्पैः च दष्टस्य इदं यज्ञोपवीतं परिवेष्टनं बन्धनं च भवति। समुच्चयोऽलङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१६॥

एकः लोष्टः अवशेषो यत्र सः।

स्वस्थः स्वस्मिन् स्वरूपे तिष्ठतीति।

गृहमध्ये प्रज्जवलितस्य प्रदीपस्य बहिरागच्छन्तीं प्रभां वर्णयति शर्विलकः शिखेति। सुवर्णवत् पिञ्जरा पिङ्गलवर्णा, सन्धिमुखेन महीतले बहिः भूम्यां निर्गता निःसृता तथा पर्यन्तेषु परितः तमसा अन्धकारेण समावृता वेष्टिता प्रदीपस्य शिखा प्रभा कथे सुवर्णनिकषे निवेशिता सुवर्णरेखा इव विभाति शोभते। उपमालङ्कारः। वंशस्थं वृत्तम् ॥१७॥

(पुनः कर्म कृत्वा) समाप्तोऽयं सन्धिः । भवतु । प्रविशामि । अथवा न तावत्प्रविशामि । प्रतिपुरुषं निवेशयामि । (तथा कृत्वा) अये, न कश्चित् । नमः कार्तिकेयाय । (प्रविश्य दृष्ट्वा च) अये, पुरुषद्वयं सुप्तम् । भवतु । आत्मरक्षार्थं द्वारमुद्घाटयामि । कथं जीर्णत्वाद् गृहस्य विरौति कपाटम् । तद्यावत्सलिलमन्वेषयामि । क्व नु खलु सलिलं भविष्यति । (इतस्ततो दृष्ट्वा सलिलं गृहीत्वा क्षिपन्सशङ्कम्) मा तावद्भूमौ पतच्छब्दमुत्पादयेत् । भवतु । एवं तावत् । (पृष्ठेन प्रतीक्ष्य कपाटमुद्घाट्य च) भवतु । एवं तावत् । इदानीं परीक्षे किं लक्ष्यसुप्तम्, उत परमार्थसुप्तमिदं द्वयम् । (त्रासयित्वा परीक्ष्य च) अये, परमार्थसुप्तेनानेन भवितव्यम् । तथा हि—

निःश्वासोऽस्य न शङ्कितः सुविशदस्तुल्यान्तरं वर्तते
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला ।
गात्रं स्रस्तशरीरसन्धिशिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं
दीपं चापि न मर्षयेदभिमुखं स्याल्लक्ष्यसुप्तं यदि ॥१८॥

(समन्तादवलोक्य) अये, कथं मृदङ्गः । अयं दर्दुरः । अयं पणवः । इयमपि वीणा । एते वंशाः । अमी पुस्तकाः । कथं नाट्याचार्यस्य गृहमिदम् । अथवा भवनप्रत्ययात्प्रविष्टोऽस्मि । तत्किं परमार्थदरिद्रोऽयम्, उत राजभयाच्चौरभयाद्वा भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति । तन्ममापि नाम शर्विलकस्य भूमिष्ठं द्रव्यम् । भवतु । बीजं प्रक्षिपामि (तथा कृत्वा) निक्षिप्तं बीजं न क्वचित्स्फारीभवति । अये, परमार्थदरिद्रोऽयम् । भवतु गच्छामि ।

विदूषकः—(उत्स्वप्नायते ।) भो वअस्स, संधी विअ दिज्जदि । चोरं विअ पेक्खामि । ता गेण्हदु भवं एदं सुवण्णभण्डअम् । [भो वयस्य, सन्धिरिव दृश्यते । चौरमिव पश्यामि । तद्गृह्णातु भवानिदं सुवर्णभाण्डम् ।]

प्रतिपुरुषं काष्ठादिनिर्मितां मनुष्यस्य प्रतिकृतिम्

लक्ष्यसुप्तं व्याजसुप्तम् । परमार्थेन यथार्थतः सुप्तम् ।

इदं पुरुषद्वयं परमार्थसुप्तमिति निश्चिनोति शर्विलकः—निश्वास इति । अस्य पुरुषद्वयस्य निश्वासः शङ्कितः शङ्कायुक्तः न अपि तु सुविशदः सुस्पष्टः तुल्यं समानम् अन्तरं यथा स्यात् तथा च वर्तते । अस्य दृष्टिः गाढं दृढं निमीलिता वर्तते । न तु व्याजसुप्तस्य इव विकला, अभ्यन्तरे मध्ये चञ्चला च । अस्य गात्रं शरीरं स्रस्ताः शिथिलिताः ये शरीरसन्धयः तैः शिथिलं शय्यायाः प्रमाणात् अधिकम् (अङ्गानां स्वैरं प्रसारणात्) च वर्तते । यदि च लक्ष्येण व्याजेन सुप्तं स्याद् अभिमुखं समक्षं दीपम् अपि न मर्षयेत् सहेत । एभिः लक्षणैः परमार्थसुप्तमिति प्रतीयते । अस्य च समर्थनाय कारणसमुदायस्याभिधानात् समुच्चयालङ्कारः । 'शार्दूलविक्रीडितं' वृत्तम् ॥१८॥

(फिर कार्य करके) यह सेंध समाप्त हो गई है। अच्छा प्रवेश करता हूँ या तब तक प्रवेश नहीं करता हूँ। प्रतिपुरुष (मनुष्य के बनावटी पुतले) को प्रवेश कराता हूँ। (वैसा करके) अरे ! कोई नहीं है। कार्तिकेय के लिये नमस्कार है। (घुस कर और देखकर) अरे ! दो मनुष्य सोये हैं। अच्छा, अपनी रक्षा के लिये द्वार खोलता हूँ। क्यों ? घर के पुराना होने के कारण किवाड़ शब्द करते हैं तो जब तक पानी ढूंढता हूँ। पानी होगा कहाँ ? (इधर उधर देखकर पानी लेकर शङ्कासहित डालता हुआ) पृथ्वी पर गिरता हुआ (यह जल) शब्द उत्पन्न न करे। अच्छा, तो ऐसा (करूँ) (पीछे की ओर देखकर और किवाड़ों को खोलकर) अच्छा। तो ऐसा (करूँ)। अब परीक्षा करूँगा कि यह दोनों छल से सो रहे हैं या वास्तव में सोये हुए हैं। (डरा कर और परीक्षा करके) अरे यह तो वास्तव में सोये हुए होने चाहियें। क्योंकि—

इनकी सांस शङ्कायुक्त नहीं है, स्पष्ट एवं समान अन्तर वाली है, आँख भली प्रकार बन्द हैं, बेचैन (विकल) नहीं है, न भीतर (पुतलियाँ) ही चञ्चल हैं। देह ढीली पड़ी हुई शरीर की सन्धियों के कारण शिथिल है, एवं शय्या के आकार से अधिक है (अर्थात् गाढ़ निद्रा के कारण शरीर के अंग शय्या के नीचे भी लटक रहे हैं)। यदि छल से सोये हुए होते तो सामने दीपक (के प्रकाश) को भी नहीं सहन करते ॥१८॥

(चारों ओर देखकर) अरे ! क्या मृदंग (पखावज, ढोलक जैसा एक बाजा) ? यह दर्दुर (एक बाजा)। यह पणव (वाद्ययन्त्र विशेष)। यह वीणा। ये बांसुरियाँ। ये पुस्तकें हैं। क्या नाट्याचार्य का घर है ? या भवन के विश्वास (घर की बाहरी शोभा) से प्रविष्ट हुआ हूँ, तो क्या यह वास्तव में दरिद्र है या राजा अथवा चोर के डर से धरती में छिपे हुए धन को रखता है (धारण करता है)। तो क्या मुझ शर्विलक के लिये भी भूमि में छिपा हुआ धन (अप्राप्य) है ? अच्छा• बीज फेंकता हूँ। (वैसा करके) फेंका हुआ बीज कहीं नहीं फैल रहा है। अरे यह तो वास्तव में दरिद्र है। अच्छा, जाता हूँ।

विदूषक—(स्वप्न देखता हुआ बोलता है) हे मित्र, सेंध सी दिखाई दे रही है। चोर-सा देख रहा हूँ। अतः आप इस स्वर्णभाण्ड को लें।

भवनस्य प्रत्ययात् समृद्धेः विश्वासात् प्रतीतेः वा। भूमिष्ठं भूमौ स्थितम्। आभमन्त्रितो बीजविशेषो धनसहितभूतले क्षिप्तो बहुलीभवतीति प्रसिद्धिः—इति पृथ्वीधरः।

उत्स्वप्नायते स्वप्ने वदति।

शर्विलकः—किं नु खल्वयमिह मां प्रविष्टं ज्ञात्वा दरिद्रोऽस्मीत्युपहसति। तत्किं व्यापादयामि उत लघुत्वादुत्स्वप्नायते (दृष्ट्वा) अये, जर्जरस्नानशाटीनिबद्धं दीपप्रभयोद्दीपितं सत्यमेवैतदलङ्करणभाण्डम्। भवतु। गृह्णामि। अथवा न युक्तं तुल्यावस्थं कुलपुत्रजनं पीडयितुम्। तद्गच्छामि।

विदूषकः—भो वअस्स, साविदोसि गोबह्मणकामाए, जइ एदं सुवण्णभण्डअं ण गेण्हसि। [भो वयस्य, शापितोऽसि गोब्राह्मणकाम्यया, यद्येतत्सुवर्णभाण्डं न गृह्णासि।]

शर्विलकः—अनतिक्रमणीया भगवती गोकाम्या ब्राह्मणकाम्या च तद्गृह्णामि अथवा ज्वलति प्रदीपः। अस्ति च मया प्रदीपनिर्वापणार्थमाग्नेयः कीटो धार्यते। तं तावत्प्रवेशयामि। तस्यायं देशकालः। एष मुक्तो मया कीटो यात्वेवास्य दीपस्योपरि मण्डलैर्विचित्रैर्विचरितुम्। एष पक्षद्वयानिलेन निर्वापितो भद्रपीठेन। धिक्कृतमन्धकारम्। अथवा मयाप्यस्मद्ब्राह्मणकुले न धिक्कृतमन्धकारम्। अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिग्राहकस्य पुत्रः शर्विलको नाम ब्राह्मणो गणिकामदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि इदानीं करोमि ब्राह्मणस्य प्रणयम्। (इति जिघृक्षति।)

विदूषकः—भो वअस्स, सीदलो दे अग्गहत्थो। [भो वयस्य शीतलस्तेऽग्रहस्तः।]

शर्विलकः—धिक्प्रमादः। सलिलसंपर्काच्छीतलो मेऽग्रहस्तः। भवतु। कक्षयोर्हस्तं प्रक्षिपामि। (नाट्येन सव्यहस्तमुष्णीकृत्य गृह्णाति)

विदूषकः—गहिदम्। [गृहीतम्।]

शर्विलकः—अनतिक्रमणीयोऽयं ब्राह्मणप्रणयः। तद्गृहीतम्।

विदूषकः—दाणिं विक्किणिदपण्णो विअ वाणिओ, अहं सुहं सुविस्सम्। [इदानीं विक्रीतपण्य इव वणिक्, अहं सुखं स्वप्स्यामि।]

शर्विलकः—महाब्राह्मण, स्वपिहि वर्षशतम्। कष्टमेवं मदनिकागणिकार्थे ब्राह्मणकुलं तमसि पातितम्? अथवा आत्मा पातितः।

'गोकाम्या गवेच्छा, ब्राह्मणकाम्या ब्राह्मणेच्छा। ताभ्यां शापितः शपथं प्रापितः। सति संभवे गोब्राह्मणयोरिच्छा पूरणीयैवास्तिकैरिति धर्मदर्शनराद्धान्तः। गोब्राह्मणयोरिच्छायाः प्रतिघाते महत्पातकमिति निर्णयसिन्धुप्रमुखग्रन्थेषु स्पष्टम्। इति ल० दी०' (काले)। गोर्ब्राह्मणसहितायाः भङ्गं, त्वं करोषि यदीदं न गृह्णासीति शपथार्थः—इति पृथ्वीधरः। आग्नेयः अग्नेः अयम् अग्निसम्बन्धी। पक्षद्वयस्य अनिलेन वायुना। भद्रपीठेन एतन्नामकेन कीटेन। चतुर्वेदान् वेत्ति इति चतुर्वेदवित् तस्य। प्रतिगृह्णातीति प्रतिग्राहकः न प्रतिग्राहकः अप्रतिग्राहकः यः परेषां दानादिकं न गृह्णाति। ईदृशो हि ब्राह्मणः उत्कृष्टो गण्यते। उक्तं च मनुना—प्रतिग्रहेण ह्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति।

लघुत्वात् चपलत्वात्, दुर्बलहृदयत्वाद् वा। जर्जरा या स्नानशाटी तया निबद्धम्। तुल्या अवस्था यस्य तं भादृशं निर्धनम् कुलपुत्रजनं पीडयितुं न युक्तम्।

शर्विलक—क्या यह सचमुच मुझे यहाँ घुसा हुआ जानकर 'निर्धन हूँ' यह उपहास कर रहा है। तो क्या मार डालूँ, या चपल (अथवा दुर्बल मन) होने के कारण स्वप्न देखता हुआ बड़बड़ा रहा है। (देखकर) अरे ! स्नान करने की जीर्ण-शीर्ण धोती में बंधा हुआ, दीपक की आभा से देदीप्यमान सचमुच ही यह आभूषण पात्र है। अच्छा। लेता हूँ। अथवा (अपने) समान (निर्धन) अवस्था वाले कुलीन पुत्र को पीड़ा देना उचित नहीं है। तो जाता हूँ।

विदूषक—हे मित्र गौ और ब्राह्मण की अभिलाषा के द्वारा तुम्हें शपथ दिलाता हूँ, यदि (तुम) इस स्वर्ण—पात्र को नहीं लेते हो।

शर्विलक—भगवती गौ की अभिलाषा और ब्राह्मण की अभिलाषा उल्लङ्घन करने योग्य नहीं होती। इसलिए लेता हूँ। परन्तु दीपक जल रहा है। दीपक बुझाने के लिए मैं आग्नेय कीड़ा रखता हूँ। तब तक उसको छोड़ता हूँ। उसका (उसके लिए) यह (उचित) स्थान और समय है। यह मेरे द्वारा छोड़ा गया कीड़ा इस दीपक के ऊपर विचित्र मण्डलों से भ्रमण करने के लिये उड़े (जाये)। भद्रपीठ ने दोनों पंखों की वायु से यह (दीपक) बुझा दिया है, हाय ! अंधेरा कर दिया। अथवा—हाय ! मैंने भी अपने ब्राह्मण कुल में अंधेरा नहीं कर दिया है ? (अर्थात् कर ही दिया है)।

मैं चारों वेदों के ज्ञाता (दान आदि) न लेने वाले का पुत्र शर्विलक नाम का ब्राह्मण वेश्या मदनिका के लिए अनुचित कार्य कर रहा हूँ। अब ब्राह्मण का प्रणय करता हूँ (उसकी प्रार्थना स्वीकार करता हूँ)। (लेना चाहता है)

विदूषक—हे मित्र, तुम्हारे हाथ का अग्रभाग (अंगुलियां) शीतल हैं।

शर्विलक—हाय ! असावधानता। जल के स्पर्श से मेरे हाथ का अग्रभाग शीतल है। अच्छा। हाथ को बगलों (काँख) में रखता हूँ। (अभिनयपूर्वक दाहिने हाथ को गर्म करके (सुवर्णभाण्ड) ले लेता है)

विदूषक—ले लिया ?

शर्विलक—ब्राह्मण का यह अनुरोध उल्लङ्घन करने योग्य नहीं है। इसलिये ले लिया।

विदूषक—अब बेच दी हैं, क्रय्य वस्तु जिसने ऐसे बनिये की भांति सुख से सोऊँगा।

शर्विलक—महाब्राह्मण सौ वर्ष सोते रहो। खेद है कि मदनिका वेश्या के लिये (मैंने) इस प्रकार ब्राह्मण कुल को अन्धकार में डाल दिया और अपने आप को गिरा दिया।

अकार्यं कर्तुमनुचितं चौर्यकर्म। प्रणयम् अभ्यर्थनां प्रार्थनां करोमि स्वीकरोमि।

अग्रश्चासौ हस्तश्च अग्रहस्तः (कर्मधारय) अवयवावयविसम्बन्धे तु हस्तस्य अग्रम् इति हस्ताग्रम्। सव्यं दक्षिणं (हि०)। विक्रीतं पण्यं येन स वणिक्।

धिगस्तु खलु दारिद्र्यमनिर्वेदितपौरुषम् ।
यदेतद्गर्हितं कर्म निन्दामि च करोमि च ॥१९॥

तद्यावन्मदनिकाया निष्क्रयणार्थं वसन्तसेनागृहं गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, पदशब्द इव । मा नाम रक्षिणः । भवतु । स्तम्भीभूत्वा तिष्ठामि । अथवा ममापि नाम शर्विलकस्य रक्षिणः । योऽहं

मार्जारः क्रमणे, मृगः प्रसरणे, श्येनो ग्रहालुञ्चने,
सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने श्वा, सर्पणे पन्नगः ।
माया रूपशरीरवेशरचने, वाग्देशभाषान्तरे,
दीपो रात्रिषु, संकटेषु डुण्डुभो, वाजी स्थले, नौर्जले ॥२०॥

अपि च ।

भुजग इव गतौ, गिरिः स्थिरत्वे, पतगपतेः परिसर्पणे च तुल्यः ।
शश इव भुवनावलोकनेऽहं वृक इव च ग्रहणे बले च सिंहः ॥२१॥

शर्विलकः दारिद्र्यं निन्दति—धिगिति । निर्वेदः स्वावमाननं विषयेभ्यो विरक्तिर्वा [प्रकरणनिश्चयो निर्वेदः इति पृथ्वीधरः] निर्वेदः संजातोऽस्य इति निर्वेदितं न निर्वेदितम् अनिर्वेदितं विरक्तिहीनं पौरुषं पुरुषस्य भावः कर्म वा यस्मिन् तत् दारिद्र्यं खलु धिक् । यत् यस्य कारणाद् एतद् चौर्यरूपं गर्हितं निन्दितं कर्म निन्दामि च विवशतया करोमि च । न तस्माद् विरतो भवामीति भावः । काव्यलिङ्गमलङ्कारः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥१९॥

निष्क्रयणं धनादिना मोचनम् । अस्तम्भः स्तम्भो भूत्वा इति स्तम्भीभूत्वा अभूततद्भावे च्विः ।

शर्विलकः कस्यचित् पदध्वनिं श्रुत्वा पूर्वं शङ्कितो भवति ततश्च स्वसामर्थ्यं चिन्तयति—मार्जार इति । योऽहं शर्विलकः क्रमणे उच्छलने मार्जारः बिडालः प्रसरणे शीघ्रतरगमने मृगः हरिणः । ग्रहेण ग्रहणेन युक्ते आलुञ्चने लक्ष्यस्य छेदने श्येनः । सुप्तासुप्तयोः सुप्तजागरितयोः मनुष्ययोः, अथवा सुप्तश्चासौ असुप्तश्च तस्य सुप्तासुप्तस्य किञ्चित्सुप्तस्य वीर्यतुलने सामर्थ्यज्ञाने श्वा कुक्कुरः, सः हि परेषां बलाबलं परीक्षितुं शक्नोतीति प्रसिद्धिः । सर्पणे भूमितलवक्रगमने (काले) पन्नगः सर्पः । रूपमाकारः शरीरं विविधजीवानां गात्रं वेशः विभिन्नदेशानां वेशभूषा तेषां रचने माया इन्द्रजालविद्या । अन्या देशभाषा देशभाषान्तरं तस्मिन् अन्यदेश-

निर्धनता को धिक्कार है जिसमें (व्यक्ति) का पुरुषार्थ (अनुचित कार्य करने पर भी) निर्वेद अथवा विरक्ति को प्राप्त नहीं होता । जिसके कारण इस निन्दित कार्य (चोरी) की निन्दा कर रहा हूँ और (फिर भी) कर रहा हूँ ॥१६॥

तो जब तक (धन देकर) मदनिका को (दासी कर्म से) मुक्त कराने के लिए वसन्तसेना के घर को जाता हूँ। (घूमकर और देखकर) अरे ! पैरों जैसा शब्द ! रक्षक (पहरेदार) न हों ! अच्छा। खम्भा सा बनकर (निश्चल) खड़ा हो जाता हूँ। अथवा, मुझ शर्विलक के लिए भी रक्षक (भय की वस्तु है) !

जो मैं—

झपटने अथवा उछलने में बिलाव, शीघ्र दौड़ने में हरिण, आक्रमण (ग्रह) के द्वारा (लक्ष्य को) छेद डालने (आलुञ्चन) में बाज, सोये-बिना सोये मनुष्य की शक्ति जाँचने में कुत्ता, रेंगने में सर्प, आकार, (पशु आदि के विभिन्न) शरीर एवं वेश निर्माण में माया, विभिन्न देशों की भाषाओं के ज्ञान में सरस्वती, रात्रियों में दीपक, दुर्गम मार्गों में डुण्डुभ (सर्प विशेष), स्थल पर घोड़ा तथा पानी में नौका के सदृश हूँ ॥२०॥

और भी—

गति में सर्प के सदृश, स्थिरता में पर्वत एवं शीघ्र चलने में पक्षिराज (गरुड़) के तुल्य संसार को देखने में मैं खरहे जैसा, (किसी को) पकड़ने में भेड़िये के समान और शक्ति में सिंह हूँ ॥२१॥

भाषाज्ञाने भाषणे च वाक् सरस्वती। रात्रिषु दीपः दीपवत् प्रकाशकः संकटेषु दुर्गममार्गेषु डुण्डुभः सर्पविशेषः। स्थले वाजी अश्ववत् द्रुतगामी, जले च नौः नौकेव तरणशीलः अस्मि तस्य मम रक्षिणः किं करिष्यन्तीति भावः। मालारूपकमलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२०॥

भुजग इति। अहं च गतौ गतिविशेषे भुजगः सर्प इवास्मि, स्थिरत्वे स्थिरतायां गिरिः पर्वतः, परिसर्पणे द्रुततरगमने च पतगपतेः पक्षिराजस्य गरुडस्य तुल्यः। अहं भुवनस्य संसारस्य (निलयस्थानस्य इति काले) अवलोकने शश इवास्मि, ग्रहणे कस्यचित् ग्रहे वृक इव, बले शक्तौ च सिंहः अस्मि। मालोपमालङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥२१॥

(प्रविश्य)

रदनिका—हद्धी, हद्धी बाहिरदुआरसालाए पसुत्तो वड्ढमाणओ। सोवि एत्थ ण दीसइ। भोदु। अज्जमित्तेअं सद्दावेमि। [हा धिक् हा धिक् बहिर्द्वारशालायां प्रसुप्तो वर्धमानकः। सोऽप्यत्र न दृश्यते। भवतु। आर्यमैत्रेयमाह्वयामि।]

शर्विलकः—(रदनिकां हन्तुमिच्छति। निरूप्य) कथं स्त्री ? भवतु गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः)

रदनिका—(गत्वा सत्रासम्) हद्धी, हद्धी, अम्हाणं गेहे सन्धिं कप्पिअ चोरो णिक्कमदि। भोदु। मित्तेअं गदुअ पबोधेमि। (विदूषकमुपगम्य) अज्जमित्तेअ, उट्ठेहि उट्ठेहि। अम्हाणं गेहे सन्धिं कप्पिअ चोरो णिक्कन्तो। [हा धिक् हा धिक्! अस्माकं गृहे सन्धिं कल्पयित्वा चौरो निष्क्रामति। भवतु। मैत्रेयं गत्वा प्रबोधयामि। आर्यमैत्रेय (उत्तिष्ठोत्तिष्ठ।) अस्माकं गेहे सन्धिं कल्पयित्वा चौरो निष्क्रान्तः।]

विदूषकः—(उत्थाय) आः दासीए धीए, किं भणासि—'चोरं कप्पिअ सन्धी णिक्कन्तो।' [आः दास्याः पुत्रिके, किं भणसि 'चौरं कल्पयित्वा सन्धिनिष्कान्तः।]

रदनिका—हदास, अलं परिहासेण। किं ण पेक्खसि एणम्। [हताश, अलं परिहासेन। किं न प्रेक्षस एनम् ?]

विदूषकः—आः दासीए धीए, किं भणासि—'दुदिअं विअ दुआरअं उग्घाडिदं' त्ति। भो वअस्स चारुदत्त, उट्ठेहि उट्ठेहि। अम्हाणं गेहे सन्धि दइअ चोरो णिक्कन्तो। [आ दास्याः पुत्रिके किं भणसि 'द्वितीयमिव द्वारमुद्घाटितम्' इति। भो वयस्य चारुदत्त, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। अस्माकं गेहे सन्धिं दत्त्वा चौरो निष्क्रान्तः।]

चारुदत्तः—भवतु। भो, अलं परिहासेन।

विदूषकः—भो, ण परिहासो पेक्खदु भवम्। [भो न परिहासः। प्रेक्षतां भवान्।]

चारुदत्तः—कस्मिन्नुद्देशे।

विदूषकः—भो, एसो। [भोः, एषः।]

चारुदत्तः—(विलोक्य) अहो, दर्शनीयोऽयं सन्धिः।

उपरितलनिपातितेष्टकोऽयं
शिरसि तनुर्विपुलश्च मध्यदेशे।
असदृशजनसंप्रयोगभीरो-
र्हृदयमिव स्फुटितं महागृहस्य ॥२२॥

(प्रवेश करके)

रदनिका—हाय ! हाय ! ! वर्धमानक बाहर के दरवाजे वाली कोठरी में सो रहा था। वह भी यहाँ नहीं दिखाई दे रहा है। अच्छा। आर्य मैत्रेय को पुकारती हूँ। (घूमती है)।

शर्विलक—(रदनिका को मारना चाहता है। देखकर) क्या स्त्री ? अच्छा जाता हूँ (निकल जाता है)।

रदनिका—(जाकर भयपूर्वक) हाय ! हाय ! ! हमारे घर में सेंध फोड़कर चौर निकल रहा है। अच्छा ! जाकर मैत्रेय को जगाती हूँ।

(मैत्रेय के समीप जाकर) आर्य मैत्रेय, उठिये उठिये। हमारे घर में सेंध फोड़ कर चौर निकल गया।

विदूषक—हूँ ! दासी की पुत्री, क्या कहती है ? चौर को फोड़कर सेंध निकल गई।

रदनिका—अरे, हँसी से बस करो। क्या इसे नहीं देख रहे हो ?

विदूषक—हूँ ! दासी की पुत्री, क्या यह कहती है ? 'दूसरा दरवाजा सा खोल दिया है।' हे मित्र आर्य चारुदत्त, उठो, उठो, हमारे घर में सेंध लगाकर चौर निकल गया।

चारुदत्त—अच्छा ! अरे, हँसी से बस करो।

विदूषक—जी, हँसी नहीं है। आप देख लीजिये।

चारुदत्त—किस स्थान पर ?

विदूषक—जी, यह रहा।

चारुदत्त—(देखकर) अहो ! यह सेंध देखने योग्य है। जिसमें ऊपर के भाग से ईंटें गिराई (निकाली) गई हैं, जो ऊपरी भाग में पतली और बीच के स्थान में चौड़ी है, ऐसी यह (सन्धि) असदृशजन (अयोग्य मनुष्य चौर आदि) के सम्बन्ध (—संप्रयोग) से डरे हुए महान् भवन के विदीर्ण हुए हृदय के समान स्थित है ॥२२॥

हताश हता आशा यस्य तत्सम्बुद्धौ। (टि०)

चारुदत्तः सन्धिं दृष्ट्वा कथयति—उपरीति। उपरितलाद् ऊर्ध्वप्रदेशात् निपातिता आकृष्टा इष्टका यत्र तादृशः शिरसि ऊर्ध्वभागे तनुः अल्पविस्तारः मध्यदेशे च विपुलः विस्तृतः अयं सन्धिः असदृशजनस्य अनुचितजनस्य चौरादिकस्य संप्रयोगात् प्रवेशादिसम्बन्धात् भीरोः भीतस्य महागृहस्य विशालभवनस्य स्फुटितं विदीर्णं हृदयम् इव स्थितः। उत्प्रेक्षालङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥२२॥

कथमस्मिन्नपि कर्मणि कुशलता ।

विदूषकः—भो वअस्स, अअं संधी दुवेहिं ज्जेव दिण्णो भवे । आदु आगन्तुएण, सिक्खिदुकामेण वा । अण्णधा इध उज्जइणीए को अम्हाणं घरविहवं ण जाणादि । [भो वयस्य, एष सन्धिर्द्वाभ्यामेव दत्तो भवेत् । अथवागन्तुकेन, शिक्षितुकामेन वा अन्यथात्रोज्जयिन्यां कोऽस्माकं गृहविभवं न जानाति ।]

चारुदत्तः—

वैदेश्येन कृतो भवेन्मम गृहे व्यापारमभ्यस्यता
नासौ वेदितवान्धनैर्विरहितं विस्रब्धसुप्तं जनम् ।
दृष्ट्वा प्राङ्महतीं निवासरचनामस्माकमाशान्वितः
सन्धिच्छेदनखिन्न एव सुचिरं पश्चान्निराशो गतः ॥२३॥

ततः सुहृद्भ्यः किमसौ कथयिष्यति तपस्वी—'सार्थवाहसुतस्य गृहं प्रविश्य न किञ्चिन्मया समासादितम्' इति ।

विदूषकः—भो कधं तं ज्जेव चोरहदअं अणुसोचसि । तेण चिन्तिदं महन्तं एदं गेहम् ! इदो रअणभण्डअं सुवण्णभण्डअं वा णिक्कामिस्सम् । (स्मृत्वा सविषादमात्मगतम्) कहिं तं सुवण्णभण्डअम् । (पुनरनुस्मृत्य । प्रकाशम्) भो वअस्स तुमं सव्वकालं भणासि—'मुक्खो मित्तेअओ, अपण्डिदो मित्तेअओ' त्ति । सुट्ठु मए किदं तं सुवण्णभण्डअं भवदो हत्थे समप्पअन्तेण अण्णधा दासीए पुत्तेण अवहिदं भवे । [भोः, कथं तमेव चौरहतकमनुशोचसि । तेन चिन्तितं महदेतद्गृहम् । इतो रत्नभाण्डं सुवर्णभाण्डमं वा निष्क्रामयिष्यामि । कुत्र तत्सुवर्णभाण्डम् । भो वयस्य, त्वं सर्वकालं भणसि—'मूर्खो मैत्रेयः, अपण्डितो मैत्रेयः' इति । सुष्ठु मया कृतं तत्सुवर्णभाण्डं भवतो हस्ते समर्पयता । अन्यथा दास्याः पुत्रेणापहृतं भवेत् ।

चारुदत्तः—अलं परिहासेन ।

विदूषकः—भो जह णाम अहं मुक्खो ता किं परिहासस्स वि देसआलं ण जाणामि । [भोः, यथा नामाहं मूर्खस्तत्किं परिहासस्यापि देशकालं न जानामि ।]

'आगन्तुकेन, शिक्षितुकामेन वा सन्धिः कृतो भवेत्-इति विदूषकस्य वचनं निशम्य चौरमनुशोचन् चारुदत्तः कथयति—वैदेश्येनेति । वैदेश्येन विदेशे भवः वैदेश्यः तेन वैदेशिकेन व्यापारं सन्धिच्छेदनकर्म अभ्यस्यता शिक्षमाणेन वा मम गृहे सन्धिः कृतः दत्तः भवेत् यतः इहस्थः निपुणो वा चौरः नात्र सन्धिं कुर्यात् । असौ अयं जन

क्या इस कार्य में भी कुशलता ?

विदूषक—हे मित्र, यह सेंध दो के द्वारा ही लगाई हुई हो सकती है। या तो आगन्तुक के द्वारा, या (चौर्य विद्या) सीखने के इच्छुक द्वारा। अन्यथा यहाँ उज्जयिनी में कौन हमारे घर के वैभव को नहीं जानता ?

चारुदत्त—सन्धि-कार्य का अभ्यास करते हुए विदेशी ने मेरे घर में (सेंध) की होगी। धनहीन (इसी कारण) विश्वासपूर्वक सोये हुए जन (हम दोनों) को वह नहीं जान पाया। हमारे महान् भवन-निर्माण को देखकर पहले आशायुक्त होता हुआ (वह) देर तक सेंध फोड़ने के कारण क्लान्त हुआ बाद में निराश (होकर) ही चला गया ॥२३॥

तब वह बेचारा (अपने) मित्रों से क्या कहेगा कि 'सार्थवाह पुत्र के घर में घुसकर मैंने कुछ भी नहीं पाया।'

विदूषक—अरे, क्यों उस दुष्ट चौर का ही सोच कर रहे हो ? उसने सोचा यह बड़ा घर है, यहाँ से रत्न-पात्र या स्वर्णपात्र निकाल लूँगा।

(याद करके। दुःखपूर्वक अपने आप) वह सुवर्ण-पात्र कहाँ है ? फिर याद-करके। प्रकट रूप में) हे मित्र तुम हर समय यह कहते हो—'मैत्रेय मूर्ख है, मैत्रेय अपण्डित है।' उस स्वर्णपात्र को आपके हाथ में देते हुए मैंने अच्छा किया। नहीं तो दासी के पुत्र (चौर) ने चुरा लिया होता।

चारुदत्त—परिहास (हँसी) से बस करो।

विदूषक—अरे, यद्यपि मैं मूर्ख हूँ, तो भी क्या परिहास का स्थान और समय भी नहीं जानता ?

धनैः विरहितं हीनम् अतएव विस्रब्धं निशङ्कं यथा स्यात् तथा सुप्तं जनं पुरुषद्वयं न वेदितवान् ज्ञातवान्। सः प्राक् पूर्वं तु अस्माकं महतीं विशालां निवासरचनां भवनरचनां दृष्ट्वा आशान्वितः आशायुक्तः सन् सुचिरं बहुकालपर्यन्तं सन्धिच्छेदनेन खिन्नः परिश्रान्तः पश्चात् निराशः एव गतः निर्गतः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२३॥

तपस्वी वराकः। समासादितं प्राप्तम्। चौरश्चासौ हतकश्च चौरहतकः दुष्टचौरः।

चारुदत्तः—कस्यां वेलायाम् ।

विदूषकः—भो, जदा तुमं मए भणिदो सि—'शीदलो दे अग्गहत्थो'। [भोः, यदा त्वं मया भणितोऽसि—'शीतलस्तेऽग्रहस्तः'।]

चारुदत्तः—कदाचिदेवमपि स्यात्। (सर्वतो निरूप्य। सहर्षम्) वयस्य, दिष्ट्या ते प्रियं निवेदयामि।

विदूषकः—किं ण अवहिदम्। [किं नापहृतम्।]

चारुदत्तः—हृतम्।

विदूषकः—तधा वि किं पिअम्। [तथापि किं प्रियम्।]

चारुदत्तः—यदसौ कृतार्थो गतः।

विदूषकः—णासो क्खु सो। [न्यासः खलु सः।]

चारुदत्तः—कथं न्यासः। (मोहमुपगतः)

विदूषकः—समस्ससदु भवम्। जइ णासो चोरेण अवहिदो तुमं किं मोहं उगवदो। [समाश्वसितु भवान्। यदि न्यासश्चौरेणापहृतस्त्वं किं मोहमुपगतः।]

चारुदत्तः—(समाश्वस्य) वयस्य,

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तूलयिष्यति।
शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता ॥२४॥

भोः कष्टम्।

यदि तावत्कृतान्तेन प्रणयोऽर्थेषु मे कृतः।
किमिदानीं नृशंसेन चारित्रमपि दूषितम् ॥२५॥

विदूषकः—अहं क्खु अवलविस्सम्—'केण दिण्णम्, केण गहीदम्, को वा सक्खि' त्ति। [अहं खल्वपलपिष्यामि 'केन दत्तम्, केन गृहीतम्, को वा साक्षी' इति।]

चारुदत्तः—अहमिदानीमनृतमभिधास्ये।

न्यासः निक्षेपः समाश्वसितु आश्वस्तो भवतु, प्रकृतिस्थो भवतु।

न्यासीकृतं सुवर्णं पात्रं चौरेण हृतमिति श्रुत्वा खिन्नश्चारुदत्तः कथयति—क इति। भूतं यथावृत्तम् अर्थं चौरेणापहृतं सुवर्णपात्रमिति कः जनः श्रद्धास्यति विश्वासं

चारुदत्त—किस समय ?

विदूषक—अरे, जब तुमसे मैंने कहा था 'कि तुम्हारे हाथ का अग्रभाग ठण्डा है।'

चारुदत्त—संभवतः ऐसा भी हो (सब ओर देखकर। प्रसन्नतापूर्वक) मित्र, भाग्य से तुम्हें प्रिय (बात) सुनाता हूँ।

विदूषक—क्या नहीं चुराया ?

चारुदत्त—चुरा लिया।

विदूषक—फिर भी क्या प्रिय है ?

चारुदत्त—कि वह कृतार्थ (होकर) गया।

विदूषक—वह तो धरोहर थी।

चारुदत्त—क्या धरोहर ? (मूच्छित हो गया)

विदूषक—आप धैर्य रक्खें। यदि धरोहर चोर ने चुराली (तो) तुम क्यों मूच्छित हो गये ?

चारुदत्त—(आश्वस्त होकर) मित्र,

वास्तविकता पर कौन विश्वास करेगा ? सभी मुझे हल्का (तुच्छ अपराधी) समझेंगे। क्योंकि इस संसार में पौरुषविहीन निर्धनता शंका के योग्य होती है ॥२४॥

हाय ! कष्ट है !

यदि भाग्य ने मेरी सम्पत्ति की अभिलाषा (=प्रणय) की तो इस समय निर्दयी (भाग्य) ने चरित्र भी क्यों दूषित कर दिया ॥२५॥

विदूषक—मैं छिपाकर कह दूंगा—'किसने दिया ? किसने लिया ? साक्षी (गवाह) कौन है ?'

चारुदत्त—मैं इस समय झूठ बोलूंगा ? (नहीं)

करिष्यति ? सर्वः जनः मां चारुदत्तं तूलयिष्यति तूलवत् लघूकरिष्यति हि यतः अस्मिन् लोके निष्प्रतापा नास्ति प्रतापः तेजः पौरुषं वा यस्यां तादृशी दरिद्रता शङ्कनीया शङ्कायोग्या भवति। अर्थान्तरन्यासः। अनुष्टुप् वृत्तम् ॥२४॥

यदीति। यदि तावत् कृतान्तेन दैवेन मे मम अर्थेषु सम्पत्तिषु प्रणयः अभिलाषः अर्थित्वं वा कृतः नृशंसेन निर्दयेन दैवेन इदानीं सम्प्रति चारित्रमपि किं कथं दूषितम्। अनुष्टुप् वृत्तम् ॥२५॥

अपलपिष्यामि अपलापं करिष्यामि। अनृतम् असत्यम्।

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम् ।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम् ॥२६॥

रदनिका—ता जाव अज्जा धूदाए गदुअ णिवेदेमि । [तद्यावदार्याधूतायै गत्वा निवेदयामि ।] (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(ततः प्रविशति चेटया सह चारुदत्तवधूः)

वधूः—(ससंभ्रमम्) अइ, सच्चं अवरिक्खदसरीरो अज्जउत्तो अज्जमित्तेएण सह । [अयि, सत्यमपरिक्षतशरीर आर्यपुत्र आर्यमैत्रेयेण सह ।]

चेटी—भट्टिणि, सच्चम् । किं तु जो सो वेस्साजणकेरको अलंकारओ सो अवहिदो । [भर्त्रि, सत्यम् । किं तु यः स वेश्याजनस्यालङ्कारकः सोऽपहृतः ।]

(वधूर्मोहं नाटयति)

चेटी समस्ससदु अज्जा धूता । [समाश्वसित्वार्या धूता ।]

वधूः—(समाश्वस्य) हञ्जे, किं भणासि—'अवरिक्खदसरीरो अज्जउत्तो' त्ति । वरं दाणिं सो सरीरेण परिक्खदो, ण उण चारित्तेण । संपदं उज्जइणीए जणो एव्वं मन्तइस्सदि—'दलिद्ददाए अज्जउत्तेण ज्जेव ईदिसं अकज्जं अणुचिट्ठिदम्' त्ति । (ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च) भअवं कअन्त पोक्खरवत्तपडिदजलबिन्दुचञ्चलेहिं कीलसि दलिद्दपुरिसभाअधेएहिं । इअं च मे एक्का मादुघरलद्धा रअणावली चिट्ठदि । एवं पि अदिसोण्डीरदाए अज्जउत्तो ण गेण्हिस्सदि । हञ्जे, अज्जमित्तेअं दाव सद्दावेहि । [चेटि, किं भणसि—'अपरिक्षतशरीर आर्यपुत्रः' इति वरमिदानीं स शरीरेण परिक्षतः । न पुनश्चारित्रेण । सांप्रतमुज्जयिन्यां जन एवं मन्त्रयिष्यति—'दरिद्रतयार्यपुत्रेणैवेदृशमकार्यमनुष्ठितम्' इति । भगवन्कृतान्त, पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुचञ्चलैः क्रीडसि दरिद्रपुरुषभागधेयैः । इयं च म एका मातृगृहलब्धा रत्नावली तिष्ठति । एतामप्यतिशौण्डीरतयार्यपुत्रो न ग्रहीष्यति । चेटि, आर्यमैत्रेयं, तावत् शब्दापय ।]

भैक्ष्येणेति । भैक्ष्येण भिक्षाचरणेन अपि पुनः न्यासस्य निक्षेपस्य प्रतिक्रिया प्रतिक्रियासाधनं द्रव्यम् अर्जयिष्यामि एकत्रीकरिष्यामि किन्तु चारित्रस्य भ्रंशकारणं विनाशनिमित्तम् अनृतम् असत्यं न अभिधास्यामि वदिष्यामि । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥२६॥

धरोहर लौटाने के साधन द्रव्य को भिक्षा के द्वारा भी अर्जित करूँगा। किन्तु चरित्र-पतन का कारण जो असत्य है उसे नहीं कहूँगा ॥२६॥

रदनिका— तो जब तक जाकर आर्या धूता से (सारी घटना) कहती हूँ। (सब निकल जाते हैं)

(तत्पश्चात् चेटी के साथ चारुदत्त की पत्नी प्रवेश करती है)

वधू—(घबराहट के साथ) अरी, सचमुच आर्य मैत्रेय के साथ आर्यपुत्र (चारुदत्त) सुरक्षित (चोट रहित देह वाले) तो हैं ?

चेटी—स्वामिनी, सचमुच। किन्तु जो वेश्याजन का आभूषण था, वह चुरा लिया गया।

(वधू मोह का अभिनय करती है)

चेटी—आर्या धूता, धैर्य रक्खें।

वधू—(आश्वस्त होकर) चेटी, क्या कहती हो कि—'आर्यपुत्र का शरीर चोट रहित है' इस समय वह शरीर से क्षत (घायल) हुए अच्छे, चरित्र से (क्षत) नहीं।

अब उज्जयिनी में लोग कहेंगे कि निर्धनता के कारण आर्यपुत्र ने ही इस प्रकार का अनुचित कार्य किया।' (ऊपर देखकर और लम्बी साँस लेकर) भगवन् दैव ! कमल के पत्ते पर पड़े हुए जलबिन्दुओं के समान चञ्चल पुरुष के भाग्यों से खिलवाड़ करते हो। यह मेरी माता के घर से प्राप्त हुई एक रत्नावली है। इसको भी अत्यन्त उदार चित्त (=शौण्डीर) होने के कारण आर्यपुत्र नहीं ग्रहण करेंगे। चेटी, तनिक आर्य मैत्रेय को बुलाओ।

धूता चारुदत्तस्य पत्नी। न परिक्षतं शरीरं यस्य तथाभूतः। चौरेण न्यासो हृतः, अपरिक्षतशरीरस्तु चारुदत्तः इति रदनिकावचनं निशम्य धूता कथयति—वरमिति। इदानीं विनश्वरेण शरीरेण परिक्षतः सः आर्यचारुदत्तः यदि स्यात्तर्हि वरं किञ्चित् साधु पुनः किन्तु चारित्रेण परिक्षतः न वरम्।

मन्त्रयिष्यति परस्परं कथयिष्यति। अनुष्ठितं कृतम्। पुष्करपत्रे कमलपत्रे पतिताः ये जलबिन्दवस् तद्वत् चञ्चलैः दरिद्रपुरुषाणां भागधेयैः क्रीडसि। मातृगृहात् लब्धा। अतिशौण्डीरतया महानुभावतया दाक्षिण्येन वा। शब्दापय आकारय, आह्वय।

चेटी—जं अज्जा धूदा आणवेदि । (विदूषकमुपगम्य) अज्जमित्तेअ, धूदा दे सद्दावेदि । [यदार्या धूताऽऽज्ञापयति । आर्यमैत्रेय, धूता त्वामाह्वयति ।]

विदूषकः—कहिं सा । [कुत्र सा ।]

चेटी—एसा चिट्ठदि । उवसप्प । [एषा तिष्ठति । उपसर्प ।]

विदूषकः—(उपसृत्य) सोत्थि भोदीए । [स्वस्ति भवत्यै ।]

वधूः—अज्ज, वन्दामि । अज्ज, पौरत्थिआमुहो होहि । [आर्य, वन्दे । आर्य, पुरस्तान्मुखो भव ।]

विदूषकः—एसो भोदि, पौरत्थिआमुहो संवुत्तो म्हि । [एष भवति, पुरस्तान्मुखः संवृत्तोऽस्मि ।]

वधूः—अज्ज, पडिच्छ इमम् । [आर्य, प्रतीच्छेमाम् ।]

विदूषकः—किं ण्णेदम् । [किं न्विदम् ।]

वधूः—अहं क्खु रअणछट्ठिं उववसिदा आसि । तहिं जधाविहवाणुसारेण बम्हणो पडिग्गाहिदव्वो । सो अ ण पडिग्गाहिदो, ता तस्स किदे पडिच्छ इमं रअणमालिअम् । [अहं खलु रत्नषष्ठीमुपोषितासम् । तत्र यथाविभवानुसारेण ब्राह्मणः प्रतिग्राहितव्यः । स च न प्रतिग्राहितः, तत्तस्य कृते प्रतीच्छेमां रत्नमालिकाम् ।]

विदूषकः—(गृहीत्वा) सोत्थि । गमिस्सम् । पिअवअस्सस्स णिवेदेमि । [स्वस्ति, गमिष्यामि । प्रियवयस्यस्य निवेदयामि ।]

वधूः—अज्जमित्तेअ, मा क्खु मं लज्जावेहि । [आर्यमैत्रेय, मा खलु मां लज्जितां कुरु ।] (इति निष्क्रान्ता)

विदूषकः—(सविस्मयम्) अहो, से महाणुभावदा । [अहो, अस्या महानुभावता ।]

चारुदत्तः—अये, चिरयति मैत्रेयः । मा नाम वैक्लव्यादकार्यं कुर्यात् । मैत्रेय, मैत्रेय ।

विदूषकः—(उपसृत्य) एसो म्हि । गेण्ह एदम् । [एषोऽस्मि । गृहाणैताम् ।] (रत्नावलीं दर्शयति)

चारुदत्तः—किमेतत् ।

विदूषकः—भो, जं दे सरिसदारसंगहस्स फलम् । [भोः यत्ते सदृशदारसंग्रहस्य फलम् ।]

चारुदत्तः—कथम् । ब्राह्मणी मामनुकम्पते । कष्टम् । इदानीमस्मि दरिद्रः ।

चेटी—जो आर्या धूता आज्ञा देती हैं। (विदूषक के निकट जाकर) आर्य मैत्रेय, धूता तुम्हें बुला रही हैं।

विदूषक—वह कहाँ हैं ?

चेटी—यह हैं। (उनके) समीप जाइये।

विदूषक—(समीप जाकर) आपका कल्याण हो।

वधू—आर्य, वन्दना करती हूँ। आर्य, पूर्व की ओर मुख कर लीजिये।

विदूषक—पूज्ये, यह मैं पूर्व की ओर मुखवाला हो गया हूँ।

धूता—आर्य इसे लीजिये।

विदूषक—यह क्या है ?

वधू—मैंने रत्नषष्ठी का व्रत किया था। उसमें सम्पत्ति के अनुसार ब्राह्मण को दान देना चाहिये। उसे दान नहीं दिया गयाथा, अतः उसके लिये इस रत्नमाला को ग्रहण करो।

विदूषक—(लेकर) कल्याण हो, जाता हूँ। प्रिय मित्र से निवेदन करता हूँ।

वधू—आर्य मैत्रेय, मुझे लज्जित मत करो। (निकल जाती है)

विदूषक—(आश्चर्य सहित, अहो ! इसकी उदारता !

चारुदत्त—अरे ! मैत्रेय देर कर रहे हैं। कहीं विकलता के कारण अनुचित कार्य न कर डालें।

विदूषक—(समीप आकर) यह हूँ। इसे ग्रहण करो। (रत्नावली दिखाता है)

चारुदत्त—यह क्या है ?

विदूषक—अरे, जो तुम्हारे सदृश (गुणवती) स्त्री से विवाह करने का फल है।

चारुदत्त—क्या ? ब्राह्मणी मुझ पर दया कर रही है। कष्ट है ! अब मैं दरिद्र हो गया।

पुरस्तात् पूर्वदिशाया मुखं यस्य सः (टि०)। प्रतीच्छ गृहाण। यथाविभवानुसारेण यादृशी सम्पत्तिः तस्याः अनुसारेण (टि०)। तस्य ब्राह्मणस्य व्रतस्य वा कृते।

वैक्लव्यात् चित्तस्य दौर्बल्यात्। सदृशदाराणां संग्रहस्य योग्यपत्नीग्रहणस्य।

आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः ।
अर्थतः पुरुषो नारी या नारी सार्थतः पुमान् ॥२७॥

अथवा । नाहं दरिद्रः । यस्य मम

विभवानुगता भार्या सुखदुःखसुहृद्भवान् ।
सत्यं च न परिभ्रष्टं यद्दरिद्रेषु दुर्लभम् ॥२८॥

मैत्रेय, गच्छ रत्नावलीमादाय वसन्तसेनायाः सकाशम् । वक्तव्या च सा मद्वचनात्—'यत्खल्वस्माभिः सुवर्णभाण्डमात्मीयमिति कृत्वा विश्रम्भाद् द्यूते हारितम् । तस्य कृते गृह्यतामियं रत्नावली' इति ।

विदूषकः—मा दाव अक्खाइदस्स अभुत्तस्स अप्पमुल्लस्स चोरेहिं अवहृदस्स कारणादो चदुःसमुद्दसारभूदा रअणावली दीअदि । [मा तावदखादितस्याभुक्तस्याल्पमूल्यस्य चौरैरपहृतस्य कारणाच्चतुःसमुद्रसारभूता रत्नावली दीयते ।]

चारुदत्तः—वयस्य, मा मैवम् ।

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः ।
तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥२९॥

तद्वयस्य, अस्मच्छरीरस्पृष्टिकया शापितोऽसि, नैनामग्राहयित्वात्रागन्तव्यम् । वर्धमानक,

---

धूतायाः अनुग्रहं निशम्य चारुदत्तः कथयति-आत्मेति । आत्मनः स्वस्य भाग्येन दुर्दैवेन क्षतं नष्टं द्रव्यं यस्य सः अहं चारुदत्तः स्त्रीद्रव्येण स्वपत्न्याः धूतायाः धनेन अनुकम्पितः अनुगृहीतो भवामि । ततोऽस्मि दरिद्रः यतः अर्थतः धनात् कारणात् धनाभावाद् इति यावत् पुरुषः नारी स्त्रीवत् भवति या च नारी सा अर्थतः धनस्य कारणात् पुमान् पुरुषवत् जायते । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥२७॥

'अथवा नाहं दरिद्रः' इति समर्थयति चारुदत्तः—विभवेति । यस्य मम चारुदत्तस्य भार्या स्त्री विभवेन धनेन अनुगता युक्ता, भवान् मैत्रेयः सुखदुःखयोः सुहृद्

अपने भाग्य के दोष से नष्ट हो गया है धन जिसका ऐसा मैं (चारुदत्त) स्त्री के धन से अनुगृहीत किया जा रहा हूँ (यह कष्टकर है क्योंकि) धन न होने के कारण ही पुरुष नारीतुल्य है और जो नारी है वह धन हो जाने से पुरुष (के समान) है ॥२७॥

अथवा मैं निर्धन नहीं हूँ। जिस मेरी—

पत्नी धन से युक्त है। आप सुख-दुःख में (समान) मित्र हैं। और सत्य भी नहीं छूटा है जो कि निर्धनों में दुर्लभ है ॥२८॥

मैत्रेय, रत्नावली लेकर वसन्तसेना के पास जाओ, मेरी ओर से उसे यह कहना कि—'विश्वास से अपना (समझ) करके हमने सुवर्णपात्र को जुए में हरा दिया। उसके वदले में यह रत्नावली ले लीजिए।'

विदूषक—विना (वेचकर) खाये हुए, न उपभोग किये हुए, स्वल्प मूल्य के (तथा) चौरों के द्वारा चुराये गये (आभूषण) के कारण से चारों समुद्रों की सारभूत यह रत्नावली मत दीजिए।

चारुदत्त—मित्र, ऐसा नहीं।

जिस विश्वास का आधार लेकर उसने हम पर धरोहर रक्खी, उस महान् विश्वास का ही यह मूल्य दिया जा रहा है ॥२९॥

तो मित्र, तुम्हें हमारे शरीर स्पर्श की शपथ है। इसे विना दिये नहीं आना चाहिए। वर्धमानक,

---

मित्रं सत्यं च न परिभ्रष्टं न नष्टं यद् एतत् त्रयं दरिद्रेषु निर्धनेषु दुर्लभं कष्टेन लब्धुं शक्यते तच्च ममास्ति तस्मान्नास्मि दरिद्रः इति भावः। दरिद्रयाभावसमर्थनाय अनेककारणोपादानात् समुच्चयालङ्कारः। अनुष्टुप् वृत्तम् ॥२८॥

विश्रम्भात् विश्वासात्। अखादितस्य अभक्षितस्य। अभक्तस्य यस्य केनापि प्रकारेणोपभोगो न कृतः तस्य अनुपभुक्तस्य।

चतुःसमुद्राणां रत्नाकराणां सारभूता।

अल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डस्य कृते रत्नावलीयं न देयेतिविदूषकवचनं निशम्य चारुदत्तः कथयति—यमिति। यं विश्वासं समालम्ब्य तया वसन्तसेनया अस्मासु धनहीनेष्वपि न्यासः निक्षेपः कृतः तस्य महतः प्रत्ययस्य विश्वासस्य एव एतत् रत्नावलीरूपं मूल्यं दीयते। अनुष्टुप् वृत्तम् ॥२९॥

एताभिरिष्टिकाभिः सन्धिः क्रियतां सुसंहृतः शीघ्रम् ।
परिवादबहलदोषान्न यस्य रक्षां परिहरामि ॥३०॥

वयस्य मैत्रेय, भवताप्यकृपणशौण्डीर्यमभिधातव्यम् ।

विदूषकः—भो, दलिद्दो किं अकिवणं मन्तेदि । [भोः, दरिद्रः किमकृपणं मन्त्रयति ।]

चारुदत्तः—अदरिद्रोऽस्मि सखे, यस्य मम । 'विभवानुगता भार्या', (३।२८ इत्यादि पुनः पठति ।) तद्गच्छतु भवान् । अहमपि कृतशौचः सन्ध्यामुपासे ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति सन्धिच्छेदो नाम तृतीयोऽङ्कः ।

अस्मच्छरीरस्य मम चारुदत्तस्य शरीरस्य स्पृष्टिकया स्पर्शेन शापितोसि शपथं ग्राहितोऽसि ।

वर्धमानकं सन्धिपूरणाय समादिशति चारुदत्तः—एताभिरिति । एताभिः इष्टिकाभिः सन्धिः शीघ्रं सुसंहृतः सम्यक् पूर्णः क्रियताम् । यतः परिवादस्य लोकापवादस्य यः बहलः प्रचुरः दोषः तस्मात् कारणात् यस्य सन्धेः रक्षां न परिहरामि त्यजामि उपेक्षे वा । सततमेव सन्धि रक्षामीत्यर्थः । काव्यलिङ्गमलङ्कारः । आर्याजातिः वृत्तम् ॥३०॥

अकृपणम् अमन्दं शौण्डीर्यम् औदार्यं यत्र तद् यथा तथा (काले) । [illegible]

शीघ्र ही इन ईंटों से सेंध भली प्रकार ठीक कर दो, जिस (सेंध) की रक्षा (मरम्मत होने) की महान् लोकापवाद के दोष के कारण उपेक्षा नहीं करूँगा (अर्थात् यदि यह सेंध इसी प्रकार फूटी रहेगी तो जनता में मेरे सम्बन्ध में अनेक अपवाद फैलेंगे) ॥३०॥

मित्र मैत्रेय, आपके द्वारा भी अत्यन्त उदारतापूर्वक (वसन्तसेना से सारी बातें) कही जानी चाहिये।

विदूषक—अरे क्या निर्धन भी उदारतापूर्वक कह सकता है।

चारुदत्त—मित्र, निर्धन नहीं हूँ, जिस मेरी (धन से अनुगत पत्नी (३।२८) इत्यादि फिर पढ़ता है)। तो आप जायें। मैं भी शौच करके सन्ध्या करता हूँ।

(सब निकल जाते हैं।)

सन्धिच्छेद नामक तृतीय अङ्क (समाप्त)

कार्पण्यं दैन्यमतः अकृपणमदीनम्।

* इति सन्धिच्छेदो नाम तृतीयोऽङ्कः *

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—आणत्तम्हि अत्ताए अज्जआए सआसं गन्तुम् । एसा अज्जआ चित्तफलअणिसण्णदिट्ठी मदणिआए सह किंपि मन्तअन्ती चिट्ठदि । ता जाव उवसप्पामि । [आज्ञप्तास्मि मात्रार्यायाः सकाशं गन्तुम् । एषार्या चित्रफलकनिषण्णदृष्टिर्मदनिकया सह किमपि मन्त्रयन्ती तिष्ठति । तद्यावदुपसर्पामि ।] (इति परिक्रामति)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा वसन्तसेना मदनिका च)

वसन्तसेना—हञ्जे मदणिए, अवि सुसदिसी इअं चित्ताकिदी अज्जचारुदत्तस्स । [चेटि मदनिके, अपि सुसदृशीयं चित्राकृतिरार्यचारुदत्तस्य ।]

मदनिका—सुसदिसी । [सुसदृशी ।]

वसन्तसेना—कधं तुमं जाणासि । [कथं त्वं जानासि ।]

मदनिका—जेण अज्जआए सुसिणिद्धा दिट्ठी अणुलग्गा । [येनार्यायाः सुस्निग्धा दृष्टिरनुलग्ना ।]

वसन्सेना—हञ्जे, किं वेसवासदाक्खिण्णेण मदणिए, एव्वं भणासि । [चेटि, किं वेशवासदाक्षिण्येन मदनिके एवं भणसि ।]

मदनिका—अज्जए, किं जो ज्जेव जणो वेसे पडिवसदि सो ज्जेव अलीअदक्खिणो भोदि । [आर्ये किं य एव जनो वेशे प्रतिवसति, स एवालीकदक्षिणो भवति ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, णाणापुरिससङ्गेण वेस्साजणो अलीअदक्खिणो भोदि । [चेटि, नानापुरुषसङ्गेन वेश्याजनोऽलीकदक्षिणा भवति ।]

मदनिका—जदो दाव अज्जआए दिट्ठी इध अभिरमदि हिअअं च, तस्स कारणं किं पुच्छीअदी । [यतस्तावदार्याया दृष्टिरिहाभिरमते हृदयं च, तस्य कारणं किं पृच्छ्यते ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, सहीजणादो उवहसणीअदां रक्खामि । [चेटि, सखीजनादुपहसनीयतां रक्षामि ।]

मदनिका—अज्जए, एव्वं णेदम् । सहीजणचित्ताणुवत्ती अबलाजणो भोदि । [आर्ये, एवं नेदम् । सखीजनचित्तानुवर्त्यबलाजनो भवति ।]

चित्रफलके निशण्णा संसक्ता स्थिरा वा दृष्टिः यस्याः सा । मन्त्रयन्ती संलपन्ती । यथानिर्दिष्टा यथावर्णिता । सुसदृशी सम्यक् सदृशी अनुरूपा वा । चित्राकृतिः

चतुर्थ अङ्क

(तत्पश्चात् चेटी प्रवेश करती है)

चेटी—माता जी ने आर्या (वसन्तसेना) के पास जाने की आज्ञा दी है। यह आर्या चित्र-पट पर दृष्टि गड़ायें हुए मदनिका के साथ कुछ बातचीत कर रही हैं। जब तक समीप चलती हूँ।

(इसके बाद यथानिर्दिष्ट वसन्तसेना और मदनिका प्रवेश करती हैं)

वसन्तसेना—चेटी मदनिके, क्या यह चित्रस्थ आकृति आर्य चारुदत्त के अनुरूप है ?

मदनिका—अनुरूप है।

वसन्तसेना—तुम कैसे जानती हो ?

मदनिका—क्योंकि आर्या की स्नेहपूर्ण दृष्टि (इसमें) संलग्न है।

वसन्तसेना—चेटि मदनिके, क्या वेश्यालय में रहने से चतुरता (सीखलेने) के कारण ऐसा कहती हो ?

मदनिका—आर्ये, क्या जो भी व्यक्ति वेश्यालय में रहता है, वह असत्य बोलने में कुशल (या मिथ्याप्रियवादी) होता है।

वसन्तसेना—चेटि, विभिन्न पुरुषों के संसर्ग के कारण वेश्याजन 'असत्यपटु' हो जाती हैं।

मदनिका—जब कि आर्या की दृष्टि और हृदय यहाँ (चित्र में) रम रहे हैं (फिर) उसका कारण क्या पूछ रही हैं ?

वसन्तसेना—चेटि, सखीजन के उपहास से बचना चाहती हूँ।

मदनिका—यह ऐसा नहीं (हो सकता)। अबलायें (स्त्रियाँ) सखीजन के चित्त के अनुसार बर्तने (व्यवहार करने) वाली होती हैं।

चित्रलिखिता आकृतिः। अनुलग्ना संसक्ता। वेशे वेश्यालये वासेन निवसनेन यद् दाक्षिण्यं चातुर्यं तेन। अलीकं मिथ्या दक्षिणः चतुरः मिथ्याप्रियवादी इति यावत्। अथवा अलीके मिथ्यावादे दक्षिणः कुशलः।

तस्य अभिरमणस्य। यत्र चक्षुर्हृदये लग्ने तत्र कारणं किं पर्यालोच्यते। अति-प्रियनामासावलं विलम्बेनेत्याशयः—इति पृथ्वीधरः। रक्षामि निवारयामि। सखी-जनस्य चित्तम् अनुवर्तते अनुसरति सखीजनचित्तानुसरणशीलः स्त्रीजनः स्वसख्याः चित्तमनुसरति न तु तस्याः अभिसरणादिकमुपहसतीति भावः।

प्रथमा चेटी (उपसृत्य) अज्जए, अत्ता आणवेदि—'गहिदावगुण्ठणं पक्खदुआरए सज्जं पवहणम्। ता गच्छ' त्ति। [आर्ये, माताज्ञापयति—'गृहीतावगुण्ठनं पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणम्। तद्गच्छ' इति।]

वसन्तसेना—हञ्जे, किं अज्जचारुदत्तो मं णइस्सदि [चेटि, किमार्यचारुदत्तो मां नेष्यति।]

चेटी—अज्जए, जेण पवहणेण सह सुवण्णदससाहस्सिओ अलंकारओ अणुप्पेसिदो। [आर्ये, येन प्रवहणेन सह सुवर्णदशसाहस्रिकोऽलङ्कारोऽनुप्रेषितः।]

वसन्तसेना—को उण सो। [कः पुनः सः।]

चेटी—एसो ज्जेव राअस्सालो संठाणओ। [एष एव राजश्यालः संस्थानकः।]

वसन्तसेना—(सक्रोधम्) अवेहि। मा पुणो एव्वं भणिस्ससि। [अपेहि। मा पुनरेवं भणिष्यसि।]

चेटी—पसीदद् पसीददु अज्जआ। संदेसेण म्हि पेसिदा। [प्रसीदतु प्रसीदत्वार्या। संदेशेनास्मि प्रेषिता।]

वसन्तसेना—अहं संदेसस्स ज्जेव कुप्पापि। [अहं संदेशस्यैव कुप्यामि।]

चेटी—ता किंति अत्तं विण्णविसस्म्। [तत्किमिति मातरं विज्ञापयिष्यामि ?]

वसन्तसेना—एव्वं विण्णविदव्वा—जइ मं जीअन्तीं इच्छसि, ता एव्वं ण पुणो अहं अत्ताए आण्णविदव्वा'। [एवं विज्ञापयितव्या—'यदि मां जीवन्तीमिच्छसि, तदैवं न पुनरहं मात्राज्ञापयितव्या'।]

चेटी—जधा दे रोअदि। [यथा ते रोचते।] (इति निष्क्रान्ता)

(प्रविश्य)

शर्विलकः—

दत्त्वा निशाया वचनीयदोषं निद्रां च जित्वा नृपतेश्च रक्षान्।
स एष सूर्योदयमन्दरश्मिः क्षपाक्षयाच्चन्द्र इवास्मि जातः ॥१॥

अपि च।

यः कश्चित्त्वरितगतिर्निरीक्षते मां
संभ्रान्तं द्रुतमुपसर्पति स्थितं वा,।

गृहीतम् अवगुण्ठनम् आच्छादनम् आवरणं वा येन तत् प्रवहणं स्त्रीणां स्थितियोग्यं समाच्छादितं वाहनं पक्षद्वारे सज्जं प्रस्तुतम्। सुवर्णानां दशसहस्रं सुवर्णदशसहस्रं तेन लभ्यः क्रीतो वा सुवर्णदशसाहस्रिकः।

सुवर्णभाण्डमपहृत्य शर्विलकः मदनिकानिष्क्रयणार्थं वसन्तसेनायाः गृहं गच्छन्

प्रथमा चेटी—(समीप जाकर) आर्ये, माता जी यह आज्ञा देती हैं कि बगल के दरवाजे पर पर्दे से ढका हुआ रथ तैयार है। इसलिए जाओ।

वसन्तसेना—चेटि, क्या आर्य चारुदत्त मुझे ले जायेंगे ?

चेटी—आर्ये, जिसने रथ के साथ दस सहस्र (हजार) सुवर्ण का आभूषण भेजा है।

वसन्तसेना—कौन है फिर यह ?

चेटी—यही राजा का साला संस्थानक।

वसन्तसेना—(क्रोधपूर्वक) दूर हटो। ऐसा फिर नहीं कहना।

चेटी—आर्या, प्रसन्न हो, प्रसन्न हो। सन्देश लेकर भेजी गई हूँ।

वसन्तसेना—मैं सन्देश पर ही क्रोधित हूँ।

चेटी—तो माता जी से क्या कह दूँ ?

वसन्तसेना—यह कहना—'यदि मुझे जीवित चाहती हो, तो मुझे माता जी के द्वारा इस प्रकार फिर आज्ञा न मिलनी चाहिए।'

चेटी—जैसा तुम्हें (आपको) अच्छा लगता है। निकल जाती है)

(प्रवेश करके)

शर्विलक—निद्रा का दोष रात्रि पर लगाकर, निद्रा एवं राजा के रक्षकों को जीतकर, यह (मैं) रात्रि का अवसान हो जाने से सूर्योदय के कारण मन्द रश्मि वाले (चन्द्र के पक्ष में—मन्दतेज, शर्विलक के पक्ष में—मन्द पराक्रम) चन्द्रमा के सदृश हो गया हूँ ॥१॥

और भी—

तीव्र गति वाला जो कोई मुझे देख लेता है या घबड़ाकर खड़े हुए मेरे पास शीघ्रता से आ जाता है, मेरा यह दूषित (शङ्कित) अन्तःकरण उन सबको सन्दिग्ध

स्वविषये चिन्तयति— दत्त्वेति। निशायाः रात्रेः वचनीयदोषं निशायामेव चौर्यादिकं भवत्यतः निशा हि सर्वानर्थकरीति अपवादरूपं दोषं दत्त्वा निद्रां जित्वा नृपतेः राज्ञः रक्षान् रक्षापुरुषान् च जित्वा परिहृत्य स एषः अहं क्षपायाः निशायाः क्षयात् अवसानात् सूर्योदयेन मन्दाः क्षीणाः रश्मयः किरणाः यस्य तथाभूतः चन्द्रः इव जातः अस्मि। उपमालङ्कारः। उपजातिः वृत्तम् ॥१॥

य इति। यः कश्चित् त्वरितगतिः मां निरीक्षते, सम्भ्रान्तं स्थितं वा द्रुतम् उपसर्पति। दूषितः अन्तरात्मा तं सर्वं तुलयति, मनुष्यः हि स्वदोषैः शङ्कितो भवति— इत्यन्वयः। यः कश्चिद् त्वरिता गतिः यस्य तादृशः शीघ्रगामी मनुष्यः मां शर्विलकं निरीक्षते अथवा सम्भ्रान्तं चकितं स्थितं मां द्रुतं शीघ्रम् उपसर्पति समीपम् आगच्छति

तं सर्वं तुलयति दूषितोऽन्तरात्मा
स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्यः ॥२॥

मया खलु मदनिकायाः कृते साहसमनुष्ठितम् ।

परिजनकथासक्तः कश्चिन्नरः समुपेक्षितः
क्वचिदपि गृहं नारीनाथं निरीक्ष्य विवर्जितम् ।
नरपतिबले पार्श्वायाते स्थितं गृहदारुवद्
व्यवसितशतैरेवंप्रायैर्निशा दिवसीकृता ॥३॥

(इति परिक्रामति ।)

वसन्तसेना—हञ्जे इमं दाव चित्तफलअं मम सअणीए ठाविअ तालवेण्टअं गेण्हिअ लहु आअच्छ । [चेटि, इमं तावच्चित्रफलकं मम शयनीये स्थापयित्वा तालवृन्तं गृहीत्वा लघ्वागच्छ ।

मदनिका—जं अज्जआ आणवेदि । [यदार्याज्ञापयति ।] (इति फलकं गृहीत्वा निष्क्रान्ता ।)

शर्विलकः—इदं वसन्तसेनाया गृहम् । तद्यावत्प्रविशामि । (प्रविश्य) क्व नु मया मदनिका द्रष्टव्या ।

(ततः प्रविशति तालवृन्तहस्ता मदनिका)

शर्विलकः—(दृष्ट्वा) अये, इयं मदनिका ।

मदनमपि गुणैर्विशेषयन्ती रतिरिव मूर्तिमती विभाति येयम् ।
मम हृदयमनङ्गवह्नितप्तं भृशमिव चन्दनशीतलं करोति ॥४॥

मदनिके ।

मदनिका—(दृष्ट्वा) अम्मो, कधं सव्विलओ । सव्विलअ, साअदं दे । कहिं तुमम् । [आश्चर्यम्, कथं शर्विलकः । शर्विलक स्वागतं ते । कुत्र त्वम् ।]

दूषितः दोषयुक्तः अन्तरात्मा मम हृदयं तं सर्वं जनं तुलयति शङ्काद‍ृष्ट्या पश्यति हि यतः मनुष्यः स्वदोषैः शङ्कितः शङ्कायुक्तः भवति । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥२॥

परिजनेति । मया शर्विलकेन परिजनस्य भृत्यवर्गस्य कथायां वार्तायाम् आसक्तः संलग्नः कश्चित् नरः जनः समुपेक्षितः त्यक्तः । क्वचिद् अपि स्थाने गृहं नारीनाथः यस्य तत् पुरुषरहितं नार्यधिष्ठितं च निरीक्ष्य दृष्ट्वा विवर्जितं त्यक्तं तन्न प्रविष्टमिति भावः । नरपतेः राज्ञः बले रक्षकवर्गे पार्श्वायाते समीपम् आगते सति गृहदारुवत् स्तम्भादिगृहकाष्ठवत् स्थितम् । एवं प्रायैः एतादृशैः व्यव-

दृष्टि से देखने लगता है। वस्तुतः मनुष्य अपने दोषों के कारण शङ्कित हो जाता है ॥१॥

वास्तव में मदनिका के लिए मैंने यह साहस (चौरकर्म) किया है। भृत्यों के साथ बात करने में लगे हुए किसी पुरुष की उपेक्षा की (अर्थात् उसके घर में प्रविष्ट नहीं हुआ), कहीं उस घर की स्त्री ही जिसकी स्वामिनी है ऐसा (अर्थात् पुरुष रहित) देखकर छोड़ दिया। राजरक्षक के समीप में आ जाने पर गृहकाष्ठ के समान (निश्चल) खड़ा हो गया, इस प्रकार के सैंकड़ों कार्यों से (मैंने) रात्रि को दिन बना दिया (अर्थात् रात्रि जागते ही जागते बिता दी) ॥३॥

(घूमता है)

वसन्तसेना—चेटी, तनिक इस चित्रपट को मेरे बिस्तर पर रखकर तालवृन्त (ताड़ के पत्तों से बना पंखा) लेकर शीघ्र आ।

मदनिका—जो आर्या आज्ञा देती हैं (चित्रपट को लेकर निकल जाती है)।

शर्विलक – यह वसन्तसेना का घर है। तब प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश करके) मदनिका को मुझे कहाँ देखना (खोजना) चाहिए ?

(तत्पश्चात् ताड़ का पंखा हाथ में लिये मदनिका प्रवेश करती है]

शर्विलक—(देखकर) अरे यह मदनिका।

जो यह (अपने) गुणों के द्वारा कामदेव का भी अतिक्रमण करती हुई (उससे अधिक बढ़ती हुई) मूर्तिमती (देहधारिणी) रति (कामदेव की स्त्री) के समान शोभित हो रही है। कामाग्नि से संतप्त मेरे हृदय को चन्दन से शीतल-सा कर रही है ॥४॥

मदनिके !

मदनिका—(देखकर) आश्चर्य ! क्या शर्विलक ! तुम्हारा स्वागत है। तुम कहाँ ?

सितानां कार्याणां शतैः निशा रात्रिः दिवसीकृता दिवसवत् कृता। जाग्रता एव रात्रिः गमितेति भावः। हरिणी वृत्तम् ॥३॥

तालवृन्तं तालपत्रनिर्मितं व्यजनम्। लघु शीघ्रम्।

मदनिकां दृष्ट्वा शर्विलकः कथयति—मदनमपीति। इयं मदनिका गुणैः। सौन्दर्यादिभिः मदनं कामदेवम् अपि विशेषयन्ती विशिष्टं कुर्वती अतिक्रामन्ती इति यावत् मूर्तिमती देहधारिणी रतिः इव विभाति शोभते। या इयम् अनङ्गवह्निना कामाग्निना तप्तं मम शर्विलकस्य हृदयं भृशम् अत्यन्तं चन्दनशीतलम् इव करोति। उत्प्रेक्षालङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥४॥

चिरयति विलम्बं करोति। भुजिष्या प्रेष्या, भृत्या साधारणजनभोग्या वा, न भुजिष्या अभुजिष्या तां स्वाधीनां गृहस्थां वा। आकारयिष्यामि शब्दापयिष्यामि इति पाठान्तरम्।

शर्विलकः—कथयिष्यामि ।

(इति सानुरागमन्योन्यं पश्यतः)

वसन्तसेना—चिरअदि मदणिआ । ता कहिं णु क्खु सा ? (गवाक्षकेन दृष्ट्वा) कधं । एसा केनावि पुरिसकेण सह मन्तअन्ती चिट्ठदि । जधा अदिसिणिद्धाए णिच्चलदिट्ठीए आपिवन्ती विअ एदं निज्झाअदि तधा तक्केमि एसो सो जणो एवं इच्छदि अभुजिस्सं कादुं । ता रमदु रमदु । मा कस्सावि पीदिच्छेदो भोदु । ण क्खु सद्दाविस्सम् । [चिरयति मदनिका । तत्कुत्र नु खलु सा । कथम् । एषा केनापि पुरुषकेण सह मन्त्रयन्ती तिष्ठति । यथातिस्निग्धया निश्चलदृष्ट्या पिबन्तीवैतं निध्यायति तथा तर्कयामि एष स जन एनामिच्छत्यभुजिष्यां कर्तुम् । तद्रमतां रमताम् मा कस्यापि प्रीतिच्छेदो भवतु । न खल्वाकारयिष्यामि ।

मदनिका—सव्विलअ, कधेहि । [शर्विलक, कथय ।]

(शर्विलकः सशङ्कं दिशोऽवलोकयति)

मदनिका—सव्विलअ, किं ण्णेदम् ? ससङ्को विअ लक्खीअसि । [शर्विलक, किं न्विदम् ? सशङ्क इव लक्ष्यसे ।]

शर्विलकः—वक्ष्ये त्वां किञ्चिद्रहस्यम् । तद्विविक्तमिदम् ।

मदनिका—अधइं । [अथ किम् ।]

वसन्तसेना—कधं परमरहस्सम् । ता ण सुणिस्सम् । [कथं परमरहस्यम् । तन्न श्रोष्यामि ।]

शर्विलकः—मदनिके, किं वसन्तसेना मोक्ष्यति त्वां निष्क्रयेण ?

वसन्तसेना—कधं मम संबन्धिनी कधा । ता सुणिस्सं इमिणा गवक्खेण ओवारिदसरीरा । [कथं मम संबन्धिनी कथा । तच्छ्रोष्याम्यनेन गवाक्षेणापवारितशरीरा ।]

मदनिका—सव्विलअ, भणिदा मए अज्जआ । तदो भणादि—'जइ मम छन्दो तदा विणा अत्थं सव्वं परिजणं अभुजिस्सं करइस्सन्' । अध सव्विलअ, कुदो दे एत्तिओ विहवो, जेण मं अज्जआसआसादो मोआइस्ससि । [शर्विलक, भणिता मयार्या । तदा भणति—'यदि मम छन्दस्तदा विनार्थं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि । अथ शर्विलक, कुतस्त एतावान्विभवः, येन मामार्यसकाशान्मोचयिष्यसि ।]

शर्विलकः—

दारिद्र्येणाभिभूतेन त्वत्स्नेहानुगतेन च
अद्य रात्रौ मया भीरु, त्वदर्थे साहसं कृतम् ॥५॥

शर्विलक—वताऊंगा ।

(प्रेमपूर्वक एक दूसरे को देखते हैं)

वसन्तसेना—मदनिका देर कर रही है तो वह कहाँ है ? (झरोखे से देखकर) क्या ? यह किसी पुरुष के साथ बात करती हुई खड़ी है । जैसे अति प्रेमपूर्ण निश्चल दृष्टि से इसको पीती हुई सी देख रही है, उससे अनुमान लगाती हूँ कि यह वह व्यक्ति है जो इस (मदनिका) को बन्धनमुक्त करना चाहता है, तो रमण करे, रमण करे । किसी का भी प्रणय-विच्छेद न हो । बुलाऊँगी नहीं ।

मदनिका—शर्विलक, कहो ।

[शर्विलक शङ्कापूर्वक दिशायें (चारों ओर देखता है]

मदनिका—शर्विलक, यह क्या है ? शङ्कित से दिखाई दे रहे हो ।

शर्विलक—तुम्हें कुछ रहस्य वताऊँगा । यह (स्थान) एकान्त तो है ।

मदनिका—ओर क्या ?

वसन्तसेना—क्या बड़ा रहस्य है ? तो नहीं सुनूँगी ।

शर्विलक—मदनिके, क्या वसन्तसेना (मुक्तिनिमित्तक) धन देने से तुम्हें मुक्त कर देगी ?

वसन्तसेना—क्या, मुझसे सम्बन्ध रखने वाली बात है ? तो शरीर छिपा कर इस झरोखे से सुनूँगी ।

मदनिका—शर्विलक मैंने आर्या से कहा था । तब बोली—'यदि मेरा वश (छन्द = इच्छा) हो तो धन के बिना सब सेवकों को स्वतन्त्र कर दूँ ।' किन्तु शर्विलक, तुम्हारे पास इतनी सम्पत्ति कहाँ है जिससे मुझको आर्या के पास से मुक्त करा लोगे ?

शर्विलक—हे भीरु, निर्धनता से पीड़ित एवं तुम्हारे प्रेम से मुक्त मैंने आज रात में तुम्हारे लिये साहस (चौर कर्म) किया है ॥५॥

विविक्तं निर्जनम् । निष्क्रयेण मुक्तिनिमित्तकेन धनेन । अपवारितं गोपितं शरीरं यथा तथाभूता । मम छन्दः अभिलाषः ।

दारिद्र्येणेति । हे भीरु, दारिद्र्येण निर्धनतया अभिभूतेन उपहतेन पीडितेन तथापि त्वयि स्नेहः त्वत्स्नेहः तेनानुगतः त्वत्स्नेहानुगतः तेन त्वदीयप्रेमासक्तेन मया शर्विलकेन अद्य रात्रौ त्वदर्थे तव मोचनार्थं साहसं चौर्यकर्मरूपं कृतम् ॥५॥

वसन्तसेना—पसण्णा से आकिदी, साहसकम्मदाए उण उव्वेअणीआ । [प्रसन्नास्याकृतिः साहसकर्मतया पुनरुद्वेजनीया ।]

मदनिका—सव्विअल, इत्थीकल्लवत्तस्स कारणेण उहअ पि संसए विणिक्खित्तम् । [शर्विलक, स्त्रीकल्यवर्तस्य कारणेनोभयमपि संशये विनिक्षिप्तम् ।]

शर्विलकः—किं किम् ।

मदनिका—सरीरं चारित्तं च । [शरीरं चारित्रं च ।]

शर्विलकः—अपण्डिते, साहसे श्रीः प्रतिवसति ।

मदनिका—सव्विलअ अखण्डिदचारित्तो सि । ता ण खु ते मम कारणादो साहसं करन्तेण अच्चन्तविरुद्धं आचरिदम् । [शर्विलक, अखण्डितचारित्रोऽसि । तन्न खलु त्वया मम कारणात्साहसं कुर्वतात्यन्तविरुद्धमाचरितम् ।]

शर्विलकः—

नो मुष्णान्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां
विप्रस्वं न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम् ।
धात्र्युत्सङ्गगतं हरामि न तथा बालं धनार्थी क्वचि-
त्कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता ॥६॥

तद्विज्ञाप्यतां वसन्तसेना—

'अयं तव शरीरस्य प्रमाणादिव निर्मितः ।
अप्रकाशो ह्यलङ्कारो मत्स्नेहाद्धार्यतामिति' ॥७॥

मदनिका—सव्विलअ, अप्पकाशो अलंकारओ । अअं च जणो त्ति दुवेवि ण जुज्जदि । ता उवणेहि दाव पेक्खामि एदं अलंकारअम् । [शर्विलक, अप्रकाशोऽलङ्कारः । अयं च जन इति द्वयमपि न युज्यते । तदुपनय तावत् । पश्याम्येनमलङ्कारम् ।

उद्वेजनीया उद्वेजयतीति 'कृत्यल्युटो बहुलम्' ३।३।११३। इति कर्तरि अनीयर् उद्वेगजनिका इत्यर्थः । विनिक्षिप्तम् पातितम् । साहसे जीवितानपेक्षकर्मणि (पृथ्वी ०) श्रीः लक्ष्मीः प्रतिवसति तिष्ठति, यः जीवितमपि अनपेक्ष्य कर्म करोति सः सम्पत्तिमर्जयितुं शक्नोतीति भावः । अखण्डं चारित्रं यस्य सः । अत्यन्तविरुद्धं लोकशास्त्रविरुद्धम् ।

मदनिकावचनं निशम्य शर्विलकः स्वचरित्रं वर्णयति— नो इति । धनार्थी अहं फुल्लां लताम् इव विभूषणवतीम् अबलां न मुष्णामि, विप्रस्वं न हरामि, अथो यज्ञार्थम् अभ्युद्धृतं काञ्चनं (न हरामि) तथा क्वचित् धात्र्युत्सङ्गगतं बालं न हरामि । चौर्ये अपि मम मतिः नित्यं कार्याकार्यविचारिणी स्थिता । इत्यन्वयः ।

वसन्तसेना—इसकी आकृति प्रसन्न है किन्तु साहसिक कार्य (करने) से उद्वेगजनक है।

मदनिका—शर्विलक, कलैवे के जैसी (तुच्छ) स्त्री के कारण (तुमने) दोनों ही सन्देह में डाल दिये।

शर्विलक—क्या, क्या ?

मदनिका—शरीर और चरित्र।

शर्विलक—अज्ञे, साहस में लक्ष्मी वास करती है।

मदनिका—शर्विलक, तुम अखण्डित चरित्र वाले हो, तो मेरे कारण से साहस करते हुए तुमने (अपने चरित्र के) नितान्त विपरीत आचरण नहीं किया ?

शर्विलक—धन का इच्छुक मैं पुष्पित लता जैसी आभूषण वाली अबला (स्त्री) को नहीं लूटता हूँ, ब्राह्मण के धन को एवं यज्ञ के लिये एकत्र किये गये सुवर्ण को नहीं चुराता हूँ और मैं कहीं धाय की गोद में स्थित बालक को भी नहीं हरता हूँ। चौरी में भी सदैव मेरी बुद्धि कार्य अकार्य (उचित अनुचित) का विचार करने वाली रहती है।'६॥

तो वसन्तसेना से निवेदन करो—

'यह आभूषण मानो तुम्हारे शरीर की ही नाप से बनाया गया है, यह प्रकट करने योग्य नहीं है, मेरे प्रेम से इसे धारण कीजिये॥७॥

मदनिका—शर्विलक प्रकट रूप में न पहिनने योग्य अलङ्कार और यह जन (अर्थात् वेश्या वसन्तसेना) दोनों की संगति नहीं बैठती, तो अब मुझे दो। इस आभूषण को देखती हूँ।

धनार्थी धनं कामयमानोपि अहं शर्विलकः फुल्लां पुष्पितां लताम् इव विभूषणवतीम् अलङ्कारयुताम् अबलां नारीं न मुष्णामि चोरयामि, विप्रस्य ब्राह्मणस्य स्वं धनं न हरामि न चोरयामि। अथो अथवा यज्ञार्थं यज्ञस्य निमित्तम् अभ्युद्धृतम् पृथक् स्थापितं काञ्चनं सुवर्णं न हरामि। तथा तथैव क्वचित् धात्र्याः उत्सङ्गगतम् अङ्के स्थितं बालं न हरामि। चौर्ये चौर्यकर्मणि अपि मम मतिः बुद्धिः नित्यं सदा कार्यम् अकार्यं च विचारयति तच्छीला इति उचितानुचितविवेकिनी स्थिता तिष्ठति। फुल्लां लतामिवेति उपमालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥६॥

: अयमिति। तव वसन्तसेनायाः शरीरस्य अङ्गस्य प्रमाणाद् इव प्रमाणं कृत्वा इव निर्मितः रचितः अयं पुरोवर्ती अलङ्कारः अप्रकाशः अनुचितः प्रकाशो यस्य सोऽप्रकाशः [अप्रकाश्यः इति पाठान्तरं प्रकाशयितुमयोग्यः इत्यर्थः] हि खलु मत्स्नेहात् मयि स्नेहात् कारणाद् भवत्या अयं धार्यताम्। प्रमाणादिवेत्यत्युत्प्रेक्षा। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्॥७॥

शर्विलकः—इदमलङ्करणम् । (इति साशङ्कं समर्पयति)

मदनिका—(निरूप्य ।) दिट्ठपुरुव्वो विअ अअं अलंकारओ । ता भणेहि कुदो दे एसो । [दृष्टपूर्व इवायमलङ्कारः । तद्भण कुतस्त एषः ।

शर्विलकः—मदनिके, किं तवानेन । गृह्यताम् ।

मदनिका—(सरोषम् ।) जइ मे पच्चअं ण गच्छसि, ता किंणिमित्तं मं णिक्किणासि । [यदि मे प्रत्ययं न गच्छसि, तत्किंनिमित्तं मां निष्क्रीणासि ।]

शर्विलकः—अयि, प्रभाते मया श्रुतं श्रेष्ठिचत्वरे, यथा—'सार्थवाहस्य चारुदत्तस्य' इति ।

(वसन्तसेना मदनिका च मूर्च्छां नाटयतः)

शर्विलकः—मदनिके, समाश्वसिहि । किमिदानीं त्वं—

विषादस्रस्तसर्वाङ्गी संभ्रमभ्रान्तलोचना ।
नीयमानाऽभुजिष्यात्वं कम्पसे नानुकम्पसे ॥८॥

मदनिका—(समाश्वस्य) साहसिअ, ण क्खु तुए मम कारणादो इमं अकज्जं करन्तेण तस्सिं गेहे कोवि वावादिदो परिक्खदो वा । [साहसिक, न खलु त्वया मम कारणादिदमकार्यं कुर्वता तस्मिन्गेहे कोऽपि व्यापादितः परिक्षतो वा ।]

शर्विलकः—मदनिके, भीते सुप्ते न शर्विलकः प्रहरति । तन्मया न कश्चिद् व्यापादितो नापि परिक्षतः ।

मदनिका—सच्चम् । [सत्यम् ।]

शर्विलकः—सत्यम् ।

वसन्तसेना—(संज्ञां लब्ध्वा) अम्महे, पच्चुवजीविदम्हि । [आश्चर्यम्, प्रत्युपजीवितास्मि ।

मदनिका—पिअम् । [प्रियम् ।]

शर्विलकः—(सेर्ष्यम्) मदनिके, किं नाम प्रियमिति—

त्वत्स्नेहबद्धहृदयो हि करोम्यकार्यं
सद्वृत्तपूर्वपुरुषेऽपि कुले प्रसूतः ।

अयं जनः वसन्तसेनारूपः वेश्या हि अप्रकाश्यमलङ्कारं न धारयितुं शक्नोतीति भावः । पूर्वं दृष्टः इति दृष्टपूर्वः । कुतः कस्मात् स्थानात् एषः अलङ्कारः ते तव (हस्तगतो जातः) । मम प्रत्ययं विश्वासं न गच्छसि न प्राप्नोषि मयि न विश्वसिषि इति भावः । अयि इति सम्बोधनेऽव्ययम् ।

मूर्च्छितां मदनिकां दृष्ट्वा शर्विलकस्तां कथयति—विषादेति । इदानीं त्वम् अभुजिष्यात्वं भुजिष्या दासी तस्याः भावः भुजिष्यात्वं न भुजिष्यात्वम् अभुजिष्यात्वम्

शर्विलक—यह रहा आभूपण। (शङ्कापूर्वक दे देता है)

मदनिका—(देख कर) यह आभूपण पहले देखा हुआ सा है, तो बताओ यह तुम्हें कहाँ से मिला ?

शर्विलक—मदनिके, तुम्हें इससे क्या ? ग्रहण करो।

मदनिका—(क्रोधपूर्वक) यदि मेरे विश्वास को प्राप्त नहीं होते तो किस लिए धन देकर मुझे मुक्त कराते हो ?

शर्विलक—अरे, प्रातःकाल मैंने सेठों के चौक में यह सुना था कि—'सार्थवाह चारुदत्त का है।'

(वसन्तसेना और मदनिका मूर्च्छा का अभिनय करती हैं)

शर्विलक—मदनिके, धैर्य धरो। इस समय तुम क्यों—

दुःख से शिथिल सम्पूर्ण अंगों वाली घबराहट से भ्रान्त (चञ्चल) नेत्रों वाली (क्यों) कांप रही हो ? बन्धनमुक्त कराई जाती हुई तुम अनुग्रह (क्यों) नहीं करती हो ॥८॥

मदनिका—(धैर्य धरकर) हे साहसी, मेरे निमित्त से यह अनुचित कार्य करते हुए तुमने उस घर में कोई भी मारा (तो नहीं ?) अथवा घायल तो नहीं किया ?

शर्विलक—मदनिके डरे हुए और सोये हुए पर शर्विलक प्रहार नहीं करता है। तो मैंने न कोई मारा, न ही घायल किया।

मदनिका—सच ?

शर्विलक—सच।

वसन्तसेना—(चेतना पाकर) आश्चर्य ! पुनः जीवित हो गई हूँ।

मदनिका—प्रिय है।

शर्विलक—मदनिके, क्या है 'प्रिय' ?

सदाचारी थे पूर्व पुरुष जिसमें ऐसे कुल में उत्पन्न हुआ भी (मैं) तुम्हारे प्रेम के वशीभूत हृदय वाला होकर अनुचित कार्य करता हूँ। काम के द्वारा नष्ट हो गया है

अदास्यभावं नीयमाना प्राप्यमाणा विषादेन खेदेन स्रस्तानि गलितानि सर्वाणि अङ्गानि यस्याः तथाभूता सम्भ्रमेण भयेन भ्रान्ते चञ्चले लोचने नेत्रे यस्याः तादृशी च भूत्वा किं कथं कम्पसे कम्पिता जाता न अनुकम्पसे मयि अनुग्रह न करोषि। विभावना विशेषोक्तिश्चालङ्कारौ। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥२॥

व्यापादितः हतः। परिक्षतः आहतः।

मदनिकावचनं निशम्य शर्विलकश्चिन्तयति यत् चारुदत्तः एतस्याः प्रियः ततश्च मदनिकां प्रति कथयति—त्वदिति। सद्वृत्तं येषां ते सद्वृत्ताः सदाचारिणः सद्वृत्ताः पूर्वपुरुषाः यत्र तस्मिन् कुले प्रसूतः उत्पन्नः अपि अहं शर्विलकः त्वत्स्नेहेन

रक्षामि मन्मथविपन्नगुणोऽपि मानं
मित्रं च मां व्यपदिशस्यपरं च यासि ॥९॥

(साकूतम्)

इह सर्वस्वफलिनः कुलपुत्रमहाद्रुमाः ।
निष्फलत्वमलं यान्ति वेश्याविहगभक्षिताः ॥१०॥
अयं च सुरतज्वालः कामाग्निः प्रणयेन्धनः ।
नराणां यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥११॥

वसन्तसेना—(सस्मितम्) अहो, से अत्थाणे आवेओ । [अहो, अस्यास्थाने आवेगः ।]

शर्विलकः—सर्वथा—

अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति ।
श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्यो भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि ॥१२॥
स्त्रीषु न रागः कार्यो रक्तं पुरुषं स्त्रियः परिभवन्ति ।
रक्तैव हि रन्तव्या विरक्तभावा तु हातव्या ॥१३॥

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

तवानुरागेण बद्धं वशीकृतं हृदयं यस्य तादृशः सन् हि—अकार्यम् अनुचितं कर्म करोमि । तथा च मन्मथेन कामेन विपन्नाः नष्टाः गुणाः यस्य तादृशोऽपि मानं आत्मसम्मानं रक्षामि । किन्तु त्वं मां शर्विलकं मित्रं व्यपदिशसि वाचा दर्शयसि अपरं चारुदत्तं च यासि तेन सह मनसा प्रीतिं करोषीति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥९॥

पुनश्च शर्विलकः (साभिप्रायं=साकूतं) वेश्याजनं निन्दति—इहेति । इह अस्मिन् लोके सर्वस्वं सर्वधनमेव फलमेषामस्ति इति सर्वस्वफलिनः (टि०) कुलपुत्राः एव महाद्रुमाः महावृक्षाः वेश्या एव विहगाः पक्षिणः तैः भक्षिताः अलं पर्याप्तम् अत्यर्थं वा निष्फलत्वं फलराहित्यम् असफलतां वा यान्ति प्राप्नुवन्ति । साङ्गरूपकम् अलङ्कारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥१०॥

अयमिति । सुरतं रतिक्रीडा एव ज्वाला अग्निशिखा यस्य सः प्रणयः अनुराग एव इन्धनः यस्य सः अयं कामाग्निः काम एव अग्निः अस्ति । यत्र यस्मिन् नराणां यौवनानि धनानि च हूयन्ते भस्मसात् क्रियन्ते । साङ्गरूपकम् अलङ्कारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥११॥

गुण जिसका ऐसा होकर भी (अपने) सम्मान की रक्षा करता हूँ। तुम मुझको (मिथ्या ही) मित्र कहती हो, दूसरे (प्रेमी) के पीछे जाती हो अर्थात् किसी दूसरे से प्रेमी करती हो)

(अभिप्रायपूर्वक)

यहाँ (इस संसार में) अपनी समस्त सम्पत्ति ही जिनका फल है, ऐसे कुलीन पुत्र रूपी महान् वृक्ष वेश्या रूपी पक्षियों द्वारा खाये जाकर पूर्णतः निष्फलता (युवक पक्ष में—असफलता, वृक्ष पक्ष में—फलरहितता) को प्राप्त हो जाते हैं ॥१०॥

रति-क्रीड़ा जिसकी ज्वाला है (एवं) प्रेम जिसका इंधन है, ऐसी यह काम-वासना रूपी अग्नि है, जहाँ (जिस कामाग्नि में) मनुष्यों के यौवन और धन होम (भस्म नष्ट) किये जाते हैं ॥११॥

वसन्तसेना—(मुस्कराकर) अहो ! इसका आवेग (रोष) बिना अवसर (कारण) के ही है।

शर्विलक—हर प्रकार से—

वे मनुष्य मुझे मूर्ख लगते हैं जो स्त्रियों और सम्पत्ति पर विश्वास करते हैं। सम्पत्ति तथा स्त्रियाँ सर्पकन्याओं के समान कुटिल गमन करती हैं ॥१२॥

स्त्रियों पर प्रेम नहीं करना चाहिए, स्त्रियाँ प्रेमी (अनुरक्त) पुरुष को (भी) तिरस्कृत कर देती हैं। प्रेम करने वाली (स्त्री) के साथ ही रमण करना चाहिए, उदासीन (प्रेमहीन स्त्री) तो त्याग देनी चाहिए ॥१३॥

यह वास्तव में ठीक कहा जाता है—

अस्थाने अयुक्ते स्थाने, अनवसरे। आवेगः रोषः।

क्रुद्धः शर्विलकः वेश्याजनं निर्भर्त्स्य द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां स्त्रीमात्रं निन्दति—अपण्डिता इति। ये पुरुषाः स्त्रीषु श्रीषु सम्पत्तिषु च विश्वसन्ति विश्वासं कुर्वन्ति ते अपण्डिताः अज्ञानिनः मे मताः मम अभिमताः हि यतः श्रियः सम्पदः तथैव नार्यः भुजङ्गकन्यानां सर्पबालानां परिसर्पणानि तासामिव वक्रगमनानि कुर्वन्ति। अतस्ताः न विश्वासयोग्याः इति भावः। उपजातिः वृत्तम् ॥१२॥

स्त्रीषु इति। स्त्रीषु नारीषु रागः प्रीतिः न कार्यः कर्तव्यः। स्त्रियः रक्तम् अनुरागयुतं पुरुषं परिभवन्ति तिरस्कुर्वन्ति। हि यतः रक्ता अनुरागयुता एव नारी रन्तव्या रमणयोग्या भवति विरक्तभावा विरक्तः अनुरागशून्यः भावो यस्याः तादृशी तु नारी हातव्या परित्यक्तव्या। आर्या वृत्तम् ॥१३॥

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो-
विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः ॥१४॥

अपि च—

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः संध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागाः ।
स्त्रियो हृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥१५॥

स्त्रियो नाम चपलाः—

अन्यं मनुष्यं हृदयेन कृत्वा अन्यं ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति ।
अन्यत्र मुञ्चन्ति मदप्रसेकमन्यं शरीरेण च कामयन्ते ॥१६।

सूक्तं खलु कस्यापि——

न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति ।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो न वेशजाताः शुचयस्तथाङ्गनाः ॥१७॥

आः । दुरात्मन् चारुदत्तहतक ! अय न भवसि । (इति कतिचित् पदानि गच्छति)

मदनिका—(अञ्चले गृहीत्वा) अइ असंबद्धभासअ, असंभावणीए कुप्पसि । [अयि असंबद्धभापक, असंभावनीये कुप्यसि ।]

शर्विलकः—कथमसंभावनीयं नाम ।

स्त्रीमात्रं निन्दन् पुनः वेश्याजनं निन्दति—एता इति । एताः स्त्रियः वेश्याः वा वित्तहेतोः धनस्य कारणात् हसन्ति च दातुः विनोदार्थं रुदन्ति च जनानां हृदयं द्रवीकरणार्थम् इत्यर्थः । पुरुषं विश्वासयन्ति तस्य विश्वासम् उत्पादयन्ति तु किन्तु स्वयं न विश्वसन्ति । तस्मात् कारणात् कुलं च शीलं च ताभ्यां समन्वितेन युक्तेन नरेण श्मशानस्य सुमनाः पुष्पाणि मालतीलताः वा (टि०) इव वेश्याः गणिकाः वर्जनीयाः परित्यक्तव्याः । क्रियादीपकोपमयोः संसृष्टिः (काले) । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१४॥

पुनः स्त्रीणां स्वार्थपरतां वर्णयति—समुद्रेति । समुद्रस्य वीची तरङ्गः इव चलः चञ्चलः स्वभावो यासां तथाभूताः सन्ध्यायाः सायंकालस्य अभ्रलेखा मेघपङ्क्तिः इव मुहूर्तं क्षणं यावत् रागः अनुरागः [मेघ पक्षे—लालिमा] यासां तथाभूताः स्त्रियः हृतार्थाः हृतः अपहृतः अर्थः याभिस्ताः पुरुषाणां धनमपहृत्येति भावः अत एव निरर्थं धनहीनं पुरुषं निष्पीडितं निःसारितरसम् अलक्तकं लाक्षा तद्वत् त्यजन्ति । उपमालङ्कारः । उपजातिः वृत्तम् ॥१५॥

ये धन के कारण हँसती हैं, और रोती हैं, पुरुष को विश्वास दिलाती हैं किन्तु (स्वयं पुरुष का) विश्वास नहीं करती हैं, इस कारण कुल एवं शीलयुक्त पुरुष को श्मशान के पुष्पों (अथवा मालती पुष्पों) के समान-वेश्याएं त्याग देनी चाहिएं ॥१४॥

और भी—

समुद्र की लहर की भांति चञ्चल स्वभाव वाली, सान्ध्य मेघों की पंक्ति के समान क्षणिक राग (मेघ पक्ष में—लालिमा, स्त्रीपक्ष में-प्रेम) वाली स्त्रियाँ धन हरण करके निर्धन मनुष्य को निष्पीड़ित (सार अथवा रस निकाले हुए) अलक्तक की भाँति छोड़ देती हैं ॥१५॥

चञ्चल स्त्रियाँ—

हृदय में दूसरे पुरुष को रखकर तत्पश्चात् दृष्टि (संकेतों) से अन्य को बुलाती हैं, मदसिक्तता को कहीं अन्यत्र प्रवाहित करती हैं (छोड़ती हैं) और शरीर से दूसरे को ही चाहती हैं ॥१६॥

वस्तुतः किसी का कहा हुआ ठीक ही है—

पर्वत की चोटी पर कमलिनी नहीं उगती है, घोड़े के (द्वारा वहन करने योग्य) भार को गधे नहीं ले जा सकते हैं। (खेत में) बिखराये हुये (बोये हुये) यव धान नहीं हो जाते हैं, इसी प्रकार वेश्यालय में उत्पन्न हुई स्त्रियाँ पवित्र नहीं होती हैं ॥१७॥

अरे दुरात्मा चारुदत्त यह तुम न रह सकोगे। (कुछ डग चला जाता है)

मदनिका—(अञ्चल से उसे पकड़ कर, हे असङ्गत बोलने वाले, असम्भावित (जिसकी सम्भावना भी न की जा सके) पर क्रोध करते हो।

शर्विलक—असम्भावनीय कैसे है ?

अन्यमिति । चपलाः स्त्रियः हृदयेन अन्यं मनुष्यं कृत्वा स्वहृदये अपरं जनं धारयित्वा ततः तस्माद् अन्यं भिन्नं दृष्टिभिः कटाक्षैः आह्वयन्ति अन्यत्र अन्यस्मिन् जने मदस्य आनन्दस्य प्रसेकं सिञ्चनं प्रवाहं वा मुञ्चन्ति त्यजन्ति शरीरेण च अन्यं जनं कामयन्ते । दीपकालङ्कारः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥१६॥

नेति । पर्वताग्रे गिरिशृङ्गे नलिनी कमलिनी न प्ररोहति नोत्पद्यते । गर्दभाः रासभाः वाजिनां घोटकानाम्, अश्ववाह्यां इति भावः धुरं भारं न वहन्ति वोढुं न प्रभवन्ति । प्रकीर्णाः क्षेत्रेषु प्रक्षिप्ताः यवाः शालयः धानाः न भवन्ति तथा वेशजाताः वेशे वेश्यालये जाताः उत्पन्नाः अङ्गनाः नार्यः शुचयः पवित्राः न भवन्ति । दृष्टान्तालङ्कारः । द्वितीयचरणे उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् । शेषेषु च वंशस्थम् । प्रथमचरणे च पादान्तस्थं वर्णं गुरु ज्ञेयम् ॥१७॥

मदनिका—एसो क्खु अलंकारओ अज्जआकेरओ। [एष खल्वलङ्कार आर्यासंबन्धी।]

शर्विलकः—ततः किम्।

मदनिका—स च तस्स अज्जस्स हत्थे विणिक्खित्तो। [स च तस्यार्यस्य हस्ते विनिक्षिप्तः।]

शर्विलकः—किमर्थम्।

मदनिका—(कर्णे) एव्वं विअ। [एवमिव।]

शर्विलकः—(सवैलक्ष्यम्) भोः कष्टम्।

छायार्थं ग्रीष्मसंतप्तो यामेवाहं समाश्रितः।
अजानता मया सैव पत्रैः शाखा वियोजिता ॥१८॥

वसन्तसेना—कधं एसो वि संतप्पदि ज्जेव। ता अजाणन्तेण एदिणा एव्वं अणुचिट्ठिदम्। [कथमेषोऽपि संतप्यत एव। तदजानतैतेनैवमनुष्ठितम्।]

शर्विलकः—मदनिके किमिदानीं युक्तम्।

मदनिका—इत्थं तुमं ज्जेव पण्डिओ। [अत्र त्वमेव पण्डितः।]

शर्विलकः—नैवम्। पश्य।

स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः।
पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते ॥१९॥

मदनिका—सव्विलअ, जइ मम वअणं सुणीअदि, ता तस्स ज्जेव महाणुभावस्स पडिणिज्जादेहि। [शर्विलक, यदि मम वचनं श्रूयते, तदा तस्यैव महानुभावस्य प्रतिनिर्यातय।]

शर्विलकः—मदनिके, यद्यसौ राजकुले मां कथयति।

मदनिका—ण चन्दादो आदवो होदि। [न चन्द्रादातपो भवति।]

वसन्तसेना—साहु मदणिए, साहु। [साधु मदनिके, साधु।]

शर्विलकः—मदनिके,

असम्बद्धम् असङ्गतं भाषते इति असम्बद्धभापकः तत्सम्बुद्धौ। असम्भावनीये सम्भावयितुमपि अशक्ये। आर्यायाः वसन्तसेनायाः सम्बन्धी। विनिक्षिप्तः न्यासीकृतः।

मदनिका—यह आभूषण वास्तव में आर्या (वसन्तसेना) का है।

शर्विलक—उससे क्या ?

मदनिका—वह उन आर्य (चारुदत्त) के हाथ में धरोहर रक्खा गया था।

शर्विलक—किस लिये ?

मदनिका—(कान में) इसलिये।

शर्विलक—(लज्जापूर्वक) अरे, कष्ट है !

ग्रीष्म से सन्तप्त हुए मैंने जिसका छाया के लिये आश्रय लिया, मुझ अनजान के द्वारा वही शाखा पत्तों से रहित कर दी गई ॥१८॥

वसन्तसेना—क्या यह भी सन्ताप कर रहा है ? तो यह इसने न जानते हुए किया।

शर्विलक—मदनिके, अब क्या (करना) उचित है।

मदनिका—यहाँ (यह निर्णय करने में) तुम ही कुशल हो।

शर्विलक—ऐसा नहीं, देखो—

स्त्रियाँ तो वस्तुतः स्वभाव से ही कुशल होती हैं, पुरुषों की कुशलता तो शास्त्रों के द्वारा ही सिखाई गई होती है ॥१९॥

मदनिका—शर्विलक यदि मेरी बात सुनते हो, तब (तो) उसी महानुभाव (आर्य चारुदत्त) को लौटा दो।

शर्विलक—मदनिके, यदि वह राजकुल में मेरे विरुद्ध (मुझे) कह देता है।

मदनिका—चन्द्रमा से गर्मी नहीं होती।

वसन्तसेना—बहुत अच्छी मदनिके, बहुत अच्छी।

शर्विलक—मदनिके,

छायेति। ग्रीष्मसंतप्तः ग्रीष्मेण संतप्तः अहं शर्विलकः छायार्थं छायायाः प्राप्तये यां शाखाम् एव समाश्रितः आश्रितवान् अजानता ज्ञानाभाववता मया सा एव शाखा पत्रैः वियोजिता पत्रहीना कृता। अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥१८॥

स्त्रिय इति। एताः स्त्रियः निसर्गाद् एव स्वभावतः एव पण्डिताः निपुणाः खलु नाम इति निश्चितम्। तु किन्तु पुरुषाणां पाण्डित्यं चातुर्यं शास्त्रैः एव उपदिश्यते शिक्ष्यते न तु स्वभावात्तेषां पाण्डित्यं भवतीति भावः ॥१९॥

प्रतिनिर्यातय निवर्तय। यथा चन्द्राद् आतपः न भवति तथैव चारुदत्ताद् अपि कस्यचित् जनस्य क्लेशो न संभवति इति भावः।

न खलु मम विषादः साहसेऽस्मिन्भयं वा
कथयसि हि किमर्थं तस्य साधोर्गुणांस्त्वम् ।
जनयति मम वेदं कुत्सितं कर्म लज्जां
नृपतिरिह शठानां मादृशां किं न कुर्यात् ॥२०॥

तथापि नीतिविरुद्धमेतत् । अन्य उपायश्चिन्त्यताम् ।

मदनिका—सो अअं अवरो उवाओ । [सोऽयमपर उपायः ।]

वसन्तसेना—को क्खु अवरो उवाओ हुविस्सदि । [कः खल्वपर उपायो भविष्यति ।]

मदनिका—तस्स ज्जेव अज्जस्स केरओ भविअ एदं अलंकारअं अज्जआए उवणेहि । [तस्यैवार्यस्य संबन्धी भूत्वेममलङ्कारकमार्याया उपनय ।]

शर्विलकः—एवं कृते किं भवति ।

मदनिका—तुमं दाव अचोरो, सो वि अज्जो अरिणो, अज्जआए सकं अलंकारअं उवगदं भोदि । [त्वं तावदचोरः, सोऽप्यार्योऽनृणः, आर्यया स्वकोऽलङ्कार उपगतो भवति ।]

शर्विलकः—नन्वतिसाहसमेतत् ।

मदनिका—अइ उवणेहि । अण्णधा अदिसाहसम् । [अयि, उपनय । अन्यथातिसाहसम् ।]

वसन्तसेना—साहु मदणिए, साहु । अभुजिस्सए विअ मन्तिदम् । [साधु मदनिके, साधु । अभुजिष्ययेव मन्त्रितम् ।]

शर्विलकः—

मयाप्ता महती बुद्धिर्भवतीमनुगच्छता ।
निशायां नष्टचन्द्रायां दुर्लभो मार्गदर्शकः ॥२१॥

मदनिका—तेण हि तुमं इमस्सिं कामदेवगेहे मुहुत्तअं चिट्ठ, जाव अज्जआए तुह आगमणं णिवेदेमि । [तेन हि त्वमस्मिन्कामदेवगेहे मुहूर्तकं तिष्ठ, यावदार्यायै तवागमनं निवेदयामि ।]

मदनिकावचनं निशम्य शर्विलकः कथयति—नेति । अस्मिन् साहसे अपहृतद्रव्यस्य समर्पणरूपे साहसकार्ये मम शर्विलकस्य विषादः खेदः भयं वा न खलु वस्तुतः नास्ति पुनरपि त्वं मदनिका तस्य साधोः सत्पुरुषस्य गुणान् औदार्यादीन् हि किमर्थं किं निमित्तं कथयसि । वा अथवा इदं चौर्यरूपं कुत्सितं निन्दितं कर्म कार्यं मम लज्जां जनयति उत्पादयति अन्यथा इह अस्मिन् विषये नृपतिः राजा मादृशानां शठानां

इस साहस (चारुदत्त को आभूषण लौटाने के कार्य) में वस्तुतः मुझे दुःख अथवा भय नहीं है। उस सज्जन (आर्य चारुदत्त) के गुणों को तुम किस लिये कहती हो ? अथवा यह कुत्सित कर्म मुझ में लज्जा उत्पन्न करता है। राजा मेरे जैसे धूर्तों का यहाँ क्या कर सकता है ? ॥२०॥

फिर भी यह नीतिविरुद्ध है। दूसरा उपाय सोचो।

मदनिका—वह दूसारा उपाय यह है।

वसन्तसेना—दूसरा उपाय क्या होगा ?

मदनिका—उस आर्य (चारुदत्त) का ही सम्बन्धी होकर इस आभूषण को आर्या (वसन्तसेना) को दे दो।

शर्विलक—ऐसा करने पर क्या होगा ?

मदनिका - तुम चोर नहीं (सिद्ध) होते, वह आर्य (चारुदत्त) भी उऋण हो जाते हैं, आर्या (वसन्तसेना) के द्वारा अपना आभूषण प्राप्त कर लिया जाता है।

शर्विलक—किन्तु यह अति साहस (का कार्य) है।

मदनिका—अरे ले जाओ, अन्यथा (यदि नहीं लौटाते हो तो) अति साहस (का कार्य) हो जायगा।

वसन्तसेना—साधु ! मदनिके, साधु ! दासीत्व बन्धन से मुक्त (स्त्री) की भांति ही (तुमने) कहा।

शर्विलक—आपका अनुसरण करते हुए मैंने विशद बुद्धि प्राप्त की। जिस रात्रि में चन्द्रमा अस्त हो जाता है, उसमें पथ-प्रदर्शन करने वाला दुष्प्राप्य होता है (विवेक-भ्रष्ट मुझको आपने उचित मार्ग प्रदर्शित किया है) ॥२१॥

मदनिका—अतः इस कामदेव-गृह में तुम क्षण भर बैठो, जब तक आर्या (वसन्तसेना) से तुम्हारे आने की सूचना दिये देती हूँ।

धूर्तानां किं नु कुर्यात् सः न किमपि कर्तुं प्रभवतीति भावः। काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः। मालिनी वृत्तम् ॥२०॥

अभुजिष्या इव दासीत्वबन्धनात् मुक्ता इव। यथा कलत्रं मन्त्रयति तथेति भावः

मदनिकायाः वचनं निशम्य हृष्टः शर्विलकः कथयति—मयेति। भवतीं मदनिकाम् अनुगच्छता अनुसरता मया शर्विलकेन महती बुद्धिः आप्ता प्राप्ता। नष्टः न दृष्टः चन्द्रः यस्यां तथाभूतायां निशायाम् अन्धकाराच्छन्नायां रात्र्यां मार्गदर्शकः पथदर्शकः दुर्लभः भवति ॥२१॥

कामदेवगेहे मदनदेवगृहे भवने।

शर्विलकः—एवं भवतु ।

मदनिका—(उपसृत्य) अज्जए, एसो क्खु चारुदत्तस्स सआसादो बम्हणो आअवो । [आर्ये, एष खलु चारुदत्तस्य सकाशाद् ब्राह्मण आगतः ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, तस्स केरअं त्ति कधं तुमं जाणासि । [आर्ये, आत्मसंबन्धिनमपि न जानामि ।]

वसन्तसेना—(स्वगतं सशिरः कम्पं विहस्य) जुज्जदि । (प्रकाशम्) पविसदु । [युज्यते । प्रविशतु ।]

मदनिका—जं अज्जआ आणवेदि । (उपगम्य) पविसदु सव्विलओ । [यदार्याज्ञापयति । प्रविशतु शर्विलकः ।]

शर्विलकः—(उपसृत्य सवैलक्ष्यम्) स्वस्ति भवत्यै ।

वसन्तसेना—अज्ज, वन्दामि । उववसिदु अज्जो । [आर्य, वन्दे उपविशत्वार्यः ।]

शर्विलकः—सार्थवाहस्त्वां विज्ञापयति—'जर्जरत्वाद् गृहस्य दूरक्ष्यमिदं भाण्डम् । तद्गृह्यताम्' । (इति मदनिकायाः समर्प्य प्रस्थितः)

वसन्तसेना—अज्ज, ममावि दाव पडिसंदेसं तहिं अज्जो णेदु । [आर्य, ममापि तावत्प्रतिसन्देशं तत्रार्यो नयतु ।]

शर्विलकः—(स्वगतम् ।) कस्तत्र यास्यति । (प्रकाशम् ।) कः प्रतिसन्देशः ।

वसन्तसेना—पडिच्छदु अज्जो मदणिअम् । [प्रतीच्छत्वार्यो मदनिकाम् ।]

शर्विलकः—भवति, न खल्ववगच्छामि ।

वसन्तसेना—अहं अवगच्छामि । [अहमवगच्छामि ।]

शर्विलकः—कथमिव ।

वसन्तसेना—अहं अज्जचारुदत्तेण भणिदा—'जो इमं अलंकारअं समप्पइस्सदि तस्स तुए मदणिआ दादव्वा' । ता सो ज्जेव एवं दे देदित्ति एव्वं अज्जेण अवगच्छिदव्वम् । [अहमार्यचारुदत्तेन भणिता—'य इममलङ्कारकं समर्पयिष्यति तस्य त्वया मदनिका दातव्या । तत् स एवैतां ते ददातीत्येवमार्येणावगन्तव्यम् ।]

शर्विलकः—(स्वगतम्) अये विज्ञातोऽहमनया (प्रकाशम्) साधु आर्यचारुदत्त, साधु ।

गुणेष्वेव हि कर्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः सदा ।
गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः ॥२२॥

शर्विलक—ऐसा ही हो।

मदनिका— (समीप आकर) आर्ये, यह (आर्य) चारुदत्त के पास से ब्राह्मण आया है।

वसन्तसेना—चेटि, तुम कैसे जानती हो कि उन (चारुदत्त) का सम्बन्धी है?

मदनिका—आर्ये, (क्या मैं) अपने सम्बन्धी (जन) को भी नहीं जानती?

वसन्तसेना—(अपने आप सिर हिलाकर, हँस कर) ठीक है। (प्रकट रूप में) प्रवेश करे।

मदनिका—जो आर्या आज्ञा देती हैं। (समीप जाकर) शर्विलक प्रविष्ट हों।

शर्विलक—(समीप जाकर व्याकुलतापूर्वक) आपका कल्याण हो।

वसन्तसेना—आर्य वन्दना करती हूँ। आर्य, बैठिये।

शर्विलक—सार्थवाह (चारुदत्त) आपसे कहते हैं—'घर के जर्जर होने से इस स्वर्ण-पात्र को सुरक्षित रखना कठिन है। इसलिये इसे ग्रहण कीजिये (मदनिका को देकर चल देता है)

वसन्तसेना—आर्य, मेरा भी प्रतिसन्देश वहाँ आप ले जायें।

शर्विलक—(अपने आप) कौन जायगा वहाँ? (प्रकट रूप में) क्या प्रतिसन्देश है?

वसन्तसेना—आर्य मदनिका को स्वीकार करें।

शर्विलक—आर्ये, मैं समझा नहीं।

वसन्तसेना—मैं समझती हूँ।

शर्विलक—किस प्रकार?

वसन्तसेना—मुझे आर्य चारुदत्त ने कहा था 'जो इस आभूषण को समर्पित करे तुम्हें उसको मदनिका दे दी जानी चाहिये। तो वह (आर्य चारुदत्त) ही तुम्हें इस (मदनिका) को दे रहे हैं, ऐसा आर्य (आप) को समझना चाहिये।

शर्विलक—(अपने आप) अरे! इसने मुझे पहिचान लिया (प्रकट रूप में) धन्य! आर्य चारुदत्त, धन्य!

मनुष्यों को सदा गुणों (के अर्जन) में ही प्रयत्न करना चाहिये। गुणवान् दरिद्र भी गुणहीन धनिकों के समान नहीं हैं (अपितु उनसे बढ़कर हैं) ॥२२॥

सवैलक्ष्यं व्याकुलतापूर्वकं, लज्जापूर्वकम्। दूरक्ष्यं रक्षितुं दुःशक्यम्। अवगच्छामि जानामि।

वसन्तसेनायाः उदारां वाचं निशम्य शर्विलकः ~~चारुदत्तं~~ प्रशंसति—गुणेष्विति। पुरुषैः जनैः सदा गुणेषु औदार्यादिषु एव प्रयत्नः कर्तव्यः अतः गुणयुक्तः दरिद्रः निर्धनः अपि अगुणैः गुणरहितैः ईश्वरैः धनिकैः समः न अपितु तेभ्योऽधिक इति भावः। अप्रस्तुतप्रशंसा। अनुष्टुप् वृत्तम् ॥२२॥

अपि च ।

गुणेषु यत्नः पुरुषेण कार्यो न किञ्चिदप्राप्यतमं गुणानाम् ।
गुणप्रकर्षादुडुपेन शम्भोरलङ्घ्यमुल्लङ्घितमुत्तमाङ्गम् ॥२३॥

वसन्तसेना—को एत्थ पवहणिओ । [कोऽत्र प्रवहणिकः ।]

(प्रविश्य सप्रवहणः)

चेटः—अज्जए, सज्जं प्रवहणम् । [आर्ये, सज्जं प्रवहणम् ।]

वसन्तसेना—हञ्जे मअणिए, सुदिट्टं मं करेहि । दिण्णासि । आरुह पवहणम् । सुमरेसि मम् । [चेटि मदनिके, सुदृष्टां मां कुरु । दत्तासि । आरोह प्रवहणम् । स्मरसि माम् ।]

मदनिका–(रुदती) परिच्चत्तम्हि अज्जआए । [परित्यक्तास्म्यार्यया ।] (इति पादयोः पतति)

वसन्तसेना—संपदं तुमं ज्जेव वन्दणीआ संवुत्ता । ता गच्छ । आरुह पवहणम् । सुमरेसि मम् । [सांप्रतं त्वमेव वन्दनीया संवृत्ता । तद्गच्छ । आरोह प्रवहणम् । स्मरसि माम् ।]

शर्विलकः—स्वस्ति भवत्यै । मदनिके,

सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः ।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम् ॥२४॥

(इति मदनिकया सह प्रवहणमारुह्य गन्तुं प्रवृत्तः)

(नेपथ्ये)

कः कोऽत्र भोः । राष्ट्रियः समाज्ञापयति 'एष खल्वार्यको गोपालदारको राजा भविष्यतीति सिद्धादेशप्रत्ययपरित्रस्तेन पालकेन राज्ञा घोषादानीय घोरे बन्धनागारे बद्धः । ततः स्वेषु स्वेषु स्थानेष्वप्रमत्तैर्भवद्भिर्भवितव्यम् ।

गुणेष्विति । पुरुषेण जनेन गुणेषु औदार्यादिषु यत्नः कार्यः कर्तव्यः यतो हि गुणानां किञ्चित् किमपि अप्राप्यतमम् अत्यन्तम् अलभ्यं न भवति गुणवद्भिः सर्वं सुखेन लब्धुं शक्यते इति भावः । एतदेव विशेषेण समर्थयति गुणप्रकर्षाद् गुणाधिक्याद् उडुपेन उडुपतिना चन्द्रेण अलङ्घ्यं लङ्घयितुम् अशक्यमपि शम्भोः शिवस्य उत्तमाङ्गं मस्तकं लङ्घितम् अधिगतम् । अर्थान्तरन्यासः । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥२३॥

त्वमेव वन्दनीया - वधूत्वात् त्वमेव पूज्या जाता ।

मदनिकया सह स्वगृहं गन्तुकामः शर्विलकः मदनिकां निर्दिशति—सुदृष्ट इति । एष जनः वसन्तसेना सुदृष्टः शोभनमवलोकितः क्रियताम् शिरसा नतमस्तकेन च वन्द्यतां प्रणम्यताम् । यत्र यस्मिन् जने यस्मात् कारणाद् वा दुर्लभं दुःखेन

और भी—

गुणों (के अर्जन) में सदा मनुष्य को यत्न करना चाहिये, गुणों के द्वारा कुछ भी अलभ्य नहीं है। (अपने) गुणों के उत्कर्ष के कारण नक्षत्रपति चन्द्रमा ने शिवजी के दुष्प्राप्य (दुर्लङ्घ्य) मस्तक को आक्रान्त कर लिया (अथवा-मस्तक पर आसीन हो गया) ॥२३॥

वसन्तसेना—कोई गाड़ीवान् (वहलवान्) है यहाँ ?

(प्रवहण सहित प्रवेश करके)

चेट—आर्ये प्रवहण(वहली) तैयार है।

वसन्तसेना—चेटि मदनिके, मुझे भली प्रकार देख लो। तुम दे दी गई हो। गाड़ी पर चढ़ो। मुझे स्मरण रखना।

मदनिका—(रोती हुई) आर्या के द्वारा त्याग दी गई हूँ। (पैरों पर गिरती है)।

वसन्तसेना—अब तो तुम ही वन्दनीय हो गई हो। तो जाओ। प्रवहण पर चढ़ो। मुझे स्मरण रखना।

शर्विलक—आपका कल्याण हो। मदनिके,

इस जन (वसन्तसेना) को भली प्रकार देख लो, (झुके हुए) सिर से वन्दना करो, जिससे तुम्हें वधू शब्द का दुर्लभ आवरण प्राप्त हुआ है (अर्थात् अब विवाहित हो जाने पर तुम्हारा वेश्या नाम न रह कर 'वधू' यह पवित्र नाम हो गया है। 'वेश्या' नाम को पवित्र वधू, नाम ने ढक लिया है) ॥२४॥

(मदनिका के साथ प्रवहण पर चढ़कर जाने को प्रवृत्त होता है।)

(नेपथ्य में)

अरे, यहाँ कौन-कौन हैं ? राष्ट्रिय (दे० टिप्पणी) आज्ञा देते हैं—

'यह गोपाल का पुत्र आर्यक राजा हो जायगा, इस सिद्धवचन (भविष्यवाणी) में विश्वास (करने) से भयभीत हुए राजा पालक ने (वह गोपालदारक) अहीरों की बस्ती से लाकर कारागार (बन्धनागार) में बन्द कर दिया है इसलिए अपने-अपने स्थानों पर आप सबको सावधान हो जाना चाहिये।'

लभ्यं वधूशब्द एव अवगुण्ठनम् आवरणं ते तव प्राप्तम्, यस्याः कृपया त्वं वधूशब्दस्य भाजनं जातेति भावः। अत्र च—"हेतावाधारविवक्षया 'यत्र' इति सप्तमी कर्तुः शेषत्वविवक्षया 'ते' इति षष्ठी" इति पृथ्वीधरः। काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥२४॥

राष्ट्रियः राष्ट्रे अधिकृतः। 'राष्ट्रावारपाराद् घखौ ४।२।९३ इति घः। अथवा राज्ञः श्यालः—'राजश्यालस्तु राष्ट्रियः' इत्यमरः।

सिद्धस्य आदेशे वचने प्रत्ययात् विश्वासात् परित्रस्तः भीतः तेन घोषात् गोपालग्रामात्। अप्रमत्तैः सावधानैः।

शर्विलकः—(आकर्ण्य) कथं राज्ञा पालकेन प्रियसुहृदार्यको मे बद्धः। कलत्रवांश्चास्मि संवृत्तः। आः, कष्टम्। अथवा—

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च।
संप्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः ॥२५॥

भवतु अवतरामि (इत्यवतरति)

मदनिका—(सास्रमञ्जलिं बद्ध्वा) एव्वं णेदम्। ता परं णेदु मं अज्जउत्तो समीवं गुरुअणाणम्। [एवं न्विदम्। तत्परं नयतु मामार्यपुत्रः समीपं गुरुजनानाम्।]

शर्विलकः—साधु प्रिये, साधु। अस्मच्चित्तसदृशमभिहितम्। (चेटमुद्दिश्य) भद्र, जानीषे रेभिलस्य सार्थवाहस्योदवसितम्।

चेटः—अध इं। [अथ किम्।]

शर्विलकः—तत्र प्रापय प्रियाम्।

चेटः—जं अज्जो आणवेदि। [यदार्य आज्ञापयति।]

मदनिका—जधा अज्जउत्तो भणादि, अप्पमत्तेण दाव अज्जउत्तेण होदव्वम्। [यथार्यपुत्रो भणति, अप्रमत्तेन तावदार्यपुत्रेण भवितव्यम्।] (इति निष्क्रान्ता)

शर्विलकः—अहमिदानीं—

जातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्
राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान्
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः ॥२६॥

अपि च—

मम सुहृद् आर्यकः राज्ञा पालकेन बन्धनागारे बद्धः, तस्य साहाय्यकरणे च नवपरिणीता मदनिका विघ्नरूपेति विचार्य शर्विलकः कथयति—द्वयमिति। सुहृद् मित्रं वनिता स्वपत्नी च इदं द्वयं लोके अस्मिन् जगति नराणाम् अतीव प्रियम् अस्ति। सम्प्रति इदानीं मित्रस्य विपत्तिकाले तु सुन्दरीणां शताद् अपि सुहृद् मम मित्रं आर्यकः विशिष्टतमः अतिशयेन विशिष्टः तस्य रक्षायाः अत्यावश्यकत्वात्। तस्य रक्षार्थं मदनिकाऽपि उपेक्षणीयेति भावः। आर्या वृत्तम् ॥२५॥

एवं नेदमिति पाठान्तरम्। गुरुजनानां शर्विलकस्य सम्बन्धिजनानाम्। अस्मच्चित्तस्य मम मनसः सदृशम् अनुकूलम्। उदवसितं गृहम्। अप्रमत्तेन सावधानेन शर्विलकः आर्यकस्य रक्षणे स्वकर्तव्यं कथयति-जातीन् इति। इदानीम् अहम्

शर्विलक—(सुनकर) क्या, राजा पालक ने मेरा प्रिय मित्र आर्यक पकड़ लिया ? (मैं) पत्नी वाला हो गया हूँ। हाय ! कष्ट है !

अथवा—

इस संसार में मित्र और स्त्री दोनों ही मनुष्यों के अत्यन्त प्रिय हैं, इस समय (मित्र पर संकट आने पर) तो सौ सुन्दरियों से भी (अकेला) मित्र अधिक मुख्य है ॥२५॥

अच्छा · उतरता हूँ। (उतर जाता है)

मदनिका—(आँसुओं सहित, हाथ जोड़कर) यह ऐसा ही हो। आर्यपुत्र मुझे शीघ्रता से गुरुजनों के समीप पहुँचा दें।

शर्विलक—धन्य ! प्रिये, धन्य ! हमारे मन के अनुकूल ही कहा। (चेट को लक्ष्य करके) भद्र (सज्जन), सार्थवाह रेभिल का घर जानते हो ?

चेट—और क्या ?

शर्विलक—वहाँ प्रिया (मदनिका) को पहुँचा दो।

चेट—जो आर्य आज्ञा देते हैं।

मदनिका—जैसा आर्यपुत्र कहते हैं। तब आर्यपुत्र को भी सावधान रहना चाहिये।

(निकल जाती है)

शर्विलक—मैं इस समय—

(अपने एवं आर्यक के) सम्बन्धियों, विटों, अपनी भुजाओं के पराक्रम से यश प्राप्त करने वालों, राजा के (द्वारा किये गये) अपमान से क्रोधित हुए लोगों एवं राजसेवकों को मित्र (आर्यक) की मुक्ति कराने के लिये ठीक उसी प्रकार उत्तेजित करता हूँ जैसे यौगन्धरायण (मन्त्री ने राजा उदयन की मुक्ति के लिये किया था ॥२६॥

और भी

यौगन्धरायणः एतन्नामकः प्रधानामात्यः उदयनस्य राज्ञः (रक्षणाय) इव सुहृदः स्वमित्रस्य आर्यकस्य परिमोक्षणाय बन्धनागाराद् मोचनाय ज्ञातीन् बान्धवान् विटान् स्वभुजविक्रमेण स्वभुजपराक्रमेण लब्धः वर्णः कीर्तिः यैः तान् राज्ञः अपमानेन कुपितान् रुष्टान् नरेन्द्रभृत्यान् राजसेवकान् च उत्तेजयामि राज्ञः पालकस्य विनाशार्थं प्रोत्साहयामि। अत्र हि कथासरित्सागरस्येयं कथा स्मर्तव्या—एकदा उज्जयिनी-नृपेण चण्डसेनेन वत्सराजः उदयनः कारागारे बद्धः ततः उदयनस्य प्रधानामात्येन यौगन्धरायणेन ज्ञात्यादीन् प्रोत्साह्य वत्सराजः कारागाराद् मोचितः। उपमालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२६॥

प्रियेति। आहितात्मशङ्कैः असाधुभिः रिपुभिः अकारणे गृहीतं राहुमुखे स्थितं शशाङ्कबिम्बमिव प्रियसुहृदं सरभसम् अभिपत्य मोचयामि, इत्यन्वयः।

प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं
रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशङ्कैः ।
सरभसमभिपत्य मोचयामि
स्थितमिव राहुमुखे शशाङ्कबिम्बम् ॥२७॥

(इति निष्क्रान्तः)

(प्रविश्य)

चेटः—अज्जए, दिट्टिआ वड्ढसि । अज्जचारुदत्तस्स सआसादो बह्मणो आअदो । [आर्ये, दिष्टया वर्धसे । आर्यचारुदत्तस्य सकाशाद् ब्राह्मण आगतः ।

वसन्तसेना—अहो रमणीअदा अज्ज दिवसस्स ! ता हञ्जे, सादरं बन्धुलेण समं पवेसेहि णम् । [अहो, रमणीयताद्य दिवसस्य । तच्चेटि, सादरं बन्धुलेन समं प्रवेशयैनम् ।]

चेटी—जं अज्जआ आणवेदि । [यदार्याज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

(विदूषको बन्धुलेन सह प्रविशति)

विदूषकः—ही ही भोः, तवच्चरणकिलेसविणिज्जिदेण रक्खसराआ रावणो पुप्फकेण विमाणेण गच्छदि । अहं उण बह्मणो अकिदतवच्चरणकिलेसो वि णरणारीजणेण गच्छामि । [आश्चर्यं भोः, तपश्चरणक्लेशविनिर्जितेन राक्षसराजो रावणः पुष्पकेण विमानेन गच्छति । अह पुनर्ब्राह्मणोऽकृततपश्चरणक्लेशोऽपि नरनारीजनेन गच्छामि ।]

चेटी—पेक्खदु अज्जो अह्मकेरकं गेहदुआरम् । [प्रेक्षतामार्योऽस्मदीयं गेहद्वारम् ।]

विदूषकः—(अवलोक्य सविस्मयम्) अहो सलिलसित्तमज्जिदकिदहरिदोवलेवणस्स, विविहसुअन्धिकुसुमोवहारचित्तलिहिदभूमिभाअस्स, गअणतलअलोअणकोदूहलदूरुण्णामिदसीसस्स, दोलाअमाणावलम्बिदैरावणहत्थब्भमाइदमल्लिआदामगुणालंकिदस्स, समुच्छिददन्तिदन्ततोरणावभासिदस्स, महारअणोवराओवसोहिणा पवणबलन्दोलणालसन्तचञ्चलग्गहत्थेण 'इदो एहि' त्ति वाहरन्तेण विअ मं सोहग्गपडाआणिवहेणोवसोहिदस्स, तोरणधरणत्थम्भवेदिआणिक्खित्तसमुल्लसन्तहरिचूदपल्लवललामफटिअमङ्गलकलसाभिरामोहअपासस्स, महासुरवक्खत्थलदुब्भेज्जवज्जणिरन्तरपडिबद्धकणअकवाडस्स, दुग-

---

आहिता कृता आत्मनि शङ्का आर्यकाद् स्वविनाशशङ्का यैः तैः असाधुभिः दुर्जनैः रिपुभिः शत्रुभिः अकारणे असत्यपि कारणे गृहीतं कारागारे बद्धं राहुमुखे स्थितं शशाङ्कस्य बिम्बं चन्द्रबिम्बम् इव प्रियसुहृदं प्रियमित्रम् आर्यकं सरभसं सवेगं

जिन्होंने स्वयं ही (अपने नाश की) शंका की है ऐसे असज्जन शत्रुओं के द्वारा अकारण ही पकड़े हुए एवं राहु के मुख में चन्द्रविम्ब के समान स्थित प्रिय मित्र आर्यक को (शत्रुओं पर) अचानक आक्रमण कर छुड़ाता हूँ ॥२८॥

(वाहर निकल जाता है)

(प्रवेश करके)

चेटी—आर्ये, सौभाग्य से बढ़ रही हो। आर्य चारुदत्त के पास से ब्राह्मण आया है।

वसन्तसेना—अहा, आज का दिन कितना रमणीय है ? तो चेटि, बन्धुल के साथ इन्हें सादर प्रवेश कराओ।

चेटी--जो आर्या आज्ञा देती हैं। (निकल जाती है)

(विदूषक बन्धुल के साथ प्रवेश करता है)

विदूषक—अरे, आश्चर्य है ! तपस्या के कष्ट से जीते हुए पुष्पक विमान से राक्षसराज रावण जाया करता था, किन्तु मैं ब्राह्मण तपस्या का कष्ट किये बिना ही पुरुष एवं स्त्रीजन से (सेवित होता हुआ) जा रहा हूँ।

चेटी—आर्य, हमारे गृह-द्वार को देखिए।

विदूषक—(देखकर आश्चर्यपूर्वक) पानी छिड़ककर—झाड़ू लगाकर (तत्पश्चात्) जहाँ हरे रंग (के गोवर) से लीपा गया है, जहाँ का भूमि भाग विभिन्न प्रकार के सुगन्धित पुष्पों के उपहारों से चित्रित-सा लग रहा है, आकाश को देखने के कौतूहल के कारण जिसने अपना सिर (ऊपरी भाग) ऊपर उठा रक्खा है, जो नीचे लटककर हिलते हुए ऐरावत हाथी के सूंड का भ्रम उत्पन्न करने वाली मल्लिका पुष्प की माला से शोभित है, अत्युन्नत हाथी दांत के तोरण से जो सुशोभित है; महान् रत्नों की लालिमा (आभा) से विभूषित तथा वायुवेग से हिलने के कारण चलायमान एवं चञ्चल हुए अग्रभाग रूपी हाथ से 'यहाँ आइये' इस प्रकार मुझे पुकारते हुए से सौभाग्य-

---

समभिपत्य शत्रुमभि गत्वा मोचयामि। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥२७॥

बन्धुलः परगृहललिताः (४।२८) इत्यादिना बन्धुललक्षणं करिष्यते [बन्धुलस्त्व-सतीसुतः इत्यमरः।]

तपश्चरणस्य तपस्यायाः क्लेशेन कष्टेन विनिर्जितं कुबेरं पराजित्य प्राप्तं तेन। न कृतः तपश्चरणस्य क्लेशः येन तादृशः।

विदूषकः वसन्तसेनायाः भवनद्वारं वर्णयति—सलिलेति। अत्र षष्ठ्यन्तानि पदानि वसन्तसेनाद्वारस्य विशेषणानि। पूर्वं सलिलेन जलेन सिक्तं ततः मार्जितं मार्जन्या शोधितं तत्पश्चाद् च कृतं हरितवर्णेन गोमयादिना उपलेपनं यस्य तादृशस्य (भवनद्वारस्य), विविधानां सुगन्धिकुसुमानां सुरभितपुष्पाणाम् उपहारः चित्रं यथा

दजणमणोरहाआसकरस्स, वसन्तसेणाभवणदुआरस्स सस्सिरीअदा। जं सच्चं मज्झत्थस्स वि जणस्स बलाद्दिट्ठिं आआरेदि। [अहो सलिलसिक्तमार्जितकृतहरितोपलेपनस्य, विविधसुगन्धिकुसुमोपहारचित्रलिखितभूमिभागस्य, गगनतलावलोकनकौतूहलदूरोन्नामितशीर्षस्य, दोलायमानावलम्बितैरावणहस्तभ्रमागतमल्लिकादामगुणालङ्कृतस्य, समुच्छ्रितदन्तिदन्ततोरणावभासितस्य, महारत्नोपरागोपशोभिना पवनबलान्दोलनाललच्चञ्चलाग्रहस्तेन 'इत एहि' इतिव्याहरतेव मां सौभाग्यपताकानिवहेनोपशोभितस्य, तोरणधरणस्तम्भवेदिकानिक्षिप्तसमुल्लसद्धरितचूतपल्लवललामस्फटिकमङ्गलकलशाभिरामोभयपार्श्वस्य, महासुरवक्षः स्थलदुर्भेद्यवज्रनिरन्तरप्रतिबद्धकनककपाटस्य, दुर्गतजनमनोरथायासकरस्य, वसन्तसेनाभवनद्वारस्य सश्रीकता। यत्सत्यं मध्यस्थस्यापि जनस्य बलाद्दृष्टिमाकारयति।]

चेटी—एदु एदु। इमं पढमं पओट्ठं पविसदु अज्जो। [एत्वेतु। इमं प्रथमं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।]

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भोः, इधो वि पढमे पओट्ठे ससिसङ्खमुणालसच्छाहाओ, विणिहिदचुण्णमुट्ठिपाण्डुराओ, विविहरअणपडिबद्धकञ्चणसोबाणसोहिदाओ, पासादपन्तिओ, ओलम्बिदमुत्तादामेहिं फटिअवादाअणमुहचन्देहिं णिज्झाअन्ती विअ उज्जइणिम्। सोत्तिओ विअ सुहोवविट्ठो णिद्दाअदि दोवारिओ। सदहिणा कलमोदणेण पलोहिदा ण भक्खन्ति वाअसा बलिं सुधासवण्णदाए। आदिसदु भोदि। [आश्चर्यं भोः, अत्रापि प्रथमे प्रकोष्ठे शशिशङ्खमृणालसच्छायाः, विनिहित-

---

स्यात् तथा लिखितः भूमिभागो यस्य तस्य गगनतलस्य अवलोकनाय दर्शनाय यत् कौतूहलम् औत्सुक्यं तेन दूरम् उन्नामितम् उत्थापितं शीर्षं येन तस्य अतिसमुन्नतस्य; दोलायमानः इतस्ततः परिचलन् अवलम्बितः अधोऽवलम्बितः च यः ऐरावतस्य इन्द्रगजस्य हस्तः शुण्डादण्डः तस्य भ्रमागतः भ्रान्तिं प्राप्तः भ्रमोत्पादकः इति यावत् [भ्रमायितः इति पाठान्तरम्] यः मल्लिकादामगुणः मल्लिकापुष्पाणां हारः तेन अलङ्कृतस्य [द्वारप्रदेशेऽवलम्बिता मल्लिकाकुसुममाला ऐरावतस्य शुण्डावत् प्रतिभातीति भावः] समुच्छ्रितेन समुन्नतेन दन्तिदन्ततोरणेन गजदन्ततोरणेन अवभासितस्य राजितस्य, सौभाग्यपताकानां मङ्गलध्वजानां निवहेन समूहेन उपशोभितस्य कीदृशेन सौभाग्यपताकानिवहेन ? इत्याह—महारत्नानाम् उपरागेण वर्णाभासेन उपशोभते इति तेन तथाभूतेन पवनबलेन वायुवेगेन या आन्दोलना इतस्ततः चलनं तया ललत् चलत् अतएव चञ्चलम् अग्रमेव हस्तः तेन 'इत एहि' इतः आगच्छ इति मां विदूषकं व्याहरता वदता इव [सौभाग्यपताकानिवहेनोपशोभितस्य द्वारस्य], किञ्च तोरणस्य बहिर्द्वारस्य धरणाय अवलम्बनाय ये स्तम्भाः तेषां वेदिकासु निक्षिप्ताः प्रक्षिप्ताः समुल्लसन्तः शोभमानाः हरिताः ये चूतपल्लवाः आम्रपत्राणि तैः ललामौ

सूचक पताका-समूह से जो सुशोभित हो रहा है, तोरण के अवलम्बन के लिये बनाये गये स्तम्भों की वेदिकाओं (चौकियों) पर रक्खे हुए सुन्दर हरे आम के (कोमल) पत्तों से सुशोभित (सुन्दर) स्फटिक (निर्मित) मङ्गलकलशों से जिसके दोनों पार्श्व मनोहर (लग रहे) हैं, जिसके स्वर्ण निर्मित किवाड़ महान् राक्षस के वक्षस्थल के सदृश दुर्भेद्य एवं सघन रूप से मणिजटित हैं तथा जो निर्धन जनों के मनोरथ के लिए पीड़ा दायक हैं (क्योंकि धनहीनता के कारण इतने भव्य-भवन में प्रवेश करने का मनोरथ भंग हो जाता है।) अहो वसन्तसेना भवन के ऐसे द्वार की शोभासम्पन्नता (भी दर्शनीय है) जो सचमुच उदासीन जन की दृष्टि को भी बलात् आकर्षित करती है।

चेटी—आइये, आइये। इस प्रथम प्रकोष्ठ में आप प्रवेश कीजिए।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे! आश्चर्य! यहाँ प्रथम प्रकोष्ठ में भी चन्द्रमा, शंख और कमलनाल के तुल्य कान्ति वाली, भली प्रकार बिखराये हुए (सजाये हुए) मुट्ठी-भर चूर्ण के कारण धवल, विविध रत्नजटित स्वर्णमयी सीढ़ियों से शोभित प्रासादों की पंक्तियाँ, स्फटिक-निर्मित वातायन रूपी मुखचन्द्रों से, जिन (वातायनों) में मुक्तहार लटके हुए हैं, उज्जयिनी को मानो देख रही हैं। सुख-पूर्वक बैठा हुआ द्वारपाल वेदपाठी ब्राह्मण के समान नींद ले रहा है।

दहीयुक्त कलम (धान विशेष) के भात से प्रलोभित हुए भी कौए बलि को चूने (सुधा) के सदृश वर्णवाली होने के कारण नहीं खा रहे हैं आप निर्देश कीजिए।

रमणीयौ यौ स्फटिकस्य स्फटिकनिर्मितौ मङ्गलकलशौ ताभ्याम् अभिरामं मनोरमम् उभयपार्श्वं यस्य तादृशस्य (द्वारस्य), महासुराणां हिरण्याक्षादीनां वक्षःस्थलवत् दुर्भेद्यं वज्रैः हीरकैः निरन्तरं सततं प्रतिबद्धं जटितं च कनककपाटं स्वर्णकपाटं यस्य तादृशस्य, दुर्गतजनानां दरिद्रजनानां मनोरथानाम् अभिलाषाणाम् आयास-करस्य श्रमोत्पादकस्य [धनाभावात् तेषामलभ्यत्वात्] एतादृशस्य वसन्तसेनायाः भवनद्वारस्य अहो सश्रीकता शोभासम्पन्नता आश्चर्यकरी—इत्यर्थः।

प्रथमप्रकोष्ठवर्णनम्—शशिशङ्खमृणालैः समाना छाया कान्तिर्यासां ताः (प्रासादपङ्क्तयः) ता एव च विनिहितैः निक्षिप्तैः चूर्णस्य सुधाचूर्णस्य मुष्टिभिः पाण्डुराः शुभ्राः, विविधरत्नैः प्रतिबद्धानि खचितानि यानि काञ्चनस्य सोपानानि तैः शोभिताः प्रासादपङ्क्तयः (कर्त्र्यः), अवलम्बितानि मुक्तादामानि मौक्तिकहाराः येषु तादृशैः स्फटिकस्य वातायनानि गवाक्षाः एव मुखचन्द्राः तैः उज्जयिनीं निर्ध्यायन्ति इव पश्यन्तीव—इत्युत्प्रेक्षा। श्रोत्रियः वेदपाठी। सुखेन उपविष्टः। सदध्ना दधिसहितेन। कलमस्य धान्यविशेषस्य ओदनेन भक्तेन (टि०)। सुधायाः सवर्णतया सादृश्येन।

चूर्णमुष्टिपाण्डुराः, विविधरत्नप्रतिवद्धकाञ्चनसोपानशोभिताः प्रासादपङ्क्तयोऽवलम्बितमुक्तादामभिः स्फटिकवातायनमुखचन्द्रैर्निध्यायन्तीवोज्जयिनीम्। श्रोत्रिय इव सुखोपविष्टो निद्राति दौवारिकः। सदध्ना कलमोदनेन प्रलोभिता न भक्षयन्ति वायसा बलिं सुधासवर्णतया। आदिशतु भवती।]

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं दुदिअं पओट्ठं पविसदु अज्जो। [एत्वेत्वार्यः। इमं द्वितीयं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।]

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भोः, इदो वि दुदिए पओट्ठे पज्जन्तोवणीदजवसबुसकवलसुपुट्ठा तेल्लब्भङ्गिदविसाणा बद्धा पवहणवइल्ला। अअं अण्णदरो अवमाणिदो विअ कुलीणो बीहं णीससदि सेरिहो। इदो अ अवणीदजुज्झस्स मल्लस्स विअ मद्दीअदि गीवा मेसस्स। इदो इवो अवराणं अस्साणं केसकप्पणा करीअदि। अअं अवरो पाडच्चरो विअ दिढबद्धो मन्दुराए साहामिओ। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो अ कूरच्चुअतेल्लमिस्सं पिण्डं हत्थी पडिच्छावीअदि मेत्थपुरिसेहिं। आदिसदु भोदी। [आश्चर्यं भोः, इहापि द्वितीये प्रकोष्ठे पर्यन्तोपनीतयवसबुसकवलसुपुष्टास्तैलाभ्यक्तविषाणा बद्धाः प्रवहणबलीवर्दाः। अयमन्यतरोऽवमानित इव कुलीनो दीर्घं निःश्वसिति सैरिभः। इतश्चापनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य। इत इतोऽपरेषामश्वानां केशकल्पना क्रियते। अयमपरः पाटच्चर इव दृढबद्धो मन्दुरायां शाखामृगः। इतश्च कूरच्युततैलमिश्रं पिण्डं हस्ती प्रतिग्राह्यते मात्रपुरुषैः। आदिशतु भवती।]

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं तइअं पओट्ठं पविसदु अज्जो। [एत्वेत्वार्यः। इमं तृतीयं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।

विदूषकः—(प्रविश्य दृष्ट्वा च) ही ही भोः इदो वि तइए पओट्ठे इमाइं दाव कुलउत्तजणोववेसणणिमित्तं विरचिदाइं आसणाइं अद्धवाचिदो पासअपीठे चिट्ठइ पोत्थओ। एसो अ साहीणमणिमअसारिआसहिदो पासअपीठो। इमे अ अवरे मअणसंधिविग्गहचवुरा विविहवण्णिआविलित्तचित्तफलअग्गहत्था इदो तदो परिब्भमन्ति गुणिआ वुड्ढविडा अ। आदिसदु भोदी। [आश्चर्यं भोः, इहापि तृतीये प्रकोष्ठे इमानि तावत्कुलपुत्रजनोपवेशननिमित्तं विरचितान्यासनानि। अर्धवाचितं पाशकपीठे तिष्ठति पुस्तकम्। एतच्च स्वाधीनमणिमयसारिकासहितं पाशकपीठम्। इमे चापरे मदनसन्धिविग्रहचतुरा विविधवर्णिकाविलिप्तचित्रफलकाग्रहस्ता इतस्ततः परिभ्रमन्ति गणिका वृद्धविटाश्च। आदिशतु भवती।]

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं चउट्ठं पओट्ठं पविसदु अज्जो। [एत्वेत्वार्यः। इमं चतुर्थं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।]

चेटी—आर्य, आइये। आप इस द्वितीय प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिये।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे! आश्चर्य! यहाँ दूसरे प्रकोष्ठ में भी समीप (पर्यन्त) लायी हुई घास और भूसे के ग्रास से परिपुष्ट तथा तेल से चिकने सींगों वाले रथ के बैल बंधे हैं। यह एक भैंसा अपमानित कुलीन (व्यक्ति) की भांति लम्बें सांस ले रहा है और इधर लड़ने से हटे हुए पहलवान की भांति मेंढे की गर्दन मली जा रही है।

इधर अन्य घोड़ों की केशसज्जा (केशसंस्कार) की जा रही है। यहाँ घुड़साल में यह बन्दर चोर की भांति दृढ़तापूर्वक बंधा हुआ है (दूसरी ओर भी देखकर) और इधर महावतों के द्वारा भात से गिरे हुए तेल (लक्षणा से—घी) से मिश्रित पिण्ड हाथी को खिलाया जा रहा है। आप आज्ञा कीजिए।

चेटी—आर्य, आइये, आइये। आप इस तीसरे प्रकोष्ठ में प्रवेश करें।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे! आश्चर्य यहाँ तीसरे प्रकोष्ठ में भी कुलीन पुत्रों के बैठने के लिए ये आसन लगाये गये हैं। जुआ खेलने की चौकी पर आधी पढ़ी हुई पुस्तक रक्खी है और यह जुआ खेलने की चौकी अकृत्रिम (असली) मणि से बनी हुई मैंनाओं (मैना के आकार की गोटों) से युक्त है और ये अन्य काम के सन्धि-विग्रह (प्रेम कराने और प्रेम भंग कराने) में निपुण वेश्यायें एवं वृद्ध विट विभिन्न रंगों से चित्रित चित्रफलकों को हाथों में लिये इधर-उधर घूम रहे हैं। आप निर्देश कीजिए।

चेटी—आर्य आइये, आइये। आर्य इस चतुर्थ प्रकोष्ठ में प्रवेश करें।

द्वितीयप्रकोष्ठवर्णनम्-पर्यन्ते सम्मुखे उपनीतानि भक्षणाय उपहृतानि यानि यवसानि तृणानि बुसानि च तेषां कवलैः ग्रासैः सुपरिपुष्टाः परिपुष्टाः तैलेन अभ्यक्तानि चिक्कणानि विषाणानि येषां तादृशाः प्रवहणस्य बलीवर्दाः बद्धाः। यथा अवमानितः कुलीनो जनः दीर्घं निःश्वसिति तथैव सैरिभ महिषःनिश्वसिति। अपनीतं समाप्तं युद्धं मल्लयुद्धं येन तस्य। केशकल्पना केशानां कल्पना संस्कारः, कर्तनादिना रचना। पाटच्चरः चौरः।

दृढं बद्धः। मन्दुरायां वाजिशालायाम्। शाखामृगः वानरः। कूरं खाद्य-विशेषः, भक्तं (भात) वा, कूरात् च्युतेन निःसृतेन तैलेन मिश्रं पिण्डम् अन्नपिण्डं, मात्रपुरुषैः हस्तिपकैः।

तृतीयप्रकोष्ठवर्णनम्—कुलपुत्रजनानां कुलीनपुरुषाणाम् उपवेशननिमित्तं उपवेशनार्थम् अर्धवाचितम् अर्ध पठितम्। पाशकपीठे रज्जुजालनिर्मिते आसने अथवा पाशकस्य (पाशक्रीडनार्थं) पीठं पाशकपीठं तत्र स्वाधीनमणिमयाभिः अकृत्रिममणि-रचिताभिः सारिकाभिः गुटिकाभिः (सार, गोट इति प्रसिद्धाभिः) सहितं युक्तम्। गणिकाः विटाश्च कीदृशाः मदनस्य कामस्य तत्सम्बन्धी यः सन्धिः प्रेमजननम् [illegible] विग्रहस्य [illegible] तयोः [illegible] विविधाभिः

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भोः, इदो वि चउट्ठे पओट्ठे जुवदि-करताडिदा जलधरा विअ गम्भीरं णदन्ति मुदङ्गा, हीणपुण्णाओ विअ गअणादो तारआओ णिवडन्ति कंसतालआ महुअरविरुअं विअ महुरं वज्जदि वंसो। इअं अवरा ईसाप्पणअकुविदकामिणी विअ अङ्कारोविदा कररुहपरामरिसेण सरिज्जदि वीणा। इमाओ अवराओ कुसुमरसमत्ताओ विअ महुअरिओ अदिमहुरं पगीदाओ गणिआदारिआओ णच्चिअन्ति, णट्टअं पठिअन्ति, ससिङ्गारओ। ओवग्गिदा गवक्खेसु वादं गेण्हन्ति सलिलगग्गरीओ। आदिसदु भोदी। [आश्चर्यं भोः, इहापि चतुर्थे प्रकोष्ठे युवतिकरताडिता जलधरा इव गम्भीरं नदन्ति मृदङ्गाः, क्षीणपुण्या इव गगनात्तारका निपतन्ति कांस्यतालाः, मधुकरविरुतमिव मधुरं वाद्यते वंशः। इयमपरेर्ष्याप्रणयकुपितकामिनीवाङ्कारोपिता कररुहपरामर्शेन सार्यते वीणा। इमा अपराः कुसुमरसमत्ता इव मधुकर्योऽतिमधुरं प्रगीता गणिकादारिका नर्त्यन्ते, नाट्यं पाठ्यन्ते सशृङ्गारम्। अपवल्गिता गवाक्षेषु वातं गृह्णन्ति सलिलगर्यः। आदिशतु भवती।]

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं पञ्चमं पओट्ठं पविसदु अज्जो। [एत्वेत्वार्यः। इमं पञ्चमं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।]

विदूषकः—(प्रविश्य दृष्ट्वा च) ही ही भोः, इदो वि पञ्चमे पओट्ठे अअं दलिद्दजणलोहुप्पादणअरो आहरइ उवचिदो हिङ्गुतेल्लगन्धो। विविहसुरहिधूमुग्गारेहिं णिच्चं संताविज्जमाणं णीससदि विअ महाणसं दुवारमुहेहिं। अधिअं उसुसावेदि मं साहिज्जमाणबहुविहभक्खभोअणगन्धो। अअं अवरो पडच्चरं विअ पोट्टिं धोअदि रूपिदारओ। बहुविहाहारविआरं उवसाहेदि सूवआरो। बज्झन्ति मोदआ, पच्चन्ति अपूवआ। (आत्मगतम्) अवि दाणिं इह वड्ढिअं भुञ्जसु त्ति पावोदअं लहिस्सम्। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो गन्धव्वच्छरगणेहिं विअ विविहालङ्कारसोहिदेहिं गणिआजणेहिं बन्धुलेहि अ जं सच्चं सग्गीअदि एदं गेहम्। भो, के तुम्हे बन्धुला णाम। [आश्चर्यं भोः, इहापि पञ्चमे प्रकोष्ठेऽयं दरिद्रजनलोभोत्पादनकर

वर्णिकाभिः नीलपीतादिवर्णैः विलिप्तानि चित्रितानि चित्रफलकानि अग्रहस्ते हस्ताग्रभागे येषां तादृशाः।

चतुर्थप्रकोष्ठवर्णनम्—युवतिकरैः ताडिताः वादिताः। नदन्ति नादं कुर्वन्ति। क्षीणं पुण्यं येषां ते कांस्यतालाः कांस्यरचिताः करतालाः निपतन्ति। वैदुष्यवादनादेव निपातः (पृथ्वी०)। मधुकरविरुतम् भ्रमरगुञ्जितम्। वंशः वंशी। अपरस्याः इतरनार्याः ईर्ष्यया कारणात् प्रणयकुपिता या कामिनी सा इव अङ्के आरोपिता कररुहाणां नखानां परामर्शेन स्पर्शेन आघातेन वा सार्यते सञ्चार्यते।

नृत्यन्ते नृत्यं कार्यन्ते। गणिकादारिकाः वेश्याविशेषाः, वेश्याबालिकाः वा।

विदूषक—अरे ! आश्चर्य ! यहाँ चतुर्थ प्रकोष्ठ में भी युवतियों के हाथ से बजाये गये मृदङ्ग बादलों के समान गम्भीर शब्द कर रहे हैं। पुण्य क्षीण होने पर आकाश से गिरने वाले तारों के समान मँजीरे (करताल) गिर रहे हैं, भ्रमर-गुञ्जन की भांति बाँसुरी मधुरता से बजाई जा रही है। अन्य (स्त्री) की ईर्ष्या के कारण प्रणयकुपित कामिनी के समान गोद में रक्खी हुई वीणा नख के स्पर्श से मिलाई (बजाई) जा रही है।

दूसरे, ये पुष्प रस (के पान करने) से मत्त भ्रमरियों के समान अति मधुर गाती हुई वेश्याबालायें नचाई जा रही हैं, (उन्हें) शृङ्गारयुक्त अभिनय सिखाये (पढ़ाये) जा रहे हैं। खिड़कियों में लटकते हुए पानी के घड़े वायु ग्रहण कर रहे हैं। आप निर्देश कीजिये।

चेटी—अरे आइये, आइये। आर्य इस पांचवें प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए।

विदूषक—अरे ! आश्चर्य। यहां पांचवें प्रकोष्ठ में भी यह निर्धन मनुष्यों को लोभ उत्पन्न करने (ललचाने) वाली हींग और तेल की तीव्र (बढ़ी हुई) गन्ध मुझे आकर्षित कर रही है। नित्य सन्तप्त की जाती हुई पाकशाला नाना प्रकार के सुगन्धित धूएँ को प्रकट करने वाले द्वाररूपी मुखों से निश्वास से ले रही है। बताये जाते हुए अनेक प्रकार के खाद्य-पदार्थों एवं व्यञ्जनों की गन्ध मुझे अधिक उत्सुक बना रही है। दूसरा, यह कसाई (रूपिन्) का लड़का मारे हुए पशु के पेट की पेशी को पुराने वस्त्र की भाँति धो रहा है। रसोइया भांति भांति के आहार के अनेक प्रकार (Kinds) बना रहा है। लड्डू बांधे जा रहे हैं। पूए पकाये जा रहे हैं। (स्वगत) तो क्या अब यहाँ पर "विविध व्यञ्जनादि से समृद्ध भोजन को यथेष्ट खाइये।" इस प्रार्थना के साथ मुझे पैर धोने के लिए जल मिलेगा ? (दूसरी ओर देखकर) यहाँ गन्धर्व एवं अप्सरा समूहों की भाति विविध आभूषणों से शोभित वेश्याजनों तथा बन्धुलों के कारण सचमुच यह घर स्वर्ग हो रहा है। अरे तुम बन्धुल नाम वाले कौन हो ?

अपवल्गिताः अवलम्बिताः। **सलिलगर्यः** जनानां जलपानार्थं पात्रविशेषाः।

पञ्चमप्रकोष्ठवर्णनम्—उपचितः वृद्धिं गतः। **आहरति** आकर्षति। **विविध-सुरभीणां** नानासुगन्धयुक्तानां **धूमानाम् उद्गाराः** येभ्यः तैः **द्वाराणि एव मुखानि तैः नित्यं सन्तप्यमानं** सततं तप्यमानं **महानसं** पाकशाला निःश्वसतीव—इति उत्प्रेक्षा।

साध्यमानस्य पच्यमानस्य **भक्ष्यस्य** खाद्यपदार्थस्य **भोजनस्य व्यञ्जनस्य च**। **रूपी** खट्टिकः तस्य दारकः पुत्रः (पृथ्वी०)। **रूपं** पशुः ['रूपं स्वभावे सौन्दर्ये नामगे पशुशब्दयोः'—इति मेदिनी] तद्योगात् रूपी मांसविक्रेता खट्टिकः। **आहारविकारान्** आहारभेदान्। व्यञ्जनादिसामग्र्योपचितं वर्धितकम् इति पूर्वटीका (पृथ्वी०), प्रचुरं यथेष्टं तथा। स्वर्गायते स्वर्गवत् आचरति, स्वर्गवत् प्रतीयते।

आहरत्युपचितो हिङ्गुतैलगन्धः। विविधसुरभिधूमोद्गारैर्नित्यं संताप्यमानं निःश्वसितीव महानसं द्वारमुखैः। अधिकमुत्सुकायते मां साध्यमानबहुविधभक्ष्यभोजनगन्धः। अयमपरः पटच्चरमिव हतपशूदरपेशिं धावति रूपिदारकः। बहुविधाहारविकारमुपसाधयति सूपकारः। बध्यन्ते मोदकाः। पच्यन्तेऽपूपकाः। अपीदानीमिह वधितं भुङ्क्ष्व इति पादोदकं लप्स्ये। इह गन्धर्वाप्सरोगणैरिव विविधालङ्कारशोभितैर्गणिकाजनैर्बन्धुलैश्च यत्सत्यं स्वर्गायत इदं गेहम्। भोः, के यूयं बन्धुला नाम।]

बन्धुलाः—वयं खलु।

परगृहललिताः परान्नपुष्टाः परपुरुषैर्जनिताः पराङ्गनासु।
परधननिरता गुणेष्ववाच्या गजकलभा इव बन्धुला ललामः॥२८॥

विदूषकः—आदिसदु भोदी। [आदिशतु भवती।]

चेटी—एदु एदु अज्जो इमं छट्ठं पओट्ठं पविसदु अज्जो। [एत्वेत्वार्यः। इमं षष्ठं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।]

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भोः, इदो वि छट्ठे पओट्ठे अमुं दाव सुवण्णरअणाणं कम्मतोरणाइं णीलरअणविणिक्खित्ताइं इन्दाउहट्ठाणं विअ दरिसअन्ति। वेदूरिअमोत्तिअपवालअपुप्फराअइन्दणीलकक्केतरअपद्मराअमरगअपहुदिआइं रअणविसेसाइ अण्णोण्णं विचारेन्ति सिप्पिणो। बज्झन्ति जादरूवेहिं माणिक्काइं। घडिज्जन्ति सुवण्णालङ्कारा। रत्तसुत्तेण गत्थीअन्ति मोत्तिआभरणाइं घसीअन्ति धीरं वेदुरिआइं। छेदीअन्ति सङ्खआ। सणिज्जन्ति पवालआ। सुक्खविअन्ति ओल्लविदकुङ्कुमपत्थरा। सालीअदि कत्थूरिआ। विसेसेण घिस्सदि चन्दणरसो। संजोईअन्ति गन्धजुत्तीओ। दीअदि गणिआकामुकाणं सकप्पूरं ताम्बोलम्। अवलोईअदि सकडक्खअम्। पअट्टदि हासो। पिवीअदि अ अणवरअ ससिक्कारं मइरा। इमे चेडा, इमा चेडिआओ इमे अवरे अवधीरिदपुत्तदारवित्ता मणुस्सा आसवकरआपीदमदिरेहिं गणिआजणेहिं जे मुक्का ते पिअन्ती। आदिसदु भोदी। [आश्चर्यं भोः, इहापि षष्ठे प्रकोष्ठेऽमूनि तावत्सुवर्णरत्नानां कर्मतोरणानि नीलरत्नविनिक्षिप्तानीन्द्रायुधस्थानमिव दर्शयन्ति। वैदूर्यमौक्तिकप्रवालकपुष्परागेन्द्रनीलकर्केतरकपद्मरागमरकतप्रभृतीन्रत्नविशेषानन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः। बध्यन्ते जातरूपैर्माणिक्यानि। घटयन्ते सुवर्णालङ्काराः।

स्वकीयं परिचयं ददानाः बन्धुलाः कथयन्ति—परेति। परपुरुषैः पराङ्गनासु अन्यनारीषु जनिताः समुत्पादिताः परगृहे अन्यस्य गृहे ललिताः पालिताः परान्नेन पुष्टाः परधनेषु निरताः उपभोगादिना तत्पराः, गुणेषु अवाच्याः अवक्तव्याः विशेषगुणशून्याः इति यावत् [अनभिधानीयगुणा इत्यर्थः इति पृथ्वीधरः] बन्धुलाः

बन्धुल लोग—हम वास्तव में—

पराये घर में पालन किये गये, पराये अन्न से पुष्ट, परपुरुषों के द्वारा परस्त्रियों में उत्पन्न किये हुये, पराये धन का उपभोग करने वाले, गुणों (के प्रसङ्ग) में न कहे जाने योग्य (हम) बन्धुल हैं, जो हाथियों के बच्चों के समान सानन्द बिहार करते हैं ।।२८।।

विदूषक—आप (आगे) निर्देश कीजिये ।

चेटी—आर्य, आइये, आइये । इस षष्ठ प्रकोष्ठ में आर्य प्रवेश करें ।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे, आश्चर्य ! यहाँ षष्ठ प्रकोष्ठ में भी ये नीलरत्न-जडित स्वर्ण रत्नों की विशिष्ट रचना से युक्त तोरण इन्द्रधनुष की समानता सी प्रदर्शित कर रहे हैं । शिल्पीजन वैदूर्य, मोती, मूँगा, पुष्पराग, इन्द्रनील, कर्केतरक, पद्मराग, मरकत आदि रत्नविशेषों का परस्पर विचार कर रहे हैं । सोने के साथ रत्न जड़े जा रहे हैं । स्वर्णभूषण गढ़े जा रहे हैं, मुक्ताभूषण लाल धागे से गूँथे जा रहे हैं । वैदूर्य धैर्यपूर्वक (धीरे-धीरे) घिसे जा रहे हैं । शंख काटे जा रहे हैं । मूँगे शाण से घिसे जा रहे हैं । गीली केसर की तहें सुखाई जा रही हैं । कस्तूरी गीली की जा रही है । चन्दन का रस विशेष रूप से घिसा जा रहा है । (विभिन्न) गन्धों के मिश्रण किये जा रहे हैं । वेश्या और कामुकों को कपूर सहित पान दिया जा रहा है । कटाक्ष सहित देखा जा रहा है । हँसी हो रही है । निरन्तर सीत्कार सहित मदिरा पी जा रही है । ये चेट, ये चेटियाँ तथा दूसरे ये मनुष्य मदिरा पी रहे हैं—जिन्होंने पुत्र, पत्नी और धन का तिरस्कार कर दिया है और जो (मनुष्य) मद्य-चषकों से मदिरा पान कर लेने वाली वेश्याओं के द्वारा त्याग दिये गये हैं (अर्थात् मद्यपान करके वेश्यायें उन्हें अकेला छोड़कर चली गई हैं) आप आगे निर्देश कीजिये ।

एतन्नामकाः गजकलभाः गजशावका इव ललामः विलसामः । उपमालङ्कारः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ।।२८।।

षष्ठप्रकोष्ठवर्णनम्—सुवर्णरत्नानां सुवर्णजटितरत्नानां कर्मणा रचनाविशेषेण निर्मितानि तोरणानि बहिर्द्वाराणि, यानि नीलरत्नैः विक्षिप्तानि खचितानि सन्ति तानि इन्द्रायुधस्य इन्द्रधनुषः स्थानमिव प्रदेशमिव दर्शयन्ति । रत्नजटितसुवर्णनिर्मिते बहिर्द्वारे मध्ये मध्ये नीलरत्नानि खचितानि सन्ति तत्र च इन्द्रधनुषः शोभा दृश्यते इति भावः । वैडूर्यादीन् रत्नविशेषान् शिल्पिनः अन्योन्यं परस्परं विचारयन्ति । प्रवालककर्केतरौ मणिविशेषौ (पृथ्वी०) । जातरूपैः सुवर्णैः कुङ्कुमस्य प्रस्तराः स्तराः (तह, Layers) । 'प्रस्तरः कुङ्कुमाधारश्चर्मपुटः इत्याहुः' इति पृथ्वीधरः । सार्यते एकत्रीक्रियते, आर्द्रीक्रियते इति पृथ्वीधरः । गन्धयुक्तयः गन्धमिश्रणानि । अवधीरितानि उपेक्षितानि पुत्रदारवित्तानि यैः ते । आसवकरकैः

रक्तसूत्रेण ग्रथ्यन्ते मौक्तिकाभरणानि। घृष्यन्ते धीरं वैदूर्याणि। छिद्यन्ते शङ्खाः। शाणैर्घृष्यन्ते प्रवालकाः। शोष्यन्त आर्द्रकुङ्कुमप्रस्तराः। सार्यते कस्तूरिका। विशेषेण घृष्यते चन्दनरसः। संयोज्यन्ते गन्धयुक्तयः। दीयते गणिकाकामुकयोः सकर्पूरं ताम्बूलम्। अवलोक्यते सकटाक्षम्। प्रवर्तते हासः। पीयते चानवरतं ससीत्कारं मदिरा। इमे चेटाः, इमाश्चेटिकाः, इमे अपरेऽवधीरितपुत्रदारवित्ता मनुष्या आसवकरकापीतमदिरैर्गणिकाजनैर्ये मुक्तास्ते पिबन्ति। आदिशतु भवती।]

चेटी—एदु एदु अज्जो। इमं सत्तमं पओट्ठं पविसदु अज्जो। [एत्वेत्वार्यः। इमं सप्तमं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।]

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भो, इधो वि सत्तमे पओट्ठे सुसिलिट्ठविहङ्गवाडीसुहणिसण्णाइं अण्णोण्णचुम्बणपराइं सुहं अणुभवन्ति पारावदमिहुणाइं। दहिभत्तपूरिदोदरो बम्हणो विअ सुत्तं पढदि पञ्जरसुओ। इअं अवरा संमाणणालद्धपसरा विअ घरदासी अधिअं कुरकुरादि मदणसारिआ। अणेअफलरसास्सादपहुट्ठकण्ठा कुम्भदासी विअ कूअदी परपुट्ठा। आलम्बिदा णागदन्तेसु पञ्जरपरम्पराओ। जोधीअन्ति लावआ। आलवीअन्ति कविञ्जला। पेसीअन्ति पञ्जरकवोदा। इदो तदो विविहमणिचित्तलिदो विअ अअं सहरिसं णच्चन्तो रविकिरणसंतत्तं पक्खुक्खेवेहिं विधुवेदि विअ पासादं घरमोरो। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो पिण्डीकिदा विअ चन्दपादा पदगदिं सिक्खन्ता विअ कामिणीणं पच्छादो परिब्भमन्ति राअहंसमिहुणा। एदे अवरे वुड्ढमहल्लका विअ इदो तदो संचरन्ति घरसारसा। ही ही भो पसारणअं किदं गणिआए णाणापक्खिसमूहेहिं। जं सच्चं क्खु णन्दणवणं विअ मे गणिआघरं पडिभासदि। आविसदु भोदि। [आश्चर्यं भोः, इहापि सप्तमे प्रकोष्ठे सुश्लिष्टविहङ्गवाटीसुखनिषण्णान्यन्योन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि। दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पञ्जरशुकः। इयमपरा संमाननालब्धप्रसरेव गृहदासी अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका। अनेकफलरसास्वादप्रहृष्टकण्ठा कुम्भदासीव कूजति परपुष्टा। आलम्बिता नागदन्तेषु पञ्जरपरम्पराः। योध्यन्ते लावकाः। आलाप्यन्ते कपिञ्जलाः। प्रेष्यन्ते पञ्जरकपोताः। इतस्ततो विविधमणिचित्रित इवायं सहर्षं नृत्यन्रविकिरणसंतप्तं पक्षोत्क्षेपैर्विधुवतीव प्रासादं गृहमयूरः। इतः पिण्डीकृता इव चन्द्रपादाः पदगतिं शिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चात्परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि। एतेऽपरे वृद्धमहल्लका इव इतस्ततः संचरन्ति गृहसारसाः। आश्चर्यं भोः, प्रसारणं कृत गणिकया नानापक्षिसमूहैः। यत्सत्यं खलु नन्दनवनमिव मे गणिकागृहं प्रतिभासते। आदिशतु भवती।]

सुराचषकैः आपीता ईषत्पीता मदिरा यैः तादृशैः गणिकाजनैः ये मनुष्याः मुक्ताः निःसारिताः त्यक्ताः वा ते पिबन्ति।

चेटी—आर्य, आइये, आइये। इस सातवें प्रकोष्ठ में आर्य प्रवेश करें।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे! आश्चर्य! यहाँ सातवें प्रकोष्ठ में भी सुनिर्मित कपोतपालिका पर सुख से बैठे हुए एक दूसरे के चुम्बन में संलग्न कबूतरों के जोड़े सुख का अनुभव कर रहे हैं। दही-भात से भरे हुए पेट वाले ब्राह्मण के समान (दही-भात से भरे हुये पेट वाला) पिंजरे में स्थित तोता सूक्त (वैदिक-ऋचायें) पढ़ रहा है। दूसरी यह सम्मान (होने) के कारण प्रभाव प्राप्त करने वाली गृहपरिचारिका के समान मैना अधिक कुर-कुर शब्द कर रही है। अनेक फलों के रसास्वाद से मधुर (प्रसन्न) कण्ठ वाली कोयल कुट्टिनी (कुम्भदासी) के समान कूक रही है। खूंटियों पर पिंजरों की पंक्तियाँ (पंक्तिबद्ध-पिंजरे) लटकी हुई हैं। लावक (बटेर) लड़ायी जा रही हैं। तीतरों से बात कराई जा रही है। पिंजरे के कबूतर भेजे जा रहे हैं (पिंजरे खोलकर आकाश में उड़ान भरने को छोड़े जा रहे हैं)।

प्रसन्नतापूर्वक इधर-उधर नाचता हुआ, विभिन्न मणियों में चित्रित-सा यह पालतू मोर (गृहमयूर) पंखों के फड़फड़ाने के द्वारा सूर्य की किरणों से सन्तप्त हुई अट्टालिका को मानों हवा कर रहा है। (दूसरी ओर देखकर) इधर इकट्ठी की गई चन्द्रमा की किरणों जैसे (उज्ज्वल) राजहंसों के जोड़े कामिनियों के पीछे (सुन्दर) गमन की शिक्षा लेते हुए से घूम रहे हैं।

दूसरे, ये पालतू सारस (गृहसारस) वृद्धश्रेष्ठों (महल्लक) के समान इधर-उधर घूम रहे हैं। अरे आश्चर्य है। वेश्या ने विभिन्न पक्षियों के समूह के द्वारा विस्तार कर दिया है (विस्तृत दृश्य उपस्थित कर दिया है)। सचमुच मुझे वेश्या का घर नन्दन-वन-सा लग रहा है। आप (आगे) निर्देश कीजिये।

सप्तमप्रकोष्ठवर्णनम्—सुश्लिष्टायां सुनिर्मितायां विहङ्गवाट्यां विहगपालिकायां सुखेन निषण्णानि उपविष्टानि। पारावतमिथुनानि कपोतयुगलानि। सूक्तं सूक्तिम्, ऋक्समुदायः सूक्तम् इति पृथ्वीधरः संमाननया आदरेण लब्धः प्राप्तः प्रसरः प्रसरणं प्रभावो वा यया सा गृहदासी। मदनसारिका मदनस्य सारिका (टि०)। अनेकफलानां रसास्वादेन प्रहृष्टः प्रसन्नः कण्ठो यस्याः सा परपुष्टा कोकिला कुम्भदासी कुट्टिनी इव कूजति। परम्पराः पङ्क्तयः। कपिञ्जलाः तित्तिराः। रविकिरणसंतप्तं प्रासादं गृहमयूरः पक्षाणाम् उत्क्षेपैः चालनैः विधुवति इव वीजयति इव इत्युत्प्रेक्षा। पिण्डीकृताः एकत्रीकृताः चन्द्रपादाः चन्द्रकिरणाः इव राजहंसमिथुनानि पदगतिं शिक्षमाणानि इव कामिनीनां पश्चात् भ्रमन्ति। वृद्धमहल्लकाः वृद्धश्रेष्ठाः वृद्धमतल्लिकाः इति पाठान्तरम्। प्रसारणं विस्तारः।

चेटी—एदु एदु अज्जो । इमं अट्ठमं पओट्ठं पविसदु अज्जो । [एत्वेत्वार्यः । इममष्टमं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः ।]

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) भोदि, को एसो पट्टपावारअपाउवो अधिअदरं अच्चब्भुदपुणरुत्तालङ्कारालंकिदो अङ्गभङ्गेहिं परिक्खलन्तो इदो तदो परिब्भमदि। [भवति, क एष पट्टप्रावारकप्रावृतोऽधिकतरमत्यद्भुतपुनरुक्तालङ्कारालङ्कृतोऽङ्गभङ्गैः परिस्खलन्नितस्ततः परिभ्रमति ।]

चेटी—अज्ज, एसो अज्जआए भादा भोदि । [आर्या, एष आर्याया भ्राता भवति ।]

विदूषकः—केत्तिअं तवच्चरणं कदुअ वसन्तसेणाए भादा भोदि । अथवा ।

मा दाव जइ वि एसो उज्जलो
सिणिद्धो अ सुअन्धो अ ।
तह वि मसाणवीधीए जादो विअ
चम्पअरुक्खो अणहिगमणीओ लोअस्स ॥२६॥

(अन्यतोऽवलोक्य) भोदि, एसा उण का फुल्लपावारअपाउदा उदाणहजुअलणिक्खित्त-तेल्लचिक्कणेहिं पादेहिं उच्चासणे उवविट्ठा चिट्ठदि। [कियत्तपश्चरणं कृत्वा वसन्तसेनाया भ्राता भवति अथवा ।

मा तावद्यद्यप्येषः उज्ज्वलः स्निग्धश्च सुगन्धश्च ।
तथापि श्मशानवीथ्यां जात इव चम्पकवृक्षोऽनभिगमनीयो लोकस्य ॥२६॥

भवति, एषा पुनः का पुष्पप्रावारकप्रावृतोपानद्युगलनिक्षिप्ततैलचिक्कणाभ्यां पादाभ्यामुच्चासन उपविष्टा तिष्ठति ।]

चेटी—अज्ज, एसा क्खु अम्हाणं अज्जआए अत्तिआ । [आर्य, एषा खल्वस्माकमार्याया माता ।]

विदूषकः—अहो से कवड्डडाइणीए पोट्टवित्थारो । ता किं एदं पवेसिअ महादेवं विअ दुआरसोहा इह घरे णिम्मिदा ? [अहो अस्याः कपर्दकडाकिन्या उदरविस्तारः । तत्किमेतां प्रवेश्य महादेवमिव द्वारशोभा इह गृहे निर्मिता ?]

चेटी—हदास, मा एव्वं उवहस अह्माणं अत्तिअम् । एसा क्खु चाउत्थिएण पीडीअदि । [हताश, मैवमुपहसास्माकं मातरम् । एषा खलु चातुर्थिकेन पीड्यते ।]

विदूषकः—(सपरिहासम्) भअवं चाउत्थिअ, एदिणा उवआरेण मं पि बम्हणं आलोएहि । [भगवंश्चातुर्थिक, एतेनोपकारेण मामपि ब्राह्मणमवलोकय ।]

चेटी—हदास, मरिस्ससि । [हताश, मरिष्यसि ।]

चेटी—आइये, आइये आर्य। इस आठवें प्रकोष्ठ में आप प्रवेश कीजिए।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) पूज्ये, यह कौन है जो रेशमी वस्त्र से आवृत विशेषतया अत्यन्त अद्भुत दोहरे आभूषणों से शोभित अङ्ग लचका कर झूमता हुआ (डगमगाता हुआ) इधर-उधर घूम रहा है।

चेटी—आर्य, यह आर्या (वसन्तसेना) का भाई है।

विदूषक—कितना तप करके यह वसन्तसेना का भाई हुआ है। अथवा, ऐसा नहीं है।

यद्यपि यह (रंग का) उजला, चिकना-चुपड़ा और सुगन्धयुक्त है, फिर भी श्मशान की गली में उत्पन्न चम्पक वृक्ष के समान यह लोगों के लिए त्याज्य है ॥२६॥

(दूसरी ओर देखकर) (धागे से वस्त्र पर बनाये गये कृत्रिम) पुष्पों से युक्त उत्तरीय से आवृत हुई, दोनों जूतों में तेल से चिकने पैरों को डाले हुए, ऊँचे आसन पर यह कौन बैठी है ?

चेटी—आर्य, यह हमारी आर्या की माता जी हैं।

विदूषक—हाय इस भद्दी डायन के पेट का विस्तार! तो क्या महादेव (की विशाल मूर्ति) के समान इसको यहाँ घर में प्रविष्ट कराकर (बाद में) द्वार की शोभा को बनाया गया था ? (इस द्वार से तो वह मोटी बुढ़िया अन्दर आ ही नहीं सकती थी)।

चेटी—मुए, हमारी माता जी का इस प्रकार उपहास मत करो। यह तो "चौथिया ज्वर" से पीड़ित हैं।

विदूषक—(परिहासपूर्वक) भगवन् चातुर्थिक (चौथिया ज्वर) इस उपकार (दृष्टि) से मुझ ब्राह्मण को भी देख लो।

चेटी—मुए, मर जायेगा।

अष्टमकोष्ठवर्णनम्—पट्टप्रावारकेण कौशेयदुकूलेन प्रावृतः आच्छादितः अत्यद्भुतैः विचित्रैः पुनरुक्तालङ्कारैः द्विगुणितैः आभूषणैः। अङ्गभङ्गैः अङ्गानां चालनैः। परिस्खलन् इतस्ततः पतन्।

वसन्तसेनायाः भ्रातरं दृष्ट्वा विदूषकः कथयति—मेति। मा तावत् कियत्तपश्चरणं कृत्वा वसन्तसेनायाः भ्राता भवति इति प्रशंसावचनं न युक्तं यतः यद्यपि एषः उज्ज्वलः शुभ्रवर्णः स्निग्धः तैलादिमर्दनात् चिक्कणः सुगन्धः शोभनगन्धयुतश्च तथापि श्मशानवीथ्यां जातः उत्पन्नः चम्पकवृक्षः इव लोकस्य जनस्य अनभिगमनीयः गन्तुम् अयोग्यः त्याज्य. इति यावत्। आर्या वृत्तम् ॥२६॥

पुष्पप्रावारकेण पुष्पपटेन प्रावृता [सूक्ष्मसूत्रपुष्पाणि कृत्रिमाणि यत्र भवन्ति स पुष्पपट इति प्रसिद्धः इति ल० दी०]। उपानद्युगले निक्षिप्तौ तैलचिक्कणौ च पादौ ताभ्यां पादाभ्यां लक्षिता। कपर्दकडाकिन्याः अपवित्रपिशाच्याः (टि०)।

विदूषकः—(सपरिहासम्) दासीए धीए, वरं ईदिसो शूणपीणजठरो मुदो ज्जेव ।

सीधुसुरासवमत्तिआ एआवत्थं गदा हि अत्तिआ ।
जइ मरइ एत्थ अत्तिआ भोदि सिआलसहस्सपञ्जत्तिआ ॥३०॥

भोदि, किं तुम्हाणं जाणवत्ता वहन्ति ।
[दास्याः पुत्रि, वरमीदृशः शूनपीनजठरो मृत एव ।

सीधुरासवमत्ता एतावदवस्थां गता हि माता ।
यदि म्रियतेऽत्र माता भवति शृगालसहस्रपर्याप्तिका ॥३०॥

भवति किं युष्माकं यानपात्राणि वहन्ति ।]

चेटी—अज्ज, णहि णहि । [आर्य नहि नहि ।]

विदूषकः—किं वा एत्थ पुच्छीअदि । तुम्हाणं क्खु पेम्मणिम्मलजले मअणसमुद्दे त्थणणिअम्बजहणा ज्जेव जाणवत्ता मणहरणा । एव्वं वसन्तसेणाए बहुवुत्तन्तं अट्टपओट्ठं भवणं पेक्खिअ जं सच्चं जाणामि एकत्थं विअ तिविट्टअं दिट्टम् । पसंसिदुं णत्थि मे वाआविहवो । किं दाव गणिआघरो, अहवा कुबेरभवणपरिच्छेदो त्ति कहिं तुम्हाणं अज्जआ । [किं वात्र पृच्छ्यते । युष्माकं खलु प्रेमनिर्मलजले मदनसमुद्रे स्तननितम्बजघनान्येव यानपात्राणि मनोहराणि । एवं वसन्तसेनाया बहुवृत्तान्तमष्टप्रकोष्ठं भवनं प्रेक्ष्य यत्सत्यं जानामि एकस्थमिव त्रिविष्टपं दृष्टम् । प्रशंसितुं नास्ति मे वाग्विभवः । किं तावद्गणिकागृहम्, अथवा कुबेरभवनपरिच्छेद इति । कुत्र युष्माकमार्या ।]

चेटी—अज्ज, एसा रुक्खवाडिआए चिट्ठदि । ता पविसदु अज्जो । [आर्य, एषा वृक्षवाटिकायां तिष्ठति । तत्प्रविशत्वार्यः ।]

विदूषकः - (प्रविश्य दृष्ट्वा च) ही ही भो, अहो रुक्खवाडिआए सस्सिरीअदा । अच्छरीदिकुसुमपत्थारा रोविदाअणेअपादपा, णिरन्तरपादवतलणिम्मिदा जुवदिजहणप्पमाणा पट्टदोला, सुवण्णजूधिआसेहालिआमालईमल्लिआणोमालि-

---

तत्किम् (पूर्वं) महादेवमिव एतां गृहे प्रवेश्य (पश्चात्) इह द्वारशोभा निर्मिता [अन्यथा अनेन द्वारेणास्याः गृहे न प्रवेशः स्यादित्याशयः इति पृथ्वीधरः] चातुर्थिकेन ज्वरविशेषेण । चतुर्थे अहनि भवः चातुर्थिकः ।

शूनम् उच्छूनं फुल्लं वा पीनं स्थूलं च जठरम् उदरं यस्य तादृशः । सीध्विति सीधुसुरासवैः एतन्नामकैः मदिराविशेषैः—मत्ता उन्मत्ता हि माता एतावदवस्थाम्

विदूषक—(परिहासपूर्वक) दासी की पुत्रि ! ऐसा फूले हुए मोटे पेट वाला (तो) मरा हुआ ही अच्छा है ।

साधु, सुरा एवं आसव से मत्त (वसन्तसेना की) माता इस अवस्था (अतिशय तुन्दिलता) को प्राप्त हो गई है । यदि (यह) माता यहाँ मर जाती है तो हजारों शृगालों को (तृप्त करने के लिए) पर्याप्त होगी ॥३०॥

अजी, क्या आपके यान (व्यापार के लिए पोत आदि) चलते हैं ?

चेटी—आर्य, नहीं, नहीं ।

विदूषक—या, इसमें पूछना ही क्या है ?

वास्तव में तुम्हारे प्रेमरूपी स्वच्छ जल से युक्त कामरूपी सागर में स्तन नितम्ब तथा जघाएँ ही मनोहर यानपात्र हैं ?

इस प्रकार वसन्तसेना के बहुत प्रकार के समाचारों से युक्त प्रकोष्ठ वाले भवन को देखकर मैं जानता हूँ (मुझे लगता है) कि सचमुच ही मैंने एकत्र स्थित त्रैलोक्य देख लिया है । प्रशंसा करने के लिए मेरी वाणी में सामर्थ्य नहीं है । तो क्या (यह) वेश्या का घर है अथवा कुबेर के भवन का (एक) खण्ड है ? तुम्हारी आर्या (वसन्तसेना) कहाँ हैं ?

चेटी—आर्य, यह वृक्ष-वाटिका में बैठी हैं । तो आर्य प्रवेश करें ।

विदूषक—(प्रवेश करके और देखकर) अरे आश्चर्य ! अहा, वृक्षवाटिका की शोभा-सम्पन्नता । जिन पर भली भाँति पुष्पों का विस्तार होता है, ऐसे अनेक वृक्ष लगाये गये हैं । युवतियों के जघनस्थल की नाप वाले पटरियों के (या रेशमी) झूले

एतादृशीम् अवस्थां गता । अत्र अस्मिन् दशायां यदि माता म्रियते शृगालसहस्रस्य पर्याप्तिका तृप्तिः भवति । उपजातिविशेषः इति पृथ्वीधरः ॥३०॥

प्रेम एव निर्मलं जलं यस्मिन् तादृशे मदनः कामः एव समुद्रः तस्मिन् । बहवो वृत्तान्ता यत्र । त्रिविष्टपं त्रिभुवनम् ।

वाचः वाण्याः विभवः सम्पत् । कुबेरभवनस्य परिच्छेदः एकदेशः खण्डः । वृक्षवाटिकावर्णनम्—सश्रीकता शोभासम्पन्नता अच्छरीतयः सम्यक्परिपाटीयुक्ताः कुसुमप्रस्ताराः पुष्पविस्ताराः येषां तथाभूताः अनेकपादपाः रोपिताः सन्ति । युवतिजन- जघनं कटिपुरोभागः प्रमाणं यस्याः तादृशी पट्टनिर्मिता कौशेयवस्त्रसंघटिता काष्ठपट्टयुक्ता वा दोला (झूला) निरन्तरपादपानां भनवृक्षाणां -तले निर्मिता अस्ति । इयं वाटिका नन्दनवनस्य सश्रीकतां लघूकरोति इव-इत्युत्प्रेक्षा ।

आकुरवआदिमोत्तअप्पहुदिकुसुमेहिं सअं णिवडिदेहिं जं सच्चं लहुकरेदि विअ णन्दणवणस्स सस्सिरीअदम् । (अन्यतोऽवलोक्य) इदो अ उदअन्तसूरसमप्पहेहिं कमलरत्तप्पलेहिं संझाअदि विअ दीहिआ । अवि अ ।

एसो असोअवुच्छो णवणिग्गमकुसुमपल्लवो भादि ।
सुभडो व्व समरमज्झे घणलोहिदपङ्कचच्चिक्को ॥३१॥

भोदु । ता कहिं तुम्हाणं अज्जआ । [आश्चर्यं भोः, अहो वृक्षवाटिकायाः सश्रीकता । अच्छरीतिकुसुमप्रस्तारा रोपिता अनेकपादपाः, निरन्तरपादपतलनिर्मिता युवतिजघनप्रमाणा पट्टदोला, सुवर्णयूथिकाशेफालिकामालतीमल्लिकानवमल्लिकाकुरबकातिमुक्तकप्रभृतिकुसुमैः स्वयं निपतितैर्यत्सत्यं लघूकरोतीव नन्दनवनस्य सश्रीकताम् । इतश्च उदयत्सूर्यसमप्रभैः कमलरक्तोत्पलैः सन्ध्यायते इव दीर्घिका । अपि च ।

एषोऽशोकवृक्षो नवनिर्गमकुसुमपल्लवो भाति ।
सुभट इव समरध्ये घनलोहितपङ्कचर्चिकः ॥३१॥

भवतु । तत्कुत्र युष्माकमार्या ।]

चेटी—अज्ज, ओणामेहि दिट्ठिम् । पेक्ख अज्जअम् । [आर्य, अवनमय दृष्टिम् । पश्यार्याम् ।]

विदूषकः—(दृष्ट्वा उपसृत्य) सोत्थि भोदीए । [स्वस्ति भवत्यै ।]

वसन्तसेना—(संस्कृतमाश्रित्य) अये, मैत्रेयः । (उत्थाय) स्वागतम् । इदमासनम् । अत्रोपविश्यताम् ।

विदूषकः—उपविसदु भोदि । [उपविशतु भवती ।]

(उभावुपविशतः)

वसन्तसेना—अपि कुशलं सार्थवाहपुत्रस्य ?

विदूषकः—भोदि कुशलम् । [भवति, कुशलम् ।]

वसन्तसेना—आर्य मैत्रेय, अपीदानीं ।

गुणप्रवालं विनयप्रशाखं विश्रम्भमूलं महनीयपुष्पम् ।
तं साधुवृक्षं स्वगुणैः फलाढ्यं सुहृद्विहङ्गाः सुखमाश्रयन्ति ॥३२॥

उदयत् उदयं गच्छन् यः सूर्यः,तस्य समा तुल्या प्रभा कान्तिः येषां तैः कमलैः सामान्यकमलैः रक्तोत्पलैश्च दीर्घिका वापी सन्ध्यायते इव सन्ध्या इव आचरति, सन्ध्येव प्रतिभातीति भावः ।

तस्यां वाटिकायां स्थितम् अशोकवृक्षं वर्णयति—एष इति । नवनिर्गतानि कुसुमानि पल्लवाश्च यत्र तथाभूतः एषः पुरोवर्ती अशोकवृक्षः समरमध्ये घनस्य

सघन वृक्षों के नीचे बनाये गये हैं। चम्पक जूही शेफालिका, मालती, मोतिया (अथवा बेला), चमेली कुरबक तथा अतिमुक्तक (मोगरा) आदि स्वयं गिरे हुए पुष्पों से (यह वसन्तसेना की वाटिका) सचमुच ही नन्दनवन की शोभा-सम्पन्नता को कम कर रही है।

(दूसरी ओर देखकर) और इधर उदय होते हुए सूर्य के समान आभा वाले साधारण कमलों तथा लाल कमलों से (यह) बावड़ी सन्ध्या जैसी (लाल) लग रही है। और भी—

जिस पर नये पत्ते और पुष्प आये हैं, ऐसा यह अशोक का वृक्ष युद्ध के बीच में गाढ़े रक्त की कीचड़ से लथपथ हुए श्रेष्ठ योद्धा के समान शोभित हो रहा है ॥३१॥

अस्तु। तो तुम्हारी आर्या कहाँ है?

चेटी—आर्य, दृष्टि को झुकाइये। आर्या को देखिये।

विदूषक—(देखकर समीप आकर) आपका कल्याण हो।

वसन्तसेना—(संस्कृत का आश्रय लेकर) अरे! मैत्रेय हैं। (उठकर) स्वागत है: यह आसन है। यहाँ बैठिये।

विदूषक—आप बैठिये (दोनों बैठ जाते हैं।)

वसन्तसेना—सार्थवाह के पुत्र आर्य चारुदत्त कुशल तो हैं।

विदूषक—जी, कुशल हैं।

वसन्तसेना—आर्य मैत्रेय, क्या इस समय भी—

गुण ही जिसके किसलय हैं, नम्रता ही शाखा हैं, विश्वास ही जड़ है, महत्ता रूपी पुष्प हैं, ऐसे अपने गुणों के द्वारा फल–सम्पन्न उस सज्जन (चारुदत्त) रूपी वृक्ष पर मित्र रूपी पक्षी-गण सुखपूर्वक आश्रय लेते हैं ॥३२॥

गाढस्य लोहितपङ्कस्य रक्तकर्दमस्य चर्चा लेपनं यस्य तादृशः सुभटः योधः इव भाति प्रतीयते। गाथावृत्तम् ॥३१॥

आगतं मैत्रेयं चारुदत्तस्य कुशलं पृष्ट्वा वसन्तसेना चारुदत्तविषयकं प्रश्नान्तरं पृच्छति–गुणेति। गुणाः औदार्यादयः एव प्रवालाः किसलयाः यस्य तं, विनयः एव प्रशाखाः मुख्यशाखाः यस्य तं, विश्रम्भः विश्वासः एव मूलं यस्य तं महनीयं पूज्यता कीर्तिरिति भावः एव पुष्पं यस्य तं, स्वगुणैः स्वकीयैः दयादाक्षिण्यादिगुणैः एव फलैः आढ्यं युक्तं सम्पन्नं वा साधुः सज्जनः एव वृक्षः तं चारुदत्तं सुहृदः एव विहङ्गाः पक्षिणः सुखं यथा स्यात् तथा आश्रयन्ति अवलम्बन्ते किम्? रूपकालङ्कारः। उपजातिः वृत्तम् ॥३२॥

विदूषकः—(स्वागतम्) सुट्ठु उवलक्खिदं दुट्टविलासिणीए । (प्रकाशम्) अध इं । [सुष्ठूपलक्षितं दुष्टविलासिन्या । अथ किम् ।]

वसन्तसेना—अये, किमागमनप्रयोजनम् ।

विदूषकः—सुणादु भोदि । तत्तभवं चारुदत्तो सीसे अञ्जलिं कदुअ भोदिं विण्णवेदि । [शृणोतु भवती । तत्रभवांश्चारुदत्तः शीर्षेऽञ्जलिं कृत्वा भवतीं विज्ञापयति ।]

वसन्तसेना—(अञ्जलिं बद्ध्वा) किमाज्ञापयति ।

विदूषकः—मए त सुवण्णभण्डअं विस्सम्भादो अत्तणकेरकेत्ति कदुअ जूदे हारिदम् । सो अ सहिओ राअवात्थहारी ण जाणिअवि कहिं गदो त्ति । [मया तत्सुवर्णभाण्डं विश्रम्भादात्मीयमिति कृत्वा द्यूते हारितम् । स च सभिको राजवार्ताहारि न ज्ञायते कुत्र गत इति ।]

चेटी—अज्जए, दिट्ठिआ वड्ढसि । अज्जो जूदिअरो सवुत्तो । [आर्या, दिष्ट्या, वर्धसे । आर्यो द्यूतकरः संवृत्तः ।]

वसन्तसेना (स्वगतम्) कधम् । चोरेण अवहिदं पि सोण्डीरदाए जूदे हारिदं त्ति भणादि । अदो ज्जेव कामीअदि । [कथम् । चौरेणापहृतमपि शौण्डीरतया द्यूते हारितमिति भणति । अतएव काम्यते ।]

विदूषकः—ता तस्स कारणादो गेण्हदु भोदी इमं रअणावलिम् । [तत्तस्य कारणाद् गृह्णातु भवतीमां रत्नावलीम् ।]

वसन्तसेना—(आत्मगतम्) किं दंसेसि तं अलंकारअम् । (विचिन्त्य) अधवा ण दाव । [किं दर्शयामि तमलङ्कारम् । अथवा न तावत् ।]

विदूषकः—किं दाव ण गेण्हदि भोदी एदं रअणावलिम् । [किं तावन्न गृह्णाति भवतीमां रत्नावलीम् ।]

वसन्तसेना—(विहस्य सखीमुखं पश्यन्ती। मित्तेअ कधं ण गेण्हिस्सं रअणावलिम् । (इति गृहीत्वा पार्श्वे स्थापयति । स्वगतम्) कधं भीणकुसुमादो वि सहआरपादवादो मअरन्दबिन्दओ णिवडन्ति । (प्रकाशम्) अज्ज विण्णवेहि तं जूदिअरं मम वअणेण अज्जचारुदत्तम्—'अहं पि पदोसे अज्जं पेक्खिदुं आअच्छामि' त्ति । [मैत्रेय कथं न ग्रहीष्यामि रत्नावलीम्! कथं हीनकुसुमादपि सहकारपादपात्मकरन्दबिन्दवो निपतन्ति । आर्य, विज्ञापय तं द्यूतकरं मम वचनेनार्यचारुदत्तम्—'अहमपि प्रदोष आर्यं प्रेक्षितुमागच्छामि' इति ।]

विदूषक—(अपने आप) दुष्ट वेश्या ने ठीक जान लिया है। (प्रकट रूप में) और क्या ?

वसन्तसेना—जी, आपके आने का प्रयोजन क्या है ?

विदूषक—श्रीमती जी, सुनिये। पूज्य चारुदत्त सिर पर अञ्जलि (बांध) करके आपसे यह कहते हैं।

वसन्तसेना—(हाथ जोड़कर) क्या आज्ञा करते हैं ?

विदूषक—'···मैंने वह स्वर्णपात्र विश्वास से अपना (जान) करके जुए में हरा दिया और वह राज्य के सन्देश ले जाने वाला द्यूताध्यक्ष पता नहीं कहाँ चला गया ?

चेटी—आर्ये, भाग्य से बढ़ रही हो। (आपका सौभाग्य है) आर्य चारुदत्त जुआरी हो गये हैं।

वसन्तसेना—(अपने आप) क्या चोर से चुराये हुए (सुवर्णपात्र) को भी उदारता के कारण 'जुए में हरा दिया' यह कहते हैं इसीलिए (उनको) चाहती हूँ।

विदूषक—तो उसके कारण आप इस रत्नावली को ग्रहण करें।

वसन्तसेना—(अपने आप) क्या उस आभूषण को दिखा दूँ ? (सोचकर) या तब तक नहीं।

विदूषक—तो क्या आप इस रत्नावली को ग्रहण नहीं करती हैं ?

वसन्तसेना—(हँसकर सखी के मुख को देखती हुई) मैत्रेय, रत्नावली को कैसे न लूँगी ? (लेकर पास में रखती हुई अपने आप) मञ्जरी रहित आम के वृक्ष से भी पुष्परस की बूँदें कैसे गिर रही हैं ?

(प्रकट रूप में) आर्य, उन जुआरी आर्य चारुदत्त से मेरी ओर से यह कह देना—'मैं भी आज प्रदोष (रात्रि के प्रथम पहर) में आर्य को देखने आऊँगी।'

दुष्टः विलासो यस्य इति दुष्टविलासिनी तया। अथ किम् अनुमतौ। राज्ञः वार्त्ता सन्देशं हरतीति राजवार्ताहारी शौण्डीरतया उदारतया।

हीनानि कुसुमानि यस्य तथाभूतात् मञ्जरीहीनात् सहकारपादपाद् आम्रवृक्षात् मकरन्दबिन्दुपतनं यथा आश्चर्यकरं तथैव दरिद्रात् चारुदत्तात् रत्नावलीरूपस्यालङ्कारस्य प्राप्तिरिति भावः। गणिकायाः प्रसङ्गात् संसर्गात्। अकाले असमये दुर्दिनं घनान्धकारं मेघमण्डलं वा। मेघच्छन्नं दिनं दुर्दिनमुच्यते लक्षणया तु मेघमण्डलम् इत्यर्थः। उन्नमति ऊर्ध्वम् आगच्छति।

विदूषकः—(स्वगतम्) किं अण्णं तहिं गदुअ गेण्हिस्सदि । (प्रकाशम्) भोदि, भणामि (स्वगतम्) णिअत्तीअदु इमादो गणिआपसङ्गादो, त्ति । [किमन्यत्तत्र गत्वा ग्रहीष्यति । भवति, भणामि—'निवर्ततामस्माद् गणिकाप्रसङ्गात्' इति । (इति निष्क्रान्तः)

वसन्तसेना—हञ्जे, गेण्ह एदं अलङ्कारअम् । चारुदत्तं अहिरमिदुं गच्छम्ह । [चेटि, गृहाणैतमलङ्कारम् । चारुदत्तमभिरन्तुं गच्छामः ।]

चेटी—अज्जए, पेक्ख पेक्ख । उण्णमदि अकालदुद्दिणम् । [आर्ये, पश्य पश्य । उन्नमत्यकालदुर्दिनम् ।]

वसन्तसेना—

उदयन्तु नाम मेघा भवतु निशा वर्षमविरतं पततु ।
गणयामि नैव सर्वं दयिताभिमुखेन हृदयेन ॥३३॥

हञ्जे, हारं गेण्हिअ लहुं आ अच्छ । [चेटि, हारं गृहीत्वा शीघ्रमागच्छ ।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

मदनिकाशर्विलको नाम चतुर्थोऽङ्कः

आर्ये, उन्नमति अकालदुर्दिनम्' इति चेटीवचनं निशम्य वसन्तसेना कथयति—उदयन्तु इति । मेघाः उदयन्तु आविर्भवन्तु नाम, निशा भवतु, अविरतं सततं वर्षं वृष्टिः पततु अहं दयिताभिमुखेन प्रियं प्रति उत्सुकेन हृदयेन सर्वं नैव गणयामि न बाधकं मन्ये । आर्या वृत्तम् ॥३३॥

इति मदनिकाप्रदानो नाम चतुर्थोऽङ्कः ।

विदूषक—(अपने आप) वहाँ जाकर और क्या लेगी ? (प्रकट रूप में) अच्छा, यह कह दूंगा (अपने आप) 'कि इस वेश्या के संसर्ग से अलग हो जाओ।' (चला जाता है।)

वसन्तसेना—चेटी, इस आभूषण को ले लो। चारुदत्त से रमण करने चलेंगे।

चेटी - आर्ये ! देखिये। असमय में दुर्दिन उमड़ रहा है।

वसन्तसेना—बादल भले ही घिर आयें, रात हो जाय, निरन्तर वर्षा होती रहे, प्रियतमोन्मुख हृदय से इन सबको (मैं कुछ) नहीं गिनती ॥३३॥

चेटी, हार को लेकर शीघ्र आओ।

(सब निकल जाते हैं)

मदनिका और शर्विलक नामक चतुर्थ अङ्क (समाप्त)।

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्थः सोत्कण्ठश्चारुदत्तः)

चारुदत्तः—(ऊर्ध्वमवलोक्य) उन्नमत्यकालदुर्दिनम् । यदेतत्

आलोकितं गृहशिखण्डिभिरुत्कलापै—
हंसैर्यियासुभिरपाकृतमुन्मनस्कैः ।
आकालिकं सपदि दुर्दिनमन्तरीक्षम्
उत्कण्ठितस्य हृदयं च समं रुणद्धि ॥१॥

अपि च ।

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलो,
विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः ।
आभाति संहतवलाकगृहीतशङ्खः,
खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः ॥२॥

अपि च ।

केशवगात्रश्यामः कुटिलबलाकावलीरचितशङ्खः ।
विद्युद्गुणकौशेयश्चक्रधर इवोन्नतो मेघः ॥३॥

[अस्मिन्नङ्के समाप्तिपर्यन्तं वर्षर्तुवर्णनं क्रियते तच्च संयोगभृङ्गारस्योद्दीपनविभावत्वेनावतरतीति ध्येयम्]

चारुदत्तः षड्भिः श्लोकैः अकालदुर्दिनं वर्णयति--आलोकितमित्यादि । उत्कलापैः उद्गताः कलापाः येषां तैः उत्थापितपुच्छैः गृहशिखण्डिभिः गृहमयूरैः आलोकितं (दुर्दिनम्) तथा उन्मनस्कैः उत्कण्ठितैः यियासुभिः (मानसरोवरं) गन्तुकामैः हंसैः अपाकृतं निरस्तम् उपेक्षितं वा आकालिकं अकाले समुत्पन्नं दुर्दिनं मेघावरणं सपदि झटिति अन्तरीक्षम् आकाशम् उत्कण्ठितस्य विरहोत्सुकस्य जनस्य हृदयं च समं सहैव रुणद्धि आच्छादयति । सहोक्तिरलङ्कार । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१॥

मेघ इति । अत्र मेघः विष्णुरूपेणोत्प्रेक्ष्यते विशेषणानि चोभयपक्षे योजनीयानि । जलेन आर्द्रस्य महिषस्य उदरं भृङ्गश्च तद्वत् नीलः (मेघः विष्णुश्च) -विद्युत्प्रभया रचितं पीतपट इव पीताम्बरमिव उत्तरीयं यस्य (विष्णुपक्षे—विद्युत्प्रभा

पाँचवाँ अङ्क

(तदनन्तर आसन पर बैठा हुआ और उत्कण्ठित चारुदत्त प्रवेश करता है)

चारुदत्त—(ऊपर देखकर) असमय ही दुर्दिन उमड़ रहा है। जो यह ऊपर पंख वाले पालतू मोरों के द्वारा (प्रसन्नतापूर्वक) देखा गया तथा (मानसरोवर को जाने के इच्छुक खिन्न-मन हंसों के द्वारा उपेक्षित (अनभिनन्दित) असमय का दुर्दिन (घना अन्धकार और वर्षा) शीघ्रता से आकाश तथा उत्कण्ठित (विरही) के हृदय को साथ-साथ आच्छन्न कर रहा है ॥१॥

और भी—

जल से गीले भैंसे के उदर एवं भ्रमर के समान नीला, बिजली की प्रभा से निर्मित पीताम्बर तुल्य उत्तरीय धारण करने वाला [विष्णु पक्ष में—विद्युत् प्रभा के समान निर्मित पीताम्बर ही है उत्तरीय जिसका] एकत्रीभूत बगुले रूपी शंख को ग्रहण करने वाला [विष्णु पक्ष में—एकत्रित बगुलों के समान ग्रहण किया है पाञ्चजन्य नामक शङ्ख जिसने] दूसरे विष्णु के समान आकाश को व्याप्त करने को उद्यत मेघ शोभायमान है। २॥

जो विष्णु के शरीर के समान श्याम है, जिसने बगुलों की टेढ़ी पंक्ति से शंख बनाया है, बिजली रूपी धागे का (बना हुआ) जिसका पीताम्बर है ऐसा बादल विष्णु के समान उमड़ रहा है ॥३॥

इव रचितं पीतपट एव उत्तरीयं येन) सः, संहता एकत्रीभूताः बलाकाः बका एव गृहीतः शङ्खो येन [विष्णुपक्षे संहतबलाकावद् गृहीतः शङ्खः पाञ्चजन्यो येन] सः अपरः केशवः विष्णुः इव खम् आकाशम् आक्रमितुं व्याप्तुं प्रवृत्तः उद्यतः मेघः आभाति शोभते। रूपकम् उत्प्रेक्षा च। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२॥

उपर्युक्तमेवार्थं प्रकारान्तरेण वर्णयति-केशवेति। केशवगात्रवत् श्यामः कुटिला चासौ बलकावली बकपङ्क्तिः च तया रचितः शङ्खः येन तादृशः, विद्युद्गुणः विद्युल्लेखा एव कौशेयं यस्य तादृशः मेघः चक्रधरः विष्णुः इव उन्नतः आकाशे समुद्गतः। उपमालङ्कारः। आर्या वृत्तम् ॥३॥

एता निषिक्तरजतद्रवसंनिकाशा
धारा जवेन पतिता जलदोदरेभ्यः
विद्युत्प्रदीपशिखया क्षणदृष्टनष्टा-
श्छिन्ना इवाम्बरपटस्य दशाः पतन्ति ॥४॥

संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव
व्याविद्धैरिव मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः ।
तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः
पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना ॥५॥

एतत्तद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृशं मेघान्धकारं नभो
हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्योधनो वा शिखी ।
अक्षद्यूतजितो युधिष्ठिर इवाध्वानं गतः कोकिलो
हंसाः संप्रति पाण्डवा इव वनादज्ञातचर्यां गताः ॥६॥

(विचिन्त्य) चिरं खलु कालो मैत्रेयस्य वसन्तसेनायाः सकाशं गतस्य । नाद्यापि आगच्छति ।

(प्रविश्य)

विदूषकः—अहो गणिआए लोभो अदक्खिणदा अ, जदो ण कधा वि किदा अण्णा । अनेकद्रा सिणेहाणुसारं भणिअ किं पि, एवमेअ गहिदा रअ-

---

एता इति । निषिक्तः स्रवितः यो रजतद्रवः तत्सन्निकाशाः तुल्याः रजतद्रववद् शुभ्राः इति यावत्, जलदस्य उदरेभ्यः जवेन वेगेन पतिताः विद्युद् एव प्रदीपशिखा तया क्षणं दृष्टाः ततः नष्टाः अदृश्याः जाताः एताः जलस्य धाराः अम्बरमेव पटः वस्त्रं तस्य छिन्नाः त्रुटिताः दशाः प्रान्तभागाः इव पतन्ति । रूपकम् उत्प्रेक्षा च । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

वायुना इतस्ततः परिक्षिप्ताः मेघाः विविधवस्तूनाम् आकृतिं धारयन्ति तैश्च गगनतलम् आलेख्यमिव शोभते, इत्याह—हंससक्तैरिति । (क्वचित्) संसक्तैः परस्पर-मिलितैः चक्रवाकमिथुनैः चक्रवाकयुगलैः इव (क्वचित्) प्रडीनैः उड्डीनैः हंसैः इव, (क्वचित्) व्याविद्धैः इतस्ततः विक्षिप्तैः मीनचक्रैः मत्स्यसमूहैः मकरैश्च इव, अन्यत्र च प्रोच्छ्रितैः अत्युन्नतैः हर्म्यैः प्रासादैः इव—एतादृशैः तैः तैः नानाविधैः आकृति-विस्तरैः स्वरूपभेदैः अनुगतैः प्राप्तैः समभ्युन्नतैः उन्नतैः वायुना विश्लेषितैः

पिघले हुये चांदी के द्रव जैसी मेघ के उदर से वेगपूर्ण गिरती हुई बिजली रूपी दीपक की लौ के द्वारा क्षण-भर दिखाई देकर अदृश्य हो जाने वाली ये धारायें आकाश रूपी वस्त्र के टूटे हुए छोर (दशाः) के समान गिर रही हैं ॥४॥

एक दूसरे से मिले हुए चक्रवाक के जोड़ों के समान, उड़ते हुए हंसों जैसे, (समुद्र की लहरों से इधर-उधर) फेंके हुए मत्स्य-समुदाय और मगरों के सदृश, उन्नत अट्टालिकाओं जैसे (ऊँचे) विभिन्न विस्तृत आकारों को प्राप्त करने वाले, वायु द्वारा छिन्न-भिन्न, उमड़ते हुए बादलों के द्वारा यहाँ आकाश (पत्र-छेद विधि द्वारा) चित्रित-सा शोभित हो रहा है ॥५॥

बादलों से जिसमें अंधेरा हो गया है, ऐसा यह आकाश उस (प्रसिद्ध) धृतराष्ट्र के मुख के समान है (क्योंकि धृतराष्ट्र का मुख भी आँखें न होने से अन्धकार-पूर्ण था और आकाश की भी सूर्य चन्द्ररूपी दोनों आंखें बादलों से नष्ट हो गई थीं), प्रसन्न एवं अति गर्वित बल (मयूर पक्ष में-शक्ति, दुर्योधन पक्ष में—सेना) वाले दुर्योधन के समान मोर गरज रहा है।

पाँसे के द्वारा जुए में हारे हुए युधिष्ठिर के समान कोयल मौन (युधिष्ठिर पक्ष में 'अध्वानं' का अर्थ वनमार्ग) को प्राप्त हो गई है । इस समय हंस पाण्डवों के समान वन से (जल के कारण या वनवास से) अज्ञातवास को (अर्थात् मानसरोवर को) चले गये हैं ॥६॥

(सोचकर) मैत्रेय को वसन्तसेना के पास गये देर हो गई, अब भी नहीं आ रहा है।

(प्रवेश करके)

विदूषक—अहो ! वेश्या का लोभ और अनुदारता ? क्योंकि (अलङ्कार लेने के सिवाय) दूसरी बात भी नहीं की ? प्रेम के अनुकूल अनेक प्रकार से कुछ भी कहकर

पृथक्कृतैः च मेघैः गगनम् इह अत्र पत्रच्छेद्यम् इव पत्रस्य छेदः खण्डनं तेन घटितं चित्रम् इव भाति शोभते । उपमालङ्कारः शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५॥

एतदिति । मेघैः अन्धकारः यत्र एतद् नभः तस्य प्रसिद्धस्य धृतराष्ट्रस्य वक्त्रसदृशं मुखसदृशं चक्रसदृशं सेनासदृशं वा [धृतराष्ट्रमुखे दृष्टिशून्यत्वाद् अन्धकारः गगने च सूर्यचन्द्रयोः अदर्शनात्] अतिदर्पितम् अतिगर्वयुक्तं बलं शक्तिर्यस्य सः शिखी मयूरः अतिदर्पितं बलं सैन्यं यस्य सः दुर्योधनः इव गर्जति । कोकिलः पिकः अक्षैः द्यूते जितः युधिष्ठिरः अध्वानं वनमार्गम् इव अध्वानं ध्वनिशून्यतां मौनं गतः । सम्प्रति हंसाः—पाण्डवाः वनाद् वनवासाद् वनवासं परित्यज्य वा अज्ञातचर्याम् अज्ञात-वासम् इव—वनात् जलाद् हेतोः अज्ञातस्थानं गताः, अदृश्या जाताः इति भावः । उपमालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥६॥

णावली । एत्तिआए ऋद्धीए ण तए अहं भणिदो—'अज्जमित्तेअ, उवविसीअदु । मल्लकेण पाणीअ पि पिविअ गच्छीअदु'त्ति । ता मा दाव दासीए धीआए गणिआए मुहं पि पेक्खिस्सम् । (सनिर्वेदम्) सुट्ठु क्खु वुच्चदि—'अकन्दसमुत्थिता पउमिणी, अवञ्चओ वाणिओ, अचोरो, सुवण्णआरो, अकलहो गामसमागमो, अलुद्धा गणिआ त्ति दुक्करं एदे संभावीअन्ति' । ता पिअवअस्सं गदुअ इमादो गणिआपसङ्गादो णिवत्तावेमि । (परिक्रम्य दृष्ट्वा) कधं पिअवअस्सो रुक्खवाडिआए उपविट्ठो चिट्ठदि । ता जाव उवसप्पामि । (उपसृत्य) सोत्थि भवदे । वड्ढदु भवम् । [अहो गणिकाया लोभोऽदक्षिणता च । यतो न कथापि कृतान्या । अनेकधा स्नेहानुसारं भणित्वा किमपि, एवमेव गृहीता रत्नावली । एतावत्या ऋद्धया न तयाहं भणितः—'आर्यमैत्रेय, विश्रम्यताम् । मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यताम्' इति । तन्मा तावद्दास्याः पुत्र्या गणिकाया मुखमपि द्रक्ष्यामि । सुष्ठु खलूच्यते—'अकन्दसमुत्थिता पद्मिनी, अवञ्चको वणिक्, अचौरः सुवर्णकारः, अकलहो ग्रामसमागमः, अलुब्धा गणिकेति दुष्करमेते संभाव्यन्ते' । तत्प्रियवयस्यं गत्वास्माद् गणिकाप्रसङ्गान्निवर्तयामि । कथं प्रियवयस्यो वृक्षवाटिकायामुपविष्टस्तिष्ठति । तद्यावदुपसर्पामि । स्वस्ति भवते । वर्धतां भवान् ।]

चारुदत्तः—(विलोक्य) अये, सुहृन्मे मैत्रेयः प्राप्तः । वयस्य, स्वागतम् । आस्यताम् ।

विदूषकः—उपविट्ठो ह्मि । [उपविष्टोऽस्मि ।]

चारुदत्तः—वयस्य, कथय तत्कार्यम् ।

विदूषकः—तं क्खु कज्जं विणट्ठम् । [तत्खलु कार्यं विनष्टम् ।]

चारुदत्तः—किं तया न गृहीता रत्नावली ?

विदूषकः—कुदो अम्हाणं एत्तिअं भाअधेअम् । णवणलिणकोमलं अञ्जलिं मत्थए कदुअ पडिच्छिआ । [कुतोऽस्माकमेतावद्भागधेयम् । नवनलिनकोमलमञ्जलिं मस्तके कृत्वा प्रतीष्टा ।]

चारुदत्तः—तत्किं ब्रवीषि विनष्टमिति ?

विदूषकः—भो कधं ण विणट्ठम्, जं अभुत्तपीदस्स चोरेहिं अवहिदस्स अप्पमुल्लस्स सुवण्णभण्डअस्स कारणादो चदुस्समुद्दसारभूदा रअणमाला हारिदा । [भोः, कथं न विनष्टम्, यदभुक्तपीतस्य चौरैरपहृतस्याल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डस्य कारणाच्चतुःसमुद्रसारभूता रत्नमाला हारिता ।]

चारुदत्तः—वयस्य, मा मैवम् ।

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः ।
तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥७॥

ऐसे ही रत्नावली ले ली। इतनी सम्पत्तियुक्त होकर भी उसने मुझसे यह नहीं कहा आर्य मैत्रेय आराम कीजिये। मल्लक (पात्र विशेष) से पानी तो पीकर जाइये। तो इस दासी की पुत्री वेश्या का मुँह भी नहीं देखूँगा। (खेदपूर्वक) ठीक ही कहा जाता है—'बिना जड़ के उत्पन्न हुई कमलिनी, न ठगने वाला बनिया, न चुराने वाला सुनार, जिसमें झगड़ा न हो ऐसा ग्राम-सम्मेलन, न लोभ करने वाली वेश्या, इनकी सम्भावना करना कठिन है। तो जाकर प्रिय मित्र को इस वेश्या के संग से पृथक् करता हूँ। (घूमकर देखकर) क्या प्रिय मित्र वृक्ष-वाटिका में बैठे हुए हैं? तो जब तक समीप चलता हूँ। (समीप जाकर) आपका कल्याण हो, आपकी वृद्धि हो।

चारुदत्त—(देखकर) अरे मेरे मित्र मैत्रेय आ गये। मित्र स्वागत है, बैठिये।

विदूषक—बैठ गया हूँ।

चारुदत्त—मित्र, उस कार्य की बात कहो।

विदूषक—वह काम तो बिगड़ गया।

चारुदत्त—क्या उसने रत्नावली नहीं ली?

विदूषक—हमारा ऐसा भाग्य कहाँ? अभिनव कमल-सी कोमल अञ्जलि मस्तक पर करके (वह रत्नावली उसने) ले ली।

चारुदत्त—तो यह क्यों कहते हो कि बिगड़ गया।

विदूषक—जी, कैसे नहीं बिगड़ गया, जो बिना खाये-पीये, चोरों द्वारा चुराये गये स्वल्प मूल्य वाले स्वर्ण-पात्र के कारण चारों समुद्रों की सारभूत रत्नावली खो दी?

चारुदत्त—मित्र, ऐसा नहीं। जिस विश्वास का आधार लेकर उसने हम पर धरोहर रक्खी उस महान् विश्वास का ही यह मूल्य दिया जा रहा है ॥७॥

मल्लकः पात्रविशेषः। न कन्दात् मूलात् समुत्थिता उत्पन्ना मूलं विनोत्पन्ना। अकलहः कलहशून्यः। ग्रामस्य समागमः सम्मेलनम्। अलुब्धा लोभशून्या।

नवनलिनवत् नूतनकमलवत् कोमलम् अञ्जलिम्। प्रतीष्टा गृहीता।

यमिति। व्याख्यातं पुरस्तात् (३·२९)।

पटान्तेन वस्त्राञ्चलेन अपवारितम् आवृतम्। बहवः प्रत्यवायाः दोषाः यस्मिन् तस्मात्। पादुकायाः अन्तरे मध्ये। लेष्टुका लघुमृत्तिकाखण्डः। चाटः वञ्चकः [चाटाः प्रतारकाः विश्वास्य ये परधनमपहरन्ति—मिताक्षरा (आप्टे)] न जायन्ते वृद्धिं न गच्छन्ति। परिवादं निन्दाम् उक्त्वा अलम् (टि०)। अवस्थया दरिद्रावस्थया। निवारितः पृथक्कृतः।

विदूषकः—भो वअस्स, एदं पि मे दुदिग्रं संतावकारणं जं सहीअणविण्णसण्णाए पडन्तोवारिदं मुहं कदुअ अहं उवहसिदो। ता अहं बम्हणो भविअ दाणि भवन्तं सीसेण पडिअ विण्णवेमि—'णिवत्तीअदु अप्पा इमादो बहुपच्चवाआदो गणिआपसङ्गादो'। गणिआ णाम पादुअन्तरप्पविट्ठा विअ लेट्ठुआ दुक्खेण उण णिराकरीअदि। अवि अ भो वअस्स, गणिआ हत्थी काअत्थओ भिक्खु चाटो रासहो अ जहिं एदे णिवसन्ति तहिं दुट्ठा वि ण जाअन्ति। [भो वयस्य, एतदपि मे द्वितीयं संतापकारणं यत्सखीजनदत्तसंज्ञया पटान्तापवारितं मुखं कृत्वाहमुपहसितः। तदहं ब्राह्मणो भूत्वेदानीं भवन्तं शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि—'निवर्त्यतामात्मा अस्माद्बहुप्रत्यवायाद् गणिकाप्रसङ्गात्'। गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियते। अपि च भो वयस्य, गणिका हस्ती कायस्थो भिक्षुश्चाटो रासभश्च यत्रैते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते।]

चारुदत्तः—वयस्य, अलमिदानीं सर्वं परिवादमुक्त्वा। अवस्थयैवास्मि निवारितः। पश्य—

वेगं करोति तुरगस्त्वरितं प्रयातुं
प्राणव्ययान्न चरणास्तु तथा वहन्ति।
सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चलाः स्वभावाः
खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ॥८॥

अपि च वयस्य,

यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता धनहार्यो ह्यसौ जनः।
(स्वगतम्) न गुणहार्यो ह्यसौ जनः। (प्रकाशम्)
वयमर्थैः परित्यक्ता ननु त्यक्तैव सा मया ॥९॥

विदूषकः—(अधोऽवलोक्य स्वगतम्) जधा एसो उद्धं पेक्खिअ दीहं णिस्ससदि तधा तक्केमि मए विणिवारिअन्तस्स अधिअदरं वड्ढिदा से उक्कण्ठा। ता सुट्ठु एव्वं वुच्चदि—'कामो वामो' त्ति। (प्रकाशम्) भो वअस्स, भणिदं अ ताए—भ

चारुदत्तः स्वकीयाम् अवस्थामेव वर्णयति—वेगमिति। तुरगः अश्वः त्वरितं शीघ्रं प्रयातुं गन्तुं वेगं करोति तु किन्तु प्राणव्ययात् बलक्षयात् तस्य चरणाः तथा वेगेन न वहन्ति चलन्ति। पुरुषस्य जनस्य चलाः चञ्चलाः स्वभावाः मनोवृत्तयः सर्वत्र सर्वेषु प्राप्याप्राप्यविषयेषु यान्ति गच्छन्ति ततः खिन्नाः असफलताखेदं प्राप्ताः पुनः हृदयमेव विशन्ति स्वोत्पत्तिस्थाने हृदये एव विलीयन्ते इति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥८॥

विदूषक—हे मित्र, मेरे सन्ताप का दूसरा कारण यह भी है कि सखीजनों को संकेत देकर मुँह ढककर मेरा उपहास किया। तो मैं ब्राह्मण होकर (भी) इस समय सिर से (आपके चरणों पर) गिर कर निवेदन करता हूँ—इस बहुत विघ्नों वाले वेश्या के संग से पृथक् हो जाइये। वेश्या तो जूते के अन्दर प्रविष्ट हुई कंकड़ के समान फिर दुःख से निकाली जाती है।

और भी, हे मित्र,

वेश्या, हाथी, कायस्थ, भिखारी, धूर्त और गधा जहाँ ये रहते हैं वहाँ दुष्ट भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होते (सज्जनों का तो कहना ही क्या ?)

चारुदत्त—मित्र, इस सब निन्दा को कहने से बस करो। (मैं तो) अवस्था ने ही रोक दिया हूँ। देखो—

घोड़ा शीघ्र जाने के लिए तीव्रगति करता है, किन्तु शक्ति का क्षय होने के कारण (उसके) पैर उस प्रकार (वेग से) नहीं चलते हैं। पुरुष की चञ्चल मनोवृत्तियाँ सब स्थानों पर जाती हैं, वहाँ से (असफलता के कारण) खिन्न होकर फिर से हृदय में ही प्रविष्ट हो जाती हैं। (उसी प्रकार सामर्थ्याभाव से वसन्तसेना को प्राप्त करने की मेरी इच्छायें मन की मन में रह जाती हैं) ॥८॥

और भी, मित्र—

जिसकी सम्पत्ति है उसी की वह कामिनी है। क्योंकि यह जन (गणिका) धन से वश में करने योग्य है।

(अपने आप) नहीं, यह जन (वसन्तसेना) गुण द्वारा वश में करने योग्य है। (प्रकट रूप में) सम्पत्ति ने हमें त्याग दिया है (इसलिए) मेरे द्वारा तो वह (वसन्तसेना) त्याग ही दी गई है ॥९॥

विदूषक—(नीचे देखकर अपने आप) क्योंकि यह ऊपर देखकर लम्बे निश्वास ले रहा है, उससे अनुमान करता हूँ कि मेरे द्वारा निवारण किये गये इसकी उत्कण्ठा और भी अधिक बढ गई है। तो वास्तव में यह ठीक ही कहा जाता है, काम उलटा होता है। (प्रकट रूप में) हे मित्र, और उसने कहा है, चारुदत्त से कहना—'आज प्रदोप (रात्रि के

यस्येति। यस्य जनस्य अर्थाः धनानि सन्ति तस्य सा गणिका कान्ता कामिनी, हि यतः असौ जनः गणिका धनेन हार्यः वशे कर्तुं शक्यः। वसन्तसेना तु गुणलुब्धेति मनसि निधायाह 'वसन्तसेनाविषये एतन्न युक्तम्, कुतः असौ जनः वसन्तसेना तु गुणहार्यः औदार्यादिभिः गुणैः स्ववशे कर्तुं योग्यः। वयं च अर्थैः परित्यक्ताः अस्माकं सम्पत्तिर्नष्टा अतः मया चारुदत्तेन सा वसन्तसेना त्यक्ता एव स्वतः एव परित्यक्ता ननु इति निश्चितम्। काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः। अनुष्टुपं वृत्तम् ॥९॥

चारुदत्तम्—'अज्ज पओसे मए एत्थ आअन्तव्वं' त्ति । ता तक्केमि रअणावलीए अपरितुट्टा अवरं भणिदुं आअमिस्सदि त्ति । [यथैव ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निश्वसिति, तथा तर्कयामि मयां विनिवार्यमाणस्याधिकतरं वृद्धास्योत्कण्ठा । तत्सुष्ठु खल्वेवमुच्यते—'कामो वाम:' इति । भो वयस्य, भणितं च तया—भण चारुदत्तम्—'अद्य प्रदोषे मयात्रागन्तव्यम्' इति । तत्तर्कयामि रत्नावल्या अपरितुष्टापरं याचितुमागमिष्यतीति ।]

चारुदत्तः—वयस्य, आगच्छतु । परितुष्टा यास्यति ।

चेटः—(प्रविश्य) अवेध माणहे ।

जधा जधा वश्शदि अब्भखण्डे तधा तधा तिम्मदि पुट्ठिचम्मे ।
जधा जधा लग्गदि शीदवादे तधा तधा वेवहि मे हलक्के ॥१०॥

(प्रहरग)

वंशं वाए शतच्छिद्दं शुशद्दं वीणं वाए शत्ततन्तिं णदन्तिम् ।
गीअं गाए गद्दहश्शाणूलूअं के मे गाणे तुम्बुलू णालदे वा ॥११॥

आणत्तह्मि अज्जआए वशन्तशेणाए—कुम्भीअला, गच्छ तुमम् । मम आगमणं अज्जचारुदत्तश णिवेदेहि' त्ति । ता जाव अज्जचारुदत्तश गेहं गच्छामि । (परिक्रम्य प्रविष्टकेन दृष्ट्वा) एशे चालुदत्ते लुक्खवाडिआए चिट्ठदि । एशे वि शे दुट्टवडुके । ता जाव उवशप्पेमि । कधं ढक्किदे दुवाले लुक्खवाडिआए । भोदु । एदश्श दुट्टवडुकश्श शण्णं देमि । [अवेत मानवा:,

यथा यथा वर्षत्यभ्रखण्डं तथा तथा तिम्यति पृष्ठचर्म ।
यथा यथा लगति शीतवातस्तथा तथा वेपते मे हृदयम् ॥

वंशं वादयामि सप्तच्छिद्रं सुशब्दं वीणां वादयामि सप्ततन्त्रीं नदन्तीम् ।
गीतं गायामि गर्दभस्यानुरूपं को मे गाने तुम्बुरुर्नारदो वा ॥

आज्ञप्तोऽस्म्यार्यया वसन्तसेनया—'कुम्भीलक, गच्छ त्वम् । ममागमनमार्यचारुदत्तस्य निवेदय' इति । तद्यावदार्यचारुदत्तस्य गेहं गच्छामि । एष चारुदत्तो वृक्षवाटिकायां तिष्ठति । एषोऽपि स दुष्टबटुकः । तद्यावदुपसर्पामि । कथमाच्छादितं द्वारं वृक्षवाटिकायाः । भवतु । एतस्य दुष्टबटुकस्य संज्ञां ददामि ।] (इति लोष्टगुटिकाः क्षिपति)

विदूषकः—अए, को दाणिं एसो पाआरवेट्टिदं विअ कइत्थं मं लोट्टकेहिं ताडेदि [अये, क इदानीमेष प्राकारवेष्टितमिव कपित्थं मां लोष्टकैस्ताडयति ।]

चारुदत्तः—आरामप्रासादवेदिकायां क्रीडद्भिः पारावतैः पातितं भवेत् ।

विदूषकः—दासीए पुत्त दुट्टपारावअ चिट्ठ चिट्ठ । जाव एदिणा दण्डकट्ठेण सुपक्कं विअ चूअफलं इमादो पासादादो भूमीए पाडइस्सम् । [दास्याः पुत्र दुष्टपा

प्रथम पहर) में मुझे यहाँ आना है। तो अनुमान करता हूँ कि रत्नावली से असन्तुष्ट हुई (वह) कुछ और मांगने आयेगी।

चारुदत्त—मित्र; आने दो सन्तुष्ट होकर जायगी।

चेटी—(प्रवेश करके) मनुष्यो समझो, जैसे-जैसे मेघ खण्ड बरस रहा है, वैसे वैसे पीठ की त्वचा भीग रही है। जैसे जैसे ठण्डी वायु लग रही है वैसे-वैसे मेरा हृदय काँप रहा है ॥१०॥

(हँसकर) सात छेद वाली तथा सुन्दर शब्द वाली बांसुरी को बजाता हूँ। झङ्कृत होती हुई सात तारों वाली वीणा को बजाता हूँ। गधे के समान गीत गाता हूँ। मेरे गाने पर तुम्बरु (एक गन्धर्व) और नारद कौन है? (अर्थात् मेरे गाने के समक्ष वे भी तुच्छ हैं) ॥११॥

आर्या वसन्तसेना के द्वारा (मुझे) आज्ञा दी गई है, कुम्भीलक तुम जाओ मेरा आना आर्य चारुदत्त से निवेदन करो। तो जब तक आर्य चारुदत्त के घर जाता हूँ। (घूमकर प्रवेश द्वार से देखकर) यह चारुदत्त वृक्ष-वाटिका में बैठे हैं। यह वह दुष्ट वटुक भी है। तो जब तक समीप चलता हूँ। क्या वृक्ष-वाटिका का द्वार बन्द है? अच्छा इस दुष्ट वटुक को संकेत देता हूँ। (कंकड़ियाँ फेंकता है)।

विदूषक—अरे, कौन यह चारदीवारी से घिरे हुए कैथ के समान मुझे मार रहा है?

चारुदत्त—(सम्भवतः) वाटिका-भवन की चौकियों पर खेलते हुए कबूतरों ने गिरा दी हो।

विदूषक—दासी के पुत्र दुष्ट कबूतर, ठहर ठहर, जब तक इस काठ के डण्डे से भली प्रकार पके हुए आम के फल की भांति इस भवन से भूमि पर गिरा दूं। (काठ के डण्डे को उठाकर दौड़ता है)।

कामो वामः इति कामः विपरीतो भवति, यावद् कामः प्रतिबध्यते तावद् अधिकं वर्धते इति भावः। अवेत अवगच्छत।

यथेति यथा यथा अभ्रखण्डं मेघखण्डं मेघमण्डलं वा वर्षति तथा तथा मम पृष्ठचर्म तिम्यति आर्द्रीभवति। यथा यथा शीतवातः लगति तथा तथा मे मम चेटस्य हृदयं वेपते कम्पते। उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥१०॥

वंशेति। अहं सप्त छिद्राणि यंत्र तं सुशब्दं शोभनशब्दयुतं वंशं वादयामि सप्ततन्त्र्यः यत्र तां नदन्तीं झङ्कृतां वीणां वादयामि। गर्दभस्य अनुरूपं समानं गीतं गायामि मे मम गाने तुम्बुरुः देवसभायाः गायकविशेषः नारदः वा कः न कोऽपि इत्यर्थः। व्यतिरेकालङ्कारः। उपजाति वृत्तम् ॥११॥

प्रविष्टकेन रङ्गमञ्चस्य प्रवेशद्वारेण। संज्ञां सङ्केतम्। लोष्टगुटिकाः लघुमृत्तिका-

रावत, तिष्ठ यावदेतेन दण्डकाष्ठेन सुपक्वमिव चूतफलमस्मात्प्रासादाद् भूमौ पातयिष्यामि ।] (इतिदण्डकाष्ठमुद्यम्य धावति)

चारुदत्तः—(यज्ञोपवीतम् आकृष्य ।) वयस्य, उपविश । किमनेन । तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी पारावतः ।

चेटः—कधं पारावदं पेक्खदि । मं ण पेक्खदि । भोदु । अवराए लोट्टगुडिकाए पुणो वि ताडइस्सम् । [कथं पारावतं पश्यति । मां न पश्यति । भवतु । अपरया लोष्टगुटिकया पुनरपि ताडयिष्यामि ।] (तथा करोति)

विदूषकः—(दिशोऽवलोक्य) कधं कुम्भीलओ । ता जाव उवसप्पामि । (उपसृत्य । द्वारमुद्घाट्य) अरे कुम्भीलअ, पविश । साअदं दे । [कथं कुम्भीलकः । तद्यावदुपसर्पामि । अरे कुम्भीलक, प्रविश । स्वागतं ते ।]

चेटः—(प्रविश्य) अज्ज, वन्दामि । [आर्य वन्दे]

विदूषकः—अरे, कहिं तुमं ईदिसे दुद्दिणे अन्धआरे आअदो । [अरे, कुत्र त्वमीदृशे दुर्दिनेऽन्धकार आगतः ।]

चेटः—अले, एशा शा । [अरे, एषा सा ।]

विदूषकः—का एसा का । [कैषा का ।]

चेटः—एशा शा । [एषा सा]

विदूषकः—किं दाणिं दासीए पुत्ता, दुब्भिक्खकाले वुड्ढरङ्को विअ उद्धकं सासाअसि—'एसा सा से' त्ति । [किमिदानीं दास्याः पुत्र, दुर्भिक्षकाले वृद्धरङ्क इवोर्ध्वकं श्वासायसे—'एषा सा सा' इति ।]

चेटः—अले, तुमं पि दाणिं इन्दमहकामुको विअ सुट्ठु किं काकाअसि—'का के' त्ति । [अरे त्वमपीदानीमिन्द्रमहकामुक इव सुष्ठु किं काकायसे—'का का' इति ।]

विदूषकः—ता कहेहि । [तत् कथय ।]

चेटः- (स्वगतम्) भोदु । एव्वं भणिश्शं । (प्रकाशम्) अले, पण्हं दे दइश्शम् । [भवतु । एवं भणिष्यामि । अरे, प्रश्नं ते दास्यामि ।]

विदूषकः—अहं दे मुण्डे गोड्डं दइश्शम् । [अहं ते मस्तके पादं दास्यामि ।]

चेटः—अले, जाणाहि दाव, तेण हि कश्शिं काले चूआ मोलेन्ति । [अरे, जानीहि तावत्, तेन हि कस्मिन्काले चूता मुकुलिता भवन्ति ।]

विदूषकः—अरे दासीए पुत्ता, गिह्मे । [अरे दास्याः पुत्र, ग्रीष्मे ।]

चेटः—(सहासम् ।) अले, णहि णहि । [अरे, नहि नहि ।]

विदूषकः—(स्वगतम् ।) किं दाणिं एत्थ कहिस्सम् । (विचिन्त्य ।) भोदु । चारुदत्तं गदुअ पुच्छिस्सम् । (प्रकाशम् ।) अरे, मुहुत्तअं चिट्ठ । (चारुदत्तमुपसृत्य ।)

चारुदत्त—(यज्ञोपवीत को खींचकर) मित्र, बैठो। इससे क्या ? पत्नी (प्रेमिका) सहित बेचारा कबूतर बैठा रहे।

चेट—क्या कबूतर को देख रहे हो ? मुझे नहीं देख रहे हो ? अच्छा। दूसरी कंकड़ से फिर मारूँगा (वैसा करता है)

विदूषक—(सब दिशाओं में देखकर) क्या कुम्भीलक ? तो जब तक समीप चलता हूँ। (समीप जाकर द्वार खोल कर) अरे, कुम्भीलक प्रवेश करो। तुम्हारा स्वागत है।

चेट—(प्रवेश करके) आर्य, वन्दना करता हूँ।

विदूषक—अरे, ऐसे दुर्दिन अन्धकारर में तुम कहाँ आ गये ?

चेट—अरे यह वह।

विदूषक—कौन, 'यह' कौन ?

चेट—यह, वह ?

विदूषक—दासी के पुत्र, इस समय क्यों, अकाल के समय वृद्ध निर्धन (रङ्क) के समान लम्बी साँस ले रहा है—'एषा सा सा'

चेट—इस समय इन्द्रोत्सव के इच्छुक काक के समान यह अच्छी का, का (कौन, कौन)। या काँव, काँव, क्यों कर रहे हो ?

विदूषक—तो कहो।

चेट—(अपने आप) अच्छा इस प्रकार कहूँगा। (प्रकट रूप में) अरे, तुम्हें प्रश्न दूँगा।

विदूषक—मैं तेरे मस्तक पर लात दूँगा।

चेट—अरे जानते हो ? किस समय में आम मञ्जरीयुक्त होते हैं ?

विदूषक—अरे दासी के पुत्र, ग्रीष्म में।

चेट—(हँसकर) अरे नहीं, नहीं।

विदूषक—(अपने आप) यहाँ अब क्या कहूँ ? (सोचकर) अच्छा। जाकर चारुदत्त से पूछूँ। (प्रकट रूप में) अरे क्षण भर ठहर। (चारुदत्त के पास जाकर) हे मित्र, तनिक पूछ लूँ। आम किस समय में मुकुलित होते हैं ?

खण्डानि। प्राकारेण प्राचीरेण वेष्टितं परिवृतम्। कपित्थः फलविशेषः वृक्षविशेषो वा। आरामस्य उद्यानस्य प्रासादः तस्य वेदिकायाम्। दयितासहितः प्रियायुक्तः। तपस्वी वराकः। इन्द्रमहस्य इन्द्रोत्सवस्य कामुकः इच्छुकः काकः। काकायसे काक इव आचरसि। रथ्या रथ्यानां समूहः रथ्या (टि०)।

भो वग्रस्स, पुच्छिस्सं दाव, कस्सि काले चूग्रा मोलेन्ति। [किमिदानीमत्र कथयिष्यामि। भवतु। चारुदत्तं गत्वा प्रक्ष्यामि। अरे, मुहूर्त्तकं तिष्ठ। भो वयस्य, प्रक्ष्यामि तावत्, कस्मिन्काले चूता मुकुलिता भवन्ति।]

चारुदत्तः—मूर्ख, वसन्ते।

विदूषकः—(चेटमुपगम्य) मुक्ख वसन्ते। [मुक्ख, वसन्ते।]

चेटः—दुदिग्रं दे पण्हं दइश्शम्। शुशमिद्धाणं गामाणं का लक्खग्रं कलेदि [द्वितीयं ते प्रश्नं दास्यामि। सुसमृद्धानां ग्रामाणां का रक्षां करोति।]

विदूषकः—अरे, रच्छा [अरे, रथ्या।]

चेटः—(सहासम्।) अले णहि णहि। [अरे, नहि नहि।]

विदूषकः—भोदु। संसए पडिदोह्मि। (विचिन्त्य) भोदु चारुदत्तं पुणो वि पुच्छिस्सम। [भवतु। संशये पतितोऽस्मि। भवतु चारुदत्तं पुनरपि प्रक्ष्यामि।]

(पुनर्निवृत्य चारुदत्तं तथैवोदाहरति।)

चारुदत्तः—वयस्य, सेना।

विदूषकः—(चेटमुपगम्य।) अरे दासीए पुत्ता, सेणा। [अरे दास्याः पुत्र, सेना।]

चेटः—अले, दुवे वि एक्कश्शिं कदुग्र शिग्घं भणाहि। [अरे, द्वे अप्येकस्मिन्कृत्वा शीघ्रं भण।]

विदूषकः—(सेणावसन्ते।) [सेनावसन्ते।]

चेटः—णं पलिवत्तिग्र भणाहि। [ननु परिवर्त्य भण]

विदूषकः—(कायेन परिवृत्य।) सेणावसन्ते। [सेनावसन्ते!]

चेटः—अले मुक्ख, बडुका, पदाइं पलिवत्तावेहि। [अरे मूर्ख बटुक, पदे परिवर्तय।]

विदूषकः—(पादौ परिवर्त्य) सेणावसन्ते। [सेनावसन्ते।]

चेटः—अले मुक्ख, अक्खलपदाइं पलिवत्तावेहि। [अरे मूर्ख, अक्षरपदे परिवर्तय।]

विदूषकः—(विचिन्त्य।) वसन्तसेणा। [वसन्तसेना।]

चेटः—एशा शा आग्रदा। [एषा सागता।]

चेटः—ता जाव चारुदत्तस्स णिवेदेमि। (उपसृत्य।) भो चारुदत्त, धणिग्रो दे आग्रदो। [तद्यावच्चारुदत्तस्य निवेदयामि। भो चारुदत्त, धनिकस्त आगतः।]

चारुदत्तः—कुतोऽस्मत्कुले धनिकः।

विदूषकः—जइ कुले णत्थि, ता दुवारे अत्थि। एसा वसन्तसेणा

चारुदत्त—मूर्ख, वसन्त में।

विदूषक—(चेट के पास जाकर) मूर्ख, वसन्त में।

चेट—तुम्हें दूसरा प्रश्न दूंगा। सम्पत्तिशाली ग्रामों की कौन रक्षा करता है ?

विदूषक—अरे, रथ्या।

चेट—(हँसी पूर्वक) अरे, नहीं नहीं।

विदूषक—अच्छा। सन्देह में पड़ गया हूँ। (सोचकर) अच्छा फिर भी चारुदत्त से पूछूँ (फिर लौटकर चारुदत्त से कहता है)

चारुदत्त—मित्र, सेना।

विदूषक—(चेट के समीप आकर) अरे, दासी के पुत्र, सेना।

चेट—अरे दोनों को एक करके (मिलाकर) बोल।

विदूषक—सेना वसन्त।

चेट—अरे उलट कर कहो।

विदूषक—(शरीर से उलट कर) सेनावसन्त।

चेट—अरे मूर्ख बटुक, पद (शब्द) में परिवर्तन करो।

विदूषक—(पैरों को बदल कर) सेनावसन्त।

चेट—अरे मूर्ख, अक्षरों वाले पद (शब्द में) परिवर्तन करो (पैरों में नहीं)।

विदूषक—(सोच कर) वसन्तसेना।

चेट—यह वह आ गई है।

विदूषक—तो जब तक चारुदत्त से निवेदन करता हूँ (समीप जाकर) हे चारुदत्त तुम्हारा धनिक (साहूकार) आया है।

चारुदत्त—हमारे कुल में धनिक कहाँ से आया ?

विदूषक—यदि कुल में नहीं है तो द्वार पर है यह वसन्तसेना आई है।

परिवर्त्य परिवर्त्य कृत्वा।

आअदा । [यदि कुले नास्ति, तद्द्वारेऽस्ति एषा वसन्तसेनागता ।]

चारुदत्तः—वयस्य, किं मां प्रतारयसि ।

विदूषकः—जइ मे वअणे ण पत्तिआअसि, ता एदं कुम्भीलअं पुच्छ । अरे दासीए पुत्ता कुम्भीलअ, उवसप्प । [यदि मे वचने न प्रत्ययसे, तदिमं कुम्भीलकं पृच्छ । अरे दास्याः पुत्र कुम्भीलक, उपसर्प ।]

चेटः—(उपसृत्य ।) अज्ज वन्दामि । [आर्य वन्दे ।]

चारुदत्तः—भद्र, स्वागतम् । कथय सत्यं प्राप्ता वसन्तसेना ।

चेटः—एशा शा आअदा वसन्तशेणा । [एषा सागता वसन्तसेना ।]

चारुदत्तः—(सहर्षम्) भद्र न कदाचित्प्रियवचनं निष्फलीकृतं मया । तद्गृह्यतां पारितोषिकम् । (इत्युत्तरीयं प्रयच्छति)

चेटः—(गृहीत्वा प्रणम्य सपरितोषम्) जाव अज्जआए णिवेदेमि । [यावदार्याया निवेदयामि ।] (इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः—भो अवि जाणासि, किंणिमित्तं ईदिसे दुद्दिणे आअदेत्ति । [भोः, अपि जानासि, किंनिमित्तमीदृशे दुर्दिन आगतेति ।]

चारुदत्तः—वयस्य न सम्यगवधारयामि ।

विदूषकः—मए जाणिदम् अप्पमुल्ला रअणावली, बहुमुल्लं सुअण्णाभण्डअं त्ति तु परितुट्ठा अवरं मग्गिदुं आअदा । [मया ज्ञातम् । अल्पमूल्या रत्नावली, बहुमूल्यं सुवर्णभाण्डमिति न परितुष्टापरं याचितुमागता ।]

चारुदत्तः—(स्वगतम्) परितुष्टा यास्यति ।

(ततः प्रविशत्युज्ज्वलाभिसारिकावेशेन वसन्तसेना, सोत्कण्ठा छत्रधारिणी, विटश्च)

विटः—(वसन्तसेनामुद्दिश्य)

अपद्मा श्रीरेषा प्रहरणमनङ्गस्य ललितं
कुलस्त्रीणां शोको मदनवरवृक्षस्य कुसुमम् ।
सलीलं गच्छन्ती रतिसमयलज्जाप्रणयिनी
रतिक्षेत्रे रङ्गे प्रियपथिकसार्थैरनुगता ॥१२॥

प्रत्ययसे विश्वासं करोषि ।

अभिसारिका कान्तमभिसरतीति । उक्तं च—"अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा । स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका ।" वेश्यात्वाद् उज्ज्वलवेशेन अभिसरणम्, यथोक्तम्—"विचित्रोज्ज्वलवेशा तु चलन्नूपुरनिःस्वना । प्रमोदस्मेरवदना स्याद् वेश्याभिसरेद् यदि ।"

चारुदत्त—मित्र क्या मुझे छल रहे हो ?

विदूषक—यदि मेरे वचन में विश्वास नहीं करते हो तो इस कुम्भीलक से पूछ लो। अरे दासी के पुत्र कुम्भीलक पास आओ।

चेट—(समीप आकर) आर्य वन्दना करता हूँ।

चारुदत्त—भद्र, स्वागत है, कहो सचमुच वसन्तसेना आई है ?

चेट—यह वह वसन्तसेना आ गई है।

चारुदत्त—(प्रसन्नतापूर्वक) भद्र, मैंने प्रिय वचन कभी निष्फल नहीं किया। तो पुरस्कार ग्रहण करो। (उत्तरीय देता है)

चेट—(लेकर तथा प्रसन्तापूर्वक प्रणाम करके) जब तक आर्या से निवेदन करता हूँ। (निकल जाता है)

विदूषक—अरे, यह जानते भी हो कि ऐसे दुर्दिन में किस लिये आई है ?

चारुदत्त—मित्र ठीक नहीं जान पा रहा हूँ।

विदूषक—मैंने ठीक जान लिया। रत्नावली कम मूल्य की है, स्वर्ण पात्र वहुमूल्य था, इस कारण सन्तुष्ट नहीं हुई, कुछ और मांगने आई है।

चारुदत्त—(अपने आप) सन्तुष्ट होकर जायेगी।

(तत्पश्चात् उज्ज्वल अभिसारिका के वेश में उत्कण्ठित वसन्तसेना छत्रधारिणी और विट प्रवेश करते हैं)

विट—(वसंन्तसेना को लक्ष्य करके) यह—कमलरहित लक्ष्मी है, कामदेव का सुन्दर अस्त्र है, कुलीन स्त्रियों का (साक्षात्) शोक है (क्योंकि उनके पति वेश्यागामी हो जाते हैं. फलस्वरूप उनकी पत्नियाँ शोकाकुल हो जाती हैं), कामदेव रूपी श्रेष्ठ वृक्ष का पुष्प है, रति के समय लज्जा से प्रेम करने वाली काम-क्षेत्र रूपी रंगभूमि में विलासपूर्वक गमन करती हुई (यह वसन्तसेना) प्रिय पथिकों के समूहों से अनुगत होती है ॥१२॥

अभिसरणसमये वसन्तसेनायाः लावण्यं वर्णयति विटः—अपद्मेति। एषा वसन्तसेना श्रीः साक्षात् लक्ष्मीः अस्ति, किन्तु अपद्मा नास्ति पद्मं कमलं यस्याः न पद्मसम्भवा इत्यर्थः। एषा च अनङ्गस्य कामदेवस्य ललितं सुन्दरं प्रहरणम् अस्त्रमस्ति। कुलस्त्रीणां कुलनारीणां शोकः शोकरूपैव एषा हि तासां पतीनां चित्तं मोहयति ताश्च शोकयुक्ताः भवन्ति। मदनः कामः एव वरवृक्षः श्रेष्ठतरुः तस्य कुसुमं पुष्पस्वरूपा। रतिसमये सुरतकाले लज्जायां प्रणयिनी प्रीतिमती कुलवधूवत् लज्जायुक्ता भवति न तु वेश्यावत् लज्जाविहीनेति भावः। रतिक्षेत्रे सुरतस्थाने एव रङ्गे रङ्गभूमौ सलीलं विलासपूर्वकं गच्छन्ती इयं प्रियैः पथिकसार्थैः पथिकसमूहैः अनुगता भवति। अनेके प्रियकामुकाः एतामनुसरन्तीति भावः। मालारूपकम् अलङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम् ॥१२॥

वसन्तसेने, पश्य पश्य ।

गर्जन्ति शैलशिखरेषु विलम्बिबिम्बा
मेघा वियुक्तवनिताहृदयानुकाराः ।
येषां रवेण सहसोत्पतितैर्मयूरैः
खं वीज्यते मणिमयैरिव तालवृन्तैः ॥१३॥

अपि च—

पङ्कक्लिन्नमुखाः पिबन्ति सलिलं धाराहता दर्दुराः
कण्ठं मुञ्चति बर्हिणः समदनो नीपः प्रदीपायते ।
संन्यासः कुलदूषणैरिव जनैर्मेघैर्वृतश्चन्द्रमा
विद्युन्नीचकुलोदगतेव युवतिर्नैकत्र संतिष्ठते ॥१४॥

वसन्तसेना—भाव, सुट्ठु दे भणिदम् । [भाव, सुष्ठु ते भणितम् ।]

एषा हि

मूढे निरन्तरपयोधरया मयैव
कान्तः सहाभिरमते यदि किं तवात्र ।
मां गर्जितैरपि मुहुर्विनिवारयन्ती
मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशा सपत्नी ॥१५॥

विटः मेघानामुन्नतिं वर्णयति—गर्जन्तीति । शैलशिखरेषु विलम्बिबिम्बाः विलम्बि लम्बमानं बिम्बं मण्डलम् आकृतिर्वा येषां तादृशाः वियुक्तानां विरहपीडितानां वनितानां नारीणां हृदयम् अनुकुर्वन्ति अनुसरन्ति इति तथाभूताः धूसराः इत्यर्थः मेघा : गर्जन्ति एषां मेघानां रवेण गर्जनेन सहसा उत्पतितैः उड्डीनैः मयूरैः मणिमयैः मणिखचितैः तालवृन्तैः व्यजनैः इव खम आकाशं वीज्यते । उत्प्रेक्षालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१३॥

पुनः वर्षारम्भं वर्णयति विटः—पङ्केति । पङ्केन क्लिन्नानि आर्द्रीकृतानि मुखानि येषां ते धाराभिः जलधाराभिः आहताः ताडिताः सन्तः दर्दुराः मण्डूकाः सलिलं पिबन्ति । समदनः मदनेन सहितः कामातुरः बर्हिणः मयूरः कण्ठं मुञ्चति कण्ठध्वनिं केकारवं करोति [कण्ठो गले गलध्वाने' इति कोशः—पृथ्वीधरः] । नीपः कदम्बवृक्षः प्रदीपायते पुष्पयुक्तत्वात् प्रदीपवद् आचरति । कुलदूषणैः कुलं दूषयन्तीति तैः कुलकलङ्कैः जनैः संन्यास इव मेघैः चन्द्रमाः वृतः आच्छादितः दूषितः वा । नीचकुलोद्गता नीचवंशोत्पन्ना युवतिः इव विद्युत् एकत्र एकस्मिन् स्थाने (पुरुषे वा) न सन्तिष्ठते न स्थिरा भवति ।

वसन्तसेना, देखो देखो—

पर्वत की चोटियों पर लटके हुए (विलम्बित) आकार वाले, वियोगिनी स्त्रियों के हृदयों की समानता करने वाले (धूमिल, क्योंकि वियोगिनी का हृदय भी प्रसन्नता के अभाव में अन्धकारपूर्ण रहता है) मेघ गरज रहे हैं, इनके शब्द से अचानक उड़े हुए मोरों के द्वारा (अपने पंख रूपी) मणिमय तालवृन्तों (ताड़ के बने पंखों) से मानों आकाश को पंखा किया जा रहा है ॥१३॥

और भी—

कीचड़ से लथपथ मुँह वाले, (पानी की) धारा से ताडित मेंढक पानी पी रहे हैं, कामयुक्त मोर मुक्तकण्ठ से शब्द कर रहा है। कदम्ब (उज्ज्वल पुष्पों के कारण) दीपक-सा प्रतीत हो रहा है। बादलों के द्वारा चन्द्रमा उसी प्रकार आच्छादित कर लिया गया है जिस प्रकार कुल को दूषित करने वाले लोगों के द्वारा संन्यास (आच्छादित अथवा कलङ्कित कर दिया जाता है)। नीच कुल में उत्पन्न युवती के समान बिजली एक स्थान पर नहीं ठहर रही है ॥१४॥

वसन्तसेना—भाव, तुम्हारा कहना ठीक है—यह—

सपत्नी के सदृश कुपित हुई रात्रि—"मूर्ख, यदि सघन पयोधर (रात्रिपक्ष में–बादल सपत्नीपक्ष में—स्तन) वाली मेरे ही साथ प्रियतम (रात्रिपक्ष में—चन्द्रमा, सपत्नी पक्ष में—चारुदत्त) रमण करता है तो इसमें तुम्हारा क्या? इस प्रकार की गर्जनाओं से भी बार-बार मुझे मना करती हुई (मेरा) रास्ता रोक रही है ॥१५॥

उपमालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१४॥

भणितं कथनं भावे क्तः, 'ते' इत्यत्र कर्तरि षष्ठी

(कर्तृकर्मणोः कृति पा० २।३।६५)

विटस्य वचनं निशम्य रात्रिं सपत्नीमिव कल्पयन्ती वसन्तसेना कथयति—मूढे इति। 'एषा हि' इति गद्येनान्वयः। एषा हि निशा सपत्नी इव कुपिता "मूढे निरन्तरपयोधरया मया सह एव कान्तः यदि अभिरमते तव अत्र किम्?" (इति) गर्जितैः अपि मुहुः मां विनिवारयन्ती मार्गं रुणद्धि—इत्यन्वयः।

एषा हि निशा रात्रिः सपत्नी इव कुपिता सती [निशासपत्नी इति पाठान्तरं निशा एव सपत्नी इत्यर्थः]—'हे मूढे अनभिज्ञे वसन्तसेने, निरन्तराः पयोधराः मेघाः यस्यां सा तादृश्या मया निशया [सपत्नीपक्षे च निरन्तरौ संश्लिष्टौ पयोधरौ स्तनौ यस्याः तया] सह एव कान्तः प्रियः निशापक्षे निशानायकः चन्द्रः) यदि अभिरमते रमणं करोति तदा अत्र तव वसन्तसेनायाः किम् का हानिः? ईदृशैः गर्जितैः गर्जनैः अपि मुहुः वारं वारं मां वसन्तसेनां निवारयन्ती निषेधन्ती मम मार्गं प्रियगमनमार्गं रुणद्धि प्रतिबध्नाति। श्लेषः उपमा चालङ्कारौ। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१५॥

विटः—भवतु । एवं तावत् । उपालभ्यतां तावदियम् ।

वसन्तसेना—भाव, किमनया स्त्रीस्वभावदुर्विदग्धयोपालब्धया । पश्यतु भावः ।

मेघा वर्षन्तु मुञ्चन्त्वशनिमेव वा ।
गणयन्ति न शीतोष्णं रमणाभिमुखाः स्त्रियः ॥१६॥

विटः—वसन्तसेने, पश्य पश्य । अयमपरः,

पवनचपलवेगः स्थूलधाराशरौघः
स्तनितपटहनादः स्पष्टविद्युत्पताकः ।
हरति करसमूहं खे शशाङ्कस्य मेघो
नृप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः ॥१७॥

वन्तसेना—एव्वं णेदम् । ता कधं एसो अवरो । [एवं न्विदम् । तत्कथमेषोऽपरः ।]

एतैरेव यदा गजेन्द्रमलिनैराध्मातलम्बोदरै-
र्गर्जद्भिः सतडिद्बलाकशबलैर्मेघैः सशल्यं मनः ।
तत्किं प्रोषितभर्तृवध्यपटहो हा हा हताशो बकः
प्रावृट् प्रावृडिति ब्रवीति शठधीः क्षारं क्षते प्रक्षिपन् ॥१८॥

स्त्रीस्वभावेन दुर्विदग्धया दुराग्रहया अनया निशया उपालब्धया किम् ? न किमपि फलमित्यर्थः । मेघा इति । मेघाः वर्षन्तु गर्जन्तु अशनिम् वज्रम् एव वा मुञ्चन्तु ममोपरि पातयन्तु किं ममानेन ? यतः रमणाभिमुखाः रमणं प्रति गन्तुमुद्यताः स्त्रियः शीतोष्णं शीतं च उष्णं च न गणयन्ति । अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः अनुष्टुप् वृत्तम् ॥१६॥

पवनेति । पवनचपलवेगः स्थूलधाराशरौघः स्तनितपटहनादः स्पष्टविद्युत्पताकः (अयमपरः) मेघः पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः नृप इव खे शशाङ्कस्य करसमूहं हरति-इत्यन्वयः । अत्र मेघस्य राज्ञश्च श्लिष्टवर्णनम् ।

अर्थस्त्वेवं बोध्यः–अयम् अपरो मेघः । खे आकाशे शशाङ्कस्य चन्द्रस्य करसमूहं रश्मिजालं तथा हरति आच्छादयति यथा (इव = यथा + तथा) कश्चित् नृपः पुरमध्ये नगरमध्ये राजधानीमध्ये वा प्रविश्य मन्दवीर्यस्य क्षीणशक्तेः शत्रोः करसमूहं राजदेयं धनं हरति बलाद् गृह्णाति । (शेषाणि विशेषणानि तूभयपक्षे एवं योजनीयानि) कीदृशः मेघः ? पवनेन चपलः वेगः यस्य सः, स्थूलाः धाराः जलधाराः एव शरौघः बाणसमूहः यस्य सः, स्तनितं गर्जितम् एव पटहनादः ढक्कानादः यस्य सः, स्पष्टा विद्युदेव

विट—अच्छा। ऐसा है। तो उसे उपालम्भ दो।

वसन्तसेना—भाव, स्त्री स्वभाव के अनुरूप हठी इसको उलाहना देने से क्या ?

भाव देखें—

बादल बरसें, गरजें या वज्र ही गिरा दें, (किन्तु) रमणोन्मुख कामिनियाँ ठण्ड-गर्मी को (कुछ भी) नहीं गिनती हैं ॥१६॥

विट—वसन्तसेना, देखो, देखो। यह दूसरा—

[मेघ और विजयी राजा का श्लिष्ट वर्णन]

वायु से जिसका चञ्चल वेग है, (पानी की) मोटी धाराएँ ही जिसके बाण-समुदाय हैं, जिसका गर्जन ही नगाड़े का शब्द है, स्पष्टतया विजली ही जिसकी पताका है—ऐसा बादल आकाश में चन्द्रमा के किरण-समुदाय को उसी प्रकार छीन (आच्छादित कर) रहा है, जिस प्रकार मन्द-पराक्रम शत्रु के कर (टैक्स) को (विजयी) राजा नगर के बीच में ही हर लेता है।

(राजा के पक्ष में)—वायु के सदृश चञ्चल वेग वाला (जल की) मोटी धाराओं के समान (तीक्ष्ण) बाण-समुदाय वाला (मेघ के) गर्जन के सदृश नगाड़ों के शब्द वाला स्पष्टतया बिजली जैसी (चमकने वाली) पताकाओं वाला ॥१७॥

वसन्तसेना—ऐसा ही है। तो फिर क्यों यह दूसरा ?—

जब कि गजराजों के सदृश मलिन (श्यामवर्ण), फूले हुए तथा लटकते हुए उदर (मध्यभाग) वाले, बिजली एवं बगुलियों (बलाकाओं) से युक्त (इसी कारण) चित्रित तथा गरजते हुए इन्हीं बादलों के द्वारा (वियोगिनियों का) मन वेदनापूर्ण है (हृदय में तीर से चुभ रहे हैं) तो परदेश गये हैं पति जिनके ऐसी वियोगिनियों के लिए बध के समय बजने वाले नगाड़े के समान यह हताश धूर्त बुद्धि वाला बगुला घाव पर नमक छिड़कता हुआ सा हाय ! क्यों 'वर्षा, वर्षा'—यह बोल रहा है ॥१८॥

पताका यस्य सः। कीदृशः नृप इव ? पवन इव चपलः वेगः यस्य सः, स्थूलाः धाराः इव शरौघः यस्य सः स्तनितम् इव पटहनादः यस्य सः, स्पष्टा विद्युद् इव पताका यस्य सः। श्लेषरूपकाभ्यां पुष्टः उपमालङ्कारः। मालिनी वृत्तम् ॥१७॥

विटवचनं निशम्य वसन्तसेना कथयति—एतैरिति। यथा गजेन्द्रमलिनैः गजेन्द्रवत् मलिनैः श्यामवर्णैः आध्मातानि उच्छूनानि अत एव लम्बानि लम्बितानि उदराणि येषां तैः, गर्जद्भिः गर्जनं कुर्वद्भिः तडिद्भिः विद्युद्भिः बलाकाभिश्च सहितैः अतएव शबलैः चित्रवर्णैः एतैः पुरोदृश्यमानैः मेघैः एव मनः वियोगिनीनां हृदयं सशल्यं शल्यविद्धमिव वेदनायुक्तम् अस्ति। तत् तदा प्रोषिताः परदेशं गताः भर्तारः यासां तासां कृते वध्यपटहः वधकाले वाद्यमानः पटहः इव हताशः हता आशा यस्य सः शठधीः धूर्तबुद्धिः बकः क्षते क्षारं प्रक्षिपन् हा हा इति खेदे किं कथं प्रावृट् प्रावृट् इति वर्षा वर्षा इति ब्रवीति ? शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१८॥

विटः—वसन्तसेने, एवमेतत् । इदमपरं पश्य ।

बलाकापाण्डुरोष्णीषं विद्युदुत्क्षिप्तचामरम् ।
मत्तवारणसारूप्यं कर्तुकाममिवाम्बरम् ॥१९॥

वसन्तसेना—भाव, पेक्ख पेक्ख । [भाव पश्य, पश्य ।]

एतैरार्द्रतमालपत्रमलिनैरापीतसूर्यं नभो
वल्मीकाः शरताडिता इव गजाः सीदन्ति धाराहताः ।
विद्युत्काञ्चनदीपिकेव रचिता प्रासादसंचारिणी
ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रोत्सार्य मेघैर्हृता ॥२०॥

विटः—वसन्तसेने, पश्य पश्य ।

एते हि विद्युद्गुणबद्धकक्षा गजा इवान्योन्यमभिद्रवन्तः ।
शक्राज्ञया वारिधराः सधाराः गां रूप्यरज्ज्वेव समुद्धरन्ति ॥२१॥

अपि च पश्य—

महावाताध्मातैर्महिषकुलनीलैर्जलधरै-
श्चलैर्विद्युत्पक्षैर्जलधिभिरिवान्तः प्रचलितैः ।
इयं गन्धोद्दामा नवहरितशष्पाङ्कुरवती
धरा धारापातैर्मणिमयशरैर्भिद्यत इव ॥२२॥

बलाकेति । बलाका वकपङ्क्ति रेव पाण्डुरं धवलम् उष्णीषं शिरोवेष्टनं यस्य तत्, विद्युदेव उत्क्षिप्तं ऊर्ध्वं धृतं चामरं यस्य तथाभूतं च अम्बरं गगनं बलाकावत् पाण्डुरं उष्णीषं यस्य तथा विद्युत् इव उत्क्षिप्तम् चामरं यस्य तादृशस्य मत्तवारणस्य मत्तगजस्य सारूप्यं सादृश्यं कर्तुकामम् इव प्रतिभाति । उपमा रूपकम् उत्प्रेक्षा चालङ्काराः । अनुष्टुप वृत्तम् ॥१९॥

एतैरिति । आर्द्राणि यानि तमालपत्राणि तद्वत् मलिनैः नीलवर्णैः एतैः मेघैः नभः गगनम् आपीतसूर्यं आपीतः समाच्छन्नः सूर्यः यस्मिन् तादृशं जातम् । मेघैश्च धाराहताः जलधाराभिः आहताः वल्मीकाः कीटकृतमृत्तिकासंघाताः शरैः बाणैः ताडिताः गजाः इव सीदन्ति विनश्यन्ति । विद्युत् च प्रासादसञ्चारिणी प्रासादेषु भवनेषु सञ्चरणशीला काञ्चनदीपिका स्वर्णस्य दीपिका इव रचिता । किञ्च एतैः मेघैः दुर्बलः भर्ता यस्याः तथाभूता वनिता स्त्री इव ज्योत्स्ना चन्द्रिका प्रोत्सार्य वलादुत्थाप्य हृता दूरं नीता । उपमालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२०॥

एते इति । विद्युद् एव गुणः रज्जुः विद्युद्गुणः [गजपक्षे विद्युद् इव गुणः तेन]

विट—वसन्तसेना, ऐसा ही है। इस दूसरे (दृश्य) को देखो—

बगुलियाँ ही जिसकी धवल पगड़ी है, (हाथी के पक्ष में—बगुलियों के समान धवल जिसकी पगड़ी है), बिजली ही जिसका डुलाया जाता हुआ चामर है (हाथी के पक्ष में—बिजली के जैसा चामर जिस पर डुलाया जा रहा है) ऐसा आकाश मानों मत्त हाथी की समानता करना चाह रहा है॥१९॥

वसन्तसेना—भाव, देखो, देखो—

इन गीले तमाल के पत्तों के सदृश मलिन (नील-वर्ण) बादलों के द्वारा-आकाश में सूर्य ढक दिया गया है, (पानी की) धाराओं से ताड़ित बल्मीक (बमी) बाण से मारे गये हाथियों के समान नष्ट हो रही हैं, बिजली अट्टालिकाओं पर सञ्चरण करने वाली स्वर्णमयी-दीपिका बना ली गई है (आकाश रूपी उच्च अट्टालिका पर विद्युत् रूपी स्वर्णमयी दीपिका जल रही है) निर्बल है पति जिसका ऐसी स्त्री के समान चाँदनी का मेघों ने बलपूर्वक हरण कर लिया है ॥२०॥

विट—वसन्तसेना, देखो ! देखो !

बिजली रूपी रस्सी से बद्ध कटि वाले, एक दूसरे को धक्का देते हुए हाथियों के समान ये (जल-धारायुक्त) बादल मानों इन्द्र की आज्ञा से पृथ्वी को (जलधारारूपी) चांदी की रस्सियों के द्वारा ऊपर उठा रहे हैं ॥२१॥

और भी देखो—

प्रचण्ड वायु से गरजने वाले, भैंसों के समुदाय जैसे नीले, चञ्चल विजली रूपी पंखों के द्वारा आकाश में घूमने वाले (समुद्र पक्ष में—अन्दर से विक्षुब्ध) समुद्र जैसे बादलों के द्वारा अभिनव हरी घास के अङ्कुर वाली तथा तीव्र (भीनी) गन्ध से युक्त यह धरती (जल) धारापात रूपी मणिमय बाणों से भेदी-सी जा रही है ॥२२॥

बद्धा कक्षा मध्यभागः येषां ते अन्योन्यं परस्परम् अभिद्रवन्तः अभिगच्छन्तः गजाः इव एते सधारा जलधाराभिः युक्ताः वारिधराः मेघाः शक्राज्ञया इन्द्रस्य आज्ञया गां पृथ्वीं रूप्यरज्ज्वा रजतस्य रज्ज्वा इव समुद्धरन्ति उर्ध्वं नयन्ति। यथा हस्तिनः किञ्चद् भारयुतं वस्तु रज्ज्वादिना निबध्य ऊर्ध्वं कर्षन्ति तथैव इमे मेघाः पृथ्वीं ऊर्ध्वं नयन्तीति भावः। उपमा उत्प्रेक्षा चालङ्कारौ। उपजातिः वृत्तम् ॥२१॥

आकाशे प्रचलन्तो मेघाः जलधारारूपैः मणिमयैः बाणैः पृथ्वीं भिन्दन्ति—इत्याह विटः महावातेति। महावाताध्मातैः महिषकुलनीलैः चलैः विद्युत्पक्षैः भ्रान्तैः प्रचलितैः जलधिभिः इव जलधरैः गन्धोद्दामा नवहरितशष्पाङ्कुरवती इयं धरा धारापातैः मणिमयशरैः भिद्यते इव—इत्यन्वयः।

महावातेन झञ्झावातेन आध्मातैः शब्दितैः महिषकुलवत् नीलैः चलैः चञ्चलैः विद्युद् एव पक्षाः तैः (करणभूतैः) भ्रान्तैः अन्तरिक्षे प्रचलितैः जलधिभिः इव सागर-सदृशैः जलधरैः मेघैः (कर्तृभिः) गन्धेन नववृष्टिपातजनितमृत्तिकागन्धेन उद्दामा उत्कटा नवैः हरितैः शस्याङ्कुरैः युक्ता इयं धरा पृथ्वी जलधारापातैः एव मणिमयशरैः मणिनिर्मितबाणैः भिद्यते इव। उपमा, रूपकम् उत्प्रेक्षा चालङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम् ॥२२॥

वसन्तसेना—भाव, एसो अवरो। [भाव, एषोऽपरः।]

एह्येहीति शिखण्डिनां पटुतरं केकाभिराक्रन्दितः
प्रोड्डीयेव बलाकया सरभसं सोत्कण्ठमालिङ्गितः।
हंसैरुज्झितपङ्कजैरतितरां सोद्वेगमुद्वीक्षितः
कुर्वन्नञ्जनमेचका इव दिशो मेघः समुत्तिष्ठति ॥२३॥

विटः—एवमेतत्। तथा हि पश्य।

निष्पन्दीकृतपद्मषण्डनयनं नष्टक्षपावासरं
विद्युद्भिः क्षणनष्टदृष्टतिमिरं प्रच्छादिताशामुखम्।
निश्चेष्टं स्वपितीव संप्रति पयोधारागृहान्तर्गतं
स्फीताम्भोधरधामनैकजलदच्छत्रापिधानं जगत् ॥२४॥

वसन्तसेना—भाव, एव्वं णेदम्। ता पेक्ख पेक्ख। [भाव, एवं न्विदम्। तत्पश्य पश्य।

गता नाशं तारा उपकृतमसाधाविव जने
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः।
प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ॥२५॥

अपि च पश्य—

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरौघम्।

आकाशे मेघाः कथं समुन्नमन्ति—इति वसन्तसेना कथयति—एह्येहीति शिखण्डिनां मयूराणां केकाभिः केकारवैः पटुतरं तीव्रतरं यथा स्यात् तथा एहि एहि इति आगच्छ, आगच्छ इति आक्रन्दितः आहूतः, बलाकया बकानां पङ्क्त्या सरभसं सवेगम् प्रोड्डीय समुत्पत्य सोत्कण्ठम् उत्सुकतापूर्वकम् आलिङ्गितः इव उज्झितानि त्यक्तानि पङ्कजानि कमलानि यैः तैः हंसैः अतितराम् अत्यन्तं सोद्वेगम् उद्वेगसहितं यथा स्यात् तथा उद्वीक्षितः अवलोकितः एषः अपरः मेघः दिशः कज्जलवत् मेचकाः श्यामवर्णाः कुर्वन् समुत्तिष्ठति समुन्नमति। उत्प्रेक्षालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२३॥

मेघाच्छन्नेऽस्मिन् काले सकलं जगत् स्वपितीव-इत्याह विटः—निष्पन्दीति अत्र सर्वाणि प्रथमान्तानि पदानि 'जगत्' इत्यस्य विशेषणानि। निष्पन्दीकृतानि निश्चलीकृतानि मुद्रितानि वा पद्मषण्डानि कमलसमूहाः एव नयनानि येन तथाभूतं जगत् जगतः कमलरूपाणि नयनानि मुद्रितानि जातानीति भावः। नष्टौ अदृष्टौ जातौ क्षपावासरौ

वसन्तसेना—भाव, यह दूसरा—

बादल दिशाओं को काजल के समान काली करता हुआ उमड़ रहा है जो कि—'आओ, आओ' ऐसी मोर की ध्वनियों से भली प्रकार बुलाया गया है बगुलियों की पंक्तियों के द्वारा वेगपूर्वक उड़कर मानो उत्कण्ठापूर्वक आलिङ्गन किया गया है तथा कमलों को त्याग देने वाले हंसों के द्वारा अत्यन्त उद्विग्नता से देखा गया है ॥२३॥

विट—ऐसा ही है। और देखो—

कमल-समुदाय रूपी नेत्र जिसने बन्द कर लिये हैं, रात और दिन जिसमें नष्ट हो गये हैं (पता नहीं चल रहा है), जिसमें बिजली के द्वारा क्षण में अन्धकार नष्ट हो जाता है क्षण में दिखाई देने लगता है, जिसका दिशा रूपी मुख ढक गया है, बादलों के विस्तीर्ण निवासस्थान (आकाश) में अनेक बादल ही जिसके आच्छादक छत्र हैं ऐसा संसार इस समय जलधारा रूपी घर के अन्दर मानों निश्चल होकर सो रहा है ॥२४॥

वसन्तसेना—भाव ऐसा ही है। तो देखो, देखो—

असज्जन पुरुष पर किये गये उपकार की भांति तारे नाश को प्राप्त हो गये हैं, प्रिय से वियुक्त हुई स्त्रियों के समान दिशायें (सूर्य अथवा चन्द्रमा से वियुक्त होने के कारण) नहीं शोभित हो रही है। देवताओं के स्वामी (इन्द्र) के शस्त्र (वज्र) की अग्नि से अत्यन्त तप्त हुआ आकाश मानो पिघलकर जल रूप में गिर रहा है ॥२५॥

और भी देखो—

बादल उमड़ रहा है, झुक रहा है, बरस रहा है, गरज रहा है तथा अन्धकार

रात्रिदिवसौ (मेघैरावृतत्वात्) यस्मिन् तत्। विद्युद्भिः क्षणं नष्टं पश्चाच्च दृष्टं तिमिरम् तमः यस्मिन् तत्। प्रच्छादितानि आशानां मुखानि (मेघावृतत्वात्) यत्र तत्, स्फीते विस्तीर्णे अम्भोधराणां धामनि मेघानां निवासस्थाने आकाशे नैके बहवः जलधररूपाणि छत्राणि एव अपिधानम् आच्छादकं यस्य तथाभूतं च। पयोधाराः जलधाराः एव गृहं तस्य अन्तर्गतम् इदं जगत् सम्प्रति निश्चेष्टं निश्चलं यथा स्यात् तथा स्वपिति इव शेते इव। रूपकम् उत्प्रेक्षा चालङ्कारौ। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२४॥

वर्षाः वर्णयति वसन्तसेना—गतेति। असाधौ जने दुर्जने उपकृतम् इव कृत उपकार इव ताराः नाशं गताः अदृश्याः जाताः। कान्तेन प्रियेण वियुक्ताः स्त्रियः इव ककुभः दिशः कान्तेन वियुक्ताः चन्द्रेण विरहिताः न राजन्ति न शोभन्ते। त्रिदशाः देवाः तेषां पतिः इन्द्रः तस्य शस्त्रस्य वज्रस्य शिखिना अग्निना प्रकामम् अत्यन्तम् अन्तस्तप्तम् अभ्यन्तरे सन्तप्तम् अत एव द्रवीभूतं द्रवितं सत् गगनं जलरूपेण पतति इति मन्ये। पूर्वार्धे उपमा, उत्तरार्धे चोत्प्रेक्षा। शिखरिणी वृत्तम् ॥२५॥

उन्नमतीति। मेघः उन्नमति नमति वर्षति गर्जति तिमिरौघम् अन्धकारसमूहं न

प्रथमश्रीरिव पुरुषः करोति रूपाण्यनेकानि ॥२६॥

विटः—एवमेतत् ।

विद्युद्भिर्ज्वलतीव संविहसतीवोच्चैर्बलाकाशतैः
माहेन्द्रेण विवल्गतीव धनुषा धाराशरोद्गारिणा ।
विस्पष्टाशनिनिःस्वने-रसतीवाघूर्णतीवानिलैः
नीलैः सान्द्रमिवाहिभिर्जलधरैर्धूपायतीवाम्बरम् ॥२७॥

वसन्तसेना—

जलधर निर्लज्जस्त्वं यन्मां दयितस्य वेश्म गच्छन्तीम् ।
स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तैः परामृशसि ॥२८॥

भोः शक्र,

किं ते ह्यहं पूर्वरतिप्रसक्ता यत्त्वं नदस्यम्बुदसिंहनादैः ।
न युक्तमेतत्प्रियकाङ्क्षिताया मार्गं निरोद्धुं मम वर्षपातैः ॥२९॥

अपि च—

यद्वदहल्याहेतोर्मृषा वदसि शक्र गौतमोऽस्मीति ।
तद्वन्ममापि दुःखं निरपेक्ष निवार्यतां जलदः ॥३०॥

अपि च—

करोति एवं च प्रथमश्रीः प्रथमा प्रथमं प्राप्ता श्रीः लक्ष्मीः येन तादृशः पुरुषः इव मेघः अनेकानि रूपाणि करोति । उपमादीपकयोः संसृष्टिः अलङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥२६॥

विद्युद्भिरिति । अम्बरं गगनं विद्युद्भिः ज्वलति इव । बलाकाशतैः उच्चैः विहसति इव (कविसमये हासस्य शुक्लत्वात् साम्यम्) । धाराः एव शराः बाणाः तान् उद्गिरति वर्षति इति तेन जलधारारूपबाणवर्षिणा माहेन्द्रेण महेन्द्रस्येदं माहेन्द्रं तेन धनुषा विवल्गति इव प्रस्फुरति पादपरिवर्तनं वा करोति इव । विस्पष्टः यः अशनिस्वनः वज्रशब्दः विद्युन्निर्घोषः इति यावत् तेन रसति इव गर्जति इव । अनिलैः पवनैः आघूर्णति इव भ्रमति इव । इदं च गगनम् अहिभिः नागैः इव नीलैः जलधरैः सान्द्रं यथा स्यात् तथा धूपायति इव धूपितमिव भवति । उपमा मालोत्प्रेक्षा च । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२७॥

वसन्तसेना मेघमुपाल-भते जलधरेति । हे जलधर, त्वं निर्लज्जः यत् यतः त्वं दयितस्य प्रियस्य वेश्म गृहं गच्छन्तीं मां स्तनितेन गर्जितेन भीषयित्वा त्रासयित्वा धारारूपैः हस्तैः परामृशसि स्पृशसि । धाराहस्तैः इति रूपकम् । समैः विशेषणैः प्रस्तुते

समूह को (उत्पन्न) कर रहा है। (इस प्रकार) जिसने प्रथम ही सम्पत्ति प्राप्त की है, ऐसे पुरुष के समान (वह बादल) अनेक रूप (धारण) कर रहा है ॥२६॥

विट—ऐसा ही है।

आकाश बिजलियों से जल-सा रहा है, सैंकड़ों बगुलियों के द्वारा जोर से हँस-सा रहा है, धारा रूपी बाणों को बरसाने वाले इन्द्रधनुष से विशेष गति (पैंतरे बदलना) सी कर रहा है। वज्र के स्पष्ट घोष से गर्जन-सा कर रहा हैं, वायु के द्वारा घूम-सा रहा है तथा नीले सर्पों जैसे बादलों से घना धूपित-सा हो रहा है ॥२७॥

वसन्तसेना—हे बादल तुम निर्लज्ज हो, जो प्रियतम के घर जाती हुई मुझको गर्जन से डरा कर धारारूपी हाथों से छू रहे हो ॥२८॥

हे इन्द्र,

क्या मैं पहले से तेरे प्रेम में आसक्त थी जो तुम बादलों के सिंहनादों से गरज रहे हो? प्रिय के द्वारा चाही गई मेरा वर्षा गिराने के द्वारा यह रास्ता रोकना उचित नहीं है ॥२९॥

और भी—

हे इन्द्र, जिस प्रकार अहल्या के निमित्त (तुमने) यह झूठ कहा था कि मैं गौतम हूँ। उसी प्रकार हे पराई पीड़ा को न जानने वाले (निरपेक्ष) मेरा भी दुःख जानो और बादल को रोक लो ॥३०॥

और भी—

मेघेऽप्रस्तुतस्य कामुकस्य व्यापारसमारोपाद् च समासोक्तिरपि। आर्या वृत्तम् ॥२८॥

इन्द्रमुद्दिश्य सोपालम्भं कथयति—किमिति। भोः शक्र इन्द्र (इति गद्येनान्वयः) अहं वसन्तसेना किं ते तव इन्द्रस्य पूर्वरतिप्रसक्ता पूर्वं रत्या अनुरागेण प्रसक्ता आसक्ता आसम्। यत् यस्मात् त्वम् अम्बुदानां जलदानां सिंहनादैः सिंहवद् गर्जनैः नदसि गर्जसि। प्रियेण चारुदत्तेन काङ्क्षितायाः मम वसन्तसेनायाः वर्षपातैः धारापातैः मार्गं निरोद्धुम् मार्गनिरोधनम् एतत् न युक्तम्। काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः। उपजाति वृत्तम् ॥२९॥

यद्वदिति। हे शक्र इन्द्र यद्वत् यथा अहल्याहेतोः अहल्यायाः प्राप्त्यर्थम् अहं गौतमः अस्मि इति मृषा मिथ्या ब्रवसि अवदः। हे निरपेक्ष परपीडानभिज्ञ 'निरवेक्ष्य' इति पाठान्तरं 'दुःखं निरवेक्ष्य' विचार्य इत्यर्थः सुगमः तद्वत् तथा मम वसन्तसेनायाः अपि दुःखं जानीहि इति शेषः अतः प्रियगृहगमनं प्रति बाधकः अयं जलदः निवार्यताम् दूरीक्रियताम्। पुरा हि स्नातुं गते गौतमे तस्य पत्नीमहल्यां कामयमानः शक्रः "अहं गौतमः" इत्युक्त्वा छलेन तामालिङ्गितवान् इति पौराणिकी कथा। आर्या वृत्तम् ॥३०॥

गर्ज वा वर्ष वा शक्र मुञ्च वा शतशोऽशनिम् ।
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति ॥३१॥
यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः ।
अयि विद्युत्प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि ॥३२॥

विटः—भवति, अलमलमुपालम्भेन । उपकारिणी तवेयम् ।

ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरज्जुः
शैलस्य मूर्ध्नि निहितेव सिता पताका ।
आखण्डलस्य भवनोदरदीपिकेय-
माख्याति ते प्रियतमस्य हि संनिवेशम् ॥३३॥

वसन्तसेना—भाव, एव्वं तं ज्जेव एवं गेहम् । [भाव, एवं तदेवैतद्गेहम् ।]

विटः—सकलकलाभिज्ञाया न किंचिदिह तवोपदेष्टव्यमस्ति । तथापि स्नेहः प्रलापयति । अत्र प्रविश्य कोपोऽत्यन्तं न कर्तव्यः ।

यदि कुप्यसि नास्ति रतिः कोपेन विनाथवा कुतः कामः ।
कुप्य च कोपय च त्वं प्रसीद च त्वं प्रसादय च कान्तम् ॥३४॥

गर्जेति । हे शक्र, गर्ज वर्ष वा शतशः अनेकशः अशनिं वज्रं वा मुञ्च । किन्तु दयितं प्रियं प्रति प्रस्थिताः गन्तुमुद्यताः स्त्रियः हि न रोद्धुं शक्याः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥३१॥

पुनः विद्युतमुद्दिश्योपालभते—यदीति । यदि वारिधरः जलदः गर्जति तर्हि गर्जतु नाम यतो हि पुरुषाः निष्ठुरा भवन्ति अयि विद्युत् त्वमपि नारी भूत्वापि प्रमदानां नारीणां दुःखं न जानासि । इति महत् कष्टम् विद्युदपि दृष्टिग्रहणमोक्षाभ्यां गमनविघ्नं करोतीति उपालभ्यते । समासोक्तिः । आर्या वृत्तम् ॥३२॥

विद्युतः उपालम्भः न युक्तः । इयं तु तवोपकारिणीति कथयति विटः—ऐरावतो-

हे इन्द्र, चाहे गरजो या बरसो अथवा सैंकड़ों वज्र छोड़ो (फिर भी) प्रियतम के प्रति प्रस्थान करती हुई स्त्रियाँ नहीं रोकी जा सकतीं ॥३१॥

यदि बादल गरजता है तो वह भले गरजे; (क्योंकि) पुरुष निष्ठुर होते हैं। हे बिजली कामनियों के दुःख को क्या तुम भी नहीं जानती हो ? ॥३२॥

विट—श्रीमती, उपालम्भ से बस करो। यह तुम्हारी उपकारिणी है।

ऐरावत के वक्ष पर चञ्चल सुवर्ण-रज्जु के समान, पर्वत की चोटी पर स्थापित धवल पताका के सदृश, इन्द्र के घर के अन्दर की दीपिका यह (विद्युत) तुम्हारे प्रियतम का निवासस्थान बता रही है ॥३३॥

वसन्तसेना—भाव, ऐसा ही है। यह वही घर है।

विट—समस्त कलाओं से परिचित तुम्हें यहाँ कुछ उपदेश देना नहीं है। फिर भी स्नेह बोलने को प्रेरित कर रहा है। यहाँ प्रवेश करके (तुम्हें) तनिक भी कोप नहीं करना चाहिए।

यदि कोप करती हो तो (समझो) प्रेम नहीं है, अथवा कोप के बिना रतिसुख कहाँ ? (स्वयं कुपित होकर (प्रिय को) कुपित करो, (स्वयं) प्रसन्न हो और प्रिय को प्रसन्न करो ॥३४॥

रसीति। यतः हि ऐरावतस्य इन्द्रगजस्य उरसि वक्षःस्थले चला चञ्चला सुवर्णस्य रज्जुः इव, शैलस्य पर्वतस्य मूर्ध्नि शिखरे निहिता स्थापिता सिता श्वेता पताका इव आखण्डलस्य इन्द्रस्य भवनोदरस्य प्रासादमध्यभागस्य दीपिका इव इयं विद्युत् ते तव प्रियतमस्य चारुदत्तस्य सन्निवेशं गृहम् आख्याति प्रकथयति दर्शयति वा। उत्प्रेक्षालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥३३॥

यदीति। यदि त्वं स्वप्रियस्य समीपे कुप्यसि कुपिता एव स्यास्यसि तर्हि रतिः अनुरागः नास्ति अथवा कोपेन रोषेण बिना कामः रतिसुखं कुतः ? न भवत्येव इति भावः, 'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते'—इति विदग्धोक्तेः। अतः त्वं कुप्य स्वयं कुपिता भव स्वप्रियं च कोपय त्वं स्वयं प्रसीद प्रसन्ना भव कान्तं च स्वप्रियं च प्रसादय प्रसन्नं कुरु। आर्या वृत्तम् ॥३४॥

भवतु । एवं तावत् । भो भोः, निवेद्यतामार्यचारुदत्ताय ।

एषा फुल्लकदम्बनीपसुरभौ काले घनोद्भासिते
कान्तस्यालयमागता समदना हृष्टा जलार्द्रालका ।
विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी
पादौ नूपुरलग्नकर्दमधरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता ॥३५॥

चारुदत्तः—(आकर्ण्य) वयस्य, ज्ञायतां किमेतदिति ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि । (वसन्तसेनामुपगम्य । सादरम्) सोत्थि भोदीए [यद्भवानाज्ञापयति । स्वस्ति भवत्यै ।]

वसन्तसेना—अज्ज, वन्दामि । साअदं अज्जस्स । (विटं प्रति) भाव, एसा छत्तधारिआ भावस्स ज्जेव भोदु । [आर्य वन्दे । स्वागतमार्यस्य । भाव, एषा छत्रधारिका भावस्यैव भवतु ।]

विटः—(स्वगतम्) अनेनोपायेन निपुण प्रेषितोऽस्मि । (प्रकाशम्) एवं भवतु । भवति वसन्तसेने,

साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमेः
शाठ्यात्मकस्य रतिकेलिकृतालयस्य ।
वेश्यापणस्य सुरतोत्सवसंग्रहस्य
दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रयसिद्धिरस्तु ॥३६॥

(इति निष्क्रान्तो विटः)

वसन्तसेना—अज्ज मित्तेअ, कहिं तुह्माणं जूदिअरो । [आर्य मैत्रेय कुत्र युष्माकं द्यूतकरः ।]

विदूषकः—(स्वगतम्) ही ही भो, जूदिअरो त्ति भणन्तीए अलंकिदो पिअवअस्सो । (प्रकाशम्) भोदि, एसो क्खु सुक्खरुक्खवाडिआए । [आश्चर्यं भोः द्यूतकर इति भणन्त्यालङ्कृतः प्रियवयस्यः । भवति, एष खलु शुष्कवृक्षवाटिकायाम् ।]

चारुदत्तं वसन्तसेनायाः आगमनं सूचयितुं विटः कथयति—एषेति । फुल्लानि विकसितानि कदम्बानि कदम्बनामकपुष्पाणि येषु तैः नीपैः कदम्बवृक्षैः सुरभौ सुगन्धिते घनैः मेघैः उद्भासिते शोभिते च काले समदना कामयुता हृष्टा प्रसन्ना जलेन आर्द्राः अलकाः केशाः यस्याः सा विद्युद्भिः वारिदानां गर्जितैः च सचकिता भीता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी तव चारुदत्तस्य दर्शनम् आकाङ्क्षति इति सा कान्तस्य

अच्छा। ऐसा ही। अरे, अरे आर्य चारुदत्त से निवेदन करो—

प्रफुल्लित कदम्ब पुष्पयुक्त नीप वृक्ष से सुरभित तथा बादलों से शोभित समय में कामयुक्त तथा प्रसन्न पानी से गीले केशों वाली, विद्युत् एवं घनगर्जन से भयभीत, तुम्हारे दर्शन की कामना करने वाली प्रिय के घर आई यह (वसन्तसेना) नूपुर में लगी हुई कीचड़ को धारण करने वाले पैरों को धोती हुई (द्वार पर) स्थित है ॥२५॥

चारुदत्त—(सुनकर) मित्र, मालूम करो यह क्या है ?

विदूषक—जो आप आज्ञा करते हैं। (वसन्तसेना के पास जाकर, आदरपूर्वक) आपका कल्याण हो।

वसन्तसेना—आर्य वन्दना करती हूँ। आर्य का स्वागत है। (विट के प्रति) भाव, यह छत्रधारिणी आपकी (आपके साथ) ही होवे।

विट—(अपने आप) इस उपाय से निपुणतापूर्वक भेज दिया हूँ। (प्रकट रूप में) ऐसा ही हो। सुश्री वसन्तसेने—

जो दम्भसहित माया; कपट तथा असत्य का जन्म स्थान है, धूर्तता ही जिसका सार (आत्मा) है, रतिक्रीडा ने जिसको आश्रय बनाया है, जहाँ रमण के सुख का संग्रह है, ऐसे वेश्यारूपी बाजार (या वेश्या-व्यवहार) की उदारतारूपी विक्रेय वस्तु (पण्य) के द्वारा ही मूल्य सिद्धि होवे ॥३६॥

(विट निकल जाता है)

वसन्तसेना—आर्य मैत्रेय, आपके जुआरी (चारुदत्त) कहाँ हैं ?

विदूषक—(अपने आप) अरे ! आश्चर्य ! 'जुआरी' यह कहती हुई (वेश्या) ने प्रिय मित्र को आभूषित कर दिया। (प्रकट रूप में) जी, यह सूखे वृक्षों वाली वाटिका में हैं।

प्रियस्य आलयं गृहम् आगता एषा वसन्तसेना नूपुरयोः लग्नः कर्दमः नूपुरलग्नकर्दमः तं धरति इति नूपुरलग्नकर्दमधरः तौ पादौ चरणौ प्रक्षालयन्ती स्थिता—इति आर्यं चारुदत्ताय निवेद्यताम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३५॥

गृहं प्रति निवर्तमानः विटः वसन्तसेनामुद्दिश्य कथयति—**साटोपेति**। आटोपः दम्भः तेन सहितं साटोपं कूटं माया कपटं छलम् अनृतं मिथ्याकथनं (निह्नवप्राकट्यभेदात् कूटकपटयोर्भेदः इति पृथ्वीधरः) एषां जन्मभूमेः, शाठ्यं धूर्तता आत्मा सारः यस्य तस्य रतिकेलिभिः सुरतक्रीडाभिः कृतालयस्य कृताश्रयस्य, सुरतमेव उत्सवः सुरतोत्सवः तस्य संग्रहः सञ्चयः यत्र तथाभूतस्य वेश्यापणस्य वेश्याव्यवहारस्य, दाक्षिण्यमेव पण्यं विक्रयद्रव्यं तन्मुखेन दाक्षिण्यपण्यमुखेन औदार्यरूपविक्रेयवस्तुद्वारेण निष्क्रयसिद्धिः निष्क्रयः मूल्यं (दाक्षिण्यपण्यप्रधानं निष्क्रयो मूल्यम् इति पृथ्वीधरः) तस्य सिद्धिः प्राप्तिः साफल्यं वा अस्तु। दाक्षिण्यपूर्वकमेव वेश्याव्यवहारो भवतु इति भावः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥३६॥

वसन्तसेना—अज्ज, का तुम्हाणं सुक्खरुक्खवाडिआ वुच्चदि। [आर्य, का युष्माकं शुष्कवृक्षवाटिकोच्यते।]

विदूषकः—भोदि, जहिं ण खाईअदि। ण पीईअदि। [भवति, यत्र न खाद्यते। न पीयते।]

(वसन्तसेना स्मितं करोति।)

विदूषकः—ता पविसदु भोदी। [तस्मात्प्रविशतु भवती।]

वसन्तसेना—(जनान्तिकम्) एत्थ, पविसिअ किं मए भणिदव्वम्। [अत्र प्रविश्य किं मया भणितव्यम्।]

चेटी—जूदिअर, अवि सुहो दे पदोसो त्ति। [द्यूतकर, अपि सुखस्ते प्रदोष इति।]

वसन्तसेना—अवि पारइस्सम्। [अपि पारयिष्यामि।]

चेटी—अवसरो ज्जेव पारइस्सदि। [अवसर एव पारयिष्यति।]

विदूषकः—पविसदु भोदी। [प्रविशतु भवती।]

वसन्तसेना—(प्रविश्योपसृत्य च। पुष्पैस्ताडयन्ती) अइ जूदिअर, अवि सुहो दे पदोसो। [अयि द्यूतकर, अपि सुखस्ते प्रदोषः।]

चारुदत्तः—(अवलोक्य) अये, वसन्तसेना प्राप्ता। (सहर्षमुत्थाय) अयि प्रिये,

सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः
सदा च मे निःश्वसतो गता निशा।
त्वया समेतस्य विशाललोचने
ममाद्य शोकान्तकरः प्रदोषकः ॥३७॥

तत्स्वागतं भवत्यै। इदमासनम्। अत्रोपविश्यताम्।

विदूषकः—इदं आसणम्। उपविसदु भोदी। [इदमासनम्। उपविशतु भवती।]

(वसन्तसेनासीना। ततः सर्वं उपविशन्ति)

चारुदत्तः—वयस्य, पश्य पश्य।

वर्षोदकमुद्गिरता श्रवणान्तविलम्बिना कदम्बेन।
एकः स्तनोऽभिषिक्तो नृपसुत इव यौवराज्यस्थः ॥३८॥

अपि प्रश्ने। पारयिष्यामि समर्था भविष्यामि।

'अपि सुखस्ते प्रदोषः' इति वसन्तसेनया पृष्टः चारुदत्तः प्रतिवदति—सदेति।

वसन्तसेना—आर्य, आप लोगों के सूखे हुए वृक्षों वाली वाटिका कौनसी कहलाती है।

विदूषक—जी, जहाँ न खाया जाता है, न पीया जाता है।

(वसन्तसेना मुस्कराती है)

विदूषक—तो आप प्रवेश कीजिये।

वसन्तसेना—(अलग से) यहाँ प्रवेश करके मुझे क्या कहना चाहिये ?

चेटी—(यह कि) द्यूतकर आपका प्रदोषकाल तो सुखकर है ?

वसन्तसेना—(कहने में) समर्थ भी हो सकूँगी ?

चेटी—अवसर ही समर्थ कर देगा।

विदूषक—आप प्रवेश कीजिये।

वसन्तसेना—(प्रवेश करके और समीप जाकर। पुष्पों से ताड़ना करती हुई) हे द्यूतकर, आपका प्रदोषकाल तो सुखकर है ?

चारुदत्त—(देखकर) अरे वसन्तसेना आ गई ! (प्रसन्नतापूर्वक उठकर) हे प्रिये, मेरा प्रदोष (रात्रि का प्रथम पहर) सदा जागते हुए बीतता है तथा मेरी रात्रि निश्वास लेते हुए बीती है। हे विशालनेत्रे तुम्हारे साथ मिलन प्राप्त करने वाला मेरा प्रदोष आज दुःख का अन्त करने वाला है ॥३७॥

तो आपका स्वागत है। यह आसन है। यहाँ बैठिये।

विदूषक—यह आसन है। श्रीमती जी बैठिये।

(वसन्तसेना बैठ जाती है। तत्पश्चात् सब बैठ जाते हैं)

चारुदत्त—मित्र, देखो, देखो—

वर्षा के जल को गिराते हुए कान के छोर पर लटकते हुए, कदम्ब ने युवराज पद पर बैठे हुए राजकुमार के समान एक स्तन अभिषिक्त कर दिया ॥३८॥

प्रिये, सदा जाग्रतः जागरणं कुर्वतः एव मम चारुदत्तस्य प्रदोषः निशायाः प्रथमः भागः याति। सदा च निश्वसतः तव विरहात् दीर्घं श्वसतः एव मे मम निशा रात्रिः गता व्यतीता भवति। हे विशाललोचने दीर्घनेत्रे, अद्य त्वया वसन्तसेनया समेतस्य मिलितस्य मम प्रदोषकः प्रशस्तः प्रदोषः शोकस्य अन्तकरः नाशकः जातः। अद्यैव निशा सुखकरी जातेति भावः। वंशस्थं वृत्तम् ॥३७॥

वर्षाजलेन सिक्तां वसन्तसेनां विलोक्य चारुदत्तः कथयति—पयोदकमिति पयोदकं वृष्टिजलम् उद्गिरता पातयता श्रवणान्ते विलम्बते इति श्रवणान्तविलम्बी (म्बिन्) तेन कदम्बेन कदम्बकुसुमेन वसन्तसेनायाः एकः स्तनः यौवराज्यस्थः युवराजपदे स्थितः नृपसुतः राजपुत्रः इव अभिषिक्तः कृतः इति भावः। उपमालङ्कारः। आर्या वृत्तम् ॥३८॥

तद्वयस्य, क्लिन्ने वाससी वसन्तसेनायाः। अन्ये प्रधानवाससी समुपनीयेतामिति।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। [यद्भवानाज्ञापयति।]

चेटी—अज्ज मित्तेअ, चिट्ठ तुमम्। अहं ज्जेव अज्जअं सुस्सूसइस्सम्। [आर्य मैत्रेय, तिष्ठ त्वम्। अहमेवार्यां शुश्रूषयिष्यामि।] (तथा करोति।)

विदूषकः—(अपवारितकेन।) भो वअस्स, पुच्छामि दाव तत्थ भोदिं किं पि। [भो वयस्य, पृच्छामि तावत्तत्र भवतीं किमपि।]

चारुदत्तः—एवं क्रियताम्।

विदूषकः—(प्रकाशम्।) अध किंणिमित्तं उण ईदिसे पणट्ठचन्दालोए दुद्दिणन्धआरे आअदा भोदी। [अथ किंनिमित्तं पुनरीदृशे प्रनष्टचन्द्रालोके दुर्दिनान्धकार आगता भवती।]

चेटी—अज्जए, उजुओ बम्हणो। [आर्ये, ऋजुको ब्राह्मणः।]

वसन्तसेना—णं णिउणोत्ति भणाहि। [ननु निपुण इति भण।]

चेटी—एसा क्खु अज्जआ एव्वं पुच्छिदुं आअदा—'केत्तिअं ताए रअणावलीए मुल्लं' त्ति। [एषा खल्वार्या एवं प्रष्टुमागता—'कियत्तस्या रत्नावल्या मूल्यम्' इति।]

विदूषकः—(जनान्तिकम्।) भो, भणिदं मए, जधा अप्पमुल्ला रअणावली बहुमुल्लं सुवण्णभण्डअम्। ण परितुट्ठा। अवरं मग्गिदुं आअदा। [भोः, भणितं मया, यथाल्पमूल्या रत्नावली, बहुमूल्यं सुवर्णभाण्डकम्। न परितुष्टा। अपरं याचितुमागता।]

चेटी—सा क्खु अज्जआए अत्तणकेरकेत्ति भणिअ जूदे हारिदा। सो अ सहिओ राअवात्थहारी ण जाणीअदि कहिं गदो त्ति। [सा खल्वार्यया आत्मीयेति भणित्वा द्यूते हारिता। स च सभिको राजवार्ताहारी न ज्ञायते कुत्र गत इति।]

विदूषकः—भोदि, मन्तिदं ज्जेव मन्तीअदि। [भवति, मन्त्रितमेव मन्त्रयते।]

चेटी—जाव सो अण्णेसीअदि ताव एदं ज्जेव गेण्ह सुवण्णभण्डअम्। [यावत्सोऽन्विष्यते तावदिदमेव गृहाण सुवर्णभाण्डकम्।] (इति दर्शयति)

(विदूषको विचारयति)

चेटी—अदिमेत्तं अज्जो णिज्झाअदि। ता किं दिट्ठपुरुव्वं दे। [अतिमात्रमार्यो निध्यायति। तत्किं दृष्टपूर्वं ते।]

विदूषकः—भोदि, सिप्पकुसलदाए ओबन्धेदि दिट्ठिम्। [भवति, शिल्पकुशलतयावबध्नाति दृष्टिम्।]

चेटी—अज्ज, वुञ्चिदोसि दिट्ठीए। तं ज्जेव एदं सुवण्णभण्डअम्। [आर्य, वञ्चितोऽसि दृष्ट्या। तदेवेदं सुवर्णभाण्डकम्।]

तो मित्र, वसन्तसेना के वस्त्र भीग गये हैं। अन्य श्रेष्ठ दो वस्त्र ले आओ।

विदूषक—जो आप आज्ञा करते हैं।

चेटी—आर्य मैत्रेय, तुम ठहरो। मैं ही आर्या की सेवा करूँगी। (वैसा करती है)

विदूषक—(अलग हटकर) हे मित्र, तब श्रीमती जी से कुछ पूछता हूँ।

चारुदत्त—ऐसा ही करो।

विदूषक—(प्रकट रूप में) चन्द्रमा के प्रकाश से हीन ऐसे दुर्दिन में भला आप क्यों आई हैं ?

चेटी—आर्ये, ब्राह्मण सीधा है।

वसन्तसेना—नहीं 'निपुण' यह कहो।

चेटी—यह आर्या वास्तव में यह पूछने आई हैं—उस रत्नावली का कितना मूल्य है ?

विदूषक—(अलग से) अरे, मैंने कह दिया कि रत्नावली अल्प मूल्य की है, स्वर्ण-पात्र बहुमूल्य है, सन्तुष्ट नहीं हुई, अतः और मांगने आई है।

चेटी—वह आर्या ने अपनी कहकर (समझकर) जुए में हरा दी। राजा का सन्देश ले जाने वाला वह द्यूताध्यक्ष पता नहीं, कहाँ गया ?

विदूषक—श्रीमती जी, (मेरे द्वारा) कहा हुआ ही कहा जा रहा है।

चेटी—जब तक वह ढूंढा जाता है तब तक इस सुवर्ण-पात्र को ही ग्रहण कीजिये।
(दिखाती है।)

(विदूषक विचार करता है)

चेटी—आर्य बहुत अधिक (ध्यान से) देख रहे हैं। तो क्या तुम्हारा पहले देखा हुआ है।

विदूषक—अरी, शिल्प की कुशलता के कारण (यह पात्र) दृष्टि को आकर्षित कर रहा है।

चेटी—आर्य, (आपकी) आँखों ने धोखा दिया है। यह वही स्वर्ण-पात्र है।

क्लिन्ने आर्द्रे जाते। प्रधानवाससी मुख्ये उत्कृष्टे वा द्वे वस्त्रे। प्रनष्टः चन्द्रस्य आलोकः यस्मिन् तादृशे दुर्दिनस्य मेघाच्छन्नदिवसस्य अन्धकारे। ऋजुकः सरलः।

निध्यायति पश्यति। शिल्पकुशलतया रचनाकौशलेन। अवबध्नाति आकर्षति।

विदूषकः—(सहर्षम् ।) भो वअस्स, तं ज्जेव एदंसुवण्णभण्डअम्, जं अम्हाणं गेहे चोरेहिं अवहिदम् । [भो वयस्य, तदेवेदं सुवर्णभाण्डकम्, यदस्माकं गृहे चौरैरपहृतम् ।]

चारुदत्तः—वयस्य ।

योऽस्माभिश्चिन्तितो व्याजः कर्तुं न्यासप्रतिक्रियाम् ।
स एव प्रस्तुतोऽस्माकं किंतु सत्यं विडम्बना ॥३९॥

विदूषकः—भो वअस्स, सच्चं सवामि बम्हण्णेण । [भो वयस्य, सत्यं शपे ब्राह्मण्येन ।]

चारुदत्तः—प्रियं नः प्रियम् ।

विदूषकः—(जनान्तिकम् ।) भो, पुच्छामि णं कुदो एदं समासादिदं त्ति । [भोः, पृच्छामि ननु कुत इदं समासादितमिति ।]

चारुदत्तः—को दोषः ।

विदूषकः—(चेटयाः कर्णे ।) एव्वं विअ [एवमिव ।]

चेटी—(विदूषकस्य कर्णे ।) एव्वं विअ । [एवमिव ।]

चारुदत्तः—किमिदं कथ्यते । किं वयं बाह्याः ।

विदूषकः—(चारुदत्तस्य कर्णे ।) एव्वं विअ । [एवमिव ।]

चारुदत्तः—भद्रे, सत्यं तदेवेदं सुवर्णभाण्डम् ।

चेटी—अज्ज अध इं । [आर्य अथ किम् ।]

चारुदत्तः—भद्रे, न कदाचित्प्रियनिवेदनं निष्फलीकृतं मया तद्गृह्यतां पारितोषिकमिदमङ्गुलीयकम् । (इत्यनङ्गुलीयकं हस्तमवलोक्य लज्जां नाटयति ।)

वसन्तसेना—(आत्मगतम् ।) अदो ज्जेव कामीअसि । [अतएव काम्यसे ।]

चारुदत्तः—(जनान्तिकम् ।) भोः कष्टम् ।

धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके किं जीवितेनादित एव तावत् ।
यस्य प्रतीकारनिरर्थकत्वात्कोपप्रसादा विफलीभवन्ति ॥४०॥

तदेव चौरेणापहृतं सुवर्णपात्रं वसन्तसेनया नीतं दृष्ट्वा चारुदत्तः कथयति—य इति । न्यासस्य न्यासीकृतस्य स्वर्णभाण्डस्य प्रतिक्रियां कर्तुम् अस्माभिः यः व्याजः अपदेशः छलप्रयोगः चिन्तितः विचारितः स एव व्याजः अस्माकम् अस्मान् प्रति प्रस्तुतः आरब्धः । किन्तु इदं सत्यम् तदेव सुवर्णभाण्डम् इदम् अथवा विडम्बना प्रतारणा ? इति न निश्चीयते ॥३९॥

ब्राह्मण्येन ब्राह्मणत्वेन; ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा, इत्यर्थे ष्यञ्, प्रत्ययः ।

विदूषक—(प्रसन्नतापूर्वक) हे मित्र, यह वही स्वर्ण-पात्र है, जो हमारे घर में चोरों ने चुरा लिया था।

चारुदत्त—मित्र,

धरोहर को लौटाने के लिए जो बहाना हमने सोचा वही हम पर प्रयोग किया जा रहा है। किन्तु सत्य है अथवा विडम्बना ?॥३९॥

विदूषक—हे मित्र, ब्राह्मणत्व की शपथ उठाता हूँ 'सत्य है'।

चारुदत्त प्रिय ? हमारा प्रिय !

विदूषक - (अलग से) क्यों जी तनिक यह पूछता हूँ, यह कहाँ से मिला ?'

चारुदत्त—क्या बुराई है ?

विदूषक—(चेटी के कान में) ऐसा ही है ?

चेटी—(विदूषक के कान में) ऐसा ही है।

चारुदत्त—यह क्या कहा जा रहा है ? हम क्या बाहरी (व्यक्ति) हैं।

विदूषक—(चारुदत्त के कान में) ऐसा ही है।

चारुदत्त—भद्रे, सचमुच यह वही स्वर्णपात्र है ?

चेटी—आर्य, और क्या ?

चारुदत्त—भद्रे, मैंने प्रिय-निवेदन (शुभ समाचार कथन) को कभी निष्फल नहीं किया तो यह अंगूठी पुरस्कार में लो। (बिना अंगूठी वाले हाथ को देखकर लज्जा का अभिनय करता है।)

वसन्तसेना—(अपने आप) इसी लिए (आपकी) कामना की जाती है।

चारुदत्त—(अपने आप) अरे कष्ट है।

संसार में धनहीन पुरुष के जीवन से क्या लाभ है ? जिसके प्रतिक्रिया करने में असमर्थ होने के कारण क्रोध और प्रसन्नता (दोनों) पहले से ही निष्फल होते हैं ॥४०॥

समासादितं प्राप्तम्। प्रियनिवेदनं प्रियकथनं न निष्फलीकृतं यः प्रियं निवेदयति तस्मै पारितोषिकमवश्यमेव ददामीति भावः। अतएव अस्माद् उदारभावादेवं।

अङ्गुलीयकशून्यं स्वहस्तमवलोक्य पारितोषिकं दातुमशक्तः चारुदत्तः विदूषकं कथयति—धनैरिति। लोके संसारे धनैः वियुक्तस्य धनेन हीनस्य नरस्य जीवितेन किं ? न कोऽपि लाभः इत्यर्थः। कुत इत्याह—प्रतीकारे प्रतिक्रियाकरणे निरर्थकत्वाद् असमर्थत्वाद् यस्य कोपप्रसादा कोपाः प्रसादाश्च विफलीभवन्ति निष्फलाः जायन्ते। यदा सः कुप्यति तदा न प्रतिकर्तुं शक्नोति, यदा च परितुष्यति न तदा पुरस्कर्तुं शक्नोति अतः तस्य कोपप्रसादयोः वैयर्थ्यमिति भावः। काव्यलिङ्गम् अप्रस्तुतप्रशंसा च। उपजातिः वृत्तम् ॥४०॥

अपि च ।

पक्षविकलश्च पक्षी शुष्कश्च तरुः सरश्च जलहीनम् ।
सर्पश्चोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्यं लोके दरिद्रश्च ॥४१॥

अपि च—

शून्यैर्गृहैः खलु समाः पुरुषा दरिद्राः
कूपैश्च तोयरहितैस्तरुभिश्च शीर्णैः ।
यद्दृष्टपूर्वजनसंगमविस्मृताना-
मेवं भवन्ति विफलाः परितोषकालाः ॥४२॥

विदूषकः—भो अलं अदि मेत्तं संतप्पिदेण । (प्रकाशं सपरिहासम्) भोदि, समप्पीअदु ममकेरिआ ण्हाणसाडिआ । [भोः, अलमतिमात्रं संतापितेन । भवति, समर्प्यतां मम स्नानशाटिका ।]

वसन्तसेना—अज्ज चारुदत्त, जुत्तं णेदं इमाए रअणावलीए इमं जणं तुलइदुम् । [आर्य चारुदत्त, युक्तं नेदमनया रत्नावल्या इमं जनं तुलयितुम् ।]

चारुदत्तः—(सविलक्षस्मितम्) वसन्तसेने, पश्य पश्य ।

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तूलयिष्यति ।
शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता ॥४३॥

विदूषकः—हञ्जे, किं भोदीए इध ज्जेव सुविदव्वम् । [चेटि, किं भवत्या इहैव स्वप्तव्यम् ।]

चेटी—(विहस्य) अज्ज मित्तेअ अदिमेत्तं दाणिं उज्जुअं अत्ताणअं दंसेसि । [आर्य मैत्रेय, अतिमात्रमिदानीमृजुमात्मानं दर्शयसि ।]

विदूषकः—भो वअस्स एसो क्खु ओसारअन्तो विअ सुहोवविट्ठं जणं पुणोवि वित्थारिवारिधाराहिं पविट्ठो पज्जण्णो । [भो वयस्य, एष खल्वपसारयन्निव सुखोपविष्टं जनं पुनरपि विस्तारिवारिधाराभिः प्रविष्टः पर्जन्यः ।]

पक्षेति । पक्षाभ्यां विकलः पक्षविहीनः पक्षी शुष्कः च तरुः वृक्षः जलेन हीनं शून्यं च सरः सरोवरः उद्धृता दंष्ट्रा यस्य तथाभूतः सर्पः च दरिद्रः निर्धनश्चापि एतत् सर्वं लोके तुल्यं समानमेव । मालोपमा । आर्या वृत्तम् ॥४१॥

शून्यैरिति । दरिद्राः पुरुषाः खलु निश्चयेन शून्यैः निर्जनैः गृहैः, तोयरहितैः जलविहीनैः कूपैः एवं शीर्णैः शुष्कैः तरुभिः, वृक्षैः च समाः तुल्याः भवन्ति यत् यतः दृष्टपूर्वस्य पूर्वपरिचितस्य जनस्य संगमेन मिलनेन विस्मृतानां विस्मृतस्वदैन्यानां

और भी—

पंखरहित पक्षी और सूखा वृक्ष, जलरहित तालाब तथा दाढ़ उखाड़ा हुआ सर्प एवं दरिद्र (ये सब) संसार में समान हैं ॥४१॥

और भी—

वस्तुतः दरिद्र मनुष्य सूने घरों, जलरहित कूपों तथा शुष्क वृक्षों के समान हैं क्योंकि पहले देखे हुए जनों के मिलन से (अपनी दैन्यावस्था को) भूल जाने वाले (निर्धन) लोगों के सन्तोष के अवसर इस प्रकार निष्फल हो जाते हैं ॥४२॥

विदूषक – अरे अधिक संताप से बस करो । (प्रकट रूप में परिहासपूर्वक) श्रीमती जी, मेरी नहाने की धोती दे दीजिये ।

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त, इस जन को (मुझे) इस रत्नावली से जाँचना उचित नहीं है ।

चारुदत्त—(लज्जापूर्वक मुस्कराकर) वसन्तसेना, देखो देखो, वास्तविकता पर कौन विश्वास करेगा ? सब मुझे हल्का (तुच्छ, अपराधी) समझेंगे । इस संसार में पौरुष-विहीन निर्धनता निश्चित रूप से शङ्का के योग्य होती है ॥४३॥

विदूषक—चेटि, क्या आपको यहीं सोना है ?

चेटी – (हँसकर) आर्य मैत्रेय, इस समय अपने को अत्यन्त सीधा प्रदर्शित कर रहे हो ।

विदूषक—हे मित्र, सुख से बैठे हुए जनों को हटाता हुआ-सा (भीतर चलने को प्रेरित करने वाला) यह बादल मोटी जलधाराओं से (युक्त होकर) फिर आ गया है ।

निर्धनानां परितोषकालाः पारितोपिकसमयाः एवम् अनेन प्रकारेण विफलाः निष्फलाः भवन्ति । उपमा, अप्रस्तुतप्रशंसा च । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥४२॥

तुलयितं परीक्षितु 'तूलयितुम्' इति पाठे लघुकतुं म् । कः इति । पूर्वं व्याख्यातः (अङ्क ३·२४) ॥४३॥

अपसारयन् दूरीकुर्वन् आच्छादितस्थानं प्रेषयन् इति सङ्केतः । सुखेन उपविष्टम् । विस्तारिभिः विस्तृताभिः वारिधाराभिः जलधाराभिः प्रविष्टः समागतः ।

चारुदत्तः—सम्यगाह भवान् ।

अमूर्हि भित्वा जलदान्तराणि पङ्कान्तराणीव मृणालसूच्यः ।
पतन्ति चन्द्रव्यसनाद्विमुक्ता दिवोऽश्रुधारा इव वारिधाराः ॥४४॥

अपि च—

धाराभिरार्यजनचित्तसुनिर्मलाभि-
श्चण्डाभिरर्जुनशरप्रतिकर्कशाभिः ।
मेघाः स्रवन्ति बलदेवपटप्रकाशाः
शक्रस्य मौक्तिकनिधानमिवोद्गिरन्तः ॥४५॥

प्रिये, पश्य पश्य—

एतैः पिष्टतमालवर्णकनिभैरालिप्तमम्भोधरैः
संसक्तैरुपवीजितं सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः ।
एषाम्भोदसमागमप्रणयिनी स्वच्छन्दमभ्यागता
रक्ता कान्तमिवाम्बरं प्रियतमा विद्युत्समालिङ्गति ॥४६॥

(वसन्तसेना शृङ्गारभावं नाटयन्ती चारुदत्तमालिङ्गति ।)

चारुदत्तः—(स्पर्शं नाटयन्प्रत्यालिङ्ग्य ।)

चारुदत्तः वृष्टिधारां वर्णयन्नाह—अमूर्हीति । हि निश्चयेन अमूः पुरो दृश्यमानाः वारिधाराः मृणालस्य कमलनालस्य सूच्यः अङ्कुराः पङ्कान्तराणि पङ्कस्य अन्तर्भागान् इव जलदस्य अन्तराणि भित्वा विदार्य (प्रियस्य) चन्द्रस्य व्यसनात् जलदावरणरूपाद् भङ्गुरात् मरणाद्वा विमुक्ताः पतिताः दिवः द्युलोकस्य (नायिकारूपस्य) अश्रुधारा इव पतन्ति इत्युत्प्रेक्षा समासोक्तिश्च चन्द्रे नायकव्यापारस्य दिवि च नायिकाव्यापारस्य समारोपात् । उपजातिः वृत्तम् ॥४४॥

धाराभिरिति । बलदेवस्य पटवत् प्रकाशन्ते इति ते बलरामवस्त्रवत् नीलाः मेघाः आर्यजनस्य श्रेष्ठजनस्य चित्तवत् सुनिर्मलाभिः अर्जुनस्य शरवत् बाणवत् प्रतिकर्कशाभिः कठोराभिः चण्डाभिः तीव्राभिः धाराभिः शक्रस्य इन्द्रस्य

चारुदत्त—आपने ठीक कहा—

कीचड़ को भेद कर निकले हुए मृणाल के अङ्कुर के समान बादलों के उदर को चीर कर ये जल धाराएँ (प्रिय) चन्द्रमा के (आच्छादन रूप) संकट के कारण निकली हुई द्यौ (रूपी नायिका) की अश्रुधाराओं के समान गिर रही हैं ।।४४।।

और भी—

बलराम के वस्त्रों के तुल्य (नील) आभा वाले बादल आर्य जन के अन्तःकरण के तुल्य स्वच्छ, अर्जुन के तीर के सदृश कठोर एवं तीव्र धाराओं के द्वारा मानों इन्द्र के मुक्ता कोष को बिखराते हुए झर रहे हैं ।।४५।।

प्रिये, देखो देखो—

बादल के समागम की अभिलाषिणी (पक्ष में, बादल के उमड़ने के कारण से अभिलाषिणी) स्वच्छन्दता से आई हुई, रक्त (अनुरक्त एवं रक्तवर्ण वाली) यह प्रियतमा के समान विद्युत् पिसे हुए तमाल के रंग जैसे बादलों से अनुलिप्त (आच्छन्न), निरन्तर बहने वाली (संसक्त), सुगन्धित एवं शीतल प्रदोष की वायु से पंखा किये जाते हुए प्रियतम सदृश आकाश का आलिङ्गन कर रही है ।।४६।।

(वसन्तसेना शृङ्गारभाव का अभिनय करती हुई चारुदत्त का आलिङ्गन करती है)

चारुदत्त—(स्पर्श का अभिनय करते हुए प्रत्यालिङ्गन करके)—

मौक्तिकनिधानं मुक्तानां निधिम् उद्गिरन्तः विकिरन्तः इव स्रवन्ति वर्षन्ति । उपमा, उत्प्रेक्षा च । वसन्ततिलका वृत्तम् ।।४५।।

चारुदत्तो विद्युता संयुक्तमम्बरं विलोक्य वसन्तसेनामुद्दिश्य कथयति— एतैरिति । अम्भोदसमागमप्रणयिनी स्वच्छन्दम् अभ्यागता रक्ता प्रियतमा इव एषा विद्युत् एतैः पिष्टतमालवर्णकनिभैः अम्भोधरैः आलिप्तम्, संसक्तैः सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः उपवीजितं च कान्तम् इव अम्बरं समालिङ्गति—इत्यन्वयः ।

अम्भोदस्य समागमे (टि०) प्रणयिनी (नायिकापक्षे तु—अम्भोदस्य समागमात् प्रणयिनी अभिलाषिणी) स्वच्छन्दम् स्वेच्छया अभ्यागता रक्ता रक्तवर्णा (अनुरक्ता च) प्रियतमा नायिका इव एषा विद्युत् एतैः दृश्यमानैः पिष्टं यत् तमाल-वर्णकं तमालपत्रविलेपनं तन्निभैः तत्सदृशैः नीलैः अम्भोधरैः मेघैः आलिप्तं (पक्षे—अङ्गरागैः अनुलिप्तम्) संसक्तैः निरन्तरैः सुरभिभिः सुगन्धिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः प्रदोषकालिकपवनैः (पक्षे—शीतलसुगन्धितैः पवनैः) उपवीजितं कृतव्यजनम् इव कान्तं प्रियतमम् इव अम्बरम् आकाशं समालिङ्गति । उपमा समासोक्तिश्च आकाशे नायकव्यापारस्य विद्युति च नायिकाव्यापारस्य समारोपात् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।।४६।।

भो मेघ गम्भीरतरं नद त्वं तव प्रसादात्स्मरपीडितं मे ।
संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम् ॥४७॥

विदूषकः—दासीए पुत्त दुद्दिण, अणज्जो दाणिं सि तुमम्, जं अत्तभोदिं विज्जुआए भाआवेसि । [दास्याः पुत्र दुर्दिन, अनार्य इदानीमसि त्वम्, यदत्रभवतीं विद्युता भीषयसि ।]

चारुदत्तः—वयस्य, नार्हस्युपालब्धुम् ।

वर्षशतमस्तु दुर्दिनमविरतधारं शतह्रदा स्फुरतु ।
अस्मद्विधदुर्लभया यदहं प्रियया परिष्वक्तः ॥४८॥

अपि च । वयस्य,

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम् ।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति ॥४९॥

प्रिये वसन्तसेने,

स्तम्भेषु प्रचलितवेदिसंचयान्तं
शीर्णत्वात्कथमपि धार्यते वितानम् ।
एषा च स्फुटितसुधाद्रवानुलेपात्
संक्लिन्ना सलिलभरेण चित्रभित्तिः ॥५०॥

भो इति । भो मेघ, त्वं गम्भीरतरम् नद गर्ज । तव मेघस्य प्रसादात् अनुग्रहात् स्मरपीडितं कामपीडितं मे मम गात्रं शरीरं (वसन्तसेनायाः) संस्पर्शेन रोमाञ्चितं जातः उत्पन्नः रागः अभिलाषः यस्मिन् तादृशं च सत् कदम्बपुष्पत्वं कदम्बपुष्पसादृश्यम् उपैति प्राप्नोति । काव्यालिङ्गं निदर्शना चालङ्कारौ । उपजातिः वृत्तम् ॥४७॥

वसन्तसेनासमागमं स्वसौभाग्यमिव मन्यमानः चारुदत्तः कथयति । वर्षशतमिति । अविरता अविच्छिन्ना धारा यस्मिन् तथाभूतं दुर्दिनं मेघाच्छन्नदिनं वर्षाणां शतं वर्षशतम् अस्तु भवतु, शतह्रदा विद्युत् च स्फुरतु यत् यस्मात् कारणात् अहं चारुदत्तः अस्मद्विधानां मादृशानां दरिद्राणां दुर्लभया लब्धुम् अशक्यया प्रियया वसन्तसेनया परिष्वक्तः आलिङ्गितः । आर्या वृत्तम् ॥४८॥

धन्यानीति । तेषां जनानां जीवितानि जीवनानि धन्यानि खलु निश्चयेन

हे वादल, तुम और अधिक गम्भीर गर्जन करो, तुम्हारी कृपा से काम से पीड़ित मेरा शरीर (वसन्तसेना के) स्पर्श से रोमाञ्चित एवं रागयुक्त होकर कदम्ब पुष्प के सदृश हो रहा है ।।४७।।

विदूषक—दासी के पुत्र दुर्दिन तुम वड़े अशिष्ट हो जो इस समय इन श्रीमती जी को विजली से डरा रहे हो ।

चारुदत्त—मित्र, (दुर्दिन को) उपालम्भ देना उचित नहीं । सतत (वृष्टि) धारावाला दुर्दिन सौ वर्ष तक रहे, बिजली (शतह्रदा) चमकती रहे, क्योंकि (गरजते हुए मेघ और चमकती हुई बिजली के कारण ही) हमारे जैसों के लिये दुर्लभ प्रिया के द्वारा मेरा आलिङ्गन किया गया है ।।४८।।

और भी; मित्र,

वास्तव में उनके जीवन धन्य हैं जो घर में आई हुई कामिनियों के वादल के जल से शीतल हुए शरीरों का (अपने) शरीरों पर आलिङ्गन करते हैं ।।४९।।
प्रिये वसन्तसेने—

जिसके (स्तम्भों के आधार के लिये वनाये गये) वेदी समूह नीचे तक हिल रहे हैं ऐसा वितान जर्जरित होने के कारण खम्भों पर किसी प्रकार ठहरा हुआ है, और यह विचित्र दीवार सुधा-द्रव के लेपन (चूने) के फूट जाने के कारण बहुत से जल से भीग (सील) गई है ।।५।।

प्रशंसनीयानि ये जनाः गृहम् स्वगेहम् आगतानां कामिनीनां मेघोदकेन शीतलानि गात्राणि शरीराणि गात्रेषु स्वशरीरेषु परिष्वजन्ति आलिङ्गन्ति । अप्रस्तुतप्रशंसा । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।।४९।।

स्वगृहस्य जीर्णतां दर्शयन् वसन्तसेनां प्रति कथयति चारुदत्तः—स्तम्भेषु इति । प्रचलितः कम्पितः वेदिसञ्चयानां वेदिसमूहानाम् अन्तः पर्यन्तभागो यस्य तथाभूतं वितानं शीर्णत्वात् जीर्णत्वात् कथमपि कष्टेन काठिन्येन वा स्तम्भेषु धार्यते । एषा च चित्रभित्ति चित्रयुक्ता भित्तिः स्फुटितः विदीर्णः यः सुधाद्रवस्य अनुलेपः तस्मात्-सुधाद्रवानुलेपस्य स्फुटितत्वाद इत्यर्थः सलिलभरेण वृष्टिजलाधिक्येन संक्लिन्ना आर्द्रा जाता । अतोऽत्रावस्थानं न युक्तमिति हृदयम् । प्रहर्षिणी वृत्तम् ।।५०।।

(ऊर्ध्वम् अवलोक्य) अये इन्द्रधनुः । प्रिये, पश्य पश्य ।

विद्युज्जिह्वेनेदं महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन ।
जलधरविवृद्धहनुना विजृम्भितमिवान्तरीक्षेण ॥५१॥

तदेहि । अभ्यन्तरमेव प्रविशावः (इत्युत्थाय परिक्रामति)

तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रूक्षं सलिलेषु चण्डम् ।
संगीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुसारेण पतन्ति धाराः ॥५२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

दुर्दिनो नाम पञ्चमोऽङ्कः ।

विद्युदिति । विद्युदेव जिह्वा यस्य तेन, महेन्द्रचापम् इन्द्रधनुः एव उच्छ्रितौ उन्नतौ आयतौ विशालौ च भुजौ यस्य तेन, जलधरः मेघः एव विवृद्धा हनुः चिबुकं यस्य तथाभूतेन अन्तरीक्षेण आकाशेन विजृम्भितम् इव । रूपकम् उत्प्रेक्षा च । आर्या वृत्तम् ॥५१॥

(ऊपर देखकर) अरे ! इन्द्र धनुप ! प्रिये, देखो ! देखो

बिजली रूपी जिह्वा वाले, इन्द्र धनुष रूपी उन्नत एवं विशाल (आयत) भुजा वाले मेघ रूपी बढ़ी हुई ठोडी (हनु) वाले आकाश ने मानो जम्भाई ली है ॥५१॥ तो आओ, भीतर ही प्रवेश करें (उठकर घूमता है।)

झङ्कृत (ताड्यमाना) सङ्गीत वीणा के समान (वर्षा की) धाराएं तालवृक्षों पर उच्च स्वर से वृक्ष की शाखाओं पर गम्भीर, शिलाओं पर रूखी (कर्कश) एवं जल में तुमुलध्वनि से ताल के अनुसार गिर रही हैं ॥५२॥

(सब निकल जाते हैं)

दुर्दिन नामक पांचवाँ अङ्क (समाप्त)

तालीषु इति। ताड्यमाना वाद्यमाना सङ्गीतवीणा इव धाराः वृष्टिधाराः तालीषु तालवनेषु तारम् उच्चैः विटपेषु वृक्षशाखासु मन्द्रं गम्भीरं शिलासु रुक्षं सलिलेषु जलेषु चण्डं तुमुलं च तालानुसारेण पतन्ति। उपमा। उपजाति वृत्तम् ॥५२॥

इति दुर्दिनो नाम पञ्चमोऽङ्कः

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—कधं अज्ज वि अज्जआ ण विबुज्झदि । भोदु । पविसिअ पडिबोधइस्सम् । [कथमद्याप्यार्या न विबुध्यते । भवतु । प्रविश्य प्रतिबोधयिष्यामि ।] (इति नाट्येन परिक्रामति)

(ततः प्रविशत्याच्छादितशरीरा प्रसुप्ता वसन्तसेना)

चेटी—(निरूप्य) उत्थेदु उत्थेदु अज्जआ । पभादं संवुत्तम् । [उत्तिष्ठतूत्तिष्ठत्वार्या । प्रभातं संवृत्तम् ।]

वसन्तसेना—(प्रतिबुध्य) कधं रत्ति ज्जेव पभादं संवुत्तम् । [कथं रात्रिरेव प्रभातं संवृत्तम् ।]

चेटी—अम्हाणं एसो पभादो । अज्जआए उण रत्ति ज्जेव । [अस्माकमेतत्प्रभातम् । आर्यायाः पुना रात्रिरेव ।]

वसन्तसेना—हञ्जे कहिं उण तुम्हाणं जूदिअरो ? [चेटि, कुतः पुनर्युष्माकं द्यूतकरः ?]

चेटी—अज्जए, वड्ढमाणअं समादिसीअ पुप्फकरण्डअं जिण्णुज्जाणं गदो अज्जचारुदत्तो । [आर्ये, वर्धमानकं समादिश्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गत आर्यचारुदत्तः ।]

वसन्तसेना—किं समादिसिअ । [किं समादिश्य ।]

चेटी—जोएहि रत्तीए पवहणम्, वसन्तसेना गच्छदु त्ति । [योजय रात्रौ प्रवहणम्, वसन्तसेना गच्छत्विति ।]

वसन्तसेना—हञ्जे, कहिं मए गन्तव्वम् ? [चेटि, कुत्र मया गन्तव्यम् ?]

चेटी—अज्जए, जहिं चारुदत्तो । [आर्ये, यत्र चारुदत्तः ।]

वसन्तसेना—(चेटीं परिष्वज्य) हञ्जे, सुट्ठु ण णिज्झाइदो रत्तीए । ता अज्ज पच्चक्खं पेक्खिस्सम् । हञ्जे, किं पविट्ठा अहं इह अब्भन्तरचदुस्सालअम् ? [चेटि, सुष्ठु न निर्ध्यातो रात्रौ । तदद्य प्रत्यक्षं प्रेक्षिष्ये । चेटि, किं प्रविष्टाहमिहाभ्यन्तरचतुःशालकम् ?]

चेटी—ण केवलं अब्भन्तरचदुस्सालअम् । सव्वजणस्स वि हिअअं पविट्ठा । [न केवलमभ्यन्तरचतुःशालकम् । सर्वजनस्यापि हृदयं प्रविष्टा ।]

छठा अङ्क

(तत्पश्चात् चेटी प्रवेश करती है)

चेटी—क्या आर्या अब भी नहीं जाग रही है ? अच्छा, प्रवेश करके जगाऊँ। (अभिनय से घूमती है) ।

(तत्पश्चात् ढके हुए शरीर वाली सोई हुई वसन्तसेना प्रवेश करती है)

चेटी—(देखकर) आर्ये, उठिये, उठिये। सवेरा हो गया।

वसन्तसेना—(जागकर) क्या रात्रि ही सवेरा हो गई ?

चेटी—हमारा तो यह सवेरा है। किन्तु आर्या की तो रात्रि ही है।

वसन्तसेना—चेटि, तुम लोगों के जुआरी (आर्य चारुदत्त) कहाँ है ?

चेटी—आर्ये, वर्धमानक को आदेश देकर आर्य चारुदत्त पुष्पकरण्डक (नामक) जीर्णोद्यान में चले गये हैं।

वसन्तसेना—क्या आदेश देकर ?

चेटी—रात में ही बहली जोड़ लेना (जिससे) वसन्तसेना चली जाये।

वसन्तसेना—चेटि, मुझे कहाँ जाना है ?

चेटी—आर्य, जहाँ चारुदत्त है।

वसन्तसेना—(चेटी का आलिङ्गन करके) चेटि, रात्रि में (आर्य चारुदत्त) भली प्रकार नहीं देखे थे। इसलिये आज प्रत्यक्ष देखूँगी। चेटि, क्या मैं यहाँ भीतरी चतुःशाला में प्रविष्ट हो गई हूँ ?

चेटी—केवल भीतरी चतुःशाला में ही नहीं। सब जनों के हृदय में भी प्रविष्ट हो गई हो।

चेटी चारुदत्तस्य सेविका। पुष्पाणां करण्डकं पात्रविशेषः पुष्पकरण्डकम्, उद्यानस्य नाम।

निर्ध्यातः दृष्टः। परिजनः अनुयायिवर्गः, सेविकाजनो वा अत्र तु 'पत्नी' इत्यर्थः सम्यक् प्रतिभाति। [illegible] ममात्रागमनात् संतापं प्राप्स्यति।

वसन्तसेना—अवि संतप्पदि चारुदत्तस्स परिअणो। [अपि सन्तप्यते चारुदत्तस्य परिजनः।]

चेटी—संतप्पिस्सदि। [संतप्स्यति।]

वसन्तसेना—कदा। [कदा।]

चेटी—जदो अज्जआ गमिस्सदि ! [यदार्या गमिष्यति]

वसन्तसेना—तदो मए पढमं संतप्पिदव्वम्। (सानुनयम्) हञ्जे, गेण्ह एदं रअणावलिम्। मम बहिणीआए अज्जाधूदाए गदुअ समप्पेहि। भणिदव्वं च—'अहं सिरिचारुदत्तस्स गुणणिज्जिदा दासी, तदा तुम्हाणं पि। ता एसा तुह ज्जेव कण्ठाहरणं होदु रअणावली। [तदा मया प्रथमं सन्तप्तव्यम्। चेटि, गृहाणेमां रत्नावलीम्। मम भगिन्या आर्याधूतायै गत्वा समर्पय। वक्तव्यं च—'अहं श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी, तदा युष्माकमपि। तदेषा तवैव कण्ठाभरणं भवतु रत्नावली'।]

चेटी—अज्जए, कुपिस्सदि चारुदत्तो अज्जाए दाव। [आर्ये, कुपिष्यति चारुदत्त आर्यायै तावत्।]

वसन्तसेना—गच्छ ण कुपिस्सदि। [गच्छ। न कुपिष्यति।]

चेटी—(गृहीत्वा) जं आणवेदि। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविशति) अज्जए, भणादि अज्जा धूदा—'अज्जउत्तेण तुम्हाणं पसादी किदा। ण युक्तं मम एदं गेण्हिदुम्। अज्जउत्तो ज्जेव मम आहरणविसेसो त्ति जाणादु भोदी'। [यदाज्ञापयति। आर्ये, भणत्यार्या धूता—'आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रसादीकृता। न युक्तं ममैतां ग्रहीतुम्। आर्यपुत्र एव ममाभरणविशेष इति जानातु भवती।]

(ततः प्रविशति दारकं गृहीत्वा रदनिका)

रदनिका—एहि वच्छ, सअडिआए कीलम्ह। [एहि वत्स, शकटिकया क्रीडावः।]

दारकः—(सकरुणम्) रदणिए किं मम एदाए मट्टिआसअडिआए। तं ज्जेव सोवण्णसअडिअं देहि। [रदनिके किं ममैतया मृत्तिकाशकटिकया। तामेव सौवर्णशकटिकां देहि।]

रदनिका—(सनिर्वेदं निःश्वस्य) जाद, कुदो अम्हाणं सुवण्णववहारो ? तादस्स पुणोवि रिद्धीए सुवण्णसअडिआए कीलिस्ससि। ता जाव विणोदेमि णम्। अज्जआए वसन्तसेणाए समीवं उपसप्पिस्सम्। (उपसृत्य) अज्जए; पणमामि। [जात, कुतोऽस्माकं सुवर्णव्यवहारः। तातस्य पुनरपि ऋद्धया सुवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि। तद्यावद्विनोदयाम्येनम्। आर्याया वसन्तसेनायाः समीपमुपसर्पिष्यामि। आर्ये, प्रणमामि।]

वसन्तसेना—क्या चारुदत्त का परिवार (हमारे आने से) दुःखी है ?

चेटी—दुःखी होगा ।

वसन्तसेना—कब ?

चेटी—जब आर्या चली जायेंगी ।

वसन्तसेना—तब (चारुदत्त के परिवार से पृथक् होने पर) पहले मुझे सन्ताप करना होगा । (अनुनय सहित) चेटि, इस रत्नावली को ले लो जाकर मेरी बहिन आर्या धूता को समर्पित कर दो और कह देना—'मैं श्री चारुदत्त के गुणों से वशीभूत दासी हूँ, तब आपकी भी (दासी हूँ)। तो यह रत्नावली आपके ही कण्ठ का आभूषण होवे ।

चेटी—आर्ये, तब चारुदत्त आर्या पर क्रुद्ध होंगे ।

वसन्तसेना—जा । क्रुद्ध नहीं होंगे ।

चेटी—(लेकर) जो आज्ञा करती हैं । (बाहर निकल कर पुनः प्रवेश करती है) आर्ये, आर्या धूता कहती हैं—आर्यपुत्र ने आपको (यह रत्नावली) प्रसन्न होकर प्रदान की है । मेरा इसको लेना उचित नहीं है । आप यह समझ लें कि आर्यपुत्र ही मेरे विशेष आभूषण हैं ।

(तत्पश्चात् बच्चे को लेकर रदनिका प्रवेश करती है)

रदनिका—बेटे, आओ (हम दोनों) गाड़ी से खेलते हैं ।

बच्चा—(करुणा सहित) रदनिके, इस मिट्टी की गाड़ी से मुझे क्या ? उस स्वर्ण की गाड़ी को दो ।

रदनिका—(दुःखपूर्वक लम्बी सांस लेकर) बेटे, हमारे यहाँ सोने का व्यवहार कहाँ ? (अपने) पिताजी की पुनः समृद्धि से फिर सोने की गाड़ी से खेलना । तो जब तक इसको बहलाती हूँ । आर्या वसन्तसेना के पास चलूँ । (समीप जाकर) आर्ये प्रणाम करती हूँ ।

गुणैः दाक्षिण्यादिभिः निर्जिता वशीकृता । आर्यपुत्र एव मम पतिः एव मम धूतायाः आभरणविशेषः विशिष्टम् आभूषणम् । अत्र हि भारतीयनार्याः आदर्शोऽभिव्यज्यते, उक्तं हि—'भर्ता हि परमं नार्याः भूषणं भूषणैर्विना ।'

चन्द्रमुखः चन्द्र इव मुखं यस्य सः ।

वसन्तसेना—रदणिए साअदं दे। कस्स उण अअं दारओ? अणलंकिदसरीरो वि चन्दमुहो आणन्देदि मम हिअअम्। [रदनिके स्वागतं ते। कस्य पुनरयं दारकः? अनलङ्कृतशरीरोऽपि चन्द्रमुख आनन्दयति मम हृदयम्।]

रदनिका—एसो क्खु अज्जचारुदत्तस्स पुत्तो रोहसेणो णाम। [एष खल्वार्यचारुदत्तस्य पुत्रो रोहसेनो नाम।]

वसन्तसेना—(बाहू प्रसार्य) एहि मे पुत्तअ, आलिङ्ग। (इत्यङ्क उपवेश्य) अणुकिदं अणेण पिदुणो रूवम्। [एहि मे पुत्रक, आलिङ्ग। अनुकृतमनेन पितू रूपम्।]

रदनिका—ण केवलं रूवम्, सीलं पि तक्केमि। एदिणा अज्जचारुदत्तो अत्ताणअं विणोदेदि। [न केवलं रूपम्, शीलमपि तर्कयामि। एतेनार्यचारुदत्त आत्मानं विनोदयति।]

वसन्तसेना—अध किंणिमित्तं एसो रोअदि? [अथ किंनिमित्तमेष रोदिति?]

रदनिका—एदिणा पडिवेसिअगहवइदारअकेरिआए सुवण्णसअडिआए कीलिदम्। तेण अ सा णीदा। तदो उण तं मग्गन्तस्स मए इअं मट्टिआसअडिआ कदुअ दिण्णा। तदो भणादि—'रदणिए किं मम एदाए मट्टिआसअडिआए। तं ज्जेव सोवण्णसअडिअं देहि' त्ति। [एतेन प्रतिवेशिकगृहपतिदारकस्य सुवर्णशकटिकया क्रीडितम्। तेन च सा नीता। ततः पुनस्तां याचतो मयेयं मृत्तिकाशकटिका कृत्वा दत्ता। ततो भणति—'रदनिके, किं ममैतया मृत्तिकाशकटिकया। तामेव सौवर्णशकटिकां देहि' इति।']

वसन्तसेना—हद्धी हद्धी। अअं पि णाम परसंपत्तीए संतप्पदि। भअवं कअन्त, पोक्खरवत्तपडिदजलबिन्दुसरिसेहिं कीलसि तुमं पुरिसभाअधेएहिं। (इति सास्रा) जाद मा रोद। सुवण्णसअडिआए कीलिस्ससि। [हा धिक् हा धिक्! अयमपि नाम परसंपत्त्या संतप्यते। भगवन्कृतान्त, पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुसदृशैः क्रीडसि त्वं पुरुषभागधेयैः। जात मा रुदिहि। सौवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि।]

दारकः रदणिए, का एसा। [रदनिके, कैषा।]

वसन्तसेना—पिदुणो दे गुणणिज्जिदा दासी। [पितुस्ते गुणनिर्जिता दासी।]

रदनिका—जाद अज्जआ दे जणणी भोदि। [जात, आर्या ते जननी भवती।]

दारकः—रदणिए, अलिअं तुमं भणासि। जइ अम्हाणं अज्जआ जणणी ता कीस अलंकिदा? [रदनिके, अलीकं त्वं भणसि। यद्यस्माकमार्या जननी, तत्किमर्थमलङ्कृता?]

वसन्तसेना—रदनिके, तुम्हारा स्वागत है। यह बच्चा किसका है? आभूषणहीन शरीर वाला भी चन्द्रमा जैसे मुख वाला यह मेरे हृदय को आनन्दित कर रहा है।

रदनिका—यह रोहसेन नाम का आर्य चारुदत्त का पुत्र है।

वसन्तसेना—(दोनों भुजायें फैलाकर) आओ मेरे बेटे, गले लगो। (गोदी में बैठाकर) इसने पिता के ही रूप का अनुकरण किया है।

रदनिका—केवल रूप ही नहीं, अनुमान करती हूँ स्वभाव भी (अपने पिता के ही अनुकूल पाया है); इससे आर्य चारुदत्त अपने को बहलाते हैं।

वसन्तसेना—फिर यह किस लिये रो रहा है?

रदनिका—यह पड़ौसी गृहस्वामी के बच्चे की सोने की गाड़ी से खेल रहा था और वह उसने ले ली। तब फिर उस (सोने की गाड़ी) को मांगने पर मैंने यह मिट्टी की गाड़ी बनाकर दे दी। तभी से यह कह रहा है—'रदनिके, मुझे इस मिट्टी की गाड़ी से क्या? उसी सोने की गाड़ी को दो।

वसन्तसेना—हाय! हाय! यह भी पराई सम्पत्ति से दुःखी होता है। भगवान् दैव, कमल के पत्ते पर गिरे हुये पानी की बून्दों जैसे मनुष्यों के भाग्यों से तुम खिलवाड़ कर रहे हो! (अश्रु सहित) बेटे, मत रो! सोने की गाड़ी से खेलना।

बच्चा—रदनिके, यह कौन है?

वसन्तसेना—तुम्हारे पिता के गुणों से वशीभूत दासी।

रदनिका—बेटे, आर्या तुम्हारी माता होती हैं।

बच्चा—रदनिके, तुम झूठ बोलती हो। यदि आर्या हमारी माता हैं तो आभूषणयुक्त किस लिये हैं?

प्रतिवेशिकश्चासौ गृहपतिः गृहस्वामी तस्य दारकस्य बालकस्य पुत्रस्य वा।

कृतान्तः विधिः तत्सम्बुद्धौ। पुष्करपत्रे कमलपत्रे पतिताः ये जलबिन्दवः तत्सदृशैः चपलैः इति भावः। जात हे वत्स। अलीकम् असत्यम्। मुग्धेन मनोहरेण

वसन्तसेना—जाद, मुद्धेण मुहेण अदिकरुणं मन्तेसि। (नाट्येनाभरणान्यवतार्य रुदति) एसा दाणिं दे जणणी संवुत्ता। ता गेण्ह एदं अलङ्कारअम्। सोवण्णसअडिअं घडावेहि। [जात, मुग्धेन मुखेनातिकरुणं मन्त्रयसि। एषेदानीं ते जननी संवृत्ता। तद्गृहाणैतमलङ्कारम् सौवर्णशकटिकां घटय।]

दारकः—अवेहि। ण गेण्हिस्सम्। रोदसि तुमम्। [अपेहि। न ग्रहीष्यामि। रोदिपि त्वम्।]

वसन्तसेना—(अश्रूणि प्रमृज्य) जाद, ण रोदिस्सम्। गच्छ। कील। (अलङ्कारैर्मृच्छकटिकं पूरयित्वा) जाद कारेहि सोवण्णसअडिअम्। [जात, न रोदिष्यामि। गच्छ। क्रीड। जात, कारय सौवर्णशकटिकाम्।]

(इति दारकमादाय निष्क्रान्ता रदनिका)

(प्रविश्य प्रवहणाधिरूढः)

चेटः—लदणिए लदणिए, णिवेदेहि अज्जआए वशन्तशेणाए—'ओहालिअं पक्खदुआलए शज्जं पवहणं चिश्टदि'। [रदनिके रदनिके, निवेदयार्यायै वसन्तसेनायै—'अपवारितं पक्षद्वारके सज्जं प्रवहणं तिष्ठति'।]

(प्रविश्य)

रदनिका—अज्जए, एसो वड्ढमाणओ विण्णवेदि पक्खदुआरए सज्जं पवहणं' त्ति। [आर्ये एष वर्धमानको विज्ञापयति—'पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणं' इति।]

वसन्तसेना—हञ्जे, चिट्ठदु मुहुत्तअम्। जाव अहं अत्ताणअं पसाधेमि। [चेटि, तिष्ठतु मुहूर्तकम्। यावदहमात्मानं प्रसाधयामि।]

रदनिका—वड्ढमाणअ, चिट्ठ मुहुत्तअम्। जाव अज्जआ अत्ताणअं पसाधेदि। [वर्धमानक, तिष्ठ मुहूर्तकम्। यावदार्यात्मानं प्रसाधयति।]

चेट—ही ही भोः, मए वि जाणत्थलके विशुमलिदे। ता जाव गेण्हिअ आअच्छामि। एदे णश्शालज्जुकडुआ बइल्ला। भोदु। पवहणेण ज्जेव गदागदिं कलिश्शम्। [ही ही भोः, मयापि यानास्तरणं विस्मृतं। तद् यावद् गृहीत्वाऽऽगच्छामि। एते नासिकारज्जुकटुका बलीवर्दाः। भवतु। प्रवहणेनैव गतागतिं करिष्यामि।] (इति निष्क्रान्तश्चेटः)

वसन्तसेना—हञ्जे, उवणेहि मे पसाहणम्। अत्ताणअं पसाधइस्सम्। [चेटि उपनय मे प्रसाधनम्। आत्मानं प्रसाधयिष्यामि।] (इति प्रसाधयन्ती स्थिता)

(प्रविश्य प्रवहणाधिरूढः)

स्थावरकश्चेटः—आण्णत्तोम्हि लाअशालअशंठाणेण—'थावलअ, पवहणं गेण्हिअ पुप्फकलण्डअं जिण्णुज्जाणं तुलिदं आअच्छेहि' त्ति। भोदु। तहिं ज्जेव गच्छामि। किं वहध वहध बइल्ला, वहध। (परिक्रम्यावलोक्य च) कधं गामशअडेहिं लुद्धे मग्गे। किं दाणिं एत्थ कलइस्सम्। (सावेगम्) अले ले ओशलध ओशलध। (आकर्ण्य) किं

वसन्तसेना—बेटे, भोले मुंह से अत्यन्त करुणापूर्वक बोल रहे हो। (अभिनय से आभूषणों को उतार कर रोती हुई) यह अब (मैं) तुम्हारी माता हो गई हूँ। तो इस आभूषण को लो। सोने की गाड़ी बनवा लेना।

बच्चा—जाओ। नहीं लूंगा। तुम रो रही हो।

वसन्तसेना—(आंसुओं को पोंछकर) बेटे, नहीं रोऊँगी। जाओ। खेलो। (आभूषणों से मिट्टी की गाड़ी को भरकर) बेटे, सोने की गाड़ी बनवा लो।

(बच्चे को लेकर रदनिका निकल जाती है)

(गाड़ी पर बैठा हुआ प्रवेश करके)

चेट—रदनिके, रदनिके, आर्या वसन्तसेना से निवेदन करो—'बगल के द्वार पर बन्द (ढकी हुई) सुसज्जित गाड़ी खड़ी है।

(प्रवेश करके)

रदनिका—आर्ये, यह वर्धमानक कहते हैं—'बगल के द्वार पर गाड़ी तैयार है।

वसन्तसेना—चेटि, क्षण भर ठहरे। जब तक मैं अपने को सज्जित कर लूं।

रदनिका—(बाहर निकलकर) वर्धमानक, क्षण-भर ठहरो। जब तक आर्या अपने को सुसज्जित करती हैं।

चेट—अरे, आश्चर्य! मैं गाड़ी का बिछावन (गद्दी) भूल आया। तो जब तक लेकर आता हूँ। ये बैल नाथ (=नासिकारज्जु) के कड़वे (नाक की रस्सी को न सहन करने वाले, तेज) हैं। अच्छा, रथ से ही लौट-फेर करूँगा। (चेट बाहर निकल जाता है)।

वसन्तसेना—चेटी, मेरी प्रसाधन-सामग्री लाओ। अपने को सुसज्जित कर लूं।

(शृङ्गार करती है)

(गाड़ी पर चढ़ा हुआ प्रवेश करके)

स्थावरक चेट—राजा के साले संस्थानक के द्वारा मुझे यह आज्ञा दी गई है—'स्थावरक, गाड़ी लेकर पुष्पकरण्डक (नामक) जीर्णोद्यान में शीघ्र आओ। अच्छा वहीं जाता हूँ। चलो! बैलो चलो। (घूमकर और देखकर) क्या गाँव की गाड़ियों से रास्ता रूक गया? अब यहाँ क्या करूँ? (गर्वपूर्वक) अरे, हटो! हटो! (सुनकर) क्या यह कहते हो कि—'यह किसकी गाड़ी है?' यह राजा के साले संस्थानक की

सरलेन वा। अतिकरुणम् अत्यन्तं करुणाजनकम्। मन्त्रयसि वदसि।

अपवारितम् आवृतम्। प्रवहणम् आरूढः चेटः। ही ही इति अकस्मात्स्मरणेऽव्ययम्। यानस्य आस्तरणं वस्त्रविशेषः यदास्तीर्य जनाः याने उपविशन्ति। नासिकारज्ज्वा कटुकाः दुःसहाः अतिचपलाः इत्यर्थः। गतागतिं गमनागमनं।

प्रसाधनम् अलङ्कारः, प्रसाध्यतेऽनेनेति, प्रसाधनसामग्रीं इत्यर्थः। स्थावरकः

भणाध—'एशे कश्शकेलके पवहणे' त्ति। एशे लाअशालअशंठाणकेलके पवहणे त्ति। ता शिग्धं ओशलध। (अवलोक्य) कथम्, एशे अवले शहिअं विअ मं पेक्खिअ शहश्शज्जेव जूदपलाइदे विअ जूदिअले ओहालिअ अत्ताणअं अण्णदो अवक्कन्ते। ता को उण एशे। अधवा किं मम एदिणा। तुलिदं गमिश्शम्। अले ले गामलुआ, ओशलध। किं भणाध—मुहुत्तअं चिट्ठ। चक्कपलिवट्टिं देहि' त्ति। अले ले, लाअशालअशंठाणकेलके हग्गे शूले चक्कपलिवट्टिं दइश्शम्। अधवा एशे एआई तवश्शी। ता एव्वं कलेमि। एदं पवहणं अज्जचालुदत्तश्श लुक्खवाडिआए पक्खदुआलए थावेमि (इति प्रवहणं संस्थाप्य) एशे ह्मि आअदे। [आज्ञप्तोऽस्मि राजश्यालकसंस्थानेन—'स्थावरक, प्रवहणं गृहीत्वा पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं त्वरितमागच्छ' इति। भवतु। तत्रैव गच्छामि। वहतं बलीवर्दौ वहतम्। कथं ग्रामशकटैः रुद्धो मार्गः। किमिदानीमत्र करिष्यामि। अरे रे, अपसरत अपसरत। किं भणथ 'एतत्कस्य प्रवहणम्' इति। एतद्राजश्यालकसंस्थानस्य प्रवहणमिति। तच्छीघ्रमपसरत। कथम्, एषोऽपरः सभिकमिव मां प्रेक्ष्य सहसैव द्यूतपलायित इव द्यूतकरोऽपवार्यात्मानमन्यतोऽपक्रान्तः। तत्कः पुनरेषः। अथवा किं ममैतेन त्वरितं गमिष्यामि। अरे रे ग्राम्याः, अपसरत अपसरत। किं भणथ—'मुहूर्तकं तिष्ठ। चक्रपरिवृत्तिं देहि' इति। अरे रे राजश्यालकसंस्थानस्याहं शूरश्चक्रपरिवृत्तिं दास्यामि। अथवा एष एकाकी तपस्वी। तदेवं करोमि। एतत्प्रवहणमार्यचारुदत्तस्य वृक्षवाटिकायाः पक्षद्वारके स्थापयामि। एषोऽस्म्यागतः।] (इति निष्क्रान्तः)

चेटी—अज्जए, णेमिसद्दो विअ सुणीअदि। ता आअदो पवहणो। [आर्ये, नेमिशब्द इव श्रूयते। तदागतं प्रवहणम्।]

वसन्तसेना—हञ्जे गच्छ। तुवरदि मे हिअअम्। ता आदेसेहि पक्खदुआरअम्। [चेटि, गच्छ। त्वरयति मे हृदयम् तदादिश पक्षद्वारम्।]

चेटी—एदु एदु अज्जआ। [एत्वेत्वार्या।]

वसन्तसेना—(परिक्रम्य) हञ्जे, वीसम तुमम्। [चेटि, विश्राम्य त्वम्।]

चेटी—जं अज्जआ आणवेदि। [यदार्याज्ञापयति।] (इति निष्क्रान्ता)

वसन्तसेना—(दक्षिणाक्षिस्पन्दं सूचयित्वा प्रवहणमधिरुह्य च) किं दाणिं फुरदि दाहिणं लोअणम्। अधवा चारुदत्तस्स ज्जेव दंसणं अणिमित्तं पमज्जइस्सदि। [किं निवदं स्फुरति दक्षिणं लोचनम्। अथवा चारुदत्तस्यैव दर्शनमनिमित्तं प्रमार्जयिष्यति।]

गाड़ी है। इसलिए शीघ्र हटो। (देखकर) जुए से भागे हुए जुआरी के जैसा यह कोई (अपर) द्यूताध्यक्ष (सभिक) के समान मुझे देखकर, अपने को छिपाकर--अकस्मात् दूसरी ओर भाग गया है? तो फिर यह है कौन? अथवा मुझे इससे क्या? तुरन्त चलूँ। अरे ग्रामीणो, हटो! हटो! क्या यह कहते हो—क्षण-भर ठहरो। पहिये को फेर लो।' अरे, राजा के साले संस्थानक का शूर (सेवक) मैं पहिया फेरूँगा? अथवा यह बेचारा अकेला है। तो ऐसा करता हूँ। इस (अपनी गाड़ी को आर्य चारुदत्त की वृक्षवाटिका के पक्षद्वार पर खड़ा किये देता हूँ। (रथ को खड़ा करके) मैं यह आया। (निकल जाता है)

चेटी—आर्ये, चक्रपरिधि का शब्द-सा सुनाई दे रहा है, इसलिए (प्रतीत होता है कि) गाड़ी आ गई है।

वसन्तसेना—चेटी, चलो। मेरा हृदय उतावला हो रहा है। इसलिए पक्ष-द्वार (का मार्ग) बताओ।

चेटी—आर्ये, (इधर से) आइये, आइये।

वसन्तसेना—(घूमकर) चेटी, तुम विश्राम करो।

चेटी—जो आर्या आज्ञा करती हैं। (निकल जाती है)

वसन्तसेना—(दाहिनी आँख का फड़कना सूचित करके और रथ पर चढ़ कर) यह क्या? यह दाहिनी आँख फड़क रही है अथवा चारुदत्त का दर्शन ही अनिष्ट को दूर कर देगा।

शकारस्य यानवाहकः। अपवार्य आच्छाद्य। अपक्रान्तः पलायितः। एतेन आर्यकस्य पलायनम् उपक्षिप्तम् (पृथ्वी०)। चक्रस्य यानचक्रस्य परिवर्त्ति परिवर्तनम्।

चक्रपरिवृत्तिं दास्यामि—इत्यत्र काकुः न दास्यामीत्यर्थः। नेमिः प्रधिः, चक्रान्तभाग। दक्षिणं लोचनं स्त्रीणां दक्षिणाङ्गस्फुरणम् अशुभसूचकं मन्यते। अनिमित्तम् अनिष्टम्।

(प्रविश्य)

स्थवारकश्चेटः—ओशालिवा मए शअडा । ता जाव गच्छामि । (इति नाट्येनाधिरुह्य चालयित्वा) । (स्वगतम्) भालिके पवहणे । अथवा चक्कपलिवट्टिआए पलिश्शन्तश्श भालिके पवहणे पडिभाशेदि । भोदु । गमिश्शम् । जाध गोणा, जाध । [अपसारिता मया शकटाः । तद्यावद्गच्छामि । भारवत्प्रवहणम् । अथवा चक्रपरिवर्तनेन परिश्रान्तस्य भारवत्प्रवहणं प्रतिभासते । भवतु । गमिष्यामि यातं गावौ, यातम् ।]

(नेपथ्ये)

अरे रे दोवारिआ, अप्पमत्ता सएसु सएसु गुम्मट्ठाणेसु होध । एसो अज्ज गोवालदारओ गुत्तिअं भञ्जिअ गुत्तिवालअं वावादिअ बन्धणं भेदिअ परिब्भट्ठो अवक्कमदि । ता गेण्हध गेण्हध । [अरे रे दौवारिकाः, अप्रमत्ताः स्वेषु स्वेषु गुल्मस्थानेषु भवत । एषोऽद्य गोपालदारको गुप्तिं भङ्क्त्वा गुप्तिपालकं व्यापाद्य बन्धनं भित्वा परिभ्रष्टोऽपक्रामति । तद्गृह्णीत गृह्णीत ।]

(प्रविश्यापटीक्षेपेण सम्भ्रान्त एकचरणलग्ननिगडोऽवगुण्ठित आर्यकः परिक्रामति)

चेटः—(स्वगतम्) महन्ते णअलीए शंभमे उप्पण्णे । ता तुलिदं तुलिदं गमिश्शम् । [महान्नगर्यां संभ्रम उत्पन्नः । तत्त्वरितं गमिष्यामि ।] (इति निष्क्रान्तः)

आर्यकः—

हित्वाहं नरपतिबन्धनापदेश-
व्यापत्तिव्यसनमहार्णवं महान्तम् ।
पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी-
प्रभ्रष्टो गज इव बन्धनाद् भ्रमामि ॥१॥

भोः, अहं खलु सिद्धादेशजनितपरित्रासेन राज्ञा पालकेन घोषादानीय विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्धः । तस्माच्च प्रियसुहृच्छर्विलकप्रसादेन बन्धनात्परिभ्रष्टोऽस्मि । (अश्रूणि विसृज्य)

भारवत् भारयुक्तम् । दौवारिकाः द्वारपालाः, द्वारे नियुक्ताः इत्यर्थे 'तत्र नियुक्तः पा० ४. ४. ६९' इति ठक् । अप्रमत्ताः सावधानाः । गुल्मस्थानेषु रक्षणस्थानेषु । गोपालस्य दारकः पुत्रः । गुप्तिं कारागृहम् । व्यापाद्य हत्वा । भित्वा त्रोटयित्वा । परिभ्रष्टः मुक्तः, निर्गतः । अपक्रामति अपसरति । संभ्रान्तः चकितः । एकचरणे लग्नः निगडो यस्य तथाभूतः । सम्भ्रमः संवेगः भयादिना त्वरणमिति यावत् ।

(प्रवेश करके)

स्थावरक चेट—मैंने गाड़ी हटा दी। इसलिये अब जाता हूँ (अभिनय से चढ़कर, चलाकर) गाड़ी बोझिल (प्रतीत होती) है। अथवा पहिया घुमाने से थके हुए (मुझ) को रथ बोझिल प्रतीत हो रहा है। अच्छा। चलूँ। चलो बैलो, चलो।

(नेपथ्य में)

अरे द्वारपालो, अपने अपने रक्षण-स्थानों (चौकियों) पर सावधान हो जाओ। यह गोपाल-पुत्र आज कारागार को तोड़कर कारागार के रक्षक (जेलर) को मारकर बन्धन काटकर छूटा हुआ भागा जा रहा है। अतः पकड़ो! पकड़ो! (बिना पर्दा गिरे घबड़ाया हुआ, एक पैर में पड़ी हुई बेड़ी वाला मुंह छिपाये हुए आर्यक घूमता है)

चेट—(अपने आप) नगरी में बड़ी घबराहट उत्पन्न हो गई है। इसलिए तुरन्त चलूँ। (निकल जाता है)

'राजा की कैद' के व्याज (अपदेश) से होने वाले मरणरूप संकट (व्यसन) के विशाल महासागर को छोड़कर (पार करके) पैर के अग्रभाग में स्थित एक शृङ्खला-पाश को खींचने वाला मैं बन्धन से मुक्त हाथी के समान घूम रहा हूँ ॥१॥

अरे, सिद्धादेश जन्य भय के कारण राजा पालक के द्वारा मुझे अहीरों की बस्ती से माँगकर गुप्त वध्यस्थान (विशसन) में शृङ्खलाओं से जकड़ दिया गया था। प्रियमित्र शर्विलक की कृपा से उस बन्धन से मुक्त हो गया हूँ। (आँसू बहाकर)

बन्धनात् परिभ्रष्टः आर्यकः कथयति—हित्वेति। महान्तं नरपतेः राज्ञः पालकस्य बन्धनं वन्दीकरणम् अपदेशः व्याजः यस्याः सा या व्यापत्तिः मृत्युः तत्सम्बन्धी व्यसनम् आपत्तिः संकटं वा तदेव महार्णवः महासागरः तं हित्वा मुक्त्वा पादाग्रे स्थितं निगडस्य शृङ्खलायाः एकपाशं एकबन्धनं कर्षति इति सः अहम् आर्यकः बन्धनात् प्रभ्रष्टः मुक्तः गज इव भ्रमामि। पूर्वार्द्धे अपह्नुतिः उत्तरार्धे चोपमा। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥१॥

सिद्धादेशेन जनितः उत्पन्नः यः परित्रासः तेन। विशसने वधस्थाने वधनिमित्तं वा 'निमित्तात् कर्मयोगे' इति सप्तमी। गूढागारे गुप्तस्थाने।

भाग्यानि मे यदि तदा मम कोऽपराधो
यद्वन्यनाग इव संयमितोऽस्मि तेन ।
दैवी च सिद्धिरपि लङ्घयितुं न शक्या
गम्यो नृपो बलवता सह को विरोधः ।।२।।

तत्कुत्र गच्छामि मन्दभाग्यः । (विलोक्य) इदं कस्यापि साधोरनावृतपक्षद्वारं गेहम् ।

इदं गृहं भिन्नमदत्तदण्डो विशीर्णसन्धिश्च महाकपाटः ।
ध्रुवं कुटुम्बी व्यसनाभिभूतां दशां प्रपन्नो मम तुल्यभाग्यः ।।३।।

तदत्र तावत्प्रविश्य तिष्ठामि ।

(नेपथ्ये)

जाध गोश्रा, जाध । [यातं गावौ, यातम् ।]

आर्यकः—(आकर्ण्य) अये प्रवहणमित एवाभिवर्तते ।

भवेद्गोष्ठीयानं न च विषमशीलैरधिगतं
वधूसंयानं वा तदभिगमनोपस्थितमिदम् ।
बहिर्नेतव्यं वा प्रवरजनयोग्यं विधिवशा-
द्विविक्तत्वाच्छून्यं मम खलु भवेद्दैवविहितम् ।।४।।

भाग्यनीति । यदि मे आर्यकस्य भाग्यानि राज्यप्राप्तिः मम भाग्ये निश्चिता तदा मम कः अपराधः दोषः न कोऽपीत्यर्थः यत् यस्मात् तेन पालकेन वन्यनागः वनगजः इव संयमितः बद्धः अस्मि । दैवी सिद्धिः भाग्यात्प्राप्ता सिद्धिः अपि च लङ्घयितुं निवारयितुं न शक्या नावश्यंभाविनामर्थानां प्रतिकारः शक्यः कर्तुमिति भावः । तथापि नाहं पालकस्य राज्ञः विरोधं करोमि यतो हि नृपः गम्यः सर्वेषां सेव्यो हि राजा । बलवता सह च मादृशस्य निर्बलस्य कः विरोधः ? उपमा अर्थान्तरन्यासश्च । वसन्ततिलका वृत्तम् ।।२।।

अनावृतं पक्षद्वारं यस्य तत् गेहम् ।

इदमिति । इदं गृहं भिन्न सन्धिबन्धनानां शिथिलत्वात् जर्जरितम् । अस्य च महाकपाटः अदत्तदण्डः न दत्तः दण्डः अर्गला यस्य तादृशः विशीर्णसन्धिः च

यदि मेरे (अच्छे) भाग्य ही हैं तब मेरा क्या अपराध है, जिससे उस (राजा पालक) ने मुझे जंगली हाथी के समान बन्धन में डाल दिया था? विधि की शक्ति का उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता, (फिर भी) राजा (सब का) सेव्य है, (क्योंकि) बलशाली के साथ क्या विरोध?

तो मैं अभागा कहाँ जाऊँ? (देखकर) यह किसी सत्पुरुष का खुले हुए पक्षद्वार वाला घर है—

यह घर फूटा हुआ है; इसके बड़े किवाड़ में अर्गला नहीं लगी है तथा (जीर्ण होने के कारण) जोड़ (सन्धि) टूटे (विशीर्ण) हैं। अवश्य ही (यह) मेरे जैसे (मन्द) भाग्य-वाला कुटुम्बी सङ्कटाक्रान्त दशा को प्राप्त हो गया है ॥३॥

इसलिये यहाँ घुस कर बैठता हूँ।

(नेपथ्य में)

(चलो बैलो चलो)

आर्यक—(सुनकर) अरे, गाड़ी इधर ही आ रही है।

क्या यह किसी गोष्ठी (सामाजिक समारोह) में जाने वाली सवारी है जो कुटिलाचरण करने वालों ने अधिष्ठित नहीं है अथवा यह वधू की सवारी है जो उसे ले जाने के लिये उपस्थित हुई है। या सत्पुरुष (प्रवर) के योग्य (यह गाड़ी) भाग्यवशात् बाहर ले जाई जा रही है? निर्जन (परिचारक आदि से रहित) होने के कारण खाली (प्रतीत होती हुई) यह गाड़ी क्या मेरे भाग्य द्वारा उपस्थित हुई है ॥४॥

विशीर्णः भग्नः सन्धिः फलकानां संयोजनं यस्य तादृशश्च। ध्रुवं निश्चितमेतद् यद् अस्य कुटुम्बी गृहस्वामी व्यसनेन विपदा अभिभूताम् आक्रान्तां दशां प्रपन्नः प्राप्तः कश्चित् मम आर्यकस्य तुल्यभाग्यः तुल्यं भाग्यं यस्य तथाभूतः समानभागधेयः एवास्ति। उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥३॥

वर्धमानकस्य प्रवहणस्य ध्वनिमाकर्ण्य आर्यकः तर्कयति-भवेदिति। इदं प्रवहणं विषमशीलैः विसदृशचरितैः न च अधिगतम् अनधिष्ठितं गोष्ठीयानं समाजस्य यानं भवेत् अथवा इदं तदभिगमनोपस्थितं तस्याः अभिगमनाय उपस्थितं प्रस्तुतम् इदं वधूसंयानं भवेत्। वा अथवा प्रवरजनयोग्यं श्रेष्ठजनानाम् अधिरोहणयोग्यम् इदं यानं विधिवशात् दैववशात् कार्यवशाद् वा बहिः नेतव्यं नेतुं योग्यं भवेत्। विविक्तत्वात् निर्जनत्वात् परिजनादिरहितत्वाद् इति यावत् शून्यं रिक्तं प्रतीयमानं इदं यानं खलु मम आर्यकस्य दैवविहितं दैवप्रापितं भवेत्। सन्देहालङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम् ॥४॥

(ततः प्रवहणेन सह प्रविश्य)

वर्धमानकश्चेटः—हीमाणहे । आणीदे मए जाणत्थलके । लदणिए, णिवेदेहि अज्जआए वशन्तशेणाए—'अवत्थिदे शज्जे पवहणे अहिलुहिअ पुप्फकलण्डअं जिण्णुज्जाणं गच्छदु अज्जआ ।' [आश्चर्यम् । आनीतं मया यानास्तरणम् । रदनिके, निवेदयार्यायै वसन्तसेनायै—'अवस्थितं सज्जं प्रवहणमधिरुह्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गच्छत्वार्या' ।]

आर्यकः—(आकर्ण्य) गणिकाप्रवहणमिदम् । बहिर्यानं च । भवतु । अधिरोहामि । (इति स्वैरमुपसर्पति)

चेटः—(श्रुत्वा) कधं णेउलशद्दे । ता आअदा क्खु अज्जा । अज्जए, इमे णश्शकड्डुआ बइल्ला । ता पिट्ठदो ज्जेव आलुहदु अज्जआ । [कथं नूपुरशब्दः । तदागता खल्वार्या । आर्ये, इमौ नासिकारज्जुकटुकौ बलीवर्दौ । तत्पृष्ठत एवारोहत्वार्या ।]

(आर्यकस्तथा करोति)

चेटः—पादुप्फालचालिदाणं णेउलाणं बीशन्ते शद्दे । भलक्कन्ते अ पवहणे । तथा तक्केमि शंपदं अज्जआए आलूढाए होदव्वम् । ता गच्छामि । जाध गोणा, जाध । [पादोत्फालचालितानां नूपुराणां विश्रान्तः शब्दः । भाराक्रान्तं च प्रवहणम् तथा तर्कयामि सांप्रतमार्ययारूढया भवितव्यम् । तद्गच्छामि । यातं गावौ यातम् ।]

(प्रविश्य)

वीरकः—अरे रे, अरे जअ-जअमाण-चन्दणअ-मङ्गल-फुल्लभद्दप्पमुहा,
किं अच्छध वीसद्धा जो सो गोवालदारओ बद्धो ।
भेत्तूण समं वच्चइ णरवइहिअअं अ बन्धणं चावि ।।५।।

अले पुरत्थिमे पदोलीदुआरे चिट्ठ तुमम् । तुमं पि पच्छिमे, तुमं पि दक्खिणे, तुमं पि उत्तरे । जो वि एसो पाआरखण्डो, एदं अहिरुहिअ चन्दणेण समं गदुअ अवलोएमि । एहि चन्दणअ, एहि । इदो दाव । [अरे रे, अरे जय-जयमान-चन्दनक-मङ्गल-पुष्पभद्रपुरोगाः ।

(तदनन्तर गाड़ी सहित प्रवेश करके)

वर्धमानकचेट—आश्चर्य ! मैं गाड़ी की विछावन (गद्दी) ले आया हूँ। रदनिके, आर्या वसन्तसेना से निवेदन करो—'सुसज्जित खड़ी हुई गाड़ी पर चढ़कर आर्या पुष्पकरण्डक नामक जीर्णोद्यान में जायें।'

आर्यक—यह वेश्या की गाड़ी है। और बाहर जाने वाली है। अच्छा। चढ़ता हूँ। (धीरे से पास आ जाता है)

चेट—(सुनकर) क्या नूपुर का शब्द ? तो आर्या आ ही गई हैं। आर्ये ये बैल नाथ (=नासिकारज्जु=नाक में डालने की रस्सी) के कड़वे (क्रुद्ध होकर झपटने वाले) हैं। इसलिये आर्या पीछे से ही चढ़ें।

(आर्यक वैसा करता है)

चेट—पैरों के उठाने से हिलते हुए नूपुरों का शब्द शान्त हो गया है। और गाड़ी भारयुक्त है। अतः अनुमान करता हूँ कि अब आर्या (रथ पर) आरूढ़ हो गई होंगी तो जाता हूँ। चलो ! बैलो, चलो ! (घूमता है)

(प्रवेश करके)

वीरक—अरे ! अरे ! जय, जयमान, चन्दनक, मङ्गल, पुष्पभद्र आदि (प्रमुख रक्षकों),

विश्वस्त होकर (निश्चिन्त) क्यों (खड़े) हो ? जो गोपालपुत्र बन्दी किया गया था वह राजा के हृदय एवं शृङ्खला (दोनों) को एक साथ ही तोड़ कर भागा जा रहा है ।।५।।

अरे तुम पूर्व दिशा में गली के मुख पर खड़े हो जाओ, और तुम भी पश्चिम में, तुम दक्षिण में, तुम उत्तर में ! यह जो प्राचीर खण्ड है इस पर चढ़ कर मैं चन्दक के साथ जाकर (चारों ओर) देखता हूँ। आओ, चन्दनक आओ। इधर तो आओ।

बहिर्यानं गमनं अस्येति कालेमहोदयः। स्वैरं मन्दम्।

पादयोः उत्फालनेन उत्थापनेन चालितानाम्।

किमिति विश्रब्धाः विश्वस्ताः किं कथं स्थ भवथ तिष्ठथ इत्यर्थः ? यः सः गोपालदारकः आर्यकः बद्धः रुद्धः सः नरपतेः पालकस्य नृपस्य हृदयं बन्धनं च अपि समं युगपद् एव भित्त्वा विदार्य व्रजति पलायते। अतिशयोक्तिमूला सहोक्तिः अलङ्कारः। आर्या वृत्तम् ।।५।।

किं स्थ विश्रब्धाः यः स गोपालदारको बद्धः ।
भित्त्वा समं व्रजति नरपतिहृदयं च बन्धनं चापि ॥

अरे, पुरस्तात्प्रतोलीद्वारे तिष्ठ त्वम्, त्वमपि पश्चिमे, त्वमपि दक्षिणे, त्वमप्युत्तरे। योऽप्येष प्राकारखण्डः, एनमधिरुह्य चन्दनेन समं गत्वावलोकयामि। एहि चन्दनक, एहि। इतस्तावत्।]

(प्रविश्य सम्भ्रान्तः)

चन्दनक—अरे रे वीरअ-विसल्ल-भीमङ्गअ दण्डकालअ-दण्डसूरप्पमुहा,
आअच्छध वीसत्था तुरिअं जत्तेह लहु करेज्जाह ।
लच्छी जेण ण रण्णोपहवइ गोत्तन्तरं गन्तुम् ॥६॥

अवि अ ।

उज्जाणेसु सहासु अ मग्गे णअरीअ आवणे घोसे ।
तं तं जोहह तुरिअं अङ्का वा जाअए जत्थ ॥७॥
रे रे वीरअ किं किं दरिसेसि भणाहि दाव वीसद्धम् ।
भेत्तूण अ बन्धणअं को सो गोवालदारअं हरइ ॥८॥
कस्सट्टमो दिणअरो कस्स चउत्थो अ वट्टए चन्दो ।
छट्ठो अ भग्गवगहो भूमिसुओ पञ्चमो कस्स ॥९॥
भण कस्स जम्मछट्ठो जीवो णवमो तहेअ सूरसुओ ।
जीअन्ते चन्दणए को सो गोवालदारअं हरइ ॥१०॥

[अरे रे वीरक-विशल्य-भीमाङ्गद-दण्डकाल-दण्डशूरप्रमुखाः,
आगच्छत विश्वस्तास्त्वरितं यतध्वं लघु कुरुत ।
लक्ष्मीर्येन न राज्ञः प्रभवति गोत्रान्तरं गन्तुम् ॥

अपि च ।

उद्यानेषु सभासु च मार्गे नगर्यामापणे घोषे ।
तं तमन्वेषयत त्वरितं शङ्का वा जायते यत्र ॥
रे रे वीरक किं किं दर्शयसि भणसि तावद्विश्रब्धम् ।
भित्त्वा च बन्धनकं कः स गोपालदारकं हरति ॥
कस्याष्टमो दिनकरः कस्य चतुर्थश्च वर्तते चन्द्रः ।
षष्ठश्च भार्गवग्रहो भूमिसुतः पञ्चमः कस्य ॥
भण कस्य जन्मषष्ठो जीवो नवमस्तथैव सूरसुतः ।
जीवति चन्दनके कः स गोपालदारकं हरति ॥

(घबड़ाया हुआ प्रवेश करके)

चन्दनक—अरे, वीरक, विशल्य, भीमाङ्गद, दण्डकाल, दण्डशूर आदि (रक्षकों) विश्वस्त होकर आओ, तुरन्त (बन्दी को पकड़ने का) प्रयत्न करो, शीघ्रता करो जिससे राजा (पालक) की लक्ष्मी दूसरे गोत्र में न जा सके (और कोई राजा न बन सके) ॥६॥

और भी—

उद्यानों में और सभाओं में, मार्ग में नगरी, बाजार और अहीरों की बस्ती, में—जहाँ भी सन्देह उत्पन्न हो तुरन्त उस स्थान को ढूँढो ॥७॥

अरे वीरक, क्या क्या दिखला रहे हो, क्या विश्वस्त होकर कह रहे हो? बन्धन को तोड़कर वह कौन गोपाल पुत्र को छुड़ाये लिये जा रहा है? ॥८॥

सूर्य किसके आठवें स्थान पर हैं? चन्द्रमा किसके चतुर्थ स्थान पर, शुक्र (भार्गवग्रह,) किस के छठे स्थान पर, मंगल (भूमिसुत) किसके पञ्चम स्थान पर है? ॥९॥

बताओ बृहस्पति (जीव) किसकी जन्मराशि के छठे स्थान पर है तथा शनि (सूरसुत) नवम स्थान पर है? चन्दनक के जीवित रहते हुए कौन है, वह जो गोपाल-पुत्र को छुड़ाये ले जा रहा है? ॥१०॥

ससम्भ्रमं प्रविश्य चन्दनकः कथयति—आगचछतेति। विश्वस्ताः आगच्छत त्वरितं यतध्वम् आर्यकं ग्रहीतुं यत्नं कुरुत, लघु शीघ्रं कुरुत कार्यं येन राज्ञः पालकस्य लक्ष्मीः राज्यलक्ष्मीः गोत्रान्तरम् अन्यत् कुलं गन्तुं न प्रभवति न समर्था भवति। गाथा वृत्तम् ॥६॥

उद्यानेष्विति। उद्यानेषु सभासु मार्गे नगर्याम् आपणे पण्यवीथ्यां घोषे आभीर-ग्रामे च यत्र प्रदेशे वा शङ्का जायते सन्देहो भवति तं तं देशं त्वरितम् अन्विष्यत। गाथा वृत्तम् ॥७॥

रे रे इति। रे रे वीरक, किं किं दर्शयसि? विश्रब्धं विश्वस्तं यथा स्यात् तथा भणसि कथयसि तावत्? बन्धनकं भित्वा यः गोपालदारकम् आर्यकं हरति सः कः जनः? गीतिर्जातिः वृत्तम् ॥८॥

कस्याष्टमः इति। भण इति (युग्मम्)। कस्य जनस्य जन्मराशेः अष्टमः अष्ट-मराशिस्थः दिनकरः सूर्यः? कस्य जनस्य च चन्द्रः चतुर्थः चतुर्थराशिस्थः वर्तते? कस्य वा भार्गवग्रहः शुक्रः षष्ठः भूमिसुतः मङ्गलः च पञ्चमः वर्तते ॥९॥

भण कथय कस्य जनस्य जीवः बृहस्पतिः जन्मषष्ठः जन्मराशेः षष्ठस्थाने स्थितः तथैव सूरसुतः सूर्यपुत्रः शनिः नवमः नवमराशिस्थः वर्तते? यथा उक्तस्थानेषु स्थिताः एते ग्रहाः अनिष्टकराः भवन्ति तथैव गोपालदारकस्य अपहर्तुरपि महदनिष्टं समु-पस्थितमिति भावः। ज्योतिः शास्त्रानुसारेण च अष्टमसूर्यस्य फलं 'मरणम्', चतुर्थ-चन्द्रस्य फलं 'कुक्षिरोगः', षष्ठशुक्रस्य फलं 'विनाशः', पञ्चममङ्गलस्य फलं क्षतिः, षष्ठवृहस्पतेः फलं 'शोकः' 'शत्रुवृद्धिश्च', नवमशनैश्चरस्य फलं च 'धननाशः' इति कथ्यते ॥१०॥

वीरकः—भट्ट चन्दणश्रा,

श्रवहरइ कोवि तुरिश्रं चन्दणश्र सवामि तुज्ज हिश्रएण ।
जइ श्रद्धूइददिणश्ररे गोवालश्रदारश्रो खुडिदो ॥११॥

[भट चन्दनक,

अपहरति कोऽपि त्वरितं चन्दनक शपे तव हृदयेन ।
यथार्धोदितदिनकरे गोपालदारकः खुटितः ॥]

चेटः—जाध गोणा, जाघ । [यातं गावौ, यातम् ।]

चन्दनकः—(दृष्ट्वा) अरे रे, पेक्ख, पेक्ख ।

श्रोहारिश्रो पवहणो वच्चइ मज्झेण राश्रमग्गस्स ।
एदं दाव विश्रारह कस्स कहिं पवसिश्रो पवहणो त्ति ॥१२॥

[अरे रे, पश्य पश्य ।

अपवारितं प्रवहणं व्रजति मध्येन राजमार्गस्य ।
एतत्तावद्विचारय कस्य कुत्र प्रोषितं प्रवहणमिति ॥]

वीरकः—(अवलोक्य) अरे पवहणवाहश्रा, मा दाव एव्वं पवहणं वाहेहि । कस्सकेरकं एदं पवहणम् । को वा इध आरूढो । कहिं वा वज्जइ । [अरे प्रवहण-वाहक मा तावदेतत्प्रवहणं वाहय । कस्यैतत्प्रवहणम् । को वा इहारूढः । कुत्र वा व्रजति ।]

चेटः—एशे क्खु पवहणे अज्जचालुदत्तस्स । इध अज्जआ वशन्तशेणा आलूढा पुप्फकरण्डश्रं जिण्णुज्जाणं कीलिदुं चालुदत्तश्श णीश्रदि । [एतत्खलुप्रवहणमार्य-चारुदत्तस्य । इहार्या वसन्तसेनारूढा । पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं क्रीडितुं चारुदत्तस्य नीयते ।]

वीरकः—(चन्दनमुपसृत्य) एसो पवहणवाहश्रो भणादि—'अज्जचालुदत्तस्स पवहणं वशन्तशेणा आलूढा । पुप्फकरण्डश्रं जिण्णुज्जाणं णीश्रदि' त्ति । [एष प्रव-हणवाहको भणति—'आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणं वसन्तसेनारूढा । पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं नीयते' इति ।]

चन्दनकः—ता गच्छदु । [तद्गच्छतु ।]

वीरकः—अणवलोइदो ज्जेव । [अनवलोकित एव ।]

चन्दनकः—अध इं । [अथ किम् ।]

वीरकः—कस्स पच्चएण । [कस्य प्रत्ययेन ।]

चन्दनकः—अज्जचारुदत्तस्स । [आर्यचारुदत्तस्य ।]

वीरक—वीर चन्दनक, मैं तुम्हारे हृदय की शपथ उठाता हूँ, हे चन्दनक, कोई शीघ्रता से (गोपालपुत्र आर्यक) को छुड़ाये ले जा रहा है क्योंकि सूर्य के आधा उदित होने के समय वह गोपालपुत्र भाग निकला था ॥११॥

चेट—चलो ! बैलो, चलो।

चन्दनक—(देखकर) अरे देखो, देखो—

बन्द (ढकी हुई) गाड़ी राजमार्ग में जा रही है। तनिक यह तो विचार करो (पूछताछ करो) कि गाड़ी किसकी है ? कहाँ जा रही है ? ॥१२॥

वीरक—(देखकर) अरे गाड़ीवान् (बहलवान्) गाड़ी को मत हाँको। किसकी है यह गाड़ी ? कौन इसमें आरूढ़ है ? और कहाँ जा रहा है ?

चेट—यह गाड़ी आर्य चारुदत्त की है। इसमें आर्या वसन्तसेना बैठी हैं। चारुदत्त के साथ क्रीडा करने के लिए पुष्पकरण्डक नामक जीर्णोद्यान में ले जायी जा रही हैं।

वीरक—(चन्दनक के पास जाकर) यह गाड़ीवान् कहता है कि 'आर्य चारुदत्त की गाड़ी है, वसन्तसेना आरूढ़ है। पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान को ले जायी जा रही है।'

चन्दनक—तो जाने दो।

वीरक—विना देखे ही ?

चन्दनक—और क्या ?

वीरक—किसके विश्वास से ?

चन्दनक—आर्य चारुदत्त के।

अपहरतीति। हे चन्दनक, तव हृदयेन शपे शपथं करोमि। कोऽपि कश्चिद् जनः त्वरितं तम् आर्यकम् अपहरति यथा अर्धोदिते दिनकरे सूर्योदयकाले सः गोपालदारकः आर्यकः खुटितः पलायितः छिन्नबन्धो वा जातः। आर्याजातिः वृत्तम् ॥११॥

अपवारितमिति। अपवारितम् आच्छादितं प्रवहणं राजमार्गस्य मध्येन प्रव्रजति गच्छति। एतत् तावत् विचारय कस्य जनस्य इदं प्रवहणं कुत्र च प्रोषितं गच्छति। प्रेषितम् इति पाठान्तरम् ॥१२॥

आरूढा स्थिता। प्रत्ययेन विश्वासेन।

वीरकः—को अज्जचारुदत्तो ? का वा वसन्तसेणा ? जेण अणवलोइदं वज्जदि। [क आर्यचारुदत्तः ? का वा वसन्तसेना ? येनानवलोकितं व्रजति ।]

चन्दनकः—अरे, अज्जचारुदत्तं ण जाणासि, ण वा वसन्तसेणिअम् । जइ अज्जचारुदत्तं वसन्तसेणिअं वा ण जाणासि, ता गअणे जोण्हासहिदं चन्दं पि तुमं ण जाणासि ।

को तं गुणारविन्दं शीलमिअङ्कं जणो ण जाणादि ?
आवण्णदुक्खमोक्खं चउसाअरसारअं रअणम् ॥१३॥

दो ज्जेव पूअणीया इह णअरीए तिलअभूदा अ ।
अज्जा वसन्तसेणा धम्मणिही चारुदत्तो अ ॥१४॥

[अरे आर्यचारुदत्तं न जानासि ? न वा वसन्तसेनाम् ? यद्यार्यचारुदत्तं वसन्तसेनां वा न जानासि, तदा गगने ज्योत्स्नासहितं चन्द्रमपि त्वं न जानासि ।

कस्तं गुणारविन्दं शीलमृगाङ्कं जनो न जानाति ?
आपन्नदुःखमोक्षं चतुःसागरसारं रत्नम् ॥

द्वावेव पूजनीयाविह नगर्यां तिलकभूतौ च ।
आर्या वसन्तसेना धर्मनिधिश्चारुदत्तश्च ॥]

वीरकः—अरे चन्दणआ,

जाणामि चारुदत्तं वसन्तसेणं अ सुट्ठु जाणामि ।
पत्ते अ राअकज्जे पिदरं पि अहं ण जाणामि ॥१५॥

अरे चन्दनक,

जानामि चारुदत्तं वसन्तसेनां च सुष्ठु जानामि ।
प्राप्ते च राजकार्ये पितरमप्यहं न जानामि ॥]

आर्यकः—(स्वगतम्) अयं मे पूर्ववैरी । अयं मे पूर्वबन्धुः । यतः ।

एककार्यनियोगेऽपि नानयोस्तुल्यशीलता ।
विवाहे च चितायां च यथा हुतभुजोर्द्वयोः ॥१६॥

वीरक—कौन आर्य चारुदत्त है और कौन वसन्तसेना है ? जिससे बिना देखे ही (यह गाड़ी) चली जाये।

चन्दनक—अरे, आर्य चारुदत्त को नहीं जानते हो और न ही वसन्तसेना को ? यदि आर्य चारुदत्त और वसन्तसेना को नहीं जानते हो, तो तुम आकाश में चन्द्रिका-सहित चन्द्रमा को भी नहीं जानते हो।

गुणों के कारण कमल के समान (मनोहर), सच्चरित्र के कारण चन्द्रमा के तुल्य (प्रिय) आपत्तिग्रस्त जनों के दुःखों को दूर करने वाले, चारों समुद्रों के सारभूत रत्न उस (आर्य चारुदत्त) को कौन मनुष्य नहीं जानता ? ॥१३॥

आर्या वसन्तसेना और धर्मनिधि चारुदत्त ये दो ही यहां (उज्जयिनी) नगरी में पूज्य एवं अलङ्कारभूत हैं ॥१४॥

वीरक—अरे चन्दनक—

चारुदत्त को जानता हूँ और वसन्तसेना को भी भली भाँति जानता हूँ। (किन्तु) राजकीय कार्य पड़ने पर मैं (अपने) पिता को भी नहीं जानता हूँ। ॥१५॥

आर्यक—(अपने आप) यह मेरा पूर्व (जन्म का) शत्रु है। यह मेरा पूर्व (जन्म का) बन्धु है। क्योंकि—

एक कार्य में नियुक्त होने पर भी इन दोनों का स्वभाव समान नहीं है। जिस प्रकार विवाह में और चिता पर दो अग्नियों में स्वभाव की समानता नहीं होती ॥१६॥

क इति। गुणैः सौकुमार्यादिभिः अरविन्दं कमलं तत्सदृशमित्यर्थः (गुणानाम् अरविन्दं वा) शीलस्य मृगाङ्कं चन्द्रम् आपन्नानाम् आपत्तिग्रस्तानां दुःखस्य मोक्षं पीडामुक्तिस्थान चतुर्णां सागराणां सारं रत्नं तं चारुदत्तं कः जनः न जानाति। रूपकालङ्कारः आर्या वृत्तम् ॥१३॥

द्वावेवेति। इह अस्यां नगर्यां उज्जयिन्यां द्वौ एव पूजनीयौ पूजायोग्यौ तिलकभूतौ अलङ्कारभूतौ च एका आर्या वसन्तसेना (या वेश्यापि सती साधु-शीला) अपरश्च धर्मस्य निधिः चारुदत्तः। आर्याजातिः ॥१४॥

जानामीति। चारुदत्तं जानामि वसन्तसेनां च सुष्ठु सम्यग् रूपेण जानामि किन्तु राजकार्ये प्राप्ते समुपस्थिते सति अहं वीरकः पितरम् अपि स्वजनकमपि न जानामि। आर्याजातिः ॥१५॥

एकेति। एकस्मिन् रक्षारूपे कार्ये नियोगे नियुक्तौ अपि अनयोः तुल्य-शीलता समानं शीलं नास्ति यथा विवाहे चितायां च द्वयोः हुतभुजोः हुतं भुङ्क्ते इति हुतभुक् अग्निः तयोः एकस्मिन् हवनकर्मणि नियुक्तयोः अपि समानं शीलं न भवति एको हि शुभः, अपरस्तु अशुभः। उपमालङ्कारः। पथ्यावक्त्र वृत्तम् ॥१६॥

चन्दनकः—तुमं तन्तिलो सेणावई रण्णो पच्चइदो। एदे धारिदा मए बइल्ला। अवलोएहि। [त्वं तन्त्रिलः सेनापती राज्ञः प्रत्ययितः। एतौ धारितौ मया बलीवर्दौ। अवलोकय।]

वीरकः—तुमं पि रण्णो पच्चइदो बलवई। ता तुमं ज्जेव अवलोएहि। [त्वमपि राज्ञः प्रत्ययितो बलपतिः। तस्मात्त्वमेवावलोकय।]

चन्दनकः—मए अवलोइदं तुए अवलोइदं भोदि। [मयावलोकितं त्वयावलोकितं भवति।]

वीरकः—जं तुए अवलोइदं तं रण्णा पालएण अवलोइदम्। [यत्त्वयावलोकितं तद्राज्ञा पालकेनावलोकितम्।]

चन्दनकः—अरे, उण्णामेहि धुरम्। [अरे, उन्नामय धुरम्।]

(चेटस्तथा करोति)

आर्यकः—(स्वगतम्) अपि रक्षिणो मामवलोकयन्ति। अशस्त्रश्चास्मि मन्दभाग्यः अथवा।

भीमस्यानुकरिष्यामि बाहुः शस्त्रं भविष्यति।
वरं व्यायच्छतो मृत्युर्न गृहीतस्य बन्धनं ॥१७॥

अथवा साहसस्य तावदनवसरः।

(चन्दनको नाट्येन प्रवहणमारुह्यावलोकयति)

आर्यकः—शरणागतोऽस्मि।

चन्दनकः—(संस्कृतमाश्रित्य) अभयं शरणागतस्य।

आर्यकः—

त्यजति किल तं जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च।
भवति च सदोपहास्यो यः खलु शरणागतं त्यजति ॥१८॥

चन्दनकः—कथं अज्जओ गोवालदारओ सेणवित्तासिदो विअ पत्तरहो साउणिअस्स हत्थे णिवडिदो। (विचिन्त्य) एसो अणवराधो सरणागदो अज्जचारुदत्तस्स पवहणं आरूढो पाणप्पदस्स मे अज्जसव्विलअस्स मित्तम्। अण्णदो राअणिओओ। ता किं दाणिं एत्थ जुत्तं अणुचिट्ठिदुम्। अधवा जं भोदु तं भोदु। पढमं ज्जेव अभअं दिण्णम्।

तन्त्रिलः चिन्तापरः (पृथ्वी०)। प्रत्ययितः विश्वासपात्रम्। धुरं यानमुखम्। द्रष्टुं प्रवृत्ते रक्षकजने आर्यकः मनसि करोति—

भीमस्येति। यद्यपि मम पार्श्वे शस्त्रं नास्ति तथापि अहं भीमस्य अनुकरि-

चन्दनक—तुम राजा की चिन्ता करने वाले विश्वस्त सेनापति हो। ये दोनों बैल मैंने पकड़ लिये हैं। देख लो

वीरक—तुम भी राजा के विश्वासपात्र सेनापति हो। इसलिये तुम ही देख लो।

चन्दनक—मेरा देखा हुआ तुम्हारा देखा हुआ हो जायेगा ?

वीरक—जो तुमने देख लिया सो राजा पालक ने देख लिया।

चन्दनक—अरे जुआ उठाओ (उतारो)।

(चेट वैसा करता है)

आर्यक—(अपने आप) क्या रक्षक मुझे देखते हैं ? और मैं अभागा शस्त्रहीन हूँ। अथवा—

भीम का अनुकरण करूँगा, (मेरी) भुजा ही शस्त्र होगी। लड़ते हुए मृत्यु अच्छी है, कारागार में पड़े हुए की नहीं ॥१७॥

अथवा साहस का (यह) अवसर नहीं है।

आर्यक—शरणागत हूँ।

(चन्दनक अभिनय से रथ पर चढ़ कर देखता है)

चन्दनक—(संस्कृत में) शरणागत को अभय है।

आर्यक—जो शरणागत का त्याग कर देता है, उसको विजयलक्ष्मी त्याग देती है। मित्र एवं बन्धुगण भी त्याग देते हैं तथा वह सदा उपहास के योग्य होता है ॥१८॥

चन्दनक—गोपाल-पुत्र आर्यक बाज से भयभीत पक्षी (पत्ररथ) के समान शिकारी के हाथ में कैसे आ पड़ा ? (विचार कर) (एक ओर तो) यह निरपराध एवं शरण में आया हुआ है जो आर्य चारुदत्त के रथ पर आरूढ़ है। और मेरे जीवनदाता शर्विलक का मित्र है। दूसरी ओर राजाज्ञा है। तो अब यहाँ क्या करना उचित है। अथवा जो हो, सो हो। (मैंने) पहले ही अभयदान दे दिया है।

ष्यामि अनुकरणं करिष्यामि तथा मम बाहुः शस्त्रं भविष्यति व्यायच्छतः युद्धं कुर्वतः (परपरिभवं कुर्वतः इति पृथ्वीधरः) मृत्युः मरणं वरं श्रेष्ठं बन्धने कारागृहे गृहीतस्य बद्धस्य तु मरणं न वरमिति भावः ॥१७॥

त्यजतीति। यः जनः खलु शरणागतं त्यजति तं जनं किल निश्चयेन जयश्रीः विजयलक्ष्मीः त्यजति मित्राणि सुहृदः बन्धुवर्गः च जहति त्यजन्ति, स च सदा उपहास्यः उपहासयोग्यः भवति। आर्या वृत्तम् ॥१८॥

पत्ररथः पक्षी। शाकुनिकस्य शकुनिं हन्ति इति शाकुनिकः तस्य।

भीदाभअप्पदाणं दत्तस्स परोवआररसिअस्स।
जइ होइ होउ णासो तहवि हु लोए गुणो ज्जेव ॥१९॥

(सभयमवतीर्य) दिट्ठो अज्जो—(इत्यर्धोक्ते) ण, अज्जआ वसन्तसेणा। तदो एसा भणादि—'जुत्तं णेदम्, सरिसं णेदम् जं अहं अज्जचारुदत्तं अहिसारिदुं गच्छन्ती राअमग्गे परिभूदा'। [कथमार्यको गोपालदारकः श्येनवित्रासित इव पत्ररथः शाकुनिकस्य हस्ते निपतितः। एषोऽनपराधः शरणागत आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढः प्राणप्रदस्य मे आर्यशर्विलकस्य मित्रम्। अन्यतो राजनियोगः। तत्किमिदानीमत्र युक्तमनुष्ठातुम्। अथवा यद्भवतु तद्भवतु। प्रथममेवाभयं दत्तम्।

भीताभयप्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य।
यदि भवति भवतु नाशस्तथापि खलु लोके गुण एव॥

दृष्ट आर्यः—न, आर्या वसन्तसेना। तदेषा भणति,—'युक्तं नेदम्, सदृशं नेदम्, यदहमार्यचारुदत्तमभिसर्तुं गच्छन्ती राजमार्गे परिभूता'।]

वीरकः—चन्दणआ, एत्थ मह संसओ समुप्पण्णो। [चन्दनक, अत्र मे संशयः समुत्पन्नः।]

चन्दनकः—कधं दे संसओ? [कथं ते संशयः?]

वीरकः—

संभमघग्घरकण्ठो तुमं पि जादो सि जं तुए भणिदम्।
दिट्ठो मए क्खु अज्जो पुणो वि अज्जा वसन्तसेणेत्ति ॥२०॥

एत्थ मे अप्पच्चओ।

[संभ्रमघर्घरकण्ठस्त्वमपि जातोऽसि यत्त्वया भणितम्।
दृष्टो मया खल्वार्यः पुनरप्यार्या वसन्तसेनेति॥

अत्र मेऽप्रत्ययः।]

चन्दनकः—अरे को अप्पच्चओ तुह। वअं दक्खिणत्ता अव्वत्तभासिणो। खस-खत्ति-खड-खडट्ठोविलअ-कण्णाट-कण्ण-प्पाव-रणअ-दविड-चोल-चीण-बब्बर-खेर-खान-मुख-मधुघादपहुदीणं मिलिच्छजादीणं अणेअदेसभासाभिण्णा जहेट्ठं मन्तआम, दिट्ठो दिट्ठा वा अज्जो अज्जआ वा। [अरे, कोऽप्रत्ययस्तव। वयं दाक्षिणात्या अव्यक्तभाषिणः। खश-खत्ति-खड-खडठ्ठोबिल-कर्णाट-कर्ण-प्रावरण-द्राविड-चोल-चीन-बर्बर-खेर-खान-मुख-मधुघातप्रभृतीनां म्लेच्छजातीनामनेकदेशभाषाभिज्ञा यथेष्टं मन्त्रयामः, दृष्टो दृष्टा वा, आर्य आर्या वा।]

वीरकः—णं अहं पि पलोएमि। राअआण्णा एसा। अहं रण्णो पच्चइदो। [नन्वहमपि प्रलोकयामि। राजाज्ञैषा। अहं राज्ञः प्रत्ययितः।]

चन्दनकः—ता किं अहं अप्पच्चइदो संवुत्तो। [तत्किमहमप्रत्ययितः संवृत्तः।]

डरे हुए को अभयदान देने वाले परोपकार के प्रेमी (व्यक्ति) का यदि विनाश हो जाता है तो होने दो फिर भी संसार में (डरे हुए को अभयदान करना) वस्तुतः गुण ही है ॥१९॥

(भय सहित उतरकर) देख लिया आर्य···(यह आधा कहने पर) नहीं, आर्या वसन्तसेना। और यह कहती है—'यह उचित नहीं है, यह योग्य नहीं है। जो आर्य चारुदत्त के प्रति अभिसरण को जाती हुई मेरा सड़क पर अपमान किया गया।'

वीरक—चन्दनक, इसमें मुझे सन्देह उत्पन्न हो गया है।

चन्दनक—तुम्हें किस लिये सन्देह है?

वीरक—जब तुमने (पहले) मैंने आर्य देख लिया (तथा बाद में) आर्या वसन्तसेना (देखली) ऐसा कहा तब तुम्हारा स्वर घबराहट के कारण घर्घर ध्वनि करने लगा ॥२०॥

यहीं पर मुझे अविश्वास है।

चन्दनक—अरे, तुम्हें अविश्वास क्यों है? हम दाक्षिणात्य अस्पष्ट बोलने वाले होते हैं। खष, खत्ति, कड, कडट्टोविल, कर्णाटक; कर्णप्रावरण, द्राविड, चोल, चीन, बर्बर, खेर, खान मुख, मधुघात आदि म्लेच्छ जातियों की अनेक देशों की भाषा को, जानने वाले (हम) जैसा चाहते हैं बोल देते हैं-देख लिया या देखली, आर्य या आर्या।

वीरक—तो मैं भी देखता हूँ। यह राजा की आज्ञा है और मैं राजा का विश्वासपात्र हूँ।

चन्दनक—तो क्या मैं अविश्वसनीय हो गया?

भीतेति। भीतेभ्यः अभयप्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य परोपकारे तत्परस्य यदि नाशः भवति तथापि खलु लोके गुणः एव ॥१९॥

संभ्रमेति। त्वं चन्दनकः धीरोऽपि सन् सम्भ्रमेण घर्घरः कण्ठः यस्य तादृशः जातः असि, यत् त्वया (पूर्वं) भणितं कथितं मया खलु आर्यः दृष्टः पुनः अपि च भणितम् आर्या वसन्तसेना दृष्टा इति ॥२०॥

अव्यक्तम् अस्पष्टं भाषते तच्छीलः इति अव्यक्तभाषी तस्य अव्यक्तभाषिणः। समवायः कथवायः।

वीरकः—णं सामिणिओओ। [ननु स्वामिनियोगः।]

चन्दनकः—(स्वगतम्) अज्जगोवालदारओ अज्जचारुदत्तस्स पवहणं अहिरुहिअ अवक्कमदि त्ति जइ कहिज्जदि, तदो अज्जचारुदत्तो रण्णा सासिज्जइ। ता को एत्थ उवाओ? (विचिन्त्य) कण्णाटकलहप्पओअं करेमि। (प्रकाशम्) अरे वीरअ, मए चन्दणकेण पलोइदं पुणो वि तुमं पलोएसि। को तुमम्? [आर्यगोपालदारक आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमधिरुह्यापक्रामतीति यदि कथ्यते, तदार्यचारुदत्तो राज्ञा शास्यते। तत्कोऽत्रोपायः। कर्णाटकलहप्रयोगं करोमि। अरे वीरक, मया चन्दनकेन प्रलोकितं पुनरपि त्वं प्रलोकयसि। कस्त्वम्?]

वीरकः—अरे, तुमं पि को? [अरे, त्वमपि कः?]

चन्दनकः—पूइज्जन्तो माणिज्जन्तो तुमं अप्पणो जादिं ण सुमरेसि। [पूज्यमानो मान्यमानस्त्वमात्मनो जातिं न स्मरसि।]

वीरकः—(सक्रोधम्) अरे का मह जादी? [अरे, का मम जातिः?]

चन्दनकः—को भणउ? [को भणतु?]

वीरकः—भणउ। [भणतु।]

चन्दनकः—अहवा ण भणामि।

जाणन्तो वि हु जादिं तुज्झ अ ण भणामि सीलविहवेण।
चिट्ठउ मह च्चिअ मणे किं च कइत्थेण भग्गेण ॥२१॥

[अथवा न भणामि।
जानन्नपि खलु जातिं तव च न भणामि शीलविभवेन।
तिष्ठतु ममैव मनसि किं च कपित्थेन भग्नेन ॥]

वीरकः—णं भणउ भणउ। [ननु भणतु, भणतु।]

(चन्दनकः संज्ञां ददाति)

वीरकः—अरे किं णेदम्? [अरे, किं न्विदम्?]

चन्दनकः—

सिण्णसिलाअलहत्थो पुरिसाणं कुच्चगण्ठिसंठवणो।
कत्तरिवावुदहत्थो तुमं पि सेणावई जादो ॥२२॥
[शीर्णशिलातलहस्तः पुरुषाणां कूर्चग्रन्थिसंस्थापनः।
कर्तरीव्यापृतहस्तस्त्वमपि सेनापतिर्जातः ॥]

संवृत्तः संजातः। स्वामिनः राज्ञः नियोगः आज्ञा। शास्यते दण्ड्यते। कर्णाटकलहः कर्णाटकप्रदेशस्य कलहः (मिथ्याकलहः इति काले) तस्य प्रयोगः।

जानन्नपीति। तव जातिं खलु जानन् अपि आत्मनः शीलविभवेन शील-

वीरक—तो भी स्वामी की आज्ञा है।

चन्दनक—(अपने आप) 'आर्य गोपाल-पुत्र आर्य चारुदत्त के रथ पर आरूढ़ होकर भागा जा रहा है' यदि यह कह दिया जाता है तब आर्य चारुदत्त राजा के द्वारा दण्डित होते हैं। तो यहाँ क्या उपाय है? (विचार कर) कर्णाटक (के लोगों जैसी) कलह का प्रयोग करता हूँ। (प्रकट रूप में) अरे वीरक, मुझ चन्दनक के द्वारा देखे हुए (निरीक्षण किये हुए) को तुम दोबारा देख रहे हो? कौन हो तुम (दोबारा देखने वाले)?

वीरक—अरे, तुम्हीं कौन हो?

चन्दनक—पूजनीय और सम्माननीय तुम अपनी जाति को स्मरण नहीं करते।

वीरक—(क्रोधपूर्वक) अरे क्या है मेरी जाति?

चन्दनक—कौन कहे?

वीरक—कह दो।

चन्दनक—अथवा, नहीं कहता।

तुम्हारी जाति को ठीक-ठीक जानते हुए भी (अपनी) शील-सम्पन्नता के कारण नहीं कह रहा हूँ। (तुम्हारी जाति का नाम) मेरे ही मन में रहे, कैथ तोड़ने से क्या लाभ? (अर्थात् तुम्हारी जाति प्रकट करने से तुम्हारी नीचता ही सिद्ध होगी। जिस प्रकार ऊपर से सुन्दर लगने वाले कैथ के फल को तोड़ने से अन्दर की निस्सारता प्रकट हो जाती है) ॥२१॥

वीरक—नहीं, कहो, कहो।

[चन्दनक (उसकी जाति का परिचायक) संकेत देता है]।

वीरक—अरे! यह क्या है?

चन्दनक—टूटे पत्थर के टुकड़े को (उस्तरा पैनाने के लिये) हाथ में रखने वाला, पुरुषों की दाढी बनाने वाला तथा कैंची (चलाने) में व्यस्त हाथ वाला तू (नाई) भी सेनापति हो गया ॥२२॥

सम्पन्नतया न भणामि कथयामि। सा जातिः मम एव मनसि तिष्ठतु। तथा च कपित्थेन तन्नामकफलविशेषेण भग्नेन किं को लाभः? आर्या जातिः ॥२१॥

संज्ञां ददाति जातिसूचकं सङ्केतं करोति।

शीर्णेति। शीर्णं शिलातलं क्षुरादिघर्षणार्थः पाषाणखण्डः हस्ते यस्य सः पुरुषाणां कूर्चग्रन्थि सम्यक् स्थापयति इति सः तादृशः कर्तरीव्यापृतः हस्तः यस्य तथाभूतः त्वं वीरक, अपि सेनापतिः जातः। एभिः लक्षणैः नापितजातिः सूचिता ॥२२॥

वीरकः—अरे चन्दणआ, तुमं पि माणिज्जन्तो अप्पणो केरिकं जादिं ण सुमरेसि। [अरे चन्दनक, त्वमपि मान्यमान आत्मनो जातिं न स्मरसि।]

चन्दनकः—अरे, का मह चन्दणअस्स चन्दविसुद्धस्स जादी? [अरे, का मम चन्दनकस्य चन्द्रविशुद्धस्य जातिः?]

वीरकः—को भणउ? [को भणतु?]

चन्दनकः—भणउ, भणउ। [भणतु, भणतु।]

(वीरको नाट्येन सञ्ज्ञां ददाति)

चन्दनकः—अरे, किं णेदम्। [अरे, किं न्विदम्।]

वीरकः—अरे, सुणाहि सुणाहि। [अरे, शृणु शृणु।]

जादी तुज्झ विसुद्धा मादा भेरी पिदा वि दे पडहो।
दुम्मुह करडअभादा तुमं पि सेणावई जादो॥२३॥

[जातिस्तव विशुद्धा माता भेरी पितापि ते पटहः।
दुर्मुख, करटकभ्राता त्वमपि सेनापतिर्जातः॥]

चन्दनकः—(सक्रोधम्) अहं चन्दणओ, चम्मारओ, ता पलोएहि पवहणम्। [अहं चन्दनकश्चर्मकारः, तत्प्रलोकय प्रवहणम्।]

वीरकः—अरे, पवहणवाहआ, पडिवत्तावेहि पवहणम्। पलोइस्सम्। [अरे प्रवहणवाहक, परिवर्तय प्रवहणम्। प्रलोकयिष्यामि।]

(चेटस्तथा करोति। वीरकः प्रवहणमारोढुमिच्छति। चन्दनकः सहसा केशेषु गृहीत्वा पातयति, पादेन ताडयति च।)

वीरकः—(सक्रोधमुत्थाय) अरे, अहं तुए वीसत्थो राअाण्णत्तिं करेन्तो सहसा केसेसु गेण्हिअ पादेण ताडिदो। ता सुणु रे, अहिअरणमज्झे जइ दे चउरङ्गं ण कप्पावेमि, तदो ण होमि वीरओ। [अरे अहं त्वया विश्वस्तो राजाज्ञप्तिं कुर्वन्सहसा केशेषु गृहीत्वा पादेन ताडितः। तच्छृणु रे, अधिकरणमध्ये यदि ते चतुरङ्गं न कल्पयामि, तदा न भवामि वीरकः।]

चन्दनकः—अरे राअउलं अहिअरणं वा वच्च। किं तुए सुणअसरिसेण। [अरे, राजकुलमधिकरणं वा व्रज। किं त्वया शुनकसदृशेन।]

वीरकः—तथा। (इति निष्क्रान्तः।)

चन्दनकः—(दिशोऽवलोक्य) गच्छ रे पवहणवाहआ गच्छ। जइ को वि पुच्छेदि तदो भणेसि—'चन्दणअवीरएहिं अवलोइदं पवहणं वच्चइ। अज्जे वसन्तसेणे इमं च अहिण्णाणं दे देमि। [गच्छ रे प्रवहणवाहक, गच्छ। यदि कोऽपि पृच्छति तदा भण—'चन्दनकवीरकाभ्यामवलोकितं प्रवहणं व्रजति'। आर्ये वसन्तसेने, इदं चाभिज्ञानं ते ददामि।] (इति खड्गं प्रयच्छति)

वीरक—अरे चन्दनक, सम्मान पाकर तू भी अपनी जाति को स्मरण नहीं करता है।

चन्दनक—अरे, चन्द्रमा के समान विशुद्ध मुझ चन्दनक की क्या जाति ?

वीरक—कौन कहे ?

चन्दनक—कहो, कहो।

[वीरक अभिनय से (उसकी जाति का परिचायक) संकेत देता है]

चन्दनक—अरे यह क्या है ?

वीरक—अरे, सुनो, सुनो—

तुम्हारी जाति (सचमुच) बड़ी पवित्र है। भेरी माता है, पटह पिता है, करटक (एक प्रकार का वाद्य-यन्त्र) भाई है। तुम (चमंकार होकर) भी सेनापति हो गये ॥२३॥

चन्दनक—(क्रोधपूर्वक) (यदि) मैं चन्दनक चमार हूँ तो देख ले गाड़ी को।

वीरक—अरे, गाड़ीवान्, गाड़ी को घुमाओ। निरीक्षण करूँगा।

(चेट वैसा करता है। वीरक गाड़ी पर चढ़ना चाहता है। चन्दनक अचानक बाल पकड़कर उसे गिरा देता है, और लात से पीटता है)।

वीरक—(क्रोधपूर्वक उठकर) राजा के आदेश (का पालन) करते हुए मुझ विश्वस्त (कर्मचारी) को तुमने बाल पकड़कर लात से पीटा है। तो सुन रे, न्यायालय के बीच में यदि तेरे चारों अङ्गों को न कटवा दूँ तो वीरक नहीं रहूँगा (तो मेरा नाम वीरक नहीं)।

चन्दनक—अरे, राजकुल में जा या न्यायालय में कुत्ते जैसे तुझ से क्या ?

वीरक—अच्छा। (बाहर निकल जाता है)

चन्दनक—(चारों ओर देखकर) जा, रे गाड़ीवान् जा। यदि कोई पूछता है तो कह देना—'चन्दनक और वीरक द्वारा देखी गई (निरीक्षित) गाड़ी जा रही है।' और आर्ये वसन्तसेने यह पहचान तुम्हें देता हूँ।

(तलवार दे देता है)

चन्द्र इव विशुद्धः चन्द्रविशुद्धः तस्य।

जातिरिति। तव जातिः विशुद्धा परमशुद्धा। माता भेरी वाद्यविशेषः पिता अपि ते तव पटहः। हे दुर्मुख कटुभाषिन् करटकस्य वाद्यविशेषस्य भ्राता, त्वमपि सेनापतिः जातः। एभिः चर्ममण्डितैः वाद्यविशेषैः चर्मकारजातिः सूचिता ॥२३॥

चतुरङ्गं चतुर्णाम् अङ्गानां समाहारः। कल्पयामि कर्तयामि।

आर्यकः—(खड्गं गृहीत्वा सहर्षमात्मगतम्)।

अये शस्त्रं मया प्राप्तं स्पन्दते दक्षिणो भुजः।
अनुकूलं च सकलं हन्त संरक्षितो ह्यहम् ॥२४॥

चन्दनकः—अज्जए,

एत्थ मए विण्णविदा पच्चइदा चन्दणं पि सुमरेसि।
ण भणामि एस लुद्धो णेहस्स रसेण बोल्लामो ॥२५॥

[आर्ये,

अत्र मया विज्ञप्ता प्रत्ययिता चन्दनमपि स्मरसि।
न भणाम्येष लुब्धः स्नेहस्य रसेन ब्रूमः।]

आर्यकः—

चन्दनश्चन्द्रशीलाढ्यो दैवादद्य सुहृन्मम।
चन्दनं भोः स्मरिष्यामि सिद्धादेशस्तथा यदि ॥२६॥

चन्दनकः—

अभअं तुह देउ हरो विण्हू बम्हा रवी अ चन्दो अ।
हत्तूण सत्तुवक्खं सुम्भणिसुम्भे जधा देवी ॥२७॥
[अभयं तव ददातु हरो विष्णुर्ब्रह्मा रविश्च।
हत्वा शत्रुपक्षं शुम्भनिशुम्भौ यथा देवी ॥]

(चेटः प्रवहणेन निष्क्रान्तः)

चन्दनकः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अरे, णिक्कमन्तस्स मे पिअवअस्सो सव्विलओ पिट्ठदो ज्जेव अणुलग्गो गदो। भोदु। पधाणदण्डधारओ वीरओ राअपच्चआरो विरोहिदो। ता जाव अहंपि पुत्तभादुपडिवुदो एदं ज्जेव अणु गच्छामि। [अरे, निष्क्रमतो मम प्रियवयस्यः शर्विलकः पृष्ठत एवानुलग्नो गतः। भवतु। प्रधानदण्डधारको वीरको राजप्रत्ययकारो विरोधितः। तद्यावदहमपि पुत्रभ्रातृपरिवृत एतमेवानुगच्छामि।] (इति निष्क्रान्तः।)

इति प्रवहणविपर्ययो नाम षष्ठोऽङ्कः।

चन्दनकात् शस्त्रं प्राप्य आर्यकः स्वमनसि चिन्तयति—अये इति। अये, मया आर्यकेण शस्त्रं प्राप्तम् मम च दक्षिणः भुजः वाहु स्पन्दते स्फुरति, अतः सकलं मम अनुकूलं प्रतीयते [पुरुषस्य हि दक्षिणभुजस्पन्दनं शुभशूचकं भवति]। हन्तेति हर्षे अहम् आर्यकः हि निश्चयेन संरक्षितः सम्यग् रक्षितः ॥२४॥

चन्दनकः वसन्तसेनाव्याजेन आर्यकं निवेदयति—अत्रेति। अत्र मया चन्दनके

आर्यक—(तलवार लेकर हर्ष सहित अपने आप)—

अरे ! मैंने शस्त्र प्राप्त कर लिया, दाहिनी भुजा फड़क रही है (अतः) सब कुछ अनुकूल है, हर्ष है, मैं बच गया हूँ ॥२४॥

चन्दनक—आर्ये,

यहाँ मेरे द्वारा सूचित (या मुझसे परिचित) (आप) विश्वस्त होकर चन्दनक को भी याद रखना। मैं यह लोभवश नहीं कहता, अपितु स्नेह-रस के कारण कह रहा हूँ ॥२५॥

आर्यक—चन्द्रमा के समान (मनोहर) स्वभाव वाला (चन्दनक) भाग्य से आज मेरा मित्र है। हे (मित्र), यदि सिद्ध का आदेश सत्य (तथा) हुआ तो (तुम) चन्दनक को याद रक्खूँगा ॥ २६॥

चन्दनक—शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य और चन्द्रमा शत्रुपक्ष को मार कर तुम्हें इसी प्रकार अभय प्रदान करें जिस प्रकार शुम्भ और निशुम्भ को मार कर दुर्गादेवी ने (देवों को अभय प्रदान किया था) ॥२७॥

(चेट गाड़ी द्वारा चला जाता है)

चन्दनक—(नेपथ्य की ओर देखकर) अरे ! (आर्यक) के बाहर निकलते ही मेरा प्रिय मित्र शर्विलक (रथ के) पीछे ही लगा हुआ निकल गया। अच्छा। राजा के विश्वस्त प्रधान दण्डधारक वीरक को विरोधी बना लिया है तो तब तक मैं भी पुत्र और बन्धुओं सहित इन्हीं का अनुसरण करता हूँ।

(बाहर निकल जाता है)

'यान-परिवर्तन' नामक छटा अङ्क समाप्त।

विज्ञप्ता सूचिता परिचिता वा प्रत्ययिता प्रत्ययं विश्वासं प्राप्ता च त्वं चन्दनकम् अपि स्मरसि स्मरिष्यसि। एष अहं लुब्धः धनादिलोभयुक्तः सन् न भणामि वदामि किन्तु स्नेहस्य रसेन भावेन एव ब्रूमः वयं कथयामः ॥२५॥

चन्दन इति। चन्द्रवत् शीलं शीतलस्वभाव इत्यर्थः तेन आढ्यः युक्तः चन्दनः दैवाद् सौभाग्याद् अद्य मम आर्यकस्य सुहृत् मित्रं जात इति शेषः। यदि सिद्धादेशः 'गोपालदारकः राजा भविष्यतीति' सिद्धवचनं तथा यथोक्तं सत्यमिति यावत् भविष्यति भोः तदा चन्दनं स्मरिष्यामि ॥२६॥

चन्दनकः आर्यकस्य मङ्गलकामनां करोति—अभयमिति। हरः शिवः, विष्णुः ब्रह्मा रविः च चन्द्रः च शत्रुपक्षं पालकवर्गं हत्वा (तथैव) तव आर्यकस्य अभयं ददातु यथा देवी दुर्गा शुम्भनिशुम्भौ तन्नामकौ दैत्यौ हत्वा देवेभ्यः अभयं दत्तवती। आर्यावृत्तम् ॥२७॥

निष्क्रामतः निःसरतः आर्यकस्य। अनुलग्नः अनुगतः। राज्ञः प्रत्ययं विश्वासं करोतीति राजप्रत्ययकारः।

इति प्रवहणविपर्ययो नाम षष्ठोऽङ्कः।

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषकश्च)

विदूषकः—भो, पेक्ख पेक्ख पुप्फकरण्डअजिण्णुज्जाणस्स सस्सिरीअदाम्। [भोः, पश्य पश्य पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानस्य सश्रीकताम्।]

चारुदत्तः—वयस्य, एवमेतत्। तथाहि।

वणिज इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि।
शुल्कमिव साधयन्तो मधुकरपुरुषाः प्रविचरन्ति ॥१॥

विदूषकः—भो, इमं असक्काररमणीअं सिलाअलं उपविसदु भवम्। [भोः, इदमसंस्काररमणीयं शिलातलमुपविशतु भवान्।]

चारुदत्तः—(उपविश्य) वयस्य, चिरयति वर्धमानकः।

विदूषकः—भणिदो मए वड्ढमाणअ—'वसन्तसेणिअं गेण्हिअ लहुं लहुं आअच्छ' त्ति। [भणितो मया वर्धमानक,—'वसन्तसेनां गृहीत्वा लघु लघ्वागच्छ' इति।]

चारुदत्तः—तत्किं चिरयति।

किं यात्यस्य पुरः शनैः प्रवहणं तस्यान्तरं मार्गते
भग्नेऽक्षे परिवर्तनं प्रकुरुते छिन्नोऽथ वा प्रग्रहः।
वर्त्मान्तोज्झितदारुवारितगतिर्मार्गान्तरं याचते
स्वैरं प्रेरितगोयुगः किमथवा स्वच्छन्दमागच्छति ॥२॥

(प्रविश्य गुप्तार्यकप्रवहणस्थः)

चेटः—जाध गोणा, जाध। [यातं गावौ, यातम्।]

चारुदत्तः उद्यानस्य शोभां वर्णयति—वणिज इति। तरवः वृक्षाः वणिज इव वस्तुविक्रेतार इव भान्ति प्रतीयन्ते। कुसुमानि पण्यानि विक्रेयवस्तूनि इव स्थितानि सन्ति मधुकराः एव पुरुषाः राजपुरुषाः इति यावत् शुल्कं राजग्राह्यं द्रव्यम् इव साधयन्तः गृह्णन्तः प्रविचरन्ति इतस्ततः भ्रमन्ति। आर्या वृत्तम् ॥१॥

असंस्कारेऽपि संस्काराभावेऽपि रमणीयं प्रकृत्या रमणीयमिति भावः।

वर्धमानकः कथं विलम्बं करोतीत्यस्मिन् विषये चारुदत्तः तर्कयति—किमिति। किम् अस्य वर्धमानकस्य पुरः अग्रे प्रवहणं शनैः मन्दं याति स च तस्य अन्तरं गमनाय

सातवाँ अङ्क

(तत्पश्चात् चारुदत्त और विदूषक प्रवेश करते हैं)

विदूषक—श्रीमान् जी, पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान की शोभा-सम्पन्नता को देखिये, देखिये।

चारुदत्त—मित्र ऐसा ही है। क्योंकि—

(इस वाटिका के) वृक्ष वणिक् के समान शोभित हो रहे हैं, पुष्प विक्रेय पदार्थों के तुल्य स्थित हैं। भौरे (राजकीय) पुरुष के समान शुल्क-सा लेते हुए भ्रमण कर रहे हैं ॥१॥

विदूषक—श्रीमान् जी, आप संस्काररहित होने पर भी सुन्दर (लगने वाले) इस शिला तल पर बैठिए।

चारुदत्त—(बैठकर) मित्र, वर्धमानक देर लगा रहा है।

विदूषक—मैंने कहा था 'वर्धमानक' वसन्तसेना को लेकर शीघ्र-शीघ्र आओ।'

चारुदत्त—तब क्यों देर कर रहा है?

क्या उसके आगे धीरे-धीरे (कोई) गाड़ी जा रही है और वह उससे निकलने का अवकाश ढूंढ रहा है? चक्र (अक्ष) के टूट जाने पर (उसको) बदल रहा है या (बैलों के बांधने की) रस्सी टूट गई है, क्या राजकीय आदेश से (किसी विशेष कारण से यातायात रोकने के हेतु) राजमार्ग पर डाली हुई लकड़ियों के कारण अवरुद्ध गति वाला (वर्धमानक) अन्य मार्ग ढूंढ रहा है। अथवा दोनों बैलों को धीमे-धीमे हांकता हुआ (वर्धमानक) स्वच्छन्दतापूर्वक आ रहा है ॥२॥

(जिस पर आर्यक छुपा हुआ है ऐसे रथ पर स्थित प्रवेश करके)

चेट—चलो! बैलों, चलो।

अवकाशं मार्गते अन्विष्यति? किं वा अक्षे चक्रे भग्ने सति परिवर्तनं प्रकुरुते? अथवा प्रग्रहः वृषभाणां बन्धनरश्मिः छिन्नः त्रुटितः? अथवा वर्त्मान्ते मार्गस्य मध्ये उज्झितैः त्यक्तैः दारुभिः काष्ठैः वारिता रुद्धा गतिः यस्य तादृशः सन् [कर्मान्ते इति पाठान्तरम्। 'कर्मान्तो राजादीनां नियोगविशेषः तत्सम्बन्धिनि धर्मे त्यक्तकाष्ठानि तैः प्रतिरुद्धगमनः'—इति पृथ्वीधरः] मार्गान्तरम् अन्यं मार्गं याचते प्रार्थयति? अथवा स्वैरं प्रेरितं चालितं गोयुगं वृषभयुगं येन सः स्वच्छन्दं यथेच्छम् आगच्छति किम्। किमत्र विलम्बकारणम् इति संशयोक्तिः। सन्देहालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२॥

गुप्तः आर्यकः यस्मिन् तस्मिन् प्रवहणे स्थितः चेटः।

आर्यकः—(स्वगतम्)

नरपतिपुरुषाणां दर्शनाद्भीतभीतः
सनिगडचरणत्वात्सावशेषापसारः ।
अविदितमधिरूढो यामि साधोस्तु याने
परभृत इव नीडे रक्षितो वायसीभिः ॥३॥

अहो, नगरात्सुदूरमपक्रान्तोऽस्मि । तत्किमस्मात्प्रवहणादवतीर्य वृक्षवाटिकागहनं प्रविशामि ? उताहो प्रवहणस्वामिनं पश्यामि ? अथवा कृतं वृक्षवाटिकागहनेन । अभ्युपपन्नवत्सलः खलु तत्रभवानार्यचारुदत्तः श्रूयते । तत्प्रत्यक्षीकृत्य गच्छामि ।

स तावदस्माद्व्यसनार्णवोत्थितं निरीक्ष्य साधुः समुपैति निर्वृतिम् ।
शरीरमेतद्गतमीदृशीं दशां धृतं मया तस्य महात्मनो गुणैः ॥४॥

चेटः—इमं तं उज्जाणम् । जाव उवशप्पामि । (उपसृत्य) अज्जमित्तेअ । [इदं तदुद्यानम् । यावदुपसर्पामि । आर्यमैत्रेय ।]

विदूषकः—भो, पिअं दे णिवेदेमि । वड्ढमाणओ मन्तेदि । आगदाए वसन्तसेणाए होदव्वम् । [भोः, प्रियं ते निवेदयामि । वर्धमानको मन्त्रयति । आगतया वसन्तसेनया भवितव्यम् ।]

चारुदत्तः—प्रियं नः प्रियम् ।

विदूषकः—दासीए पुत्ता, किं चिरइदो सि । [दास्याः पुत्र, किं चिरायितोऽसि ।]

चेटः—अज्जमित्तेअ, मा कुप्प । जाणत्थलके विशुमलिदे त्ति कदुअ गदागदिं कलेन्ते चिलइदेह्मि । [आर्यमैत्रेय, मा कुप्य । यानास्तरणं विस्मृतमिति कृत्वा गतागतिं कुर्वंश्चिरायितोऽस्मि ।]

चारुदत्तः—वर्धमानक, परिवर्तय प्रवहणम् । सखे मैत्रेय, अवतारय वसन्तसेनाम् ।

विदूषकः—किं णिअडेण बद्धा से गोड्डा जेण सअं ण ओदरेदि ? (उत्थाय प्रवहणमुद्घाट्य) भो, ण वसन्तसेणा, वसन्तसेणो क्खु एसो । [किं निगडेन बद्धावस्याः पादौ, येन स्वयं नावतरति । भोः, न वसन्तसेना, वसन्तसेनः खल्वेषः ।]

आर्यकः मनसि चिन्तयति—नरपतीति । नरपतिपुरुषाणां राजपुरुषाणां दर्शनात् भीतभीतः अत्यन्तं भीतः, निगडेन सहितः सनिगडः चरणः यस्य सः सनिगडचरणः तस्य भावः सनिगडचरणत्वं तस्मात् शृङ्खलायुक्तचरणत्वात् हेतोः सावशेषः किञ्चिद् अवशिष्टः अपसारः अपसरणं पलायनं यस्य तादृशः अहम् आर्यकः साधोः

आर्यक—(अपने आप)

राजपुरुषों के देखने से अत्यन्त डरा हुआ, बेड़ीयुक्त पैर होने के कारण पूर्णतया न भाग सकने वाला (मैं) काक मादाओं के द्वारा रक्षित कोयल के समान (किसी) सत्पुरुष की सवारी पर अनजाना ही आरूढ़ होकर जा रहा हूँ ॥३॥

अहो ! नगरी से बड़ी दूर निकल गया हूँ। तो क्या इस रथ से उतर कर वृक्ष वाटिकाओं के गहन स्थान में घुस जाऊँ ? या फिर रथ के स्वामी के दर्शन करूँ। अथवा गहन वृक्ष वाटिकाओं को रहने दूँ। पूज्य आर्य चारुदत्त शरणागत-वत्सल सुने जाते हैं तो (उनके) दर्शन करके जाऊँगा।

वह सत्पुरुष इस आपत्ति रूपी समुद्र से पार उतरे हुए (मुझे) देखकर आनन्द को प्राप्त होंगे। मैंने इस अवस्था को प्राप्त हुआ यह शरीर उस महात्मा (चारुदत्त) के गुणों से ही धारण किया है ॥४॥

चेट—यह वह उद्यान है। जब तक समीप चलता हूँ। (समीप जाकर), मैत्रेय।

विदूषक—श्रीमान् जी, आपसे प्रिय निवेदन करता हूँ। वर्धमानक पुकार रहा है। वसन्तसेना आई होगी।

चारुदत्त—प्रिय है ! हमारे लिये प्रिय है !

विदूषक—दासी के पुत्र, देर क्यों की।

चेट—आर्य मैत्रेय, क्रोध मत कीजिये। गाड़ी की बिछावन (गद्दियां) भूल गया था, इसलिये लौट फेर करते हुए देर हो गई।

चारुदत्त—वर्धमानक, गाड़ी को फेर लो। मित्र मैत्रेय, वसन्तसेना को उतार लो।

विदूषक—क्या इसके पैर बेड़ी से बंधे हैं, जिससे यह स्वयं नहीं उतरती ? (उठकर गाड़ी को उघाड़ कर) श्रीमान् जी, यह वसन्तसेना नहीं, वसन्तसेन हैं।

चारुदत्तस्य याने अविवितम् अज्ञातरूपेण अधिरूढः सन् वायसीभिः काकीभिः नीडे कुलाये रक्षितः परभृतः कोकिलः इव यामि गच्छामि। उपमालङ्कारः। मालिनी वृत्तम् ॥३॥

अपक्रान्तः दूरं गतः वृक्षवाटिकायाः उद्यानस्य गहनं दुर्गमस्थानम्। कृतम् अलम्। अभ्युपपन्नेषु शरणागतेषु वत्सलः स्नेहशीलः।

स इति। साधुः सज्जनः सः चारुदत्तः अस्माद् व्यसनम् आपत्तिः एव अर्णवः सागरः तस्मात् आपत्तिसागरात् उत्थितम् उत्तीर्णं मां निरीक्ष्य विलोक्य निर्वृतिं सुखं समुपैति प्राप्स्यति तावत्। ईदृशीं दशां गतम् एतत् शरीरं मया तस्य महात्मनः चारुदत्तस्य गुणैः परोपकारादिभिः धृतम्। चारुदत्तस्य प्रवहणे स्थितत्वादेव अहं चन्दनकेन रक्षितः इति भावः। वंशस्थं वृत्तम् ॥४॥

चारुदत्तः—वयस्य, अलं परिहासेन। न कालमपेक्षते स्नेहः। अथवा स्वयमेवावतारयामि। (इत्युत्तिष्ठति)

आर्यकः—(दृष्ट्वा) अये अयमेव प्रवहणस्वामी। न केवलं श्रुतिरमणीयः दृष्टिरमणीयोऽपि। हन्त, रक्षितोऽस्मि।

चारुदत्तः—(प्रवहणमधिरुह्य दृष्ट्वा च) अये तत्कोऽयम्।

करिकरसमबाहुः सिंहपीनोन्नतांसः
पृथुतरसमवक्षास्ताम्रलोलायताक्षः।
कथमिदमसमानं प्राप्त एवंविधो यो
वहति निगडमेकं पादलग्नं महात्मा ॥५॥

तत्तः को भवान्।

आर्यकः—शरणागतो गोपालप्रकृतिरार्यकोऽस्मि।

चारुदत्तः—किं घोषादानीय योऽसौ राज्ञा पालकेन बद्धः।

आर्यकः—अथ किम्।

चारुदत्तः—

विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः।
अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम् ॥६॥

(आर्यको हर्षं नाटयति)

चारुदत्तः—वर्धमानक, चरणान्निगडमपनय।

चेटः—जं अज्जो आणवेदि। (तथा कृत्वा) अज्ज, अवणीदाइं णिगलाइं। [यदार्य आज्ञापयति। आर्य, अपनीतानि निगडानि।]

आर्यकः—स्नेहमयान्यन्यानि दृढतराणि दत्तानि।

विदूषकः—संगच्छेहि णिअडाइं। ऐसो वि मुक्को। संपदं अम्हे वजिस्सामो। [संगच्छस्व निगडानि। एषोऽपि मुक्तः। सांप्रतं वयं व्रजिष्यामः।]

चारुदत्तः—धिक्शान्तम्।

आर्यकः—सखे चारुदत्त, अहमपि प्रणयेनेदं प्रवहणमारुढः। तत्क्षन्तव्यम्।

न कालम् अपेक्षते कालविक्षेपं न सहते, प्रियं जनमविलम्बेन प्राप्तुमभिलाषो भवतीति भावः। श्रुतौ श्रवणे रमणीयः मनोरमः दृष्टौ दर्शने रमणीयः। हन्त इति हर्षे।

स्वप्रहणारूढम् आर्यकं दृष्ट्वा चारुदत्तः कथयति—करीति। करिणः हस्तिनः करेण शुण्डादण्डेन समौ तुल्यौ बाहू यस्य, सिंहस्य इव पीनौ पुष्टौ उन्नतौ च अंसौ

चारुदत्त—मित्र, परिहास को रहने दो। प्रेम समय (देरी) को नहीं सहन करता। अथवा मैं स्वयं ही उतारता हूँ। (उठता है)

आर्यक—(देख कर) अरे! यही गाड़ी के स्वामी हैं। केवल सुनने में ही रमणीय नहीं हैं अपितु देखने में भी मनोरम हैं। अहा! मैं सुरक्षित हो गया हूँ।

चारुदत्त—(गाड़ी पर चढ़कर तथा देखकर) अरे! तब यह कौन है?

हाथी के सूंड के समान जिसकी भुजाएँ हैं। सिंह के समान पुष्ट एवं उन्नत कंधे हैं, अत्यन्त विशाल तथा समतल वक्षःस्थल है, ताम्रवर्ण चञ्चल तथा दीर्घ नेत्र हैं—जो इस प्रकार का यह महानुभाव है, वह इस अनुचित दशा को प्राप्त होकर पैर में बँधी हुई बेड़ी को क्यों धारण कर रहा है? ॥५॥

तो आप कौन हैं?

आर्यक—आपकी शरण में आया हुआ मैं गोपाल का पुत्र आर्यक हूँ?

चारुदत्त—क्या जिसे घोष से लाकर राजा पालक ने बन्दी बनाया?

आर्यक—और क्या?

चारुदत्त—सौभाग्य से यहां लाये हुए तुम मेरी दृष्टि के विषय हुए हो। चाहे मैं प्राणों को भी त्याग दूँ किन्तु शरण में आये हुए तुमको नहीं त्यागूंगा ॥६॥

(आर्यक हर्ष का अभिनय करता है)

चारुदत्त—वर्धमानक पैर से बेड़ी खोल दो।

चेट—जो आर्य आज्ञा दें। (वैसा करके) आर्य बेड़ियाँ दूर कर दीं।

आर्यक—(किन्तु) दूसरी अधिक दृढ़ प्रेम की बेड़ियाँ पहना दीं हैं।

विदूषक—बेड़ी साथ ले लो। यह भी मुक्त हो गया। अब हम लोग चलेंगे।

चारुदत्त—धिक्, चुप रहो।

आर्यक—मित्र चारुदत्त, मैं भी स्नेह के कारण इस गाड़ी पर चढ़ गया था, तो मुझे क्षमा कर देना।

स्कन्धौ यस्य, पृथुतरं विशालं समं च वक्षस्थलं यस्य, ताम्रे ताम्रवर्णे लोले चञ्चले आयते दीर्घे च अक्षिणी लोचने यस्य, यः एवंविधः महात्मा सः इदं पुरो दृश्यमानम् असमानम् अननुरूपं प्राप्तः पादलग्नं पादे लग्नम् एकं निगडं कथं वहति धारयति? उपमालङ्कार। मालिनी वृत्तम् ॥५॥

गोपालः प्रकृतिः कारणं जनकः इति यावत् यस्य तथाभूतः। विधिनेति। विधिना भाग्येन उपनीतः मम समीपम् आनीतः त्वम् आर्यकः मम चारुदत्तस्य चक्षुर्विषयं दृष्टिगोचरताम् आगतः प्राप्तः अहं प्राणान् अपि जह्याम् त्यजेयम्, तु किन्तु शरणागतं त्वां न त्यक्ष्यामि इति शेषः ॥६॥

संगच्छस्व संगतानि कुरु, सार्धं नय इति भावः (टि०)।

चारुदत्तः—अलङ्कृतोऽस्मि स्वयंग्राहप्रणयेन भवता ।

आर्यकः—अभ्यनुज्ञातो भवता गन्तुमिच्छामि ।

चारुदत्तः—गम्यताम् ।

आर्यकः—भवतु अवतरामि ।

चारुदत्तः—सखे, नावतरितव्यम् । प्रत्यग्रापनीतसंयमनस्य भवतोऽलघुसंवारा गतिः । सुलभपुरुषसंचारेऽस्मिन्प्रदेशे प्रवहणं विश्वासमुत्पादयति । तत्प्रवहणेनैव गम्यताम् ।

आर्यकः—यथाह भवान् ।

चारुदत्तः—

क्षेमेण व्रज बान्धवान्

आर्यकः—

ननु मया लब्धो भवान्बान्धवः

चारुदत्तः—

स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरेषु भवता

आर्यकः—

स्वात्मापि विस्मर्यते ।

चारुदत्तः—

त्वां रक्षन्तु पथि प्रयान्तममराः

आर्यकः—

संरक्षितोऽहं त्वया

चारुदत्तः—

स्वैर्भाग्यैः परिरक्षितोऽसि

आर्यकः—

ननु हे तत्रापि हेतुर्भवान् ॥७॥

चारुदत्तः—उद्घुष्यते पालके महती रक्षा न वर्तते, तच्छीघ्रमपक्रामतु भवान् ।

आर्यकः—एवं पुनर्दर्शनाय । (इति निष्क्रान्तः)

स्वयंग्राह० (टि०) अभ्यनुज्ञातः अनुमतः । प्रत्यग्रं नवीनम् अपनीतं दूरीकृतं संयमनं बन्धनं यस्य । अलघुः मन्दः सञ्चारः वेगः यस्याः सा गतिः । लघुसंचारा इति पाठान्तरं लघुः अल्पः संचारः संचरणं (क्रिया) यस्याः सा तथाभूता इत्यर्थः । सुलभः पुरुषाणां

चारुदत्त—स्वयं ग्रहण में स्नेह रखने वाले आपके द्वारा मैं अलङ्कृत हो गया हूँ।

आर्यक—आप से आज्ञा पाकर मैं जाना चाहता हूँ।

चारुदत्त—जाइए।

आर्यक— अच्छा, उतरता हूँ।

चारुदत्त—मित्र, उतरना नहीं चाहिए। अभी (प्रत्यग्र) हटाया (खोला) गया है बन्धन जिसका ऐसे आपकी चाल मन्द वेग वाली है। इस प्रदेश में जहाँ कि बहुत अधिक (राज) पुरुषों का गमनागमन हो रहा है, गाड़ी विश्वास उत्पन्न करती है। इसलिए गाड़ी से ही जाइए।

आर्यक—जैसा आप कहें।

चारुदत्त—कुशलतापूर्वक अपने सम्बन्धियों के पास जाओ।

आर्यक—मैंने तो आपको ही सम्बन्धी पाया है।

चारुदत्त—आप बातचीत में मेरा भी स्मरण कर लेना।

आर्यक—अपनी आत्मा भी भुलाई जाती है?

चारुदत्त – मार्ग में जाते हुए तुम्हारी देवता रक्षा करें।

आर्यक—मैं आपके द्वारा ही संरक्षित हो गया हूँ।

चारुदत्त—अपने भाग्य से रक्षित हुए हो।

आर्यक—किन्तु उसमें भी आप ही कारण हैं॥७॥

चारुदत्त—क्योंकि पालक (पकड़ने के लिये) उद्यत है जिससे आपकी भली भाँति रक्षा नहीं हो सकती, इसलिए आप शीघ्र चले जाइए।

आर्यक—अच्छा फिर दर्शन के लिए (आशा करता हुआ जाता हूँ)

(निकल जाता है)

सञ्चारो यत्र तस्मिन्। क्षेमेणेति (अयं) चारुदत्तार्यकयोरुत्तरोत्तरेण अष्टखण्डः श्लोकः (पृथ्वी०)

क्षेमेण सकुशलं बान्धवान् स्वजनान् प्रति व्रज गच्छ।

ननु निश्चितमिदं यद् मया आर्यकेण भवान् चारुदत्तः बान्धवः लब्धः प्राप्त.। भवता आर्यकेण कथान्तरेषु वार्तानां मध्ये अहं चारुदत्तः स्मर्तव्यः स्मरणीयः अस्मि। स्वात्मा स्वकीयः आत्मा अपि विस्मर्यते किम्? न कदापि विस्मर्यते इति भावः। चारुदत्तश्च आर्यकस्य आत्मतुल्यः जातः ततः स कथं विस्मर्तुं शक्यते? पुनश्चारुदत्तः तस्य शुभं कामयते—पथि मार्गे प्रयान्तं गच्छन्तं त्वाम् आर्यकम् अमराः देवाः रक्षन्तु। आर्यक उत्तरयति—अहं त्वया चारुदत्तेन संरक्षितः। चारुदत्त स्वौदार्यं प्रकटयति—स्वैः स्वीकीयैः भाग्यैः परिरक्षितः असि त्वम् न तु मयेति। आर्यकः कृतज्ञतां दर्शयति—हे तत्र अपि भाग्यैः कृतेऽपि रक्षणे भवान् चारुदत्तः हेतुः ननु निश्चयेन। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥७॥

उद्यते उद्यमं कुर्वंति।

चारुदत्तः—

कृत्वैवं मनुजपतेर्महद्व्यलीकं
स्थातुं हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन् ।
मैत्रेय, क्षिप निगडं पुराणकूपे
पश्येयुः क्षितिपतयो हि चारदृष्ट्या ॥८॥

(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) सखे मैत्रेय, वसन्तसेनादर्शनोत्सुकोऽयं जनः । पश्य ।

अपश्यतोऽद्य तां कान्तां वामं स्फुरति लोचनम् ।
अकारणपरित्रस्तं हृदयं व्यथते मम ॥९॥

तदेहि । गच्छावः । (परिक्रम्य) कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम् । (विचार्य) प्रविशत्वयमनेन पथा । वयमप्यनेनैव पथा गच्छामः । (इति निष्क्रान्तः)

इत्यार्यकापहरणं नाम सप्तमोऽङ्कः ।

कृत्वेति । मनुजपतेः नृपतेः पालकस्य महद् व्यलीकम् अहितम् अपराधं वा कृत्वा अस्मिन् स्थाने क्षणम् अपि स्थातुं न प्रशस्तं युक्तम् । हे मैत्रेय, निगडम् आर्यकचरणाद् अपनीतं बन्धनं पुराणकूपे क्षिप पातय हि यतः क्षितिपतयः भूपतयः चाराः एवं दृष्टिः तया पश्येयुः । चारचक्षुषो हि राजानः । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥८॥

चारुदत्त—इस प्रकार नृपति (पालक) का महान् अपराध करके इस स्थान पर क्षण भर भी ठहरना अच्छा नहीं। हे मैत्रेय, इस बेड़ी को पुराने कुएँ में फेंक दो, क्योंकि राजा (भूमिपति) दूत-रूपी दृष्टि से इसे देख लेंगे ॥८॥

(बाईं आँख का फड़कना प्रकट करके) मित्र मैत्रेय, यह जन (अर्थात् मैं) वसन्तसेना को देखने के लिये उत्सुक है। देखो—

आज उस प्रियतमा को न देखते हुए मेरी बाईं आँख फड़क रही है। तथा बिना कारण के ही भयभीत हुआ मेरा हृदय व्यथित हो रहा है ॥९॥

तो आओ, जाते हैं। (घूमकर) क्या सामने ही अमङ्गलकारी बौद्धभिक्षु का दर्शन हो गया? (विचार कर) यह इस मार्ग से प्रवेश करें। हम भी इस (दूसरे) ही मार्ग से जाते हैं।

(निकल जाता है)

आर्यक-अपहरण नामक सप्तम अङ्क समाप्त।

अपश्यत इति। अद्य तां कान्तां प्रियां वसन्तसेनाम् अपश्यतः अनवलोकयतः मम लोचनं वामनेत्रं स्फुरति। मम चारुदत्तस्य च कारणं विना एव परित्रस्तं भयभीतं हृदयं व्यथते ॥९॥

अभ्युदयः समुत्कर्षः प्रयोजनं यस्य तद् आभ्युदयिकम् न आभ्युदयिकम् अनाभ्युदयिकम् अमङ्गलकरम् श्रमणकः बौद्धभिक्षुः।

इत्यार्यकापहरणं नाम सप्तमोऽङ्कः।

अष्टमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यार्द्रचीवरहस्तो भिक्षुः)

भिक्षुः—अज्ञा, कलेध धम्मशंचअं ।

शंजम्मध णिअपोटं णिच्चं जग्गेध झाणपडहेण ।
विशमा इन्दिअचोला हलन्ति चिलशंचिदं धम्मम् ॥१॥

अवि अ । अणिच्चदाए पेक्खिअ णवलं दाव धम्माणं शलणम्हि ।

पञ्चजण जेण मालिदा इत्थिअ मालिअ धाम लक्खिदे ।
अबले क चण्डाल मालिदे अवसं त्रि शे णल शग्ग गाहदि ॥२॥

शिल मुण्डिदे तुण्ड मुण्डिदे चित्त ण मुण्डिदे कीश मुण्डिदे ।
जाह उण अ चित्त मुण्डिदे शाहु शुट्ठु शिल ताह मुण्डिदे ॥३॥

णिहिदकशाओदए एशे चीवले, जाव एदं लट्ठिअशालकाह केलके उज्जाणे पविशिअ पोक्खलिणीए पक्खालिअ लहुं लहुं अवक्कमिश्शम् । [अज्ञाः कुरुत धर्मसंचयम् ।

संयच्छत निजोदरं नित्यं जागृत ध्यानपटहेन ।
विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसञ्चितं धर्मम् ॥

अपि च । अनित्यतया प्रेक्ष्य केवलं तावद्धर्माणां शरणमस्मि ।

पञ्चजना येन मारिता स्त्रियं मारयित्वा ग्रामो रक्षितः ।
अबलः क्व चण्डालो मारितोऽवश्यमपि स नरः स्वर्गं गाहते ॥

शिरो मुण्डितं तुण्डं मुण्डितं चित्तं न मुण्डितं किमर्थं मुण्डितम् ।
यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम् ॥

गृहीतकषायोदकमेतच्चीवरम्, यावदेतद्राष्ट्रियश्यालकस्योद्याने प्रविश्य पुष्करिण्यां प्रक्षाल्य लघु लघ्वपक्रमिष्यामि ।] (परिक्रम्य तथा करोति)

(नेपथ्ये)

शकारः—चिठ्ठ ले दुट्ठशमणका, चिठ्ठ । [तिष्ठ रे दुष्टश्रमणक, तिष्ठ ।]

भिक्षुकः कथयति—संयच्छत इति । हे अज्ञाः अज्ञानिनः, निजोदरं स्वकीयम् उदरं संयच्छत संयतं कुरुत, ध्यानमेव पटहः वाद्यविशेषः तेन नित्यं सदा जागृत सावधानाः भवत । कुतः इत्याह—यतः इन्द्रियाणि एव चौराः इन्द्रियचौराः विषमाः

आठवाँ अङ्क

(तब गीला वस्त्र हाथ में लिए हुए भिक्षु प्रविष्ट होता है)

भिक्षु—अज्ञानी जनो, धर्म का संचय करो।

अपने उदर को संयत करो, ध्यान-रूपी पटह (नगाड़े) से सदा जागते रहो; (क्योंकि) ये इन्द्रिय-रूपी चौर भयङ्कर हैं। ये बहुत समय से संचित धर्म को हर लेते हैं ॥१॥

और भी। (संसार को) अनित्यता के भाव से देखकर मैं एक मात्र धर्मकार्यों के शरण में (आ गया) हूँ।

जिसने पाँच जनों (इन्द्रियों) को मार दिया, (अविद्या-रूपी) स्त्री को मार कर (शरीर-रूपी) ग्राम की रक्षा कर ली तथा दुर्बल चाण्डाल (अहङ्कार) का नाश कर दिया, वह मनुष्य अवश्य ही स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥२॥

शिर मुंडा लिया, मुख मुंडा लिया किन्तु मन नहीं मुंडाया (पवित्र नहीं किया) यह मुंडाना किस काम का है? और फिर जिसका चित्त भली प्रकार मुंड गया है (पवित्र हो गया है) उसका शिर भली भांति मुंड गया है ॥३॥

प्रथमतः (यावत्) इस राजा के साले (संस्थानक) के उद्यान में प्रवेश करके गेरुए रंग से युक्त इस वस्त्र को पोखर में धोकर शीघ्रातिशीघ्र चला जाऊँगा। (घूमकर वैसा ही करता है)

(नेपथ्य में)

शकार—ठहर, अरे, दुष्टश्रमणक ठहर।

भयङ्कराः भवन्ति ते च चिरसञ्चितं बहुकालेन उपार्जितं धर्मं पुण्यं हरन्ति। आर्याजातिः वृत्तम् ॥१॥

पञ्चजना इति। येन जनेन पञ्चजनाः पञ्च इन्द्रियाणि इत्यर्थः मारिताः वशीकृतानि, स्त्रियम् अविद्याम् इति भावः. मारयित्वा नाशयित्वा ग्रामः शरीरम् आत्मा वा रक्षितः अबलः असहायः दुर्बलो वा चण्डालः अहङ्कारः इत्यर्थः मारितः स नरः अवश्यं स्वर्गं गाहते गच्छति। वैतालीयं वृत्तम् ॥२॥

शिर इति। यस्य जनस्य शिरः मुण्डितम्, तुण्डं मुखं मुण्डितम्, चित्तं न मुण्डितं न संयतीकृतम्। तदा किमर्थं मुण्डितं तस्य मुण्डनेन न कोऽपि लाभः इति भावः। पुनः किन्तु यस्य जनस्य चित्तं साधु सम्यक्. मुण्डितं तस्य शिरः सुष्ठु सम्यक् मुण्डितम्। वैतालीयं वृत्तम् ॥३॥

भिक्षुः—(दृष्ट्वा सभयम्) ही अविदमाणहे । एशे शे लाअशालशंठाणे आअदे एक्केन भिक्खुणा अवलाहे किदे अण्णं पि जहिं जहिं भिक्खुं पेक्खदि, तहिं तहिं गोणं विअ णासं विन्धिअ ओवाहेदि । ता कहिं अशलणे शलणं गमिश्शम् । अथवा भट्टालके ज्जेव बुद्धे मे शलणे । [आश्चर्यम् । एष स राजश्यालसंस्थानक आगतः । एकेन भिक्षुणापराधे कृतेऽन्यमपि यत्र यत्र भिक्षुं पश्यति, तत्र तत्र गामिव नासिकां विद्ध्वापवाहयति । तत्कुत्राशरणः शरणं गमिष्यामि । अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम् ।]

(प्रविश्य सखड्गेन विटेन सह)

शकारः—चिट्ठ ले दुट्ठशमणका, चिट्ठ । आवाणअमज्झपविट्ठश्श विअ लत्तमूलअश्श शीशं दे मोडइश्शम् । [तिष्ठ रे दुष्टश्रमणक, तिष्ठ । आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भङ्क्ष्यामि । (इति ताडयति)

विटः—काणेलीमातः, न युक्तं निर्वेदधृतकषायं भिक्षुं ताडयितुम् । तत्किमनेन । इदं तावत्सुखोपगम्यमुद्यानं पश्यतु भवान् ।

अशरणशरणप्रमोदभूतैर्वनतरुभिः क्रियमाणचारुकर्म ।
हृदयमिव दुरात्मनामगुप्तं नवमिव राज्यमनिर्जितोपभोग्यम् ॥४॥

भिक्षुः—शाअदम् । पशीददु उवाशके । [स्वागतम् । प्रसीदतूपासकः]

शकारः—भावे, पेक्ख पेक्ख । आक्कोशदि मम् । [भाव, पश्य पश्य आक्रोशति माम् ।]

विटः—किं ब्रवीति ।

शकारः—उवाशके त्ति मं भणादि । किं हग्गे णाविदे । [उपासक इति मां भणति किमहं नापितः ।]

विटः—बुद्धोपासक इति भवन्तं स्तौति ।

शकारः—थुणु शमणका, थुणु । [स्तुहि श्रमणक, स्तुहि ।]

भिक्षुः—तुमं धण्णे, तुमं पुण्णे । [त्वं धन्यः, त्वं पुण्यः ।]

गृहीतं कषायोदकं कषायवर्णम् उदकं येन तत् । चीवरं वस्त्रं बौद्धभिक्षुकाणां वस्त्रविशेषो वा । पुष्करिण्यां कृत्रिमसरोवरे (खाते) । यद्यपि राजश्यालकः एव राष्ट्रियः तथापि—'राष्ट्रियश्यालकत्वेन च पुनः संयोगः प्रकर्षख्यापनार्थः' इति पृथ्वीधरः ।

अपवाहयति अपसारयति, दूरीकरोति । भट्टारकः स्वामी, देवः । आपानं पानगोष्ठी, मद्यपानां समाजः इति यावत् तस्य मध्ये प्रविष्टस्य रक्तमूलकस्य शीर्षम् इव; 'मद्यपाः हि पत्रलकभागमपनीय मूलकमुपदंशीकुर्वन्ति'—इति प्रसिद्धिः निर्वेदेन वैराग्येण धृतं काषायं येन तम् । 'कषाय' इति पाठान्तरम् । सुखेन उपगम्यम्

भिक्षु—(देखकर भयपूर्वक) आश्चर्य, यह वह राजा का साला संस्थानक आ गया। एक भिक्षुक के अपराध करने पर (अब यह) जहाँ-जहाँ दूसरे भी किसी भिक्षुक को देखता है, वहीं उसे बैल के समान नाक बेंधकर (नाथ कर) बाहर निकाल देता है। तो आश्रयहीन मैं किसकी शरण में जाऊँ? अथवा भगवान् बुद्ध ही मेरे आश्रय हैं।

(खड्ग लिये हुए विट के साथ प्रवेश करके)

शकार—ठहर, अरे, दुष्ट श्रमणक, ठहर। मैं मदिरालय में आई हुई लाल मूली के समान तेरे शिर को तोड़ता हूँ। (मारता है)

विट—काणेली के पुत्र, वैराग्य से गेरुआ वस्त्र धारण करने वाले इस भिक्षु को मरना ठीक नहीं। तो इससे क्या? आप तनिक इस सुखगम्य उद्यान को देखिये।

जिसमें आश्रयहीनों को आश्रय तथा आनन्द देने वाले वन-वृक्षों के द्वारा मनोहर कार्य किया जा रहा है, जो दुष्ट-जनों के हृदय के समान (यथेच्छ विहार आदि के कारण) अनियन्त्रित है और नवीन राज्य के समान भली-भाँति अधिकृत न किया गया तथा सबके उपभोग के योग्य है ॥४॥

भिक्षु—स्वागत है उपासक (बुद्ध के पूजक) प्रसन्न होवें।

शकार—भाव, देखो, देखो यह मुझे गाली दे रहा है।

विट—क्या कहता है?

शकार—'मुझे उपासक' कहता है, क्या मैं नाई हूँ?

विट—'बुद्ध का उपासक' ऐसा कह कर आपकी प्रशंसा करता है।

शकार—प्रशंसा करो, श्रमणक, प्रशंसा करो।

भिक्षु—तुम धन्य हो, तुम पुण्य (पवित्र) हो।

उद्यानम् (टि०)। अशरणेति। अशरणानाम् आश्रयहीनानां शरणम् आश्रयः, प्रमोदभूताः आनन्दस्वरूपाः अशरणशरणाश्च ते प्रमोदभूताश्च तैः वनतरुभिः वन-वृक्षैः क्रियमाणं चारु मनोरमं कर्म यत्र तत्। दुरात्मनां दुष्टानां (त्वादृशामिति ध्वनिः—काले) हृदयम् इव अगुप्तम् अनियन्त्रितम्। नवं नूतनं राज्यम् इव अनिर्जितं नाधिकृतं ततश्च सर्वैः उपभोग्यं सर्वेषाम् उपभोगयोग्यम् अतः सुकरः भिक्षुकस्य प्रवेशः इति भावः। उपमालङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥४॥

आक्रोशति गालिप्रदानं करोति। उपासते इति उपासकः नापितोऽपि उपासकः उच्यते स हि केशकर्तनसमये उप=समीपे, आस्ते=तिष्ठति। अथवा 'स हि उपासको दृष्टः इत्याशयः' (इति पृथ्वीधरः)।

शलावकः=चार्वाकः, श्रावकः इत्यन्ये। कोष्ठकः इष्टकादिरचितं जलस्थानं

शकारः—भावे धण्णे पुण्णे त्ति मं भणादि। किं हग्गे शलावके कोश्टके कोम्भकाले वा। [भाव, धन्यः पुण्य इति मां भणति। किमहं चार्वाकः, कोष्ठकः कुम्भकारो वा।]

विटः—काणेलीमातः, ननु 'धन्यस्त्वम्, पुण्यस्त्वम्' इति भवन्तं स्तौति।

शकारः—भावे, ता कीश एशे इध आगदे। [भाव, तत्किमर्थमेष इहागतः।]

भिक्षुः—इदं चीवलं पक्खालिदुम्। [इदं चीवरं प्रक्षालयितुम्।]

शकारः—अले दुट्टशमणका, एशे मम बहिणीपदिणा शव्वुज्जाणाणं पवले पुप्फकलण्डुज्जाणे दिण्णे, जहिं दाव शुणहका शिआला पाणिअं पिअन्ति। हग्गे वि पवलपुलिशे मणुश्शके ण ण्हाआमि। तहिं तुमं पुक्खलिणीए पुलाणकुलुत्थजूशशवण्णाइं उश्शगन्धिआइं चीवलाइं पक्खालेशि। ता तुमं एक्कपहालिअं कलेमि। [अरे दुष्टश्रमणक, एतन्मम भगिनीपतिना सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डोद्यानं दत्तम्, यत्र तावच्छुनकाः शृगालाः पानीयं पिबन्ति। अहमपि प्रवरपुरुषो मनुष्यको न स्नामि। तत्र त्वं पुष्करिण्यां पुराणकुलित्थयूषसवर्णान्युग्रगन्धीनि चीवराणि प्रक्षालयसि। तत्त्वामेकप्रहारिकं करोमि।]

विटः—काणेलीमातः, तथा तर्कयामि यथानेनाचिरप्रव्रजितेन भवितव्यम्।

शकारः—कधं भावे जाणादि? [कथं भावो जानाति?]

विटः—किमत्र ज्ञेयम्। पश्य।

अद्याप्यस्य तथैव केशविरहाद्गौरी ललाटच्छविः
कालास्याल्पतया च चीवरकृतः स्कन्धे न जातः किणः।
नाभ्यस्ता च कषायवस्त्ररचना दूरं निगूढान्तरं
वस्त्रान्तं च पटोच्छ्रयात्प्रशिथिलं स्कन्धे न संतिष्ठते॥५॥

भिक्षुः—उवाशके, एव्वम्। अचिलपव्वजिदे हग्गे [उपासक, एवम्। अचिरप्रव्रजितोऽहम्।]

शकारः—ता कीश तुमं जातमेत्तके ज्जेव ण पव्वजिदे। [तत्किमर्थं त्वं जातमात्र एव न प्रव्रजितः।] (इति ताडयति)

(निपानम्) यत्र पशवः पानीयं पिबन्ति तद् हि पुण्यं प्राण्यनुग्रहात्। कुम्भकारोऽपि पुण्यः जनानामुपकारकरणात्। अथवा शकारवचनाद् अनर्थका एव इमे शब्दाः।

प्रवरं श्रेष्ठम्। शुनकाः कुक्कुराः। पुराणः कुलित्थः अन्नविशेषः तस्य यूषस्य सवर्णानि तुल्यानि 'शबलानि' इति पाठान्तरम्। उग्रगन्धीनि तीव्रगन्धयुतानि। एकप्रहारिकम् एकः प्रहारः जीवितापहारित्वेन अस्ति अस्य, एकप्रहारेण

शकार—भाव, 'धन्य-पुण्य' ऐसा मुझको कहता है। क्या मैं चार्वाक (भौतिकवादी) हूँ, कोष्ठक (भण्डारी, अन्न का कोठा या जल भरने की चर—देखिये टिप्पणी) अथवा कुम्भकार हूँ।

विट—काणेली के पुत्र, वह तो 'तुम धन्य हो।' 'तुम पवित्र हो'—इस प्रकार तुम्हारी प्रशंसा कर रहा हैं।

शकार—भाव, तो किस लिये यह यहाँ आया है?

भिक्षु—इस वस्त्र को धोने के लिये।

शकार—अरे दुष्ट श्रमणक, मेरे वहनोई ने सब उद्यानों में श्रेष्ठ यह 'पुष्पकरण्ड' नाम का उद्यान मुझे दिया है जहाँ कुत्ते और सियार पानी पीते हैं, श्रेष्ठ पुरुष, ननुष्य में भी यहाँ स्नान नहीं करता हूँ। तू उस पोखरी में पुराने कुलित्थ के काढे (यूष) जैसे रंग वाले, उग्र दुर्गन्ध युक्त वस्त्रों को धोता है। मैं तुझे एक प्रहार से (ही) मारता हूँ।

विट—काणेली के पुत्र, मैं ऐसा अनुमान करता हूँ कि यह कुछ समय से ही परिव्राजक हुआ है।

शकार—आप कैसे जानते हैं?

विट—इसमें जानने योग्य ही क्या है? देखो—

आज भी केशों के अभाव से इसके ललाट की कान्ति वैसे ही गौर वर्ण है। अल्प समय होने के कारण ही कन्धे पर वस्त्र का चिह्न नहीं हुआ। इसे गेरुए वस्त्रों के पहनने (अथवा रंगने) का भी (पूर्ण) अभ्यास नहीं हुआ है, तथा जो उसके शरीर के मध्य भाग को अत्यन्त ढक रहा है एवं वस्त्र की विशालता के कारण शिथिल है, ऐसा इसके वस्त्र का छोर (वस्त्रान्तम्) कन्धे पर नहीं ठहर रहा है ॥५॥

भिक्षु—उपासक, ऐसा ही है, कुछ समय से ही मैं परिव्राजक हुआ हूँ।

शकार—तू उत्पन्न होते ही परिव्राजक क्यों नहीं हुआ? (मारता है)

मारणीयमिति भावः। 'एक प्रहारेण मारणोक्तावयं प्रयोगः' इति पृथ्वीधरः।

अचिरेण प्रव्रजितः अचिरप्रव्रजितः तेन।

कथम् अचिरप्रव्रजितोऽयं भिक्षुरिति प्रतिपादयति विटः—अद्येति। अद्य अपि केशविरहात् केशानाम् अभावाद् अस्य भिक्षुकस्य ललाटस्य छविः शोभा तथैव गृहस्थाश्रमे स्थितस्यैव गौरी गौरवर्णा दृश्यते। कालस्य अल्पतया च चीवरकृतः वस्त्रकृतः किणः घर्षणजं व्रणचिह्नं स्कन्धे न जातः। कषायवस्त्रस्य रचना रञ्जनकार्यं वस्त्राणां कषायीकरणमिति यावत् काषायवस्त्रधारणं वा न अभ्यस्ता न सम्यक् शीलितम्। दूरम् अत्यन्तं निगूढम् समाच्छादितम् अन्तरं शरीरस्य मध्यभागः येन तत्, पटस्य वस्त्रस्य उच्छ्रयात् विशालतया प्रशिथिलं च वस्त्रान्तं वस्त्राञ्चलः, नपुंसकत्वं चिन्त्यमिति पृथ्वीधरः। स्कन्धे स्कन्धप्रदेशे न संतिष्ठते स्थिरो न भवति। समुच्चयः काव्यलिङ्गञ्चालङ्कारौ। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५॥

भिक्षुः—णमो बुद्धश्श। [नमो बुद्धाय।]

विटः - किमनेन ताडितेन तपस्विना। मुच्यताम्। गच्छतु।

शकारः—अले, चिठ्ठ दाव जाव शंपधालेम्हि। [अरे, तिष्ठ तावत्, यावत्संप्रधारयामि।]

विटः—केन सार्धम्।

शकारः—अत्तणो हडक्केण। [आत्मनो हृदयेन।]

विटः—हन्त, न गतः।

शकारः—पुत्तका हडक्का भश्उके पुत्तके, एशे शमणके अवि णाम किं गच्छदु, किं चिश्टदु। (स्वगतम्) णावि गच्छदु, णावि चिश्टदु, (प्रकाशम्) भावे, शंपधालिदं मए हडक्केण शह। एशे मह हडक्के भणादि। [पुत्रक हृदय, भट्टारक पुत्रक, एष श्रमणकोऽपि नाम किं गच्छतु, किं तिष्ठतु। नापि गच्छतु, नापि तिष्ठतु। भाव, संप्रधारितं मया हृदयेन सह। एतन्मम हृदयं भणति।]

विटः—किं ब्रवीति।

शकारः—मावि गच्छदु, मावि चिश्टदु। मावि ऊशशदु, मावि णीशशदु। इध ज्जेव झत्ति पडिअ मलेदु। [मापि गच्छतु मापि तिष्ठतु। माप्युच्छ्वसितु, मापि निःश्वसितु। इहैव झटिति पतित्वा म्रियताम्।]

भिक्षुः—णमो बुद्धश्श। शलणागदेम्हि। [नमो बुद्धाय। शरणागतोऽस्मि।

विटः—गच्छतु।

शकारः—णं शमएण। [ननु समयेन।]

शकारः—तधा कद्दमं फेलदु, जधा पाणिअं पङ्काइलं ण होदि। अधवा पाणिअं पुञ्जीकदुअ कद्दमे फेलदु। [तथा कर्दमं प्रक्षिपतु, यथा पानीयं पङ्काविलं न भवति। अथवा पानीयं पुञ्जीकृत्य कर्दमे क्षिपतु।]

विटः—अहो मूर्खता।

विपर्यस्तमनश्चेष्टैः शिलाशकलवर्ष्मभिः।
मांसवृक्षैरियं मूर्खैर्भाराक्रान्ता वसुन्धरा॥६॥

(भिक्षुर्नाट्येनाक्रोशति)

शकारः—किं भणादि। [किं भणति।]

विटः—स्तौति भवन्तम्।

शकारः—थुण थुण पुणो वि थुण। [स्तुहि स्तुहि। पुनरपि स्तुहि।]

(तथा कृत्वा निष्क्रान्तः भिक्षुः)

भिक्षु—बुद्ध को प्रणाम है।

विट—इस बेचारे को मारने से क्या लाभ है? छोड़ दीजिये। चला जाये (जाने दीजिये)।

शकार—अरे, तनिक ठहर। जब तक विचार करता हूँ।

विट—किसके साथ?

शकार—अपने हृदय के साथ।

विट—हाय, यह गया नहीं।

शकार—पुत्र हृदय, राजा हृदय, यह बौद्ध संन्यासी चला जाये या ठहरे? (अपने आप) न जाये और न ठहरे। (प्रकट रूप में) भाव, मैंने हृदय के साथ निश्चय कर लिया। मेरा हृदय यह कहता है?

विट—क्या कहता है?

शकार—न तो जाये, न ठहरे। न उच्छ्वास ले, न विश्वास ले, यहीं पर तुरन्त गिर कर मर जाये।

भिक्षु—बुद्ध को प्रणाम। मैं शरण में आया हूँ।

विट—यह जाये (इसे जाने दो)।

शकार—किन्तु समय (शर्त) से।

विट—कैसा समय?

शकार—यह इस प्रकार कीचड़ फेंक दे जिससे कि पानी गदला न होवे। अथवा पानी को इकठ्ठा करके कीचड़ में फेंक दे।

विट—अहो, कैसी मूर्खता है?

विपरीत विचार तथा कार्य करने वाले, शिलाखण्ड के समान शरीर (वर्ष्म) वाले मांस के वृक्षों जैसे मूर्खों के द्वारा यह पृथ्वी भारवती हो रही है ॥६॥

(भिक्षु अभिनय द्वारा कोसता है हैं)

शकार—क्या कहता है?

विट—आपकी प्रशंसा करता है।

शकार—प्रशंसा करो, प्रशंसा करो, एक बार फिर प्रशंसा करो।

(वैसा करके भिक्षु निकल जाता है)

जातमात्रः उत्पन्नमात्रः। तपस्विना वराकेण। संप्रधारयामि विचारयामि, निश्चिनोमि वा।

भट्टारक स्वामिन्। श्रमणकः बौद्धसंन्यासी। अपि नाम इति वाक्यालङ्कारे। संप्रधारितं निश्चितम्। समयेन शपथेन। कर्दमं पङ्कम्। पङ्काविलं पङ्केन मलिनम्। शकारस्य मूर्खतामयं वचनं श्रुत्वा विटः कथयति—विपर्यस्तेति। विपर्यस्ते विपरीते मनः चेष्टा च येषां तादृशैः शिलाशकलवत् पाषाणखण्डवत् वर्ष्म शरीरं येषां तैः मांसस्य वृक्षैः इव मूर्खैः शकारसदृशैः जनैः इयं वसुन्धरा पृथ्वी भाराक्रान्ता भारवती वर्तते। उपमा रूपकं चालङ्कारौ ॥६॥

विटः—काणेलीमातः, पश्योद्यानस्य शोभाम् ।

अमी हि वृक्षाः फलपुष्पशोभिताः
कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः ।
नृपाज्ञया रक्षिजनेन पालिता
नराः सदारा इव यान्ति निर्वृतिम् ॥७॥

शकारः—शुश्टु भावे भणादि ।

बहुकुशुमविचित्तिदा अ भूमी
कुशुमभलेण विणामिदा अ रुक्खा ।
दुमशिहलदाअलम्बमाणा
पणशफला विअ बाणला ललन्ति ॥८॥

[सुष्ठु भावो भणति ।

बहुकुसुमविचित्रिता च भूमिः कुसुमभरेण विनामिताश्च वृक्षाः ।
द्रुमशिखरलतावलम्बमानाः पनसफलानीव वानरा ललन्ति ॥]

विटः—काणेलीमातः, इदं शिलातलमध्यास्यताम् ।

शकारः—एशे म्हि आशिदे । (इति विटेन सहोपविशति) भावे अज्ज वि तं वशन्तशेणिअं शुमलामि । दुज्जणवअणं विअ हडक्कादो ण ओशलदि । [एषोऽस्म्यासितः । भाव, अद्यापि तां वसन्तसेनां स्मरामि । दुर्जनवचनमिव हृदयान्नापसरति ।]

विटः—(स्वगतम्) तथा निरस्तोऽपि स्मरति ताम् । अथवा ।

स्त्रीभिर्विमानितानां कापुरुषाणां विवर्धते मदनः ।
सत्पुरुषस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति ॥९॥

शकारः—भावे, का वि वेला थावलकचेडश्श भणिदश्श 'पवहणं गेण्हिअ लहुं लहुं आअच्छे' त्ति । अज्ज वि ण आअच्छदि त्ति चिलम्हि बुभुक्खिदे । मज्झण्हे ण शक्कीअदि पादेहिं गन्तुम् । ता पेक्ख पेक्ख ।

अमीति । पुष्पैः फलैः च शोभिताः कठोरं गाढं यथा स्यात् तथा निष्पन्दाभिः निश्चलाभिः लताभिः उपवेष्टिताः आलिङ्गिताः अमी दृश्यमानाः वृक्षाः नृपस्य आज्ञया रक्षिजनेन रक्षकजनेन पालिताः रक्षिताः सदाराः स्त्रीभिः सहिताः नराः

विट—काणेली के पुत्र, उद्यान की शोभा को देखो।

फल एवं पुष्पों से सुशोभित, निश्चल (निष्पन्द) लताओं से भली-भांति (कठोर=गाढ) आलिङ्गित ये वृक्ष राजा की आज्ञा से रक्षकों द्वारा रक्षित सपत्नीक पुरुषों के समान सुख (निर्वृति) को प्राप्त कर रहे हैं ॥७॥

शकार—आप ठीक कहते हैं।

भूमि अनेक रंग के पुष्पों से चित्रित है तथा वृक्ष पुष्पों के भार से झुके हैं। वृक्षों के ऊपर की शाखाओं (लता) पर लटकते हुए बानर कटहल (पनस) के फल के सामान शोभायमान हैं ॥८॥

विट—काणेली के पुत्र, इस शिलातल पर बैठिए।

शकार—यह मैं बैठ गया। (विट के साथ बैठता है)। भाव, आज भी उस वसन्तसेना क स्मरण करता हूँ। दुष्ट जन के वचन के समान वह मेरे हृदय से नहीं निकलती है।

विट—(अपने आप) उस प्रकार तिरस्कृत (निरस्त) होकर भी उसको याद करता है। अथवा स्त्रियों के द्वारा तिरस्कृत हुए अधम (कायर) पुरुषों का काम-भाव (कामवासना) अधिक बढ़ जाता है, किन्तु सज्जनों का काम-भाव तो (स्त्रियों से अपमानित होने पर) कम हो जाता है अथवा रहता ही नहीं ॥९॥

शकार—भाव, 'स्थावरक' सेवक से यह कहे हुए कितना समय हो गया कि—'गाड़ी को लेकर शीघ्र से शीघ्र आ जाओ' वह अब तक भी नहीं आ रहा है, मैं बहुत देर से भूखा हूँ। मध्याह्न में पैदल नहीं जाया जा सकता तो देखो, देखो—

इव निर्वृत्ति सुखं यान्ति प्राप्नुवन्ति। उपमा, समासोक्तिश्च। वंशस्थं वृत्तम् ॥७॥

बहुकुसुमेति। भूमिः बहुभिः नानावर्णैः कुसुमैः पुष्पैः विचित्रिता, वृक्षाः च कुसुमभरेण विनामिताः नम्राः कृताः। द्रुमाणां वृक्षाणां शिखरलताभ्यः अग्रभागशाखाभ्यः अवलम्बमानाः वानरा पनसफलानि (कटहल इति भाषायाम्) इव ललन्ति शोभन्ते। उपमालङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥८॥

शिलातलम् अध्यास्यताम् इति छेदः। निरस्तः निराकृतः, प्रत्याख्यातः। स्त्रीभिरिति। स्त्रीभिः विमानितानां तिरस्कृतानां कापुरुषाणाम् अधीरजनानां मदनः कामः विवर्द्धते तु किन्तु सत्पुरुषस्य सः कामः एव मृदुः अल्पः भवति वा अथवा नैव भवति विनश्यति इति भावः ॥९॥

णहोमज्झगदे शूले दुप्पेक्खे कुविदवाणलशलिच्छे ।
भूमी दढशंतत्ता हृदपुत्तशदेव्व गन्धाली ॥१०॥

[भाव, कापि वेला स्थावरकचेटस्य भणितस्य 'प्रवहणं गृहीत्वा लघु लघ्वागच्छ' इति । अद्यापि नागच्छतीति चिरमस्मि बुभुक्षितः । मध्याह्ने न शक्यते पादाभ्यां गन्तुम् । तत्पश्य पश्य ।

नभोमध्यगतः सूर्यो दुःप्रेक्ष्यः कुपितवानरसदृशः ।
भूमिर्दृढसंतप्ता हतपुत्रशतेव गान्धारी ॥]

विटः—एवमेतत् ।

छायासु प्रतिमुक्तशष्पकवलं निद्रायते गोकुलं
तृष्णार्तैश्च निपीयते वनमृगैरुष्णं पयः सारसम् ।
संतापादतिशङ्कितैर्न नगरीमार्गो नरैः सेव्यते
तप्तां भूमिमपास्य च प्रवहणं मन्ये क्वचित्संस्थितम् ॥११॥

शकारः—भावे,

शिलशि मम णिलीणे भाव शुज्जश्श पादे
शउणिखगविहङ्गा लुक्खशाहाशु लीणा ।
णलपुलिशमणुश्शा उण्हदीहं शशन्ता
घलशलणणिशण्णा आदवं णिव्वहन्ति ॥१२॥

भावे, अज्ज वि शे चेडे णाअच्छदि । अत्तणो विणोदणणिमित्तं किं पि गाइश्शम् (इति गायति) भावे, भावे शुदं तुए जं मए गाइदम् । [भाव,

शिरसि मम निलीनो भाव, सूर्यस्य पादः
शकुनिखगविहङ्गा वृक्षशाखासु लीनाः ।
नरपुरुषमनुष्या उष्णदीर्घं श्वसन्तो
गृहशरणनिषण्णा आतपं निर्वहन्ति ॥

भाव, अद्यापि स चेटो नागच्छति । आत्मनो विनोदननिमित्तं किमपि गास्यामि । भाव भाव, श्रुतं त्वया यन्मया गीतम् ।]

आकाश के मध्य में गया हुआ सूर्य क्रुद्ध वानर के (मुख के) समान देखा जाना कठिन है। मारे गये थे सौ पुत्र जिसके उस गान्धारी के समान यह पृथ्वी अत्यन्त संतप्त है ॥१०॥

विट—यह ऐसा ही है।

कोमल घास के ग्रास को छोड़कर गायों का समूह छाया में नींद ले रहा है। प्यास से व्याकुल वन-मृगों के द्वारा सरोवर का गर्म जल पिया जा रहा है। संताप से अत्यन्त भयभीत होकर मनुष्य नगरी के मार्ग (सड़क) पर नहीं चल रहे हैं। अतः मैं समझता हूँ कि सन्तप्त भूमि को छोड़कर वह गाड़ी कहीं ठहर गई है ॥११॥

शकार—भाव,

सूर्य की किरण (चरण) मेरे सिर पर स्थित है, पक्षी (खग विहङ्ग) वृक्ष की शाखाओं में छिप गये हैं, मनुष्य (नर, पुरुष) गर्म तथा लम्बी सांस लेते हुए घर (गृह, शरण) में बैठे आतप (के समय) को व्यतीत कर रहे हैं ॥१२॥

भाव, अब भी वह सेवक नहीं आ रहा है। अपने मनोरञ्जन के लिए कुछ गाता हूँ। भाव, तुमने सुना, जो मैंने गाया ?

नभइति । नभसः; आकाशस्य मध्यगतः मध्यभागे स्थितः सूर्यः कुपितवानरस्य क्रुद्धवानरस्य सदृशः दुष्प्रेक्ष्यः दुःखेन प्रेक्षितुं शक्यः । हतं पुत्रशतं यस्याः तथाभूता गान्धारी दुर्योधनादीनां माता इव भूमिः दृढं यथा स्यात् तथा सन्तप्ता यथा गान्धारी शोकेन सन्तप्ता आसीत् तथा भूमिः आतपेन सन्तप्ता इति भावः । उपमालङ्कारः । आर्याजातिः वृत्तम् ॥१०॥

विटः ग्रीष्मसन्तापं वर्णयति—छायासु—इति । प्रतिमुक्ताः त्यक्ताः शष्पाणां बालतृणानां कवलाः ग्रासाः येन तथाभूतं गोकुलं गोसमूहः छायासु निद्रायते स्वपिति । तृष्णार्तैः पिपासाकुलैः वनमृगैः वनपशुभिः उष्णं सारसं सरसः इदं सारसं पयः जलं पीयते । सन्तापात् सूर्यस्य आतपाद् अतिशङ्कितैः भीतैः नरैः नगरीमार्गः न सेव्यते न गम्यते । अहं मन्ये यद् तप्तां सन्तप्तां भूमिम् अपास्य त्यक्त्वा प्रवहणं क्वचित् छायामयप्रदेशे संस्थितम् । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥११॥

शिरसीति । भाव, सूर्यस्य पादः किरणः मम सिरसि निलीनः स्थितः । शकुनयः पक्षिणः ते एव खगाः विहङ्गाश्च । शकारोक्तित्वात् पुनरुक्तिः न दोषाय । (एवमग्रेऽपि) वृक्षशाखासु लीनाः । नराः ते एव पुरुषाः मनुष्याश्च उष्णं दीर्घं च श्वसन्तः गृहं तदेव शरणं तत्र निषण्णाः उपविष्टाः आतपं निर्वहन्ति यापयन्ति । मालिनी वृत्तम् ॥१२॥

विटः—किमुच्यते । गन्धर्वो भवान् ।

शकारः—कधं गन्धव्वे ण भविश्शम् ।

हिङ्गूज्जले जीलकभद्दमुश्ते वचाह गण्ठी शगुडा श्र शुण्ठी ।
एशे मए शेविद गन्धजुत्ती कधं ण हग्गे मधुलश्शले त्ति ॥१३॥

भावे, पुणो वि दाव गाइश्शम् । (तथा करोति) भावे भावे, शुदं तुए जं मए गाइदम् । [कथं गन्धर्वो न भविष्यामि ।

हिङ्गूज्ज्वला जीरकभद्रमुस्ता वचाया ग्रन्थिः सगुडा च शुण्ठी ।
एषा मया सेविता गन्धयुक्तिः कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥

भाव, पुनरपि तावद्गास्यामि । भाव भाव, श्रुतं त्वया यन्मया गीतम् ।]

विटः—किमुच्यते । गन्धर्वो भवान् ।

शकारः—कधं गन्धव्वे ण भवामि ।

हिङ्गूज्जले दिण्णमरीचचुण्णे वग्घालिदे तेल्लघिएण मिश्शे ।
भुत्ते मए पालहुदीअमंशे कधं ण हग्गे मधुलश्शलेत्ति ॥१४॥

भावे, अज्जवि चेडे णाअच्छदि । [कथं गन्धर्वो न भवामि ।

हिङ्गूज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम् ।
भुक्तं मया पारभृतीयमांसं कथं नाहं मधुरस्वर इति ॥

भाव, अद्यापि चेटो नागच्छति ।]

विटः—स्वस्थो भवतु भवान् । संप्रत्येवागमिष्यति ।

(ततः प्रविशति प्रवहणाधिरूढा वसन्तसेना चेटश्च)

चेटः—भीदे क्खु हग्गे । मज्झण्हिके शुज्जे । मा दाणिं कुविदे लाअशालशंठाणे हुविश्शदि । ता तुलिदं वहामि । जाध गोणा जाध । [भीतः खल्वहम् । माध्याह्निकः सूर्यः । नेदानीं कुपितो राजश्यालसंस्थानको भविष्यति । तत्त्वरितं वहामि । यातं गावौ यातम् ।]

वसन्तसेना—हद्धी हद्धी । ण क्खु वड्ढमाणअस्स अअं सरसंजोओ । किं णेदम् । किं णु क्खु अज्जचारुदत्तेण वाहणपडिस्समं परिहरन्तेण अण्णो मणुस्सो अण्णं पवहणं पेसिदं भविस्सदि । फुरदि दाहिणं लोअणम् । वेवदि मे हिअअम् । सुण्णाओ दिसाओ । सव्वं ज्जेव विसंठुलं पेक्खामि । [हा धिक् हा धिक् । न खलु वर्धमानकस्यायं स्वरसंयोगः । किं न्विदम् । किं नु खल्वार्यचारुदत्तेन वाहनपरिश्रमं परिहरतान्यो मनुष्योऽन्यत्प्रवहणं प्रेषितं भविष्यति । स्फुरति दक्षिणं लोचनम् । वेपते मे हृदयम् । शून्या दिशः । सर्वमेव विसंष्ठुलं पश्यामि ।]

विट—क्या कहना ? आप गन्धर्व (गायकजातिविशेष) हैं ।

शकार—गन्धर्व क्यों न होऊँ ?

हींग से मिश्रित (शुभ्र) तथा जीरे सहित नागरमोथा, वच की गाँठ और गुड़ सहित सोंठ इस सुगन्धित योग (मिश्रण Mixture) का मैंने सेवन किया है, तो मैं मधुर स्वर वाला क्यों न होऊँ ॥१३॥

भाव, फिर भी गाता हूँ । भाव, भाव, तुमने सुना, जो मैंने गाया ?

विट-- क्या कहना । आप गन्धर्व हैं ।

शकार—गन्धर्वं क्यों न होऊँ ?

मैंने हींग से उज्ज्वल, (काली) मिर्च के चूर्ण से युक्त बघारा हुआ तथा तेल और घी से मिश्रित कोयल का माँस खाया है, फिर मैं मधुर-स्वर वाला क्यों न होऊँ ॥१४॥

भाव, अब भी सेवक नहीं आ रहा है ।

विट—आप स्वस्थ (निश्चिन्त, प्रकृतिस्थ) रहिये । अभी आ जायेगा ।

(तब गाड़ी पर बैठी हुई वसन्तसेना तथा चेट प्रवेश करते हैं)

चेट—मैं बहुत डरा हुआ हूँ । सूर्य मध्याह्न में आ गया । कहीं इस समय राजश्यालक संस्थानक क्रुद्ध न हों । अतः तीव्र गति से चलाता हूँ । चलो बैलो चलो ।

वसन्तसेना--हाय खेद ! हाय खेद ! निश्चय ही यह वर्धमानक का स्वर-संयोग नहीं है यह क्या (बात) है ? क्या बैलों (वाहन-वाह) की (अथवा ले जाने की) थकावट को बचाते हुये आर्य चारुदत्त ने दूसरा मनुष्य और दूसरी गाड़ी भेज दी होगी । मेरी दाहिनी आँख फड़कती हैं । मेरा हृदय काँप रहा है । दिशायें सूनी (लग रही) हैं । सभी विपरीत-सा देख रही हूँ ।

गन्धर्वः संगीतप्रवीणः देवजातिविशेषः ।

हिङ्गूज्ज्वलेति । हिङ्गुभिः उज्ज्वला शुभ्रा युक्ता वा, जीरकसहिता भद्रमुस्ता वचायाः उग्रगन्धायाः ग्रन्थिः सगुडा गुडेन सहिता च शुण्ठी एषा गन्धयुक्तिः गन्धानां गन्धद्रव्याणां योगः मया सेविता तर्हि अहं शकारः कथं न मधुरस्वरः मधुरः स्वरः यस्य तादृशः भवेयम् ? उपजातिः वृत्तम् ॥१३॥

हिङ्गुज्ज्वलमिति हिङ्गुभिः उज्ज्वलं दत्तं प्रक्षिप्तं मरीचचूर्णं यस्मिन् तत्, व्याघारितं तैलसहितेन घृतेन च मिश्रितं (परभृतः एव पारभृतः कोकिलः तस्येदं पारभृतीयम् 'वृद्धाच्छः', 'इति छः'—इति काले) पारभृतीयमांसं कोकिलमांसं मया भुक्तम् । अहं कथं न मधुरस्वरः भवेयम् ? उपजातिः वृत्तम् ॥१४॥

शकारः—(नेमिघोषमाकर्ण्य) भावे भावे, आगदे। पवहणे। [भाव भाव, आगतं प्रवहणम्।]

विटः—कथं जानासि।

शकारः—किं ण पेक्खदि भावे। वुड्ढशूअले विअ घुलघुलाअमाणं लक्खीअदि। [किं न पश्यति भावः। वृद्धशूकर इव घुरघुरायमाणं लक्ष्यते।]

विटः—(दृष्ट्वा) साधु लक्षितम्। अयमागतः।

शकारः—पुत्तका थावलका चेडा आगदे शि। [पुत्रक स्थावरक चेट, आगतोऽसि।]

चेटः—अध इं। [अथ किम्।]

शकारः—पवहणे वि आगदे। [प्रवहणमप्यागतम्।]

चेटः—अध इं। [अथ किं।]

शकारः—गोणा वि आगदे। [गावावप्यागतौ।]

चेटः—अध इं। [अथ किम्।]

शकारः—तुमं पि आगदे। [त्वमप्यागतः।]

चेटः—(सहासम्) भट्टके अहं पि आगदे। [भट्टारक, अहमप्यागतः।]

शकारः—ता पवेशेहि पवहणग्। [तत्प्रवेशय प्रवहणम्।]

चेटः—कवलेण मग्गेण। [कतरेण मार्गेण।]

शकारः—एदेण ज्जेव पगालखण्डेण। [एतेनैव प्राकारखण्डन!]

चेटः—भट्टके, गोणा मलेन्ति। पवहणे वि भज्जेदि। हग्गे वि चेडे मलामि। [भट्टारक, वृषभौ म्रियेते। प्रवहणमपि भज्यते। अहमपि चेटो म्रिये।]

शकारः—अले लाअशालके हग्गे गोणा मले, अवले कीणिश्शम्। पवहणे भग्गे, अवलं घडाइश्शम्। तुमं मले अण्णे पवहणवाहके हुविश्शदि। [अरे, राजश्यालकोऽहम्। वृषभौ मृतौ, अपरौ क्रेष्यामि। प्रवहणं भग्नम्, अपरं कारयिष्यामि। त्वं मृतः अन्यः प्रवहणवाहको भविष्यति।]

चेटः—शव्वं उववण्णं हुविश्शदि। हग्गे अत्तणकेलके ण हुविश्शम्। [सर्वमुपपन्नं भविष्यति। अहमात्मीयो न भविष्यामि।]

शकारः—अले, शव्वं पि णश्शदु। पगालखण्डेण पवेशेहि। पवहणम्। [अरे, सर्वमपि नश्यतु। प्राकारखण्डेन प्रवेशय प्रवहणम्।]

चेटः—विभज्ज ले पवहण, शमं शामिणा विभज्ज। अण्णे पवहणे। भोदु। भट्टके गदुअ णिवेदेमि। (प्रविश्य) कधं ण भग्गे। भट्टके एशे उवत्थिदे पवहणे। [विभञ्ज रे प्रवहण, समं स्वामिना विभञ्ज। अन्यत्प्रवहणं भवतु। भट्टारकं गत्वा निवेदयामि। कथं न भग्नम्। भट्टारक, एतदुपस्थितं प्रवहणम।]

शकार—(पहिये के शब्द को सुनकर) भाव, भाव, गाड़ी आ गई।

विट—कैसे जानते हो ?

शकार—क्या आप नहीं देखते ? बूढ़े सूअर की भांति घुर-घुर करती (प्रवहण) प्रतीत हो रही है।

विट—(देखकर) ठीक जाना। यह (चेट) आ गया।

शकार—बेटा, स्थावरक, चेट, आ गये ?

चेट—और क्या ? (जी हां)

शकार—गाड़ी भी आ गई ?

चेट—जी हाँ।

शकार—बैल भी आ गये।

चेट—जी हाँ।

शकार—तू भी आ गया ?

चेट—(हँसी के साथ) स्वामिन्, मैं भी आ गया।

शकार--तो गाड़ी को प्रविष्ट करो।

चेट—किस मार्ग से ?

शकार—इस चहारदीवारी के टूटे भाग से।

चेट—स्वामिन्, बैल मर जायेंगे। गाड़ी टूट जायेगी। मैं चेट भी मर जाऊँगा।

शकार—अरे, मैं राजश्यालक हूँ। बैल मर गये तो दूसरे खरीद लूँगा। गाड़ी टूट गई तो दूसरी बनवा लूँगा। तू मर गया तो दूसरा गाड़ीवान् हो जायेगा।

चेट—सब कुछ ठीक हो जायेगा। मैं अपने आप (स्वयं) न रहूँगा।

शकार--अरे, सब कुछ नष्ट हो जाये। गाड़ी को प्राकारखण्ड से प्रविष्ट करो।

चेट—टूट जा री गाड़ी, स्वामी के साथ टूट जा। दूसरी गाड़ी हो जाये। मैं जाकर स्वामी से निवेदन करता हूँ। (प्रवेश करके) क्यों ! (गाड़ी) टूटी नहीं। स्वामिन्, यह गाड़ी उपस्थित है।

स्वस्थः स्वस्मिन् स्वरूपे स्थितः प्रकृतिस्थः। वाहनयोः वाहयोः वृषभयोः इति यावत् परिश्रमं परिहरता। विसंष्ठुलं विपरीतम्। नेमिः चक्रप्रधिः घुरघुरायमाणं घुरघुरा इति अव्यक्तं शब्दं कुर्वत्। प्राकारस्य खण्डः प्राकारखण्डः तेन।

उपपन्नम् युक्तम् प्राप्तं वा। सादरकः आदरसहितः, अभ्यन्तरकः अन्तरङ्गः प्रेक्ष्यसे इति हेतोः त्वं पुरस्करणीयः अग्रे करणीयः सम्माननीयो वा।

शकारः—ण छिण्णा गोणा । ण मला लज्जू । तुमं पि ण मले । [न छि वृषभौ । न मृता रज्जवः । त्वमपि न मृतः ।]

चेटः—अध इं । [अथ किम् ।]

शकारः—भाव, आअच्छ । पवहणं पेक्खामो । भावे, तुमं पि मे गुलु गुलु । पेक्खीअशि शादलके अब्भन्तलकेत्ति पुलक्कलणीएत्ति तुमं दाव पवहणं अहिलुह । [भाव, आगच्छ । प्रवहणं पश्यावः । भाव, त्वमपि मम गुरुः गुरुः । प्रेक्ष्यसे सादरकोऽभ्यन्तरक इति पुरस्करणीय इति । त्वं तावत्प्रवहण मग्रतोऽधिरोह ।]

विटः—एवं भवतु । (इत्यारोहति)

शकारः—अधवा चिश्ट तुमम् । तुह बप्पकेलके पवहणे, जेण तुमं अ अहिलुहशि । हग्गे पवहणशामी । अग्गदो पवहणं अहिलुहामि । [अथवा तिष्ठ त्वं तव पितृसंबन्धि प्रवहणम्, येन त्वमग्रतोऽधिरोहसि । अहं प्रवहणस्वा अग्रतः प्रवहणमधिरोहामि ।]

विटः - भवानेवं ब्रवीति ।

शकारः—जइ वि हग्गे एव्वं भणामि, तधा वि तुह एशे आदले 'अहि भश्टके' त्ति भणिदुम् । [यद्यप्यहमेवं भणामि, तथापि तवैष आचारः 'अधि रोह भट्टारक' इति भणितुम् ।]

विटः—आरोहतु भवान् ।

शकारः—एशे शंपदं अहिलुहामि । पुत्तका थावलका चेडा पलिवत्तावेहि हणम् । [एष सांप्रतमधिरोहामि । पुत्रक स्थावरक चेट, परिवर्तय हणम् ।]

चेटः—(परावर्त्य)अहिलुहदु भट्टालके । [अधिरोहतु भट्टारकः ।]

शकारः—(अधिरुह्यावलोक्य च शङ्कां नाटयित्वा त्वरितमवतीर्य विटं क लम्ब्य) भावे भावे, मलेशि मलेशि । पवहणाधिरुढा लक्खशी चोले वा पडिव ता जइ लक्खशी, तदो उभे वि मूशे । अध चोले तदो उभे वि खज्जे । [भाव मृतोऽसि मृतोऽसि । प्रवहणाधिरूढा राक्षसी चौरो वा प्रतिवसति । त राक्षसी, तदोभावपि मुषितौ । अथ चौरः तदोभावपि खादितौ ।]

विटः—न भेतव्यम् । कुतोऽत्र वृषभयाने राक्षस्याः संचारः । मा ते मध्याह्नार्कतापच्छिन्नदृष्टेः स्थावरकस्य सकञ्चुकां छायां दृष्ट्वा भ्रा रुत्पन्ना ।

शकारः—पुत्तका थावलका चेडा, जीवेशि । [पुत्रक स्थावरक जीवसि ।]

शकार—बैल नहीं टूटे ? रस्सियाँ नहीं मरीं ? तू भी नहीं मरा ?

चेट—जी हाँ।

शकार—भाव, आओ। गाड़ी को देखते हैं। भाव तुम भी मेरे गुरु हो, परम पूज्य हो। तुम मेरे द्वारा आदरणीय अन्तरङ्ग (के रूप में) देखे जाते हो, इसलिये तुम आगे रखने योग्य हो। अतः तुम ही गाड़ी में पहले चढ़ो।

विट—ऐसा ही हो (चढ़ता) है।

शकार—अथवा, तुम ठहरो। क्या तुम्हारे बाप की गाड़ी है जो तुम पहले चढ़ते हो ? मैं गाड़ी का स्वामी हूँ, इसलिये पहले (आगे) गाड़ी पर चढ़ता हूँ।

विट—आपने ही ऐसा कहा था।

शकार—यद्यपि मैंने ऐसा कहा, तथापि "स्वामी चढ़िये" यह कहना तुम्हारा शिष्टाचार था।

विट—आप चढ़िये।

शकार—अच्छा, अब यह मैं चढ़ता हूँ। बेटा, स्थावरक, चेट गाड़ी घुमाओ।

चेट—(घुमाकर) स्वमी, चढ़िये।

शकार—(चढ़कर और देखकर, शङ्का का अभिनय करके, तुरन्त उतर कर तथा विट के गले लगकर) भाव, भाव, (तुम) मर गये, मर गये। गाड़ी पर चढ़ी हुई कोई राक्षसी है या चौर है। तब यदि राक्षसी है तो (हम) दोनों ही लुट गये, यदि चौर है तो दोनों ही खाये गये।

विट—डरना नहीं चाहिये। यहाँ बैलगाड़ी में राक्षसी का आगमन कैसे (हो सकता है) ? ऐसा न हो कि दोपहर के सूर्य के ताप से चकाचौंध दृष्टि वाले तुम्हें, स्थावरक की कञ्चुकसहित छाया को देखकर, भ्रान्ति उत्पन्न हो गई हो।

शकार—पुत्र, स्थावरक, चेट क्या तुम जीवित हो ?

प्रवहणम् अप्राकृता। मुषितौ खादितौ-इति विपरीतोक्तिः शकारवाक्यत्वात् (पृथ्वी०)

चेटः—अध इं। [अथ किम् ।]

शकारः—भावे, पवहणाधिलूढा इत्थिआ पडिवशवि। ता अवलोएहि। [भाव प्रवहणाधिरूढा स्त्री प्रतिवसति। तदवलोकय।]

विटः—कथं स्त्री।

अवनतशिरसः प्रतियाम शीघ्रं पथि वृषभा इव वर्षताडिताक्षाः।
मम हि सदसि गौरवप्रियस्य कुलजनदर्शनकातरं हि चक्षुः ॥१५॥

वसन्तसेना—(सविस्मयमात्मगतम्) कधं मम णअणाणं आआसअरो क्खु राअसालओ। ता संसइदम्हि मन्दभाआ। एसो दाणिं मम मन्दभाइणीए ऊसरक्खेत्त पडिदो विअ बीअमुट्ठी णिप्फलो इध आगमणो संवुत्तो। ता किं एत्थ करइस्सम्। [कथं मम नयनयोरायासकर एव राजश्यालः। तत्संशयितास्मि मन्दभाग्या। एतदिदानीं मम मन्दभागिन्या ऊषरक्षेत्रपतित इव बीजमुष्टिर्निष्फलमिहागमनं संवृत्तम्। तत्किमत्र करिष्यामि।]

शकारः—कादले क्खु एशे वुड्ढचेडे पवहणं णावलोएदि। भावे, आलोएहि पवहणम्। [कातरः खल्वेष वृद्धचेटः प्रवहणं नावलोकयति। भाव, आलोकय प्रवहणम्।]

विटः—को दोषः। भवतु। एवं तावत्।

शकारः—कधम्, शिआला उड्डेन्ति, वाअशा वच्चेन्ति। ता जाव भावे अक्खीहिं भक्खीअदि, दन्तेहिं पेक्खीअदि, ताव हग्गे पलाइश्शम्। [कथम्, शृगाला उड्डीयन्ते, वायसा व्रजन्ति। तद्यावद्भावोऽक्षिभ्यां भक्ष्यते दन्तैः प्रेक्ष्यते तावदहं पलायिष्ये।]

विटः—(वसन्तसेनां दृष्ट्वा। सविषादमात्मगतम्) कथमये, मृगी व्याघ्रम् अनुसरति। भोः, कष्टम्।

चेट—जी हाँ ।

शकार—भाव, गाड़ी पर चढ़ी स्त्री बैठी है । देखो तो ।

विट—क्या स्त्री ?

(तब तो) मार्ग में वर्षा (की धारा) से ताड़ित आँखों वाले बैलों के समान सिर नीचा किये हुए मैं शीघ्र जाता हूँ, क्योंकि समाज में प्रतिष्ठा चाहने वाले मेरी (मेरे जैसे व्यक्ति की) दृष्टि कुलीन स्त्रियों को देखने में भीरु है ॥१५॥

वसन्तसेना—(आश्चर्य से, अपने आप) क्या मेरे नेत्रों में पीड़ा करने वाला (खटकने वाला) यह वही राजा का साला है? तब तो मन्दभाग्य वाली मैं आपत्ति (संशय) में पड़ गई हूँ । इस समय मुझ मन्दभागिनी का यहाँ आना ऊपर खेत में पड़ी हुई बीज की मुठ्ठी के समान निष्फल हो गया । तो क्या करूँ ?

शकार—यह बूढ़ा सेवक भीरु है, यह गाड़ी को नहीं देखता । भाव, तुम गाड़ी को देखो ।

विट—क्या हानि है ? अच्छा ऐसा ही हो ।

शकार—क्यों ? सियार उड़ रहे हैं, कौए भाग रहे हैं । तो जब तक आप (राक्षसी के द्वारा) आँखों से खाये जाते हैं तथा दाँतों से देखे जाते हैं, तब तक मैं भागता हूँ ।

विट—(वसन्तसेना को देखकर, दुःखपूर्वक अपने आप) अरे, कैसे ! मृगी व्याघ्र का अनुसरण कर रही है अरे, खेद है ।

प्रवहणे स्त्री वसति-इति शकारवचनं निशम्य विटः कथयति-अवनतेति । यदि प्रवहणे स्त्री तिष्ठति तर्हि पथि मार्गे वर्षैः वृष्टिभिः ताडिते अक्षिणी येषां ते वर्षताडिताक्षाः अतएव अवनतानि शिरांसि येषां तथाभूताः वृषभाः इव वयं परकलत्रदर्शनसंकोचेन अवनतानि नम्राणि शिरांसि येषां तथाभूताः सन्तः प्रयामः गच्छामः । हि यतः सदसि सभायां गौरवं प्रतिष्ठा प्रियं यस्य तस्य मम विटस्य चक्षुः दृष्टिः कुलजनस्य कुलीनस्य स्त्रीजनस्य दर्शने कातरं भीरु । उपमालङ्कारः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥१५॥

संशयिता संशयमापन्ना विपत्तिं प्राप्ता इति यावत् । ऊषरक्षेत्रे पतिता या बीजमुष्टिः बीजानां मुष्टिः मुष्टिपरिमितानि बीजानि इत्यर्थः । अक्षिभ्यां भक्ष्यते दन्तैः प्रेक्ष्यते इति विपरीतोक्तिः ।

शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पुलिनान्तरशायिनम् ।
हंसी हंसं परित्यज्य वायसं समुपस्थिता ॥१६॥

(जनान्तिकम्) वसन्तसेने, न युक्तमिदम्, नापि सदृशमिदम् ।

पूर्वं मानादवज्ञाय द्रव्यार्थे जननीवशात्

वसन्तसेना—ण । [न ।] (इति शिरश्चालयति ।)

विटः—

अशौण्डीर्यस्वभावेन वेशभावेन मन्यते ॥१७॥

ननूक्तमेव मया भवतीं प्रति 'सममुपचर भद्रे सुप्रियं चाप्रियं च ।

वसन्तसेना—पवहणविपज्जासेण आगदा । सरणागदम्हि । [प्रवहणविपर्यासेनागता । शरणागतास्मि ।]

विटः—न भेतव्यं न भेतव्यम् । भवतु । एनं वञ्चयामि । (शकारमुपगम्य) काणेलीमातः, सत्यं राक्षस्येवात्र प्रतिवसति ।

शकारः—भावे भावे, जइ लक्खशी वशदि, ता कीश ण तुमं मूशेदि ? अध चोले, ता किं तुमं ण भक्खिदे । [भाव भाव, यदि राक्षसी प्रतिवसति, तत्कथं न त्वां मुष्णाति । अथ चौरः तदा किं त्वं न भक्षितः ।]

विटः—किमनेन निरूपितेन । यदि पुनरुद्यानपरम्परया पद्भ्यामेव नगरीमुज्जयिनीं प्रविशावः, तदा को दोषः स्यात् ।

शकारः—एव्वं किदे किं भोदि ? [एवं कृते किं भवति ?

विटः—एवं कृते व्यायामः सेवितो धुर्याणां च परिश्रमः परिहृतो भवति ।

शकारः—एवं भोदु । थावलआ चेडा, णेह पवहणम् । अधवा चिश्ट चिश्ट । देवदाणं बम्हणाणं च अग्गदो चलणेण्ण गच्छामि । णहि णहि । पवहणं अहिलुहिअ गच्छामि, जेण दूलदो मं पेक्खिअ भणिश्शन्ति – 'एशे शे लश्टिअशाले भट्टालके गच्छदि' । [एवं भवतु । स्थावरक चेट, नय प्रवहणम् । अथवा तिष्ठ तिष्ठ । देवतानां ब्राह्मणानां चाग्रतश्चरणेन गच्छामि । नहि नहि । प्रवहणमधिरुह्य गच्छामि, येन दूरतो मां प्रेक्ष्य भणिष्यन्ति—एष स राष्ट्रियश्यालो भट्टारको गच्छति' ।]

शरदिति । शरदः चन्द्रः शरच्चन्द्रः तस्य प्रतीकाशं सदृशं पुलिनस्य सैकतप्रदेशस्य अन्तरे मध्ये शेते इति तं हंसं परित्यज्य त्यक्त्वा हंसी वायसं काकं समुपस्थिता । औदार्यादिगुणयुक्तं हंससदृशं चारुदत्तं त्यक्त्वा वसन्तसेना काकसदृशमेतं शकारं प्रति कथमागता इति खेदः । अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥१६॥

पूर्वमिति । पूर्वं मानात् गर्वात् शकारम् अवज्ञया तिरस्कृत्य सम्प्रति जननीवशात् मातुराज्ञावशात् द्रव्यार्थे धनार्थम् आगता । यद्येतन्नास्ति तदा अशौण्डीर्यम् अनौदार्यं स्वभावः यस्य तेन वेशभावेन वेश्यात्वेन आगता इति मन्यते ॥१७॥

शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान (श्वेत) वालुका तट पर स्थित हंस को छोड़ कर हंसी काक के समीप आ गई ॥१६॥

(समीप में) वसन्तसेने, यह उचित नहीं, यह योग्य भी नहीं।

पहले मानपूर्वक उस (शकार) का तिरस्कार करके माता की अधीनता से धन के लिये—(आई हो)

वसन्तसेना—नहीं (शिर हिलाती है।)

विट—(तव) उदारता (या गर्व) रहित है (अशौण्डर्यं) है स्वरूप जिसका ऐसे वेश्यापन के कारण (तुम यहाँ आई हो)—यह समझा जाये ॥१७॥

किन्तु मैंने (पहले ही) आप से कहा ही था—'भद्रे' सुप्रिय और अप्रिय दोनों की समान रूप से सेवा करो।'

वसन्तसेना—गाड़ी के बदलने से आ गई हूँ।

विट—डरो नहीं, डरो नहीं। अच्छा, इस (शकर) को वहकाता हूँ। (शकार के पास जाकर) काणेली के पुत्र सचमुच राक्षसी ही उस पर बैठी है।

षकार—भाव, भाव, यदि राक्षसी है तो तुम्हें क्यों नहीं लूटा और यदि चोर है तो तुम्हें क्यों न खा लिया।

विट—इस विचार से क्या लाभ ? उद्यान की परम्परा से (एक उद्यान से दूसरे में होकर) पैदल ही उज्जैन नगरी में प्रवेश करें तो क्या हानि है ?

शकार—ऐसा करने से क्या होगा ?

विट—ऐसा करने से व्यायाम हो जायेगा और बैलों का परिश्रम बच जायेगा।

शकार—ऐसा ही हो। स्थावरक चेट, गाड़ी लाओ। या ठहर, ठहर। (क्या) देवताओं तथा ब्राह्मणों के आगे पैदल चलूं ? नही, नहीं। गाड़ी पर चलता हूँ जिससे दूर से मुझे देखकर लोग कहेंगे—'यह वह हमारा स्वामी राजा का साला जा रहा है।

प्रवहणस्य विपर्यासः भ्रमः वैपरीत्यं वा तेन। निरूपितेन् विचारितेन। धुर्याणां युग्यानां वृषभयोरिति यावद् बहुवचनं चिन्त्यम्। सामान्याभिप्रायं बहुवचनमि काले। राष्ट्रियः राष्ट्रे अभिषिक्तः 'राष्ट्र+छ' तस्य श्याल राजश्यालः इत्यर्थः। अनौषधम् औषधं कर्तुम् इति औषधीकर्तुम्। विषं प्राणवियोजकं द्रव्यम् औषधीकर्तुं औषधरूपेण परिवर्तयितुं दुष्करम्, दुर्जनस्य आनुकूल्येन परिवर्तनम् अतिकठिनम् इति भावः—अप्रस्तुतप्रशंसा। शान्तं पापं प्रत्याख्यमेतत्। वासुदेव इव वासुदेवकः इवे प्रतिकृतो इति कन् प्रत्ययः।

विटः—(स्वगतम्) दुष्करं विषमौषधीकर्तुम्। भवतु। एवं तावत्। (प्रकाशम्) काणेलीमातः, एषा वसन्तसेना भवन्तमभिसारयितुमागता।

वसन्तसेना—सन्तं पावम्। सन्तं पावम्। [शान्तं पापम्। शान्तं पापम्।]

शकारः—(सहर्षम्) भावे भावे, मं पवलपुलिशं मणुश्शं वाशुदेवकम्। [भाव भाव, मां प्रवरपुरुषं मनुष्यं वासुदेवकम्।

विटः—अथ किम्।

शकारः—तेण हि अपुव्वा शिली शमाशादिदा। तश्शिं काले मए लोशाइदा, शंपदं पादेशु पडिअ पशादेमि। [तेन ह्यपूर्वा श्रीः समासादिता। तस्मिन्काले मया रोषिता, सांप्रतं पादयोः पतित्वा प्रसादयामि।]

विटः—साध्वभिहितम्।

शकारः—एशे पादेशुं पडेमि। (इति वसन्तसेनामुपसृत्य) अत्तिके, अम्बिके शुणु मम विण्णत्तिम्। [एषः पादयोः पतामि। मातः, अम्बिके, श्रृणु मम विज्ञप्तिम्।]

एशे पडामि चलणेशु विशालणेत्ते
हस्तञ्जलिं दशणहे तव शुद्धदन्ति।
जं तं मए अवकिदं मदणातुलेण
तं खम्मिदाशि वलगत्ति तव म्हि दासे॥१८॥

[एष पतामि चरणयोर्विशालनेत्रे हस्ताञ्जलिं दशनखे तव शुद्धदन्ति।
यत्तव मयापकृतं मदनातुरेण तत्क्षामितासि वरगात्रि तवास्मि दासः॥]

वसन्तसेना—(सक्रोधम्) अवेहि। अणज्जं मन्तेसि। [अपेहि। अनार्यं मन्त्रयसि।] (इति पादेन ताडयति)

शकारः—(सक्रोधम्)

जे चुम्बिदे अम्बिकमादुकेहिं गदे ण देवाण वि जे पणामम्।
शे पाडिदे पादतलेण मुण्डे वणे शिआलेण जधा मुदङ्गे॥१९॥

अले थावलआ चेडा, कहिं तुए एशा शमाशादिदा।

[यच्चुम्बितमम्बिकामातृकाभिर्गतं न देवानामपि यत्प्रणामम्।
तत्पातितं पादतलेन मुण्डं वने श्रृगालेन यथा मृताङ्गम्॥

अरे स्थावरक चेट, कुत्र त्वयैषा समासादिता।]

विट—(अपने आप) विष को औषधि बनाना कठिन है। अच्छा तो इस प्रकार (प्रकट रूप में) काणेली के पुत्र, यह वसन्तसेना आपसे अभिसार करने आई है।

वसन्तसेना—पाप शान्त हों, पाप शान्त हो।

शकार—(हर्षपूर्वक) भाव, भाव, मुझ श्रेष्ठ पुरुष मनुष्य वासुदेव से ?

विट—और क्या ?

शकार—तब तो अपूर्व लक्ष्मी प्राप्त की है। उस समय मैंने इसे रुष्ट (क्रुद्ध) कर दिया था, इस समय पैरों में गिर कर मनाता हूँ।

विट—ठीक कहा।

शकार—यह मैं तुम्हारे चरणों में गिरता हूँ। (वसन्तसेना के समीप जाकर) माता अम्बिके मेरा निवेदन सुनो।

हे विशाल नेत्रोवाली, यह मैं चरणों में गिरता हूँ। हे शुद्ध दाँतों वाली, तुम्हारे (चरणों के) दश नखों में अपनी हस्ताञ्जलि रखता हूँ। हे श्रेष्ठ गात्र वाली, काम से आतुर हुए मैंने जो (पहले) तुम्हारा अहित (बुरा) किया है, उसे तुमसे क्षमा कराता हूँ (क्षमा करने की प्रार्थना करता हूँ)। मैं तुम्हारा दास हूँ ॥१७॥

वसन्तसेना—(क्रोध पूर्वक) दूर हटो, अनार्य बात कहते हो (चरणों से मारती है)

शकार—(क्रोध के साथ)

जिसे अम्बिका और माता ने चूमा है, जो देवों को भी नहीं झुका उस मेरे मस्तक को तूने चरणतल से इस प्रकार गिरा दिया जैसे वन में शृगाल द्वारा मृतक शरीर (कुचला जाता है) ॥१९॥

अरे, स्थावरक, चेट तुमने इसे कहाँ प्राप्त किया ?

समासादिता प्राप्ता। विज्ञप्तिं निवेदनम्।

एष इति। हे विशालनेत्रे विशाले नेत्रे यस्याः सा विशालनेत्रा तत्सम्बुद्धौ एषः अहं शकारः तव चरणयोः पतामि। हे शुद्धदन्ति शुद्धाः दन्ताः यस्याः सा (सम्बुद्धौ) तव दशनखे दशानां नखानां समाहारः दशनखं तव चरणयोः दशसु नखेषु हस्ताञ्जलिं करोमि इति शेषः। हे वरगात्रि कल्याणाङ्गि, मदनातुरेण कामातुरेण मया शकारेण यत् तव अपकृतम् अपकारो विहितः तत् क्षामिता क्षमां कर्तुं प्रेरिता याचिता वा असि। अयं तव दासः अस्मि। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१८॥

यदिति। यत् मम मुण्डम् अम्बिकया मातृकाभिः च (मातृका इति स्वार्थे कः प्रत्ययः शकारवाक्यत्वात् पुनरुक्तिः) चुम्बितम्। यत् देवानामपि प्रणामं न गतं देवान् प्रति अपि न प्रणतम्। तत् मुण्डं मस्तकं त्वया पादतलेन तथैव पातितं यथा वने शृगालेन मृताङ्गं मृतकशरीरम् ॥१९॥

चेटः—भट्टके गामशअलेहिं लुद्धे लाअमग्गे । तदो चालुदत्तश्श लुक्खवाडिआए पवहणं थाविअ तहिं ओदलिअ जाव चक्कपलिवट्टिअं कलेमि, ताव एशा पावहणविपज्जाशेण इह आलूढे त्ति तक्केमि । [भट्टक, ग्रामशकटैः रुद्धो राजमार्गः । तदा चारुदत्तस्य वृक्षवाटिकायां प्रवहणं स्थापयित्वा तत्रावतीर्य यावच्चक्रपरिवृत्तिं करोमि, तावदेषा प्रवहणविपर्यासेनेहारूढेति तर्कयामि ।]

शकारः—कधं पवहणविपज्जाशेण आगदा । ण मं अहिशालिदुम् । ता ओदल ओदल ममकेलकादो पवहणादो । तुमं तं दलिद्दशत्थवाहपुत्तकं अहिशालेशि । ममकेलकाइं गोणाइं वाहेशि । ता ओदल ओदल गब्भदाशि, ओदल, ओदल । [कथं प्रवहणविपर्यासेनागता । न मामभिसारयितुम् । तदवतरावतर मदीयात्प्रवहणात् । त्वं तं दरिद्रसार्थवाहपुत्रकमभिसारयसि । मदीयौ गावौ वाहयसि । तदवतरावतर गर्भदासि, अवतरावतर ।]

वसन्तसेना—तं अज्जचारुदत्तं अहिसारेसि त्ति जं सच्चम्, अलंकिदम्हि इमिणा वअणेण । संपदं जं भोदु । [तमार्यचारुदत्तमभिसारयसीति यत्सत्यम् अलङ्कृतास्म्यमुना वचनेन । सांप्रतं यद्भवतु तद्भवतु ।]

शकारः—

एदेहिं दे दशणहुप्पलमण्डलेहिं
हत्थेहिं चाडुशदताडणलम्पडेहिं ।
कट्टामि दे वलतणु णिअजाणकादो
केशेशु बालिदइअं वि जहा जडाऊ ॥२०॥

[एताभ्यां ते दशनखोत्पलमण्डलाभ्यां
हस्ताभ्यां चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम् ।
कर्षामि ते वरतनु निजयानकात्
केशेषु वालिदयितामिव यथा जटायुः ॥]

विटः—

अग्राह्या मूर्धजेष्वेताः स्त्रियो गुणसमन्विताः ।
न लताः पल्लवच्छेदमर्हन्त्युपवनोद्भवाः ॥२१॥

तदुत्तिष्ठ त्वम् । अहमेनामवतारयामि । वसन्तसेने, अवतीर्यताम् ।

(वसन्तसेनावतीर्यैकान्ते स्थिता)

शकारः—(स्वगतम्) जे शे मम वअणावमाणेण तदा लोशग्गी शंधुक्खिदे, अज्ज एदाए पावप्पहालेण अणेण पज्जलिदे । तं शंपदं मालेमि णम् । भोदु । एव्वं दाव । (प्रकाशम्) भावे भावे ।

चेट—स्वामिन्, ग्राम की गाड़ियों से राजमार्ग रुक गया। तब चारुदत्त की वृक्षवाटिका में गाड़ी को खड़ा करके, वहाँ उतर कर ज्यों ही चक्रपरिवर्तन (पहिया फेरना) किया, तब ही यह गाड़ी की भूल से इसमें चढ़ गई—ऐसा अनुमान करता हूँ (समझता हूँ)।

शकार—क्या? गाड़ी की भूल से आ गई है, मुझसे अभिसरण के लिये नहीं! तो उतर, उतर मेरी गाड़ी से। तू उस दरिद्र सार्थवाह के पुत्र (चारुदत्त) के प्रति अभिसरण कर रही है और मेरे बैलों को जोतती है (या मेरे बैलों से भार वहन कराती है) तो उतर, उतर, गर्भदासी, उतर, उतर।

वसन्तसेना—'उस आर्य चारुदत्त के प्रति अभिसरण करती है'—सचमुच ही इस कथन से मैं अलङ्कृत हो गई हूँ। अब जो हो, सो हो।

शकार—दश नख रूपी कमल समुदाय से युक्त तथा शतशः प्रिय वचनों के समान ही मारने में तत्पर (लम्पट) इन हाथों से तुम्हारे सुन्दर शरीर को केश पकड़ कर अपनी गाड़ी से उसी प्रकार खींचता हूँ जिस प्रकार जटायु ने बालि की प्रिया (तारा) को (खींचा था) ॥२०॥

विट—(सुन्दरता आदि) गुणों से युक्त इन नारियों के केश नहीं पकड़ना चाहिए, क्योंकि उद्यान में उत्पन्न होने वाली लताएँ (कोमल) पत्ते तोड़ने योग्य नहीं होतीं ॥२१॥

इसलिये तुम उठो। मैं इसको उतारता हूँ। वसन्तसेना, उतर जाइये।

(वसन्तसेना उतर कर एकान्त में खड़ी हो जाती है)

शकार—(अपने आप) उस समय मेरे वचन के तिरस्कार से जो क्रोध की अग्नि जली थी वह आज इस (वसन्तसेना) के इस पाद-प्रहार से प्रज्ज्वलित हो गई है तो अब इसे मारता हूँ। अच्छा, इस प्रकार। (प्रकट रूप में) भाव, भाव।

एताभ्यामिति। दश नखानि एव उत्पलमण्डलं कमलसमूहः ययोः ताभ्याम्, चाटुशतानि प्रियवचनशतानि इव ताडने लम्पटाभ्यां तत्पराभ्याम् एताभ्यां हस्ताभ्यां ते वरतनुं सुन्दरशरीरं केशेषु गृहीत्वा निजयानकात् कर्षामि यथा जटायुः वालिदयितां वालिप्रियां ताराम् आकृष्टवान्। अत्र 'ते-ते' इति 'यथाइव' इति च पुनरुक्तम्। व्याहतोपमं चेदं जटायुना वालिप्रियायाः कर्षणाभावाद्। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२०॥

अग्राह्या इति। गुणैः सौन्दर्यादिभिः समन्विताः युक्ताः एताः स्त्रियः नार्यः मूर्धजेषु केशेषु अग्राह्याः न गृहीतव्याः। तथा हि उपवनम् उद्भवः उत्पत्तिस्थानं यासां ताः उद्याने उत्पन्नाः लताः पल्लवच्छेदं किसलयानां छेदनं न अर्हन्ति। दृष्टान्तालङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥२१॥

जदिच्छशे लम्बदशाविशालं पावालग्रं शुत्तशदेहिं जुत्तम् ।
मंशं च खादुं तह तुश्टि कादुं चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहूत्ति ॥

[यः स मम वचनावमानेन तदा रोषाग्निः संधुक्षितः अद्यैतस्याः पादप्रहारेणानेन प्रज्ज्वलितः । तत्सांप्रतं मारयाम्येनाम् । भवतु । एवं तावत् । भाव भाव,

यदीच्छसि लम्बदशाविशालं प्रावारकं सूत्रशतैर्युक्तम् ।
मांसं च खादितुं तथा तुष्टिं कर्तुं चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू इति ॥]

विटः—ततः किम् ।

शकारः—मम पिअं कलेहि । [मम प्रियं कुरु ।]

विटः—बाढं करोमि वर्जयित्वा त्वकार्यम् ।

शकारः—भावे, अकज्जाह गन्धे वि णत्थि । लक्खशी कावि णत्थि । [भाव अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति । राक्षसी कापि नास्ति ।]

विटः—उच्यतां तर्हि ।

शकारः—मालेहि वशन्तशेणिअम् । [मारय वसन्तसेनाम् ।]

विटः—(कर्णौ पिधाय)

बालां स्त्रियं च नगरस्य विभूषणं च
वेश्यामवेशसदृशप्रणयोपचाराम् ।
एनामनागसमहं यदि घातयामि
केनोडुपेन परलोकनदीं तरिष्ये ॥२३॥

शकारः—अहं ते भेडकं दइश्शम् । अण्णं च विवित्ते उज्जाणे इध मालन्तं को तुमं पेक्खिश्शदि । [अहं त उडुपं दास्यामि । अन्यच्च विविक्ते उद्यान इह मारयन्तं कस्त्वां प्रेक्षिष्यते ।]

विटः—

पश्यन्ति मां दश दिशो वनदेवताश्च
चन्द्रश्च दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽयम् ।

संधुक्षितः दीप्तः । 'धुक्ष' धातुः दीपनक्लेशनजीवनेषु वर्तते तस्मात् 'क्त' प्रत्ययः । यदीति । यदि मत्तः लम्बदशाभिः दीर्घवस्त्रान्तैः विशालं सूत्रशतैः युक्तं ग्रथितं च प्रावारकं प्रच्छदं गृहीतुम् इच्छसि । तथा 'चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू इति

यदि तुम लम्बे आंचलों वाला, सैंकड़ों सूत्रों से युक्त विशाल दुशाला मुझसे लेना चाहते हो और चुहू-चुहू-चुक्कू चुहू-चुहू—इस प्रकार (का शब्द करते हुए) मांस खाना तथा तृप्ति प्राप्त करना चाहते हो ॥२२॥

विट—तो क्या ?

शकार—मेरा चाहा हुआ करो ।

विट—हाँ, करूँगा, किन्तु अकार्य को छोड़कर ।

शकार—भाव अकार्य की तो गन्ध भी नहीं है । कोई राक्षसी नहीं है ।

विट—तो कहिये ।

शकार—वसन्तसेना को मारो ।

विट—(कान मूँद कर) ।

यदि मैं बाला, स्त्री (उज्जैन) नगर की भूषण वेश्या (होकर भी) वेश्याभिन्न अर्थात् कुलस्त्री के सदृश प्रेम-व्यवहार करने वाली इस निरपराध वसन्तसेना को मारता हूँ तो परलोक की नदी को किस नौका से पार करूँगा ॥२३॥

शकार—मैं तुम्हें नौका दूँगा । और दूसरी बात यह है कि इस निर्जन उद्यान में इसे मारते हुए तुम्हें कौन देखेगा ?

विट—

दशों दिशायें, वनदेवता, चन्द्रमा और दीप्त किरणों वाला यह सूर्य, धर्म और

ध्वनिं कुर्वन् मांसं खादितुं तुष्टिं तृप्तिं च कर्तुम् इच्छसि । 'ततः मम प्रियं कुरु'— इति वक्ष्यमाणेन अन्वयः । उपजातिः वृत्तम् ॥२२॥

अकार्यम् अनुचितं कार्यम्, कर्तुमयोग्यम् इति भावः । अकार्यस्य कर्तुमशक्यम् अकार्यं तस्य गन्धः लेशः ।

बालामिति । यदि अहं विटः बालां स्त्रियं च अबलाभूतां मारयितुमनर्हाम् इति भावः नगरस्य विभूषणं च अलङ्कारभूतां च वेश्यां वेश्यारूपेण स्थितामपि अवेशसदृशः कुलनारीजनोचितः प्रणयोपचारः प्रेमव्यवहारः यस्याः ताम् अनागसं नास्ति आगः अपराधः यस्याः तां निरपराधाम् एनां वसन्तसेनां घातयामि मारयामि तर्हि केन उडुपेन क्षुद्रनौकया परलोकस्य नदीं वैतरणीनाम्नीं तरिष्ये तरिष्यामि ? 'तरिष्ये' इत्यत्र आत्मनेपदं चिन्त्यम् । परिकरालङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२३॥

विजनेऽपि कृतं पापं गोपायितुं न शक्यते इत्याह विटः—पश्यन्तीति । दशदिशः, वनदेवताः च चन्द्रः च अयं पुरः स्थितः दीप्ताः किरणाः यस्य सः दिनकरः सूर्यः च धर्मः अनिलः वायुः च गगनं च तथा अन्तरात्मा भूमिः च सुकृतदुष्कृतयोः पुण्यपापयोः साक्षिभूता । एतच्च लिङ्गवचनपरिणामेन सर्वेषां विशेषणम् । पुण्यपापयोः

धर्मानिलौ च गगनं च तथान्तरात्मा
भूमिस्तथा सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूता ॥२४॥

शकारः—तेण हि पडन्तोवालिदं कदुअ मालेहि। [तेन हि पटान्तापवारितां कृत्वा मारय।]

विटः—मूर्ख अपध्वस्तोऽसि।

शकारः—अधम्मभीलू एशे वुड्ढकोले। भोदु। थावलअं चेडं अणुणेमि। पुत्तका थावलका चेडा, शोवण्णकडुआइं दइश्शम्। [अधर्मभीरुरेष वृद्धकोलः। भवतु। स्थावरकं चेटमनुनयामि। पुत्रक स्थावरक चेट, सुवर्णकटकानि दास्यामि।]

चेटः—अहं पि पहिलिश्शम्। [अहमपि परिधास्यामि।]

शकारः—शोवण्णं दे पीढके कालइश्शम्। [सौवर्णं ते पीठकं कारयिष्यामि।]

चेटः—अहं पि उवविशिश्शम्। [अहमप्युपवेक्ष्यामि।]

शकारः—शव्वं दे उच्छिश्टअं दइश्शम्। [सर्वं त उच्छिष्टं दास्यामि।]

चेटः—अहं खाइश्शम्। [अहमपि खादिष्यामि।]

शकारः—शव्वचेडाणं महत्तलकं कलइश्शम्। [सर्वचेटानां महत्तरकं करिष्यामि।]

चेटः—भट्टके हुविश्शम्। [भट्टक भविष्यामि।]

शकारः—ता मण्णेहि मम वअणम्। [तन्मन्यस्व मम वचनम्।]

चेटः—भट्टके, शव्वं कलेमि वज्जिअ अकज्जम्। [भट्टक, सर्वं करोमि वर्जयित्वाकार्यम्।]

शकारः—अकज्जाह गन्धे वि णत्थि। [अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति।]

चेटः—भणादु भट्टके। [भणतु भट्टकः।]

शकारः—एणं वशन्तशेणिअं मालेहि। [एनां वसन्तसेनां मारय।]

चेटः—पशीददु भट्टके। इअं मए अणज्जेण अज्जा पवहणपलिवत्तणेण आणीदा। [प्रसीदतु भट्टकः। इयं मयानार्येणार्या प्रवहणपरिवर्तनेनानीता।]

शकारः—अले चेडा, तवावि ण पहवामि। [अरे चेट, तवापि न प्रभवामि।]

चेटः—पहवदि भट्टके शलीलाह, ण चालित्ताह। ता पशीददु पशीददु भट्टके। भाआमि क्खु अहम्। [प्रभवति भट्टकः शरीरस्य, न चारित्रस्य। तत्प्रसीदतु प्रसीदतु भट्टकः। बिभेमि खल्वहम्।]

वायु एवं आकाश तथा (मेरा) अन्तरात्मा और भूमि—जो पाप-पुण्य की साक्षी हैं, वे सब मुझे देखती हैं ॥२४॥

शकार—तो वस्त्राञ्चल से छिपाकर मार दो।

विट—मूर्ख, पतित (?) हो।

शकार—यह बूढ़ा शूकर अधर्मभीरु है! अच्छा, स्थावरक सेवक को मनाता हूँ। पुत्रक, स्थावरक, चेट (तुझे) सोने के कड़े दूँगा।

चेट—मैं भी पहनूँगा।

शकार—तेरे लिये सोने की चौकी बनवा दूँगा।

चेट—मैं भी (उस पर) बैठूँगा।

शकार—सारा उच्छिष्ट (भोजन) तुम्हें दूँगा।

चेट—मैं भी खा लूँगा।

शकार—सब सेवकों का बड़ा (प्रधान) बना दूँगा।

चेट—स्वामी मैं बन जाऊँगा।

शकार—तो मेरा कहना मानो।

चेट—स्वामी अकार्य को छोड़कर सब करूँगा।

शकार—अकार्य की गंध भी नहीं है।

चेट—तो बतलाइये, स्वामी।

शकार—इस वसन्तसेना को मार दो।

चेट—स्वामी, कृपा करें। यह आर्या (वसन्तसेना) मुझ अनार्य (अनाड़ी) के द्वारा गाड़ी की भूल (या परिवर्तन) से यहाँ ले आई गई।

शकार—अरे चेट, क्या तुझ पर मेरा प्रभुत्व (अधिकार) नहीं है?

चेट—स्वामी इस शरीर के प्रभु हैं, चरित्र के नहीं। तो स्वामी प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। निश्चय ही मैं डरता हूँ।

साक्षिभूतानि इमानि सर्वाण्येव मां पश्यन्ति इत्यर्थः। तुल्ययोगितालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२४॥

पटान्तेन वस्त्रस्याञ्चलेन, अपवारितां समाच्छादिताम्। अपध्वस्तः धिक्कृतः इति पृथ्वीधरः। कोलः शूकरः। पीठकम् आसनम्। उच्छिष्टं भोजनस्य अवशिष्टम्।

न प्रभवामि प्रभुः नास्मि। चारित्रस्य चरित्रस्य, चरित्रशब्दात् स्वार्थेऽण्। सुकृतं च दुष्कृतं च तयोः समाहारः सुकृतदुष्कृतं तस्य—विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि पा० २।४।१३॥ इति विकल्पेन समाहारद्वन्द्वः। परपिण्डस्य परान्नस्य भक्षकः।

शकारः— तुमं मम चेडे भविअ कश्श भाआशि ? [त्वं मम चेटो भूत्वा कस्माद्बिभेषि ?].

चेटः—भट्टके, पललोअश्श। [भट्टक, परलोकात्।]

शकारः—के शे पललोए ? [कः स परलोकः ?]

चेटः—भट्टकें, शुकिददुक्किदश्श पलिणामे। [भट्टक, सुकृतदुष्कृतस्य परिणामः।]

शकारः—केलिशे शुकिदश्श पलिणामे ? [कीदृशः सुकृतस्य परिणामः ?]

चेटः—जादिशे भट्टके बहुशुवण्णमण्डिदे। [यादृशो भट्टको बहुसुवर्ण-मण्डितः।]

शकारः—दुक्किदश्श केलिशे ? [दुष्कृतस्य कीदृशः ?]

चेटः—जादिशे हग्गे पलपिण्डभक्खके भूदे। ता अकज्जं ण कलइश्शम्। [यादृशोऽहं परपिण्डभक्षको भूतः। तदकार्यं न करिष्यामि।]

शकारः—अले, ण मालिश्शसि। [अरे, न मारयिष्यसि।] (इति बहुविधं ताडयति)।

चेटः— पिट्टयदु भट्टके मालेदु, भट्टके अकज्जं ण कलइश्शम्।

जेण म्हि गब्भदाशे विणिम्मिदे भाअधेयदोशेहिं।

अहिअं च ण कीणिश्शं तेण अकज्जं पलिहलामि ॥२५॥

[ताडयतु भट्टकः, मारयतु भट्टकः, अकार्यं न करिष्यामि।

येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः।

अधिकं च न क्रेष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि ॥]

वसन्तसेना—भाव शरणागदम्हि। [भाव, शरणागतास्मि।]

विटः-- काणेलीमातः, मर्षय मर्षय। साधु स्थावरक, साधु।

अप्येष नाम परिभूतदशो दरिद्रः

प्रेष्यः परत्र फलमिच्छति नास्य भर्ता।

तस्मादमी कथमिवाद्य न यान्ति नाशं

ये वर्धयन्त्यसदृशं सदृशं त्यजन्ति ॥२६॥

अपि च।

येनेति। येन हेतुना भागधेयदोषैः भाग्यदोषैः पापस्य फलैरिति यावत् गर्भवासः जन्मन. एव दासः विनिर्मितः कृतः अस्मि तेन तस्मात् कारणात् अधिकं पापफलं

शकार—तू मेरा सेवक होकर किससे डरता है ?

चेट—स्वामी, परलोक से ।

शकार—क्या है वह परलोक ?

चेट—स्वामी पुण्य और पाप का फल ।

शकार—पुण्य का फल कैसा होता है ?

चेट—जैसे बहुत से स्वर्णों से आभूषित आप हैं ।

शकार—पाप का कैसा (परिणाम) होता है ?

चेट—जैसा मैं दूसरे का अन्न खाने वाला हूँ । अतः अकार्य नहीं करूँगा ।

शकार—अरे नहीं मारोगे । (बहुत प्रकार से मारता है)

चेट—स्वामी, पीटें या मारें किन्तु अकार्य नहीं करूँगा ।

क्योंकि भाग्य (पूर्वकृत कर्मों का फल) के दोष (अर्थात् पापों के फल) से मैं जन्म से ही दास बनाया गया हूँ इसलिए उसे (पापों के फल को) अधिक नहीं अर्जित करूँगा तथा अकार्य का त्याग करूँगा ।।२५।।

वसन्तसेना—भाव, मैं शरणागत हूँ ।

विट—काणेली के पुत्र, क्षमा करो, क्षमा करो । धन्य ! स्थावरक, धन्य !

अपमानित है अवस्था जिसकी ऐसा यह दरिद्र दास (स्थावरक) परलोक के फल की इच्छा करता है, किन्तु इसका स्वामी शकार नहीं । तब जो (शकार जैसे) जन अनुचित कर्म (या अयोग्य जनों) की वृद्धि करते हैं तथा उचित कर्म (या योग्य पुरुषों) का त्याग करते हैं वे आज ही नाश को प्राप्त क्यों नहीं होते ? ।।२६।।
और भी—

भाग्यदोषं वा न क्रेष्यामि अर्जयिष्यामि, अकार्यं पापकार्यं च परिहरामि त्यजामि ।।२५।।

चेटशकारयोरवस्थां भाग्यविलसितं च चिन्तयन् विटः कथयति—अप्येष इति । परिभूता तिरस्कृता दशा यस्य सः दरिद्रः निर्धनः प्रेष्यः सेवकः अपि नाम एषः स्थावरकः परत्र परलोके फलम् इच्छति, अस्य भर्ता स्वामी शकारः तु न इच्छति । तस्मात् कारणात् ये शकारसदृशाः जनाः असदृशम् अकार्यम् अयोग्यं पुरुषं वा वर्धयन्ति सदृशम् उचितं कर्म योग्यं पुरुषं वा त्यजन्ति 'अमी इमे अद्य कथमिव नाशं न यान्ति न प्राप्नुवन्ति ?' एतच्च विधेः विलसितमेवेति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।।२६।।

रन्ध्रानुसारी विषमः कृतान्तो यदस्य दास्यं तव चेश्वरत्वम् ।
श्रिय त्वदीयां यदयं न भुङ्क्ते यदेतदाज्ञां न भवान्करोति ॥२७॥

शकारः—(स्वगतम्) अधम्मभिलुए बुड्ढखोडे । पललोअभीलू एशे गब्भदाशे । हग्गे लट्टिअशाले कश्श भाआमि वलपुलिशमणुश्शे (प्रकाशम् अले गब्भदाशे चेडे, गच्छ तुमम् आवलक पविशिअ वीशन्ते एअन्ते चिश्ट । [अधर्मभीरुको वृद्धशृगालः । परलोकभीरुरेष गर्भदासः । अहं राष्ट्रियश्यालः कस्माद्बिभेमि वरपुरुषमनुष्यः । अरे गर्भदास चेट, गच्छ त्वम् । अपवारके प्रविश्य विश्रान्त एकान्ते तिष्ठ ।]

चेटः—जं भट्टके आणवेदि । (वसन्तसेनामुपसृत्य) अज्जए, एत्तिके मे विहवे । [यद्भट्टक आज्ञापयति । आर्य एतावान्मे विभवः ।] (इति निष्क्रान्तः)

शकारः— परिकरं बध्नन्) चिश्ट वसन्तशेणिए, चिश्ट । मालइश्शम् । [तिष्ठ वसन्तसेने, तिष्ठ । मारयिष्यामि ।]

विटः—आः, ममाग्रतो व्यापादयिष्यसि । (इति गले गृह्णाति)

शकारः—(भूमौ पतति) भावे भट्टकं मालेदि । (इति मोहं नाटयति । चेतनां लब्ध्वा)

शव्वकालं मए पुश्टे मंशेण अ धिएण अ ।
अज्जे कज्जे शमुप्पणे जादे मे वैलिए कधम् ॥१८॥

(विचिन्त्य) भोदु । लद्धे मए उवाए । दिण्णा बुड्ढखोडेण शिलश्चालणशण्णा । ता एदं पेशिअ वसन्तशेणिअं मालइश्शम । एव्व दाव । (प्रकाशम्) भावे, जं तुमं मए भणिदे, तं कधं हग्गे एव्वं वड्डकेहिं मल्लकप्पमाणेहिं कुलेहिं जादे अकज्जं कलेमि । एव्वं एदं अङ्गीकलावेदुं मए भणिदम । [भावा भट्टकं मारयति ।

सर्वकालं मया पुष्टो मांसेन च घृतेन च ।
अद्य कार्ये समुत्पन्ने जातो मे वैरिकः कथम् ॥

भवतु लब्धो मयोपायः । दत्ता वृद्धशृगालेन शिरश्चालनसंज्ञा । तदेतं प्रेष्य वसन्तसेनां मारयिष्यामि । एव्वं तावत् । भाव, यत्त्वं मया भणितः, तत्कथमहमेवं बृहत्तरैः मल्लकप्रमाणैः कुलैर्जातोऽकार्यं करोमि । एवमेतदङ्गीकारयितुं मया भणितम् ।]

रन्ध्रेति । कृतान्तः दैवः रन्ध्रानुसारी छिद्रान्वेषी विषमः विपरीतः वक्रोऽस्ति यत् यतः अस्य स्थावरकस्य दास्यं दासता तव शकारस्य च ईश्वरत्वं प्रभुता विद्यते । यत् च अयं स्थावरकः त्वदीयां शकारसम्बन्धिनीं श्रियं सम्पत्तिं न भुङ्क्ते

दैव (विधाता) छिद्रान्वेषी तथा विपरीत कार्य करने वाला है जो इस (धार्मिक भाव वाले चेट) को दासता तथा तुम (पापप्रवृत्ति वाले शकार) को प्रभुता दी है तथा जो यह तुम्हारी लक्ष्मी का उपभोग नहीं करता है और आप इसके आज्ञाकारी (सेवक) नहीं हैं ॥२७॥

शकार—(अपने आप) यह बूढ़ा सियार (विट) अधर्म से डरने वाला है। यह जन्मजात दास (स्थावरक) परलोक से डरने वाला है, किन्तु मैं श्रेष्ठ पुरुष, मनुष्य, राजा का साला किससे डरूँगा? (प्रकट रूप में) अरे जन्म के दास चेट, तुम जाओ किसी गुप्त (या पृथक् स्थित) स्थान में प्रवेश करके विश्राम करते हुए एकान्त में ठहरो।

चेट—जो स्वामी आज्ञा करें। (वसन्तसेना के समीप जाकर) आर्ये, इतना ही मेरा सामर्थ्य है। (निकल जाता है)

शकार—(कमर बांधते हुए) ठहर, वसन्तसेना, ठहर। मारूँगा।

विट—अरे, मेरे सामने मारोगे। (गला पकड़ लेता है)

शकार—(भूमि पर गिरता है) भाव, स्वामी को मारते हो। (मूर्च्छा का अभिनय करता है। चेतना प्राप्त करके)—

सब समय मांस तथा घृत से मैंने तुझे पुष्ट किया है। आज काम आ पड़ने पर तू मेरा वैरी कैसे हो गया? ॥२८॥

(सोचकर) अच्छा मैंने उपाय पा लिया। बूढ़े सियार (विट) ने सिर हिलाकर (वसन्तसेना को) संकेत दिया है। तो इस (विट) को भेजकर वसन्तसेना को मारूँगा। तो इस प्रकार (प्रकट रूप में) भाव, जो मैंने तुमसे (वसन्तसेना को मारने के विषय में) कहा है, भला ऐसे मल्लक (?) के समान बड़े कुल में उत्पन्न होकर मैं अकार्य कैसे करूँगा? इस प्रकार तो अपने को स्वीकार कराने के लिए मैंने कह दिया है।

यत् च भवान् शकारः एतस्य स्थावरकस्य आज्ञाम् आदेशं न करोति न पालयति। एतच्च सर्वं कृतान्तस्य विषमता एवेति भावः। उपजातिः वृत्तम् ॥२७॥

अपवारके गृहविशेषे-इति पृथ्वीधरः। विभवः सामर्थ्यम्।

परिकरः कटिवस्त्रम्, काछ इति प्रसिद्धम्। व्यापादयिष्यसि मारयिष्यसि। सर्वकालमिति। सर्वकालं सदा मया शकारेण मांसेन घृतेन च पुष्टः (त्वम्) अद्य कार्ये समुत्पन्ने प्राप्ते सति मे शकारस्य वैरिकः वैरी एव वैरिकः स्वार्थे कः कथं जातः ॥२८॥

शिरश्चालनेन संज्ञा सङ्केतः। मल्लकः लघुपात्रविशेषः (टि०)। समुद्रप्रमाणा-दिति वक्तव्ये मौर्ख्यात् मल्लकप्रमाणतया कुलमुपमिनोति-इति पृथ्वीधरः। 'कुलैः' इति बहुवचनं शकारवचनमात्रम्।

विटः—

किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥२९॥

शकारः—भावे, एशा तव अग्गदो लज्जाअदि, ण मं अङ्गीकलेदि । ता गच्छ । थावलअचेडे मए पिश्टिदे गदे वि । एशे पलाइअ गच्छदि । ता तं गेण्हिअ आअच्छदु भावे । [भाव, एषा तवाग्रतो लज्जते न मामङ्गीकरोति तद्गच्छ । स्थावरकचेटो मया ताडितो गतोऽपि । एष प्रपलाय्य गच्छति । तस्मात्तं गृहीत्वागच्छतु भावः ।]

विटः—(स्वगतम्)

अस्मत्समक्षं हि वसन्तसेना शौण्डीर्यभावान्न भजेत मूर्खम् ।
तस्मात्करोम्येष विविक्तमस्या विविक्तविश्रम्भरसो हि कामः ॥३०॥

(प्रकाशम्) एवं भवतु । गच्छामि ।

वसन्तसेना—(पटान्ते गृहीत्वा) णं भणामि शरणागदम्हि । [ननु भणामि शरणागतास्मि ।]

विटः—वसन्तसेने, न भेतव्यं न भेतव्यम् । काणेलीमातः, वसन्तसेना तव हस्ते न्यासः ।

शकारः—एव्वम् ! मम हश्ते एशा णाशेण चिश्टदु । [एवम् । मम हस्त एषा न्यासेन तिष्ठतु ।]

विटः—सत्यम् ।

शकारः—शच्चम् । [सत्यम् ।]

विटः—(किंचिद् गत्वा) अथवा मयि गते नृशंसो हन्यादेनाम् । तदपवारितशरीरः पश्यामि तावदस्य चिकीर्षितम् । (इत्येकान्ते स्थितः)

शकारः—भोदु । मालइश्शम् । अधवा कवडकावडिके एशे बह्मणे बुड्ढलोडे कदावि ओवालिअशलीले गडिअ शिआले भविअ हुलुभुलिं कलेदि ता एतबश्श वञ्चणाणिमित्तं एव्वं दाव कलइश्शम् । (कुसुमावचयं कुर्वन्नात्मानं मण्डयति) वाशू वाशू वशन्तशेणिए, एहि । [भवतु । मारयिष्यामि । अथवा कपट-

---

किमिति । कुलेन उपदिष्टेन कथितेन किं को लाभः ? यतः अत्र अकार्यकरणे शीलं स्वभावः एव कारणम् । तथाहि सुक्षेत्रे कण्टकिनः कण्टकमयाः द्रुमाः वृक्षाः सुतरां स्फीताः अत्यन्तं विस्तृताः समृद्धाः वा भवन्ति । इत्थमेव उत्तमकुलेऽपि पापिनो जायन्ते इति भावः । अर्थान्तरन्यासः ॥२९॥

विट—

कुल के कथन से क्या (लाभ)? क्योंकि इस (अकार्य करने) में तो स्वभाव (या आचरण) ही कारण है जैसे कि अच्छे खेत में भी कांटों वाले वृक्ष भली-भाँति समृद्ध हो जाते हैं ॥२६॥

शकार—भाव, यह तुम्हारे सामने लजाती है तथा मुझे स्वीकार नहीं करती। अतः तुम जाओ। मेरे द्वारा पीटा गया स्थावरक चेट गया भी। (देखो) यह भाग कर जाता है इसलिये आप उसे लेकर आइये।

विट—(अपने आप) हमारे सामने वसन्तसेना उदात्त गुणों के कारण कदाचित् इस मूर्ख को स्वीकार न करे, इसलिये मैं वसन्तसेना के लिये (इस स्थान को) निर्जन करता हूँ क्योंकि काम निर्जन एवं विश्वस्त स्थान में आनन्ददायक होता है ॥३०॥

(प्रकट रूप में) ऐसा ही हो, जाता हूँ।

वसन्तसेना—(आंचल पकड़कर) मैं कहती हूँ न, कि मैं शरणागत हूँ।

विट—वसन्तसेना, डरो नहीं, डरो नहीं। काणेली के पुत्र, वसन्तसेना तुम्हारे हाथ में धरोहर है।

शकार—अच्छा, मेरे हाथ में यह धरोहर रूप से रहे।

विट—सचमुच !

शकार—सच।

विट—(कुछ दूर जाकर) अथवा मेरे चले जाने पर यह क्रूर इस (वसन्तसेना) को कदाचित् मार देगा। अतः अपने आप (शरीर) को छिपाये हुए इसके इरादे (कार्य करने की अभिलाषा-चिकीर्षित) को देखता हूँ। (एकान्त में ठहर जाता है)।

शकार—अच्छा, मारूँगा। अथवा धूर्तों में अग्रणी यह ब्राह्मण बूढ़ा-सियार कहीं अपने आपको छिपाकर (यहाँ से) जाकर सियार सा बनकर छल करता हो। तब

अस्मावितिं। हि यतः अस्मत्समक्षं अस्माकं समक्षे वसन्तसेना शौण्डीर्यभावात् उदात्तभावात् मूर्खं न भजेत सेवेत। तस्मात् कारणात् एषः अहं अस्याः वसन्तसेनायाः विविक्तं विजनं करोमि हि यतः कामः विविक्ते विजने शून्ये वा विश्रम्भे विश्वासे च रसः आनन्दो यस्य तादृशः भवति। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। उपजाति वृत्तम् ॥३०॥

कपटेन चरतीति कापटिकः। कपटेषु कापटिकः वञ्चकाग्रणीरित्यर्थः (पृथ्वी०) अपवारितम् आच्छादितं शरीरं येन सः।

कापटिक एष ब्राह्मणो वृद्धशृगालः कदाचिदपवारितशरीरो गत्वा शृगालो भूत्वा कपटं करोति। तदेतस्य वञ्चनानिमित्तमेवं तावत्करिष्यामि। बाले बाले वसन्तसेने, एहि।]

विटः—अये, कामी संवृत्तः। हन्त, निर्वृतोऽस्मि। गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः)

शकारः—

शुवण्णअं देमि पिअं वदेमि पडेमि शीशेण श्वेश्टणेण।
तधा वि मं णेच्छशि शुद्धदन्ति किं शेवअं कश्टमआ मणुश्शा ॥३१॥
[सुवर्णकं ददामि प्रियं वदामि पतामि शीर्षेण सवेष्टनेन।
तथापि मां नेच्छसि शुद्धदन्ति किं सेवकं कष्टमया मनुष्याः ॥]

वसन्तसेना—को एत्थ संदेहो। (अवनतमुखी 'खल चरित' इत्यादि श्लोकद्वयं पठति)

खलचरित निकृष्ट जातदोषः कथमिह मां परिलोभसे धनेन।
सुचरितचरितं विशुद्धदेहं न हि कमलं मधुपाः परित्यजन्ति ॥३२॥
यत्नेन सेवितव्यः पुरुषः कुलशीलवान्दरिद्रोऽपि।
शोभा हि पणस्त्रीणां सदृशजनसमाश्रयः कामः ॥३३॥

अवि अ। सहआरपादवं सेविअ ण पलासपादवं अङ्गीकरिस्सस्। [कोऽत्र सन्देहः। अपि च। सहकारपादपं सेवित्वा न पलाशपादपमङ्गीकरिष्यामि।]

शकारः—दाशीए धीए, दलिद्दचालुदत्तके शहआलपादवे कडे, हगे उण पलाशे भणिदे किंशुके वि ण कडे। एव्वं तुमं मे गालिं देन्ती अज्जवी तं ज्जेव चालुदत्तकं शुमलेशि। [दास्याः पुत्रि, दरिद्रचारुदत्तकः सहकारपादपः कृतः अहं पुनः पलाशो भणितः किंशुकोऽपि न कृतः। एवं त्वं मह्यं गालीं ददत्यद्यापि तमेव चारुदत्तकं स्मरसि।]

वसन्तसेना—हिअअगदो ज्जेव किंत्ति ण सुमरीअदि। [हृदयगत एव किमिति न स्मर्यते।]

भूयान् कामोऽस्यास्तीति कामी। संवृत्तः संजातः। निर्वृतः सुखी, निश्चिन्तः। सुवर्णकमिति। अहं तुभ्यं सुवर्णकं ददामि, प्रियं वदामि सवेष्टनेन सोष्णीषेण शीर्षेण शिरसा पतामि तव चरणयोरिति शेषः। तथापि हे शुद्धदन्ति, मां शकारं सेवकं किं कथं न इच्छसि? अहो! मनुष्याः हि कष्टमयाः। उपजातिः वृत्तम् ॥३१॥

इसकी वञ्चना के लिये इस प्रकार करूँ। (पुष्प-चयन करता हुआ अपने आपको भूषित करता है) बाले, बाले, वसन्तसेने, आओ।

विट—अरे, कामी बन गया। अहा! अब निश्चिन्त हो गया। जाता हूँ। (निकल जाता है)

शकार—

मैं तुम्हें सुवर्ण देता हूँ प्रिय वचन कहता हूँ, पगड़ी सहित सिर से (तुम्हारे चरणों में) गिरता हूँ, तथापि हे शुद्ध दांतों वाली क्यों मुझ सेवक को नहीं चाहती हो (खेद है) मनुष्य बड़े कष्टमय हैं ॥३१॥

वसन्तसेना—इसमें क्या सन्देह है? (नीचे मुख किये हुए 'खलचरित इत्यादि' दो श्लोक पढ़ती है)

हे दुष्ट चरित्र वाले अधम, तुम पाप से युक्त होकर यहाँ मुझे धन से क्यों लुभाते हो? सुन्दर (आह्लादकता आदि) स्वभाव वाले तथा निर्मल आकृति वाले कमल को भ्रमर नहीं छोड़ते हैं ॥३२॥

कुलीन तथा सदाचारी पुरुष का दरिद्र होते हुए भी यत्न से सेवन करना चाहिए, क्योंकि अनुरूप जन है आश्रय जिसका ऐसा प्रेम ही वेश्याओं की शोभा है ॥३३॥

और भी। आम्रवृक्ष का सेवन करके पलाशवृक्ष को स्वीकार नहीं करूँगी।

शकार—दासी की पुत्री, दरिद्र चारुदत्त को आम्रवृक्ष बना दिया और मुझे पलाश कहा, 'किंशुक' भी नहीं बनाया। इस प्रकार तू मुझे गाली देती हुई आज भी उसी चारुदत्त का स्मरण करती है।

वसन्तसेना—वह हृदय में स्थित ही है, फिर उसका स्मरण क्यों न किया जाये?

खलचरितेति। हे खलचरित दुष्टचरित, निकृष्टः अधमः, जातः उत्पन्नः दोषः पापं यस्य तादृशः सन् इह अत्र मां वसन्तसेनां कथं धनेन परिलोभसे परिलोभयसि? सुचरितं शोभनं चरितं शीलम् आह्लादकत्वादि यस्य तादृशं विशुद्धः विमलः देहः शरीरं आकृतिर्वा यस्य तादृशं कमलं मधुपाः भ्रमराः न परित्यजन्ति हि न त्यजन्ति इति निश्चितम्। अनेन चारुदत्तं न त्यक्ष्यामीति व्यज्यते। अप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥३२॥

यत्नेनेति। कुलशीलवान् कुलशीलयुक्तः पुरुषः दरिद्रः अपि सन् यत्नेन प्रयत्नपूर्वकं सेवितव्यः सेवनीयः, हि यतः सदृशजनः अनुरूपजनः समाश्रयः यस्य तादृशः कामः अनुरागः पणस्त्रीणां वेश्यानां शोभा भवति। अर्थान्तरन्यासः। आर्या वृत्तम् ॥३३॥

शकारः—अज्ज वि दे हिअअगदं तुमं च शमं ज्जेव मोडेमि । ता दलिद्दशत्थवाह-अमणुश्शकामुकिणि, चिश्ट चिश्ट । [अद्यापि ते हृदयगतं त्वां च सममेव मोटयामि । तद्दरिद्रसार्थवाहकमनुष्यकामुकिनि, तिष्ठ तिष्ठ ।]

वसन्तसेना—भण भण पुणो वि भण सलाहणिआइं एदाइं अक्खराइं । [भण भण पुनरपि भण श्लाघनीयान्येतान्यक्षराणि ।]

शकारः—पलित्ताअदु दाशीए पुत्ते दलिद्दचालुदत्तके तुमम् । [परित्रायतां दास्याः पुत्रो दरिद्रचारुदत्तकस्त्वाम् ।]

वसन्तसेना—परित्ताअदि जदि मं पेक्खदि । [परित्रायते यदि मां प्रेक्षते ।]

शकारः—

किं शे शक्के वालिपुत्ते महिन्दे लम्भापुत्ते कालणेमी शुबन्धू ।
लुद्दे लाआ दोणपुत्ते जडाऊ चाणक्के वा धुन्धुमाले तिशङ्कू ? ॥३४॥

अथवा, एदे वि दे ण लक्खन्ति ।

चाणक्केण जधा शीदा मालिदा भालदे जुए ।
एव्वं दे मोडइश्शामि जडाऊ विअ दोव्वदिम् ॥३५॥

[किं स शक्रो बालिपुत्रो महेन्द्रो रम्भापुत्रः कालनेमिः सुबन्धुः ।
रुद्रो राजा द्रोणपुत्रो जटायुश्चाणक्यो वा धुन्धुमारस्त्रिशङ्कुः ? ।

अथवा, एतेऽपि त्वां न रक्षन्ति ।

चाणक्येन यथा सीता मारिता भारते युगे ।
एवं त्वां मोटयिष्यामि जटायुरिव द्रौपदीम् ॥]

(इति ताडयितुमुद्यतः)

वसन्तसेना—हा अत्ते, कहिं सि । हा अज्जचारुदत्त, एसो जणो असंपुण्णमणोरधो ज्जेव विवज्जदि । ता उद्धं अक्कन्दइस्सम् । अधवा वसन्तसेणा उद्धं अक्कन्दति त्ति लज्जणीअं क्खु एवम् । णमो अज्जचारुदत्तस्स । [हा मातः, कुत्रासि ? हा आर्यचारुदत्त, एष जनोऽसंपूर्णमनोरथ एव विपद्यते । तदूर्ध्वमा-क्रन्दयिष्यामि । अथवा वसन्तसेनोर्ध्वमाक्रन्दतीति लज्जनीयं खल्वेतत् । नम आर्यचारुदत्ताय ।]

शकारः—अज्जवि गब्भदाशी तश्श ज्जेव पावस्स णामं गेण्हदि । (इति कण्ठे पीडयन्) शुमल गब्भदाशि शुमल । [अद्यापि गर्भदासी तस्यैव पापस्य नाम गृह्णाति । स्मर गर्भदासि, स्मर ।]

वसन्तसेना—णमो अज्जचारुदत्तस्स । [नम आर्यचारुदत्ताय ।]

शकार—आज ही तुझे और तेरे हृदय में स्थित (दोनों) को साथ ही पीस डालता हूँ। तो दरिद्र सार्थवाह अर्थात् चारुदत्त को चाहने वाली, ठहर ठहर।

वसन्तसेना—कहो, कहो फिर भी कहो। ये अक्षर (चारुदत्त कामुकिनी) सराहनीय हैं।

शकार—दासी का पुत्र दरिद्र चारुदत्त तुम्हारी रक्षा कर ले।

वसन्तसेना—रक्षा करते यदि मुझे देखते।

शकार—वह (चारुदत्त) क्या इन्द्र है ? बालि का पुत्र महेन्द्र है, या रम्भा का पुत्र कालनेमि है अथवा सुबन्धु है ? वह राजा रुद्र है या द्रोण का पुत्र जटायु है ? चाणक्य है, धुन्धुमार है अथवा त्रिशङ्कु है ॥३४॥

जैसे भारत के युग में चाणक्य ने सीता को मारा था इसी प्रकार जटायु के द्रौपदी को मारने के समान मैं तुझे मारूँगा ॥३५॥

(मारने को उद्यत हो जाता है)

वसन्तसेना—हाय माँ ! कहाँ हो ! हाय आर्य चारुदत्त ! यह जन (मैं) बिना मनोरथ पूर्ण हुए ही मर रहा है। अब मैं ऊँचे स्वर से क्रन्दन करूँगी। अथवा 'वसन्तसेना ऊँचे स्वर से क्रन्दन करती है'—यह लज्जा का विषय है। आर्य चारुदत्त को नमस्कार।

शकार—अब भी यह गर्भदासी उस पापी का ही नाम ले रही है। (गला दबाता हुआ) स्मरण कर गर्भदासी, स्मरण कर।

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त को नमस्कार।

'पलाश' शब्देन राक्षसोऽप्यभिधीयते पलं मांसमश्नातीति पलाशः। मोटयामि चूर्णयामि। दरिद्रसार्थवाहकः चासौ मनुष्यश्च तस्य कामुकिनी अभिलाषिणी तत्संबुद्धौ।

किमिति। सः चारुदत्तः किं शक्रः इन्द्रः, बालिपुत्रः महेन्द्रः किम् ? शक्रः महेन्द्रः इति पुनरुक्तिः बालिपुत्रः इति ऐतिह्यविरुद्धम्। अथवा रम्भायाः पुत्रः कालनेमिः असुरविशेषः सुबन्धु कविविशेषः—अत्र रम्भापुत्रः इति ऐतिह्यविरुद्धम्, रुद्रः एतन्नामकः राजा अथवा द्रोणस्य पुत्रः जटायुः द्रोणपुत्रः इति विरुद्धम्, चाणक्यः, धुन्धुमारः असुरविशेषः अथवा त्रिशङ्कुः किम्। शालिनी वृत्तं ॥३४॥

चाणक्येन। यथा भारते युगे चाणक्येन सीता मारिता एवं जटायुः द्रौपदीम् इव च त्वां वसन्तसेनां मोटयिष्यामि चूर्णयिष्यामि मारयिष्यामि वा। शकारवाक्यत्वाद् असङ्गतम् ॥३५॥

शकारः　मल गब्भदाशि, मल । [म्रियस्व गर्भदासि, म्रियस्व ।]

(नाट्येन कण्ठे निपीडयन्मारयति)

(वसन्तसेना मूर्छिता निश्चेष्टा पतति)

शकारः—(सहर्षम् ।)

एदं दोशकलण्डिअं अविणअश्शावाशभूदं खलं
　　लत्तं तश्श किलागदश्श लमणे कालागदं आअदम् ।
किं एशे शमुदाहलामि णिअअं वाहूण शूलत्तणं
　　णीशाशे वि मलेइ अम्ब शुमला शीदा जधा भालदे ।।३६।।

इच्छन्तं मम णेच्छति त्ति गणिआ लोशेण मे मालिदा
शुण्णे पुप्फकलण्डके त्ति शहशा पाशेण उत्ताशिदा ।
शेवावञ्चिद भादुके मम पिदा मादेव शा दोप्पदी
जे शे पेक्खदि णेदिशं ववशिदं पुत्ताह शूलत्तणम् ।।३७।।

भोदु । शंपदं बुड्ढखोडे आगमिश्शदि त्ति । ता ओशलिअ चिश्टामि ।

[एतां दोषकरण्डिकामविनयस्यावासभूतां खलां
　　रक्तां तस्य किलागतस्य रमणे कालागतामागताम् ।
किमेष समुदाहरामि निजकं बाह्वोः शूरत्वं
　　निःश्वासापि म्रियतेऽम्बा सुमृता सीता यथा भारते ।।

इच्छन्तं मां नेच्छतीति गणिका रोषेण मया मारिता
　　शून्ये पुष्पकरण्डक इति सहसा पाशेनोत्त्रासिता ।
सेवावञ्चितो भ्राता मम पिता मातेव सा द्रौपदी
　　योऽसौ पश्यति नेदृशं व्यवसितं पुत्रस्य शूरत्वम् ।।

भवतु । सांप्रतं वृद्धशृगाल आगमिष्यतीति ततोऽपसृत्य तिष्ठामि ।]

(तथा करोति)

(प्रविश्य चेटेन सह)

विटः—अनुनीतो मया स्थावरकश्चेटः । तद्यावत्काणेलीमातरं पश्यामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, मार्ग एव पादपो निपतितः । अनेन च पतता स्त्री व्यापादिता । भोः पाप, किमिदमकार्यमनुष्ठितं त्वया । तवापि पापिनः पतनात्स्त्रीवधदर्शनेनातीव पातिता वयम् । अनिमित्तमेतत्, यत्सत्यं वसन्तसेनां प्रति शङ्कितं मे मनः । सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति । (शकारमुपसृत्य) काणेलीमातः, एवं मयानुनीतः स्थावरकश्चेटः ।

शकार—मर जा गर्भदासी मर जा। (अभिनय से गला दबाता हुआ मारता है (वसन्तसेना मूच्छित होती है तथा निश्चेष्ट होकर गिरती हैं)

शकार—(हर्षपूर्वक)

दोषों की पिटारी, अविनय का निवास,स्थान, दुष्टा, अनुरागयुक्ता, यहाँ आये हुए उस चारुदत्त से रमण के लिये आई हुई काल (मृत्यु) को प्राप्त हुई, इस वसन्तसेना को (मैंने मार दिया है) मैं अपनी भुजाओं की शूरता का क्या वर्णन करूँ? श्वास रहित हो जाने पर भी यह बेचारी स्त्री (वसन्तसेना) इसी प्रकार मर रही है जिस प्रकार भारत युग में सीता भली-भाँति मर गई ॥३६॥

'चाहने वाले मुझको यह वेश्या (वसन्तसेना) नहीं चाहती है—इस कारण से इस शून्य पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में सहसा अपने बाहुपाश से गला दबाकर उसको क्रोध से मैंने मार दिया है। जो मेरा भाई, पिता तथा द्रौपदी जैसी माता अपने पुत्र द्वारा की गई इस शूरता को नहीं देखता है वह मेरी सेवा से वञ्चित रह गया ॥३७॥

अच्छा, इस समय बूढ़ा सियार आ जायेगा, अतः उससे हटकर खड़ा होता हूँ। (वैसा करता है)

(चेट के साथ प्रवेश करके)

विट—स्थावरक चेट को मैंने मना लिया है। तो अब काणेली के पुत्र को देखता हूँ (घूमकर और देखकर) अरे, मार्ग में ही वृक्ष गिर पड़ा है। और गिरते हुए इसने स्त्री को मार डाला। अरे, पापी तूने यह क्या अकार्य कर दिया। तुझ पापी के पतन से होने वाले स्त्रीवध के दर्शन ने हमें अधिक पतित कर दिया है। यह अपशकुन है, सचमुच ही वसन्तसेना के विषय में मेरा मन शङ्कित हो गया है। सर्वथा देवता कल्याण करेंगे। (शकार के पास जाकर) काणेली-पुत्र, अच्छा मैंने स्थावरक चेट को मना लिया है।

एतामिति। दोषाणां करण्डिकां पेटिकां (पिटारी इति भाषा), अविनयस्य आवासभूतां निवासस्थानम्, खलां दुष्टां रक्ताम् अनुरागयुक्ताम् आगतस्य तस्य चारुदत्तस्य रमणे रमणनिमित्तम् आगतां कालागतां कालप्राप्ताम् एतां वसन्तसेनाम् अहं मारितवान् इति शेषः। एषः अहं निजकं स्वकीयं बाह्वोः भुजयोः शूरत्वं शूरतां किमुदाहरामि किं वर्णयामि? निश्वासा श्वासरहिता अपि अम्बा वराकी स्त्री तथा म्रियते यथा भारते युगे सीता सुमृता सम्यक् मृता। (हतोपमम्)। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३६॥

इच्छन्तमिति। इच्छन्तं कामयमानं मां शकारं गणिका वसन्तसेना न इच्छति इति हेतोः शून्ये विजने पुष्पकरण्डके तन्नामके उद्याने सा मया शकारेण सहसा पाशेन बाहुपाशेन उत्त्रासिता त्रासं गमिता निपीडिता वा रोषेण मारिता च इति। यः मम भ्राता, पिता, द्रौपदी इव माता च पुत्रस्य शकारस्य व्यवसितं कृतम् ईदृशं शूरत्वं न पश्यति असौ सेवानञ्चितः मम सेवया वञ्चितः इति भावः ॥३७॥

शकारः—भावे, शाश्रदं दे पुत्तका थावलका चेडा, तवावि शाश्रवम् । [भाव, स्वागतं ते । पुत्रक स्थावरक चेट, तवापि स्वागतम् ।]

चेटः—अध इं । [अथ किम् ।]

विटः—मदीयं न्यासमुपनय ।

शकारः—कीदिशे णाशे । [कीदृशो न्यासः ।]

विटः—वसन्तसेना ।

शकारः—गडा । [गता ।]

विटः—क्व ।

शकारः—भावश्श ज्जेव पिश्टदो । [भावस्यैव पृष्ठतः ।]

विटः—(सवितर्कम्) न गता खलु सा तया दिशा ।

शकारः—तुमं कदमाए दिशाए गडे । [त्वं कतमया दिशा गतः ।]

विटः—पूर्वया दिशा ।

शकारः—शा वि दक्खिणाए गडा । [सा पि दक्षिणया गता ।]

विटः—अहं दक्षिणया ।

शकारः—शा वि उत्तलाए । [साप्युत्तरया ।]

विटः—अत्याकुलं कथयसि । न शुद्ध्यति मेऽन्तरात्मा । तत्कथय सत्यम् ।

शकारः—शवामि भावश्श शीशं अत्तणकेलकेहिं पादेहिं । ता शंठावेहि हिअअम् एशा मए मालिदा । [शपे भावस्य शीर्षमात्मीयाभ्यां पादाभ्याम् । ततः संस्थापय हृदयम् । एषा मया मारिता ।]

विटः—(सविषादम्) सत्यं त्वया व्यापादिता ।

शकारः—जइ मम वअणे न पत्तिआअशि, ता पेक्ख पढमं लश्टिअशालशंठाणाह शूलत्तणम् । [यदि मम वचने न प्रत्ययसे, तत्पश्य प्रथमं राष्ट्रियश्यालसंस्थानस्य शूरत्वम् । (इति दर्शयति)

विटः—हा, हतोऽस्मि मन्दभाग्यः । (इति मूर्च्छितः पतति)

शकारः—ही ही । उवलदे भावे । [ही ही । उपरतो भावः ।]

चेटः—शमश्शशदु शमश्शशदु भावे । अविचालिअं पवहणं आणन्तेण ज्जेव मए पढमं मालिदा । [समाश्वसितु समाश्वसितु भावः । अविचारितं प्रवहणमानयतैव मया प्रथमं मारिता ।]

विटः—(समाश्वस्य सकरुणम्) हा वसन्तसेने,

अपसृत्य दूरं गत्वा । स्त्रीवधप्रदर्शनेन (कर्तृभूतेन) वयं पातिताः पातकिनः

शकार—भाव, तुम्हारा स्वागत है। पुत्र, स्थावरक चेट, तेरा भी स्वागत है।

चेट—अच्छा, (धन्यवाद)।

विट—मेरी धरोहर लाओ।

शकार—कैसी धरोहर ?

विट—वसन्तसेना।

शकार—गई।

विट—कहाँ ?

शकार—आपके ही पीछे।

विट—(वितर्क-पूर्वक) वह तो उस दिशा से नहीं गई।

शकार—तुम किस दशा से गये थे ?

विट—पूर्व दिशा से।

शकार—वह भी दक्षिण से गई।

विट—मैं दक्षिण दिशा से (गया था)।

शकार—वह भी उत्तर दिशा से (गई)।

बहुत नवराहट से कह रहे हो मेरा हृदय संशय रहित नहीं हो रहा है। तो सच कहो।

शकार—अपने चरणों से आपके सिर की शपथ लेता हूँ। तो हृदय को स्थिर करो। उसे मैंने मार दिया।

विट—(विषादपूर्वक) सचमुच, तुमने मार डाली ?

शकार—यदि तुम मेरे कथन पर विश्वास नहीं करते तो पहले राजश्यालक संस्थानक की शूरता देखो (दिखलाता है)।

विट—हाय मन्दभाग्य वाला मैं मारा गया (मूर्छित होकर गिरता है)।

शकार—अहो, 'भाव' मर गया।

चेट—आप धैर्य धारण कीजिये, धैर्य धारण कीजिये, बिना विचारे गाड़ी को लाते हुए मैंने ही उसे पहले मार दिया था।

विट—(धैर्य धारण करके, करुणापूर्वक) हाय, वसन्तसेना।

कृताः। पातकं क्रियमाणं पश्यन्नपि जनः पातकी भवतीति भावः। अनिमित्तम् अपशकुनम्।

दक्षिणादिग्गतत्वं मृतत्वमपि (पृथ्वी०)। अस्यःकुलम् आकुलतापूर्वकं परस्पर-विरुद्धं वा न शुध्यति (?) शुद्धः संशयरहितः नास्तीति भावः। प्रत्ययसे विश्वसिषि। 'हि' इति [illegible] उपरतः मृतः।

दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रति-
हा हालङ्कृतभूषणे सुवदने क्रीडारसोद्भासिनि ।
हा सौजन्यनदि प्रहासपुलिने हा मादृशामाश्रये
हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकरः ॥३८॥

(सास्रम्) कष्टं भोः कष्टम् ।

किं नु नाम भवेत्कार्यमिदं येन त्वया कृतम् ।
अपापा पापकल्पेन नगरश्रीर्निपातिता ॥३९॥

(स्वगतम्) अये कदाचिदयं पाप इदमकार्यं मयि संक्रामयेत् । भवतु । इतो गच्छामि । (इति परिक्रामति ।)

(शकारः उपगम्य धारयति)

विटः—पाप, मा मा स्प्राक्षीः । अलं त्वया । गच्छाम्यहम् ।

शकारः—अले वशन्तशेणिअं शअं ज्जेव मालिअ मं दूशिअ कहिं पलाअशि ? शंपदं इदिशे हग्गे अणाधे पाविदे । [अरे, वसन्तसेनां स्वयमेव मारयित्वा मां दूषयित्वा कुत्र पलायसे ? सांप्रतमीदृशोऽहमनाथः प्राप्तः ।]

विटः—अपध्वस्तोऽसि ।

शकारः—

अत्थं शदं देमि शुवण्णअं दे
कहावणं देमि शवोडिअं दे ।
एशे दुशट्ठाण पलक्कमे मे
शामाण्णए भोदु मणुश्शआणम् ॥४०॥

[अर्थं शतं ददामि सुवर्णकं ते कार्षापणं ददामि सवोडिकं ते ।
एष दोषस्थानं पराक्रमो मे सामान्यको भवतु मनुष्यकाणाम् ॥]

'मया वसन्तसेना मारिता' इति शकारवचनं निशम्य विटः अनुशोचति—दाक्षिण्येति । दाक्षिण्यम् औदार्यम् एव उदकं तस्य वाहिनी नदी विगलिता नष्टा । रतिः स्वदेशं स्वर्गं याता गता । हा ! हा ! अलङ्कृतभूषणे, अलङ्कृतानि भूषणानि यया सा सम्बुद्धौ, सुवदने सुमुखि, क्रीडारसस्य रतिक्रीडायाः आनन्दस्य उद्भासिनि, प्रहासः एव पुलिनं बालुकामयतटं यस्याः तथाभूते, हा ! सौजन्यस्य नदि, हा ! मादृशाम् आश्रये आश्रयभूते, हा ! हा ! मन्मथस्य कामस्य विपणिः पण्यवीथिका (हट्टः), सौभाग्यम् एव

उदारता रूपी जल की नदी नष्ट हो गई, रति अपने देश (स्वर्ग) को चली गई। हा ! भूषणों को अलङ्कृत करने वाली, सुन्दर मुख वाली, (रति) क्रीड़ा के आनन्द को उद्भासित करने वाली, हा ! हास रूपी बालुकामय तटों वाली सुजनता की नदी ! हा ! मेरे जैसों की आश्रयभूत, हाय ! कामदेव की हाट, सौभाग्य रूपी विक्रेय द्रव्य की निधि नष्ट हो गई ॥३८॥

(अश्रुपूर्ण होकर) अरे कष्ट है कष्ट !

क्या प्रयोजन (सिद्ध) हो सकेगा ? जिससे तूने यह (दुष्कर्म) किया है। पापी जैसे तूने पाप रहित नगर की लक्ष्मी को मार दिया है ॥३९॥

(अपने आप) अरे, कहीं यह पापी इस दुष्कर्म को मुझ पर हीं डाल दे। अच्छा, यहाँ से जाता हूँ।

(शकार पास जाकर पकड़ता है।)

विट— पापी, मुझे मत छुओ। तुम रहने दो। मैं जानता हूँ।

शकार—अरे वसन्तसेना को स्वयं मारकर मुझे दोष लगाकर कहाँ भागते हो अब मैं ऐसा अनाथ हो गया ?

विट—तुम पतित हो।

शकार—

मैं तुम्हें सौ सुवर्णमुद्रा की धनराशि दूँगा, मैं तुम्हें बीस कौड़ी (वोडी) सहित एक 'कार्षापण' दूँगा। मेरा यह पराक्रम (वसन्तसेना का मारना) जो दोष का स्थान (अपराध) है यह मनुष्यों का साधारण कार्य हो जाये (मेरे नाम न लगाया जाये) ॥४०॥

पण्यं विक्रेयवस्तु तस्य आकरः खनिः निधिर्वा नश्यति। रूपकालङ्कारः। करुणो रसः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३८॥

किमिति। किं नु नाम कार्यं प्रयोजनं भवेत् येन यदुद्देशेन त्वया शकारेण इदं दुष्कर्म कृतम्। यत् पापकल्पेन पापिनः ईषदन्यूनेन पापिसदृशेन वा त्वया अपापा पापरहिता नगरस्य श्रीः निपातिता मारिता। वसन्तसेनां हत्वा नगरमिदं श्रीविहीनं विहितम् इति भावः। उपमालङ्कारः ॥३९॥

संक्रामयेद् आरोपयेत्। अपध्वस्तः पतितः।

अर्थमिति। अहं शकारः ते विटाय शतं सुवर्णकम् अर्थं धनं ददामि। ते तुभ्यं सवोडिक्कं वोडिनामकमुद्रासहितं कार्षापणम् एतन्नाम्नीं राजमुद्रां ददामि। दोषस्य स्थानम् एषः मे मम शकारस्य पराक्रमः मनुष्याणां सामान्यकः साधारणः भवतु। केनापि वसन्तसेना मारिता इति वक्तव्यम् न तु शकारेण मारितेति। उपजातिः वृत्तम् ॥४०॥

विटः—धिक् तवैवास्तु।

चेटः—शन्तं पावम्। [शान्तं पापम्।]

(शकारो हसति)

विटः—

अप्रीतिर्भवतु विमुच्यतां हि हासो
धिक्प्रीतिं परिभवकारिकामनार्याम्।
मा भूच्च त्वयि मम सङ्गतं कदाचि-
दाच्छिन्नं धनुरिव निर्गुणं त्यजामि ॥४१॥

शकारः—भावे, पशीद पशीद। एहि। णलिणीए पविशिअ कीलेम्ह। [भाव, प्रसीद प्रसीद। एहि। नलिन्यां प्रविश्य क्रीडावः।]

विटः—

अपतितमपि तावत्सेवमानं भवन्तं
पतितमिव जनोऽयं मन्यते मामनार्यम्।
कथमहमनुयायां त्वां हतस्त्रीकमेनं
पुनरपि नगरस्त्रीशङ्कितार्धाक्षिदृष्टम् ॥४२॥

(सकरुणम्) वसन्तसेने,

अन्यस्यामपि जातौ मा वेश्या भूस्त्वं हि सुन्दरि।
चारित्र्यगुणसम्पन्ने जायेथा विमल कुले ॥४३॥

दोषं कृत्वा हसन्तं शकारं दृष्ट्वा विटः कथयति—अप्रीतिरिति। हासः विमुच्यतां त्यज्यतां हि अप्रीतिः त्वया सह मम स्नेहस्य अभावः भवतु (अथवा तव अप्रीतिः दुःखं भवतु।) परिभवकारिकां तिरस्कारकारिणीम् अनार्यां निकृष्टां प्रीतिं त्वया सह मैत्रीं धिक्। त्वयि शकारे मम विटस्य सङ्गतं कदाचिद् अपि मा भूत्। आच्छिन्नं भग्नं निर्गुणं ज्यारहितं धनुः इव दयादिगुणरहितं त्वां त्यजामि। उपमालङ्कारः। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥४१॥

नलिन्यौ सरस्याम्, नलानि कमलानि सन्त्यस्यामिति।

विट—(तुम्हें) धिक्कार है। (यह दोष) तुम्हारा ही रहेगा।

चेट पाप शान्त हो।

(शकार हँसता है)

विट—

इस हँसी को छोड़ दो। तुम्हारे साथ मेरा स्नेह नहीं रहेगा। अनादर करने वाली इस निकृष्ट मैत्री को धिक्कार है। मेरा और तुम्हारा सङ्ग फिर कभी न हो। टूटे हुए तथा प्रत्यञ्चा रहित धनुष के समान दयादि गुण रहित तुझको मैं त्यागता हूँ ॥४१॥

शकार—भाव, प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ। आओ (इस) कमल सरोवर में प्रविष्ट होकर क्रीड़ा करें।

विट—

आपकी सेवा करते हुए मुझ पाप-रहित को भी लोग अनार्य एवं पापयुक्त समझेंगे। तब स्त्री (वसन्तसेना) को मारने वाले इसी हेतु नगर की स्त्रियों के द्वारा शङ्कित अधखुली आंखों से देखे गये तुम्हारा अनुसरण मैं कैसे करूँ ॥४२॥
(करुणापूर्वक) हे वसन्तसेना,

हे सुन्दरी, तुम दूसरे जन्म में भी वेश्या न होओ। हे चरित्रगुण से युक्त वसन्तसेना), तुम किसी पवित्र कुल में जन्म लो (अथवा हे वसन्तसेना, तुम किसी चरित्र गुणयुक्त पवित्र कुल में जन्म लो) ॥४३॥

त्वया सह मम सङ्गतिर्न युक्तेति विटः शकारं कथयति-अपतितमिति। भवन्तं शकारं सेवमानम् अपतितम् अपि मां विटम् अयं जनः साधारणो लोकः अनार्यम् अश्रेष्ठं निकृष्टमिति यावत् पतितम् पापयुक्तम् इव च मन्यते मंस्यते इत्थं च हतस्त्रीकं हता स्त्री येन तं पुनः अपि च नगरस्त्रीभिः शङ्कितैः अर्द्धाक्षिभिः अर्धोन्मीलितलोचनैः दृष्टं त्वां शकारम् अहं विटः कथम् अनुयायाम् अनुगच्छेयम्। न कथमपि त्वामनुगन्तुं शक्नोमीति भावः। काव्यलिङ्गालङ्कारः। मालिनी वृत्तम् ॥४१॥

अन्यस्यामिति। हे सुन्दरि, त्वम् अन्यस्यां भाविन्यां जातौ जन्मनि अपि वेश्या मा भूः न भव। चारित्र्यं सच्चरित्रम् एव गुणः तेन सम्पन्ना युक्ता तत्सम्बुद्धौ हे चरित्र-गुणयुक्ते वसन्तसेने, (अथवा चारित्र्यगुणसम्पन्ने कुले इति सम्बन्धः) त्वं विमले दोष-रहिते, पवित्रे कुले जायेथाः जन्म गृहाण; इति वसन्तसेनां प्रति शुभकामना ॥४३॥

शकारः—ममकेलके पुप्फकलण्डकजिण्णुज्जाणे वशन्तशेणिअं मालिअ कहिं पलाअशि ? एहि । मम आवुत्तश्श अग्गदो ववहालं देहि । [मदीये पुष्पकरण्डकजीर्णोद्याने वसन्तसेनां मारयित्वा कुत्र पलायसे ? एहि । मम आवुत्तस्याग्रतो व्यवहारं देहि ।] (इति धारयति)

विटः—आः, तिष्ठ जाल्म । (इति खड्गमाकर्षति)

शकारः—(सभयमपसृत्य) किं ले, भीदेशि । ता गच्छ । [किं रे, भीतोऽसि तद्गच्छ ।]

विटः—(स्वगतम्) न युक्तमवस्थातुम् । भवतु । यत्रार्यशर्विलकचन्दनकप्रभृतयः सन्ति, तत्र गच्छामि । (इति निष्क्रान्तः)

शकारः—णिधणं गच्छ । अले थावलका पुश्तका, कीलिशे मए कडे । [निधनं गच्छ । अरे स्थावरक पुत्रक, कीदृशं मया कृतम् ।]

चेटः—भट्टके, महन्ते अकज्जे कडे । [भट्टक, महदकार्यं कृतम् ।]

शकारः—अले चेडे, किं भणाशि अकज्जे कडेत्ति । भोदु । एव्वं दाव । (नानाभरणान्यवतार्य) गेण्ह एदं अलंकालअम् । मए ताव दिण्णे । जेत्तिके वेले अलंकलेमि तेत्तिकं वेलं मम । अण्णं तव । [अरे चेट, किं भणस्यकार्यं कृतमिति । भवतु । एवं तावत् । गृहाणेममलङ्कारम् । मया तावद्दत्तम् । यावत्यां वेलायामलङ्करोमि तावतीं वेलां मम । अन्यदा तव ।]

चेटः—भट्टके ज्जेव एदे शोहन्ति । किं मम एदेहिं । [भट्टके एवैते शोभन्ते । किं ममैतैः ।]

शकारः—ता गच्छ । एदाइं गोणाइं गेण्हिअ ममकेलकाए पाशादबालग्गपदोलिकाए चिट्ठ । जाव हग्गे आअच्छामि । [तद्गच्छ । एतौ वृषभौ गृहीत्वा मदीयायां प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायां तिष्ठ । यावदहमागच्छामि ।]

आवुत्तस्य भगनीपतेः । व्यवहारं विवादं, विचारम् इति पृथ्वीधरः । 'परस्परं मनुष्याणां स्वार्थविप्रतिपत्तिषु । वाक्यान्न्यायाद्व्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः' । इति मिताक्षरा । जाल्म, असमीक्ष्यकारिन् । निधनं मृत्युं गच्छ । बालाग्रं मत्तवारणम्

शकार—मेरे 'पुष्पकरण्डक' नामक पुराने उद्यान में वसन्तसेना को मार कर कहाँ भागते हो ? आओ, मेरे बहनोई (राजा) के सामने सफाई (व्यवहार) दो। (पकड़ता है)।

विट—अरे, विना विचारे कार्य करने वाले (जाल्म) ठहर। (तलवार खींचता है)।

शकार—(भयपूर्वक हटकर) अरे क्या डर गया, तो जा।

विट—(अपने आप) यहाँ ठहरना उचित नहीं। अच्छा, जहाँ आर्य शर्विलक, तथा चन्दनक आदि हैं, वहाँ जाता हूँ। (निकल जाता है)।

शकार—मर जा ! अरे स्थावरक, पुत्रक, मैंने कैसा कार्य किया ?

चेट—स्वामी, बड़ा बुरा काम किया।

शकार—अरे चेट, क्या कहता है 'बुरा काम किया'। अच्छा, ऐसा ही (सही) (अनेक आभूषणों को उतार कर) इस आभूषण को ले। मैंने तुझे दे दिया। जितने समय पहनूँ उतने समय मेरा। अन्य समय तेरा।

चेट—ये (तो) स्वामी को ही शोभा देते हैं। मेरा इनसे क्या (प्रयोजन) ?

शकार—तो जा। इन बैलों को लेकर मेरी अटारी (बालाग्र) वाली गली में ठहर जब तक मैं आता हूँ।

(टि०) उपरिगृहविशेषो वा।

चेटः—जं भट्टके आणवेदि। [यद्भट्टक आज्ञापयति।] (इति निष्क्रान्तः)

शकारः—अत्तपलित्ताणे भावे गदे अदंशणम्। चेडं वि पाशादबालग्गपदोलिकाए णिगलपूलिदं कदुअ थावइश्शम्। एव्वं मन्ते लक्खिदे भोदि। ता गच्छामि। अधवा पेक्खामि दाव एदम्। किं एशा मला आदु पुणो वि मालइश्शम् (अवलोक्य) कधं शुमला। भोदु। एदिणा पावालएण पच्छादेमि णम्। अधवा णामङ्किदे एशे। ता के वि अज्जपुलिशे पच्चहिजाणेदि। भोदु। एदिणा वादालीपुञ्जिदेण शुक्खपण्णपुडेण पच्छादेमि। (तथा कृत्वा विचिन्त्य) भोदु। एव्वं दाव। संपदं अधिअलणं गच्छिअ ववहालं लिहावेमि, जहा अत्थश्श कालणादो शत्थवाहचालुदत्ताकेण ममकेलकं पुष्फकलण्डकं जिण्णुज्जाणं पवेसिअ वशन्तशेणिआ वावादिदे त्ति।

चालुदत्तविणाशाय कलेमि कवडं णवम्।
णअलीए विशुद्धाए पशुघादं व्व दालुणम्॥४४॥

भोदु। गच्छामि। (इति निष्क्रम्य दृष्ट्वा सभयम्) अविद मादिके। जेण जेण गच्छामि मग्गेण तेण ज्जेव एशे दुश्टशमणके गहिदकशाओदकं चीवलं गेण्हिअ आअच्छदि। एशें मए णशिं छिदिअ वाहिदे। किदवेले कदावि मं पेक्खिअ एदेण मालिदे त्ति पआशइश्शदि। ता कधं गच्छामि। (अवलोक्य) भोदु। एवं अद्धपडिदं पाआलखण्डं उल्लङ्घिअ गच्छामि।

एशे म्हि तुलिदतुलिदे लङ्काणअलीए गअणे गच्छन्ते।
भूमिए पाआले हणूमशिहले विअ महेन्दे॥४५॥

[आत्मपरित्राणे भावो गतोऽदर्शनम्। चेटमपि प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायां निगडपूरितं कृत्वा स्थापयिष्यामि। एवं मन्त्रो रक्षितो भवति। तद्गच्छामि। अथवा पश्यामि तावदेनाम्। किमेषा मृता, अथवा पुनरपि मारयिष्यामि। कथं सुमृता। भवतु। एतेन प्रावारकेण प्रच्छादयाम्येनाम्। अथवा नामाङ्कित एषः। तत्कोऽप्यार्यपुरुषः प्रत्यभिज्ञास्यति। भवतु। एतेन वातालीपुञ्जितेन शुष्कपर्णपुटेन प्रच्छादयामि। भवतु एवं तावत्। सांप्रतमधिकरणं गत्वा व्यवहारं लेखयामि, यथार्थस्य कारणात्सार्थवाहकचारुदत्तकेन मदीयं पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं प्रवेश्य वसन्तसेना व्यापादितेति।

चारुदत्तविनाशाय करोमि कपटं नवम्।
नगर्यां विशुद्धायां पशुघातमिव दारुणम्॥

चेट—जो स्वामी आज्ञा दें। (निकल जाता है)।

शकार—अपनी रक्षा के निमित्त विट (भाव) विलुप्त हो गया। चेट को भी प्रासाद की अटारी वाली गली में बेड़ी डालकर रक्खूँगा। इस प्रकार भेद छिपा रहेगा (?) तो जानता हूँ। अथवा पहले इस (वसन्तसेना) को देखता हूँ। क्या यह मर गई। अथवा फिर मारूँगा (देखकर) क्या भली-भाँति मर गई? अच्छा, इस वस्त्र से इसको ढक देता हूँ। अथवा यह (वस्त्र) तो नामाङ्कित है। तो कोई आर्यजन पहचान लेगा। अच्छा वायु के झोंके से इकट्ठे किये गये इस सूखे पत्तों की राशि (ढेरी) से ढक देता हूँ। (वैसा करके सोचकर) अच्छा, तो इस प्रकार। अब न्यायालय में जाकर 'व्यवहार' (अभियोग) लिखाता हूँ कि धन के निमित्त सार्थवाह चारुदत्त ने मेरे पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में ले जाकर वसन्तसेना को मार दिया।

पवित्र नगरी में भयङ्कर पशुवध के समान चारुदत्त के विनाश के लिये मैं एक नया कपट करता हूँ ॥४४॥

अच्छा जाता हूँ। (निकलकर, देखकर भयपूर्वक) ओह! जिस जिस मार्ग से जाता हूँ उसी से यह दुष्ट बौद्ध संन्यासी गेरुए रंग के रंगे वस्त्र लेकर आ जाता है। मेरे द्वारा नाक छेदकर निकाला गया यह (मेरे साथ) शत्रुता करके, कदाचित्, मुझे देखकर "इसने मारी है" यह प्रकट कर देगा। तो कैसे जाऊँ? (देखकर) अच्छा, इस आधी गिरी हुई चारदीवारी को लांघकर जाता हूँ।

आत्मपरित्राणे स्वरक्षानिमित्तम्। निगडपूरितम् अतिगुरुबन्धनोक्तिरियम् (पृथ्वी०) मन्त्रः गुप्तवादः 'वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः' इत्यमरः। प्रावारकेण उत्तरीय-वस्त्रेण। नामाङ्कितः वसन्तसेनायाः इति शकारस्य वेति लिखिताक्षरः (पृथ्वी०)। वातालिः वातचक्रं तया पुञ्जितम् एकत्रीकृतम्। अधिकरणं न्यायालयः। व्यवहारं विवादम्।

चारुदत्तेति। विशुद्धायां पवित्रायां नगर्याम् उज्जयिन्यां दारुणं भयङ्करं पशुघातं पशुवधम् इव चारुदत्तस्य विनाशाय नवं कपटं करोमि ॥४४॥

अविदमाविके भयसहिते विस्मये (अव्ययम्)। गृहीतं कषायोदकं गैरिकमयजलं येन तत्। कृतं वैरं येन तादृशः।

भवतु । गच्छामि । अविद मादिके । येन येन गच्छामि मार्गेण, तेनैवैष दुष्टश्रमणको गृहीतकषायोदकं चीवरं गृहीत्वागच्छति । एष मया नासां छित्त्वा वाहितः कृतवैरः कदापि मां प्रेक्ष्यैतेन मारितेति प्रकाशयिष्यति । तत्कथं गच्छामि । भवतु । एनमर्धपतितं प्राकारखण्डमुल्लङ्घ्य गच्छामि ।

एषोऽस्मि त्वरितत्वरितो लङ्कानगर्यां गगने गच्छन् ।
भूम्यां पाताले हनूमच्छिखर इव महेन्द्रः ॥]

(इति निष्क्रान्तः)

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

संवाहको भिक्षुः---पक्खालिदे एशे मए चीवलखण्डे । किं णु क्खु शाहाए शुक्खावइश्शम् । इध वाणला विलुम्पन्ति । किं णु क्खु भूमीए । धूलीदोशे होदि । ता कहिं पशालिअ शुक्खावइश्शम् (दृष्ट्वा) भोदु । इध वादालीपुञ्जिदे शुक्खवत्तसंचए पशालइश्शम् । (तथा कृत्वा) णमो बुद्धश्श । (इत्युपविशति) भोदु । धम्मक्खलाइं उदाहलामि ('पञ्चजणए जेण मालिदा' (८।२) इत्यादि पूर्वोक्तं पठति) अधवा अलं मम एदेण शग्गेण । जाव ताए वसन्तशेणिआए बुद्धोवाशिआए पच्चुवकालं ण कलेमि, जाए दशाणं शुवण्णकाणं किदे जूदिकलेहिं णिक्कीदे, तदो पहुदि ताए कीदं विअ अत्ताणअं अअगच्छामि । (दृष्ट्वा) किं णु क्खु पण्णोदले शमुश्शशदि । अधवा ।

वादादवेण तत्ता चीवलतोएण तिम्मिदा पत्ता ।
एदे विथिण्णपत्ता मण्णे पत्ता विअ फुलन्ति ॥४६॥

[प्रक्षालितमेतन्मया चीवरखण्डम् ! किं नु खलु शाखायां शुष्कं करिष्यामि । इह वानरा विलुम्पन्ति । किं नु खलु भूम्याम् । धूलिदोषो भवति । तत्कुत्र प्रसार्य शुष्कं करिष्यामि । भवतु । इह वातालीपुञ्जिते शुष्कपत्रसंचये प्रसारयिष्यामि । नमो बुद्धाय । भवतु धर्माक्षराण्युदाहरामि अथवालं ममैतेन स्वर्गेण । यावत्तस्या वसन्तसेनाया बुद्धोपासिकायाः प्रत्युपकारं न करोमि यया दशानां सुवर्णकानां कृते द्यूतकाराभ्यां निष्क्रीतः, ततः प्रभृति तया क्रीतमिवात्मानमवगच्छामि ! किं नु खलु पर्णोदरे समुच्छ्वसिति । अथवा ।

वातातपेन तप्तानि चीवरतोयेन स्तिमितानि पत्राणि ।
एतानि विस्तीर्णपत्राणि मन्ये पत्राणीव स्फुरन्ति ॥]

एष इति । एवः अहं शकारः लङ्कानगर्यां लङ्कानगरीं प्रति गगने भूम्यां पाताले हनुमच्छिखरे च गच्छन्, तेषां मार्गेण गच्छन् इति भावः महेन्द्रः इव त्वरित-

यह मैं (शकार) आकाश, भूमि, पाताल और हनूमान् (वस्तुतः महेन्द्र पर्वत) के शिखर से लङ्का को जाते हुए महेन्द्र (वस्तुतः हनूमान्) के समान शीघ्रातिशीघ्र जा रहा हूँ ।।४५।।

(निकल जाता है)

(संवाहक, बिना पर्दा उठाये प्रवेश करके)

संवाहक—यह चीवर मैंने धो लिया। क्या इसे वृक्ष की शाखा पर सुखा लूँ ? यहाँ वानर नष्ट कर देंगे [फाड़ देंगे]। क्या फिर भूमि पर (सुखा लूँ) ? धूलि (लगने) का दोष हो जायगा। तब कहाँ फैलाकर सुखाऊँ ? (देखकर) अच्छा, यहाँ वायु के झोंके से एकत्रित सूखे पत्तों की राशि पर फैलाऊँ ? (वैसा करके) बुद्ध को नमस्कार। (बैठ जाता है) अच्छा, धार्मिक शब्दों का उच्चारण करता हूँ। पञ्चजनाः येन मारिताः ८–२ इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक पढ़ता है) अथवा इस स्वर्ग से मेरा क्या (लाभ है) ? जब तक उस बुद्ध की उपासिका वसन्तसेना का प्रत्युपकार न करूँ। जिसने दस सुवर्ण (मुद्रा) के द्वारा (बदले) उन दोनों द्यूतकरों से छुड़ाया। तब से लेकर मैं अपने को उसके द्वारा खरीदा गया सा समझता हूँ। (देखकर) पत्तों के भीतर कौन सांस-सी ले रहा है। अथवा—

वात सहित आतप से सन्तप्त ये पत्ते मेरे वस्त्र के जल से आर्द्र होकर मानो फैल गये हैं पंख जिनके ऐसे (पक्षियों के) डैनों के समान हिल रहे हैं ।।४६।।

त्वरितः अतिशीघ्रं गच्छन् अस्मि। 'महेन्द्रशिखराद् इव हनूमान् इति वक्तव्ये शकारोक्तत्वाद् विपरीतम् (पृथ्वी०)। व्याहतोपमम् गाथा वृत्तम् ।।३५।।

वातातपेनेति। वातसहितेन आतपेन तप्तानि चीवरस्य वसनखण्डस्य तोयेन जलेन स्तिमितानि आर्द्रत्वं प्राप्तानि एतानि पत्राणि मन्ये उत्प्रेक्षे विस्तीर्णानि प्रसृतानि पत्राणि (पंख) यत्र तानि पत्राणि पक्षाः इव स्फुरन्ति। उत्प्रेक्षालङ्कारः। गाथा वृत्तम् ।।४६।।

(वसन्तसेना संज्ञां लब्ध्वा हस्तं दर्शयति)

भिक्षुः—हा हा, शुद्धालंकालभूशिदे इत्थिआ हत्थे णिक्कमदि । कधम् । दुदिए वि हत्थे । (बहुविधं निर्वर्ण्य) पच्चभिआणामि विअ एदं हत्थम् । अधवा किं विचालेण । शच्चं शे ज्जेव हत्थे जेण मे अभअं दिण्णम् । भोदु । पेक्खिश्शम् । (नाट्येनोद्घाट्य दृष्ट्वा प्रत्यभिज्ञाय च) शा ज्जेध बुद्धोवाशिआ । [हा हा, शुद्धालङ्कारभूषितः स्त्रीहस्तो निष्क्रामति । कथम् । द्वितीयोऽपि हस्तः । प्रत्यभिजानामीवैतं हस्तम् । अथवा किं विचारेण । सत्यं स एव हस्तो येन मेऽभयं दत्तम् । भवतु । पश्यामि । सैव बुद्धोपासिका ।]

(वसन्तसेना पानीयमाकाङ्क्षति)

भिक्षुः—कधम् । उदअं मग्गेदि । दूले च दिग्घिआ । किं दाणिं एत्थ कलइश्शम् । भोदु । एदं चीवलं शे उवलि गालइश्शम् । [कथम् । उदकं याचते । दूरे च दीर्घिका । किमिदानीमत्र करिष्यामि । भवतु । एतच्चीवरमस्या उपरि गालयिष्यामि ।] (तथा करोति)

(वसन्तसेना संज्ञां लब्ध्वोत्तिष्ठति । भिक्षुः पटान्तेन वीजयति)

वसन्तसेना—अज्ज, को तुमम् । [आर्य, कस्त्वम् ।]

भिक्षुः—किं मं ण शुमलेदि बुद्धोवाशिआ दशशुवण्णणिक्कीदम् ? [किं मां न स्मरति बुद्धोपासिका दशसुवर्णनिष्क्रीतम् ?]

वसन्तसेना—सुमरामि । ण उण जधा अज्जो भणादि वरं अहं उवरदा ज्जेव । [स्मरामि । न पुनर्यथार्यो भणति । वरमहमुपरतैव ।]

भिक्षुः—बुद्धोवाशिए, किं ण्णेदम् । [बुद्धोपासिके, किं न्विदम् ।]

वसन्तसेना—(सनिर्वेदम्) जं सरिसं वेसभावस्स । [यत्सदृशं वेशभावस्य ।]

भिक्षुः—उट्ठेदु उट्ठेदु बुद्धोवाशिआ एदं पादवसमीवजादं लदं ओलम्बिअ । [उत्तिष्ठतूत्तिष्ठतु बुद्धोपासिकैतां पादपसमीपजातां लतामवलम्ब्य ।] (इति लतां नामयति)

(वसन्तसेना गृहीत्वोत्तिष्ठति)

भिक्षुः—एदंशि विहाले मम धम्मबहिणिआ चिट्ठदि । तहिं शमश्शशिदमणा भविअ उवाशिआ गेहं गमिश्शदि । ता शेणं शेणं गच्छदु बुद्धोवाशिआ । (इति परिक्रामति । दृष्ट्वा) ओशलध अज्जा, ओशलध । एशा तलुणी इत्थिआ, एशो भिक्खु त्ति शुद्धे मम एशे धम्मे ।

(वसन्तसेना चेतना पाकर हाथ निकालती है)

भिक्षु—हा, हा, शुद्ध आभूषणों से भूषित नारी का हाथ निकल रहा है। क्या ! दूसरा भी हाथ है ? (बहुत प्रकार से देखकर) इस हाथ को पहचानता सा हूँ। अथवा विचार से क्या (लाभ) ? सचमुच, यह वही हाथ है जिसने मुझे अभय (दान) दिया था। अच्छा। देखता हूँ। (अभिनय से उघाड़ कर, देखकर तथा पहचान कर) वही बुद्ध की उपासिका है।

(वसन्तसेना पानी चाहती है)

भिक्षु—क्या ? जल मांगती है ? बावड़ी दूर है। अब यहाँ क्या करूँ ? अच्छा यह वस्त्र इसके ऊपर निचोड़ता हूँ। (वैसा करता है)।

(वसन्तसेना चेतना पाकर उठती है। भिक्षु वस्त्र के छोर से हवा करता है)

वसन्तसेना—आर्य, तुम कौन हो ?

भिक्षु—क्या बुद्ध की उपासिका दश सुवर्णों द्वारा खरीदे गये मुझको स्मरण नहीं कर रही हैं ?

वसन्तसेना—स्मरण करती हूँ। किन्तु उस प्रकार नहीं जिस प्रकार आप कह रहे हैं। इससे तो मैं मरी ही अच्छी।

भिक्षु—बुद्ध की उपासिका, यह क्या (हुआ) ?

वसन्तसेना—(दुःख के साथ) जो वेश्या के योग्य है।

भिक्षु—बुद्धोपासिका इस वृक्ष के समीप उत्पन्न हुई लता का सहारा लेकर उठ जायें, उठ जायें। (लता को झुकाता हैं)।

(वसन्तसेना लता को पकड़कर उठती है)

भिक्षु—इस विहार (बौद्ध-मठ) में मेरी धर्म-बहन ठहरी है। वहाँ स्वस्थचित्त होकर उपासिका घर जायेंगी। अतः बुद्धोपासिका धीरे-धीरे चलें। (घूमता है, देखकर) आर्यजनों हटो, हटो। यह युवती स्त्री है और यह मैं भिक्षु हूँ। इसलिये यह मेरा पवित्र धर्म है।

दर्शयति निःसारयति इति भावः। गालयिष्यामि जलसेकार्थं निष्पीडयिष्यामि।

वेशभावस्य वेश्यात्वस्य।

समाश्वस्तं मनो यस्याः तथाभूता स्वस्थचित्ता इति भावः।

हत्थशंजदो मुहशंजदो इन्दिअशंजदो शे क्खु माणुशे ।
किं कलेदि लाअउले तश्श पलालोओ हत्थे णिच्चले ॥४७॥

[एतस्मिन्विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति । तत्र समाश्वस्तमना भूत्वोपासिका गेहं गमिष्यति । तच्छनैः शनैर्गच्छतु बुद्धोपासिका । 'अपसरत आर्याः अपसरत । एषा तरुणी स्त्री, एष भिक्षुरिति शुद्धो ममैष धर्मः ।

हस्तसंयतो मुखसंयतः इन्द्रियसंयतः स खलु मनुष्यः ।
किं करोति राजकुलं तस्य परलोको हस्ते निश्चलः ॥]

(इति निष्क्रान्तः)

इति वसन्तसेनामोटनो नामाष्टमोऽङ्कः ।

हस्तेति । सः खलु मनुष्यः यः हस्ते हस्तेन वा संयतः संयमयुक्तः अकार्यकरणान्निवृत्त इति यावत्, मुखेन संयतः असत्यभाषणादिरहितः इन्द्रियैः संयतः

वही वस्तुतः मनुष्य है जो हाथों से संयमी है, मुख से संयम रखता है तथा इन्द्रियों का नियन्त्रण रखता है। राजकुल उसकी क्या (हानि) कर सकता है जिसके परलोक (स्वर्ग आदि) निश्चित रूप से हाथ में है ॥४७॥

(सब निकल जाते हैं)

वसन्तसेना-मर्दन नामक अष्टम अङ्क समाप्त।

रूपादिविषयेषु अनासक्तः। तस्य एतादृशस्य जनस्य राजकुलं किं करोति ? न किमपि इत्यर्थः। तस्य हस्ते परलोकः निश्चलः ध्रुवः। परिसंख्यालङ्कारः। गाथा वृत्तम्।

इति वसन्तसेनायाः मोटनं मर्दनं कठनिपीडनं वा यत्र सः।

अष्टमोऽङ्कः समाप्तः।

नवम अङ्क

(तब 'शोधनक' प्रवेश करता है)

शोधनक—न्यायालय के अधिकारियों ने मुझे आज्ञा दी है—'अरे शोधनक, विवाद-मण्डप (न्याय-भवन) में जाकर आसनों को व्यवस्थित करो। अतः तब तक न्यायालय को व्यवस्थित करने के लिये जाता हूँ। (घूमकर और देखकर) यह न्याय-भवन है। यह मैं प्रविष्ट होता हूँ। (प्रवेश करके, सफाई करके तथा आसन रखकर) मैंने न्याय-भवन को स्वच्छ (विविक्त पवित्र) करा दिया है, आसन लगा दिये हैं। तो अब न्यायधीशों से पुनः निवेदन करता हूँ। (घूमकर और देखकर) यह राजा का साला दुष्ट दुर्जन व्यक्ति इधर ही क्यों आ रहा है? तो इसके दृष्टिमार्ग (आँखों) से बचकर जाता हूँ।

(एकान्त में खड़ा हो जाता है)

[तदनन्तर उज्ज्वल वेष वाला शकार प्रविष्ट होता है]

शकार—

मैं (शकार) पानी (सलिल पानीय) से नहाया नारियों (युवतियों, स्त्रियों) के साथ उद्यान (उपवन, कानन) में बैठा, सुसज्जित अङ्गों से युक्त मैं गन्धर्व के समान हूँ ॥१॥

मेरे केशों की क्षण में गांठ, (द्वितीय) क्षण में जूड़ा होता है। क्षण भर को ये (सामान्य) बाल और क्षण में घुंघराले बाल हो जाते हैं। क्षण भर में खुले हुए (केश) हैं और अग्रिम क्षण ही ऊपर को शिखायुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मैं रंग-विरंगा (अद्भुत) राजा का साला हूँ ॥२॥

स्नात इति। अहं शकारः सलिलैः जलैः पानीयैः स्नातः, नारीभिः युवतीभिः, स्त्रीभिः सह उद्याने उपवने निषण्णः स्थितः सुविहितैः प्रसाधितैः अङ्गकैः शरीरावयवैः लक्षितोऽहं गन्धर्वः अस्मि। शकारवचनत्वात् पुनरुक्तिः। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥१॥

शकारः स्वकेशविन्यासं वर्णयति क्षणेनेति। मम केशानां क्षणेन ग्रन्थिः ग्रन्थिवन्धनं भवति क्षणेन द्वितीये क्षणे च जूलिका बन्धविशेषः (जूड़ा इति प्रसिद्धः) जूटकः इति पाठान्तरम्, क्षणेन मे मम बालाः सामान्यकेशाः क्षणेन वा द्वितीयक्षणे च कुन्तलाः वक्रकेशाः क्षणेन मुक्ताः बन्धरहिता क्षणे च ऊर्ध्वचूडाः ऊर्ध्वम् उपरिभागे चूडा शिखाः येषां तथाभूताः भवन्ति। इत्थमहं चित्रः विचित्रः, अद्भुतः राजश्यालः अस्मि। इत्थमहं चित्रः विचित्रः "यतोऽहं राजश्यालः इति व्याख्येयम्"—इति पृथ्वीधरः। उपजातिः वृत्तम् उपेन्द्रवज्रा इति पृथ्वीधरः ॥२॥

नवमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति शोधनकः)

शोधनकः—आणत्तम्हि अधिअरणभोइएहिं—'अरे सोहणआ, ववहारमण्डवं गदुअ आसणाइं सज्जीकरेहि' त्ति । ता जाव अधिअरणमण्डवं सज्जिदुं गच्छामि (परिक्रम्यावलोक्य च) एदं अधिअरणमण्डवम् । एष पविसामि । (प्रविश्य संमार्ज्यामनमाधाय) विवित्तं कारिदं मए अधिअरणमण्डवम् । विरइदाइं मए आसणाइं । ता जाव अधिअरणिआणं उण णिवेदेमि । (परिक्रम्यावलोक्य च) कधम्, एसो रट्ठिअस्सालो दुट्ठदुज्जणमणुस्सो इदो एव्व आअच्छदि । ता दिट्ठिपधं परिहरिअ गमिस्सम् । [आज्ञप्तोऽस्म्यधिकरणभोजकैः - 'अरे शोधनक, व्यवहारमण्डपं गत्वासनानि सज्जीकुरु' इति । तद्यावदधिकरणमण्डपं सज्जितुं गच्छामि । एषोऽधिकरणमण्डपः । एषः प्रविशामि । विविक्तः कारितो मयाधिकरणमण्डपः । विरचितानि मयासनानि । तद्यावदधिकरणिकानां पुनर्निवेदयामि । कथम्, एष राष्ट्रियश्यालो दुष्टदुर्जनमनुष्य इत एवागच्छति तद्दृष्टिपथं परिहृत्य गमिष्यामि ।] (इत्येकान्ते स्थितः)

(ततः प्रविशत्युज्ज्वलवेषधारी शकारः)

शकारः—

ण्हादेहं शलिलजलेहिं पाणिएहिं
उज्जाणे उववणकाणणे णिशण्णे ।
णालीहिं शह जुवदीहिं इश्तिआहिं
गन्धव्वे शुविहिदेहिं अङ्गकेहि ॥१॥

खणेण गण्ठी खणजूलके मे खणेण वाला खलकुन्तले वा ।
खणेण मुक्के खण उद्धचूडे चित्ते विचित्ते हगे लाअशाले ॥२॥

[अस्मिन्नङ्के शकारचारुदत्तयोः व्यवहारः वर्ण्यते]

शोधनकः शोधनादिकर्त्ता न्यायालयस्य सेवकः, शोधयति इति शोधनः णिजन्तशुधधातोः नन्द्यादित्वात् ल्युः प्रत्ययः ततश्च संज्ञायां कन् प्रत्ययः । अधिकरणं न्यायालयः अधिक्रियते विवादो यस्मिन्निति । अधिकरणस्य भोजकः पालकः अधिकारिभिः इति यावत् । व्यवहारस्य विवादस्य मण्डपः भवनविशेषः । अधिकरणिकाः अधिकरणे नियुक्ताः न्यायाधीशाः ।

अवि अ। विशगण्ठिगब्भपविश्टेण विअ कीडएण अन्तलं मग्गमाणेण पाविदं मए महन्तलम्। ता कश्श एदं किविणचेश्टिअं पाडइश्शम् (स्मृत्वा) आं शुमलिदं मए। दलिद्दचालुदत्तश्श एदं किविणचेश्टिअं पाडइश्शम! अण्णं च। दलिद्दे क्खु शे। तश्श शव्वं शंभावीअदि। भोदु। अधिअलणमण्डवं गदुअ अग्गदो ववहालं लिहावइश्शम्, जधा चालुदत्तकेण वशन्तशेणिआ मोडिअ मालिदा। ता जाव अधिअलणमण्डवं ज्जेव्व गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एश तं अधिअलणमण्डवम्। एत्थ पविशामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) कधम्, आशणाइं दिण्णाइं चिश्टन्ति। जाव आअच्छन्ति अधिअलणभोइआ, दाव एदंशि दुव्वचत्तले मुहुत्तअं उवविशिअ पडिवालइश्शम्।

[स्नातोऽहं सलिलजलैः पानीयैरुद्यान उपवनकानने निषण्णः।
नारीभिः सह युवतीभिः स्त्रीभिर्गन्धर्वः सुविहितैरङ्गकैः॥

क्षणेन ग्रन्थिः क्षणजूलिका मे क्षणेन बालाः क्षणकुन्तला वा।
क्षणेन मुक्ताः क्षणमूर्ध्वचूडाश्चित्रो विचित्रोऽहं राजश्यालः॥

अपि च विषग्रन्थिगर्भप्रविष्टेनेव कीटकेनान्तरं मार्गमाणेन प्राप्तं मया महदन्तरम्। तत्कस्येदं कृपणचेष्टितं पातयिष्यामि? आं, स्मृतं मया। दरिद्रचारुदत्तस्येदं कृपणचेष्टितं पातयिष्यामि। अन्यच्च। दरिद्रः खलु सः। तस्य सर्वं संभाव्यते। भवतु। अधिकरणमण्डपं गत्वाग्रतो व्यवहारं लेखयिष्यामि, यथा चारुदत्तेन वसन्तसेना मोटयित्वा मारिता। तद्यावदधिकरणमण्डपमेव गच्छामि। एष सोऽधिकरणमण्डपः। अत्र प्रविशामि। कथम्, आसनानि दत्तानि तिष्ठन्ति। यावदागच्छन्त्यधिकरणभोजकाः तावदेतस्मिन्दूर्वाचत्वरे प्रतिपालयिष्यामि।] (तथा स्थितः)

शोधनकः—(अन्यतः परिक्रम्य पुरो दृष्ट्वा) एदे अधिअरणिआ आअच्छन्ति। ता जाव उवसप्पामि। [एतेऽधिकरणिका आगच्छन्ति। तद्यावदुपसर्पामि।] (इत्युपसर्पति)

(ततः प्रविशति श्रेष्ठिकायस्थादिपरिवृतोऽधिकरणिकः)

अधिकरणिकः—भो भोः श्रेष्ठिकायस्थौ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—आणवेदु अज्जो।

अधिकरणिकः—अहो, व्यवहारपराधीनतया दुष्करं खलु परचित्तग्रहणमधिकरणिकैः।

और भी। विषग्रन्थि के भीतर प्रविष्ट कीट के समान मार्ग (छिद्र) ढूंढते हुए मैंने महान् उपाय प्राप्त कर लिया है। तो इस कुकृत्य को किस पर आरोपित करूँ ? (स्मरण करके) हाँ, मैंने स्मरण किया। इस कुकृत्य को चारुदत्त पर आरोपित करूँगा। और वह दरिद्र भी है, अतः उसमें सब सम्भव माना जा सकता है। अच्छा, न्याय-भवन में जाकर पहले ही अभियोग लिखवाता हूँ कि चारुदत्त ने वसन्तसेना को गला दबाकर मार दिया। तो पहले न्याय-भवन में ही जाता हूँ। (घूमकर और देखकर) यह वह न्याय-भवन है। यहाँ प्रविष्ट होता हूँ (प्रवेश करके और देखकर) क्या, आसन लगा दिये गये हैं ? जब तक न्यायालय के अधिकारी आते हैं तब तक इस दूबवाले चबूतरे पर क्षण भर बैठकर प्रतीक्षा करता हूँ। (उसी प्रकार बैठता है)।

शोधनक—(दूसरी ओर घूमकर तथा सामने देखकर) ये न्यायालय के अधिकारी आ रहे हैं। तो निकट जाता हूँ। (समीप जाता है)

(तत्पश्चात् श्रेष्ठी और कायस्थ आदि के साथ न्यायाधीश प्रवेश करता है)

अधिकरणिक—सेठ जी और कायस्थ जी,

श्रेष्ठिकायस्थ—आर्य, आदेश कीजिये।

अधिकरणिक—अहो ! व्यवहार के पराधीन होने के कारण न्यायाधीशों के द्वारा दूसरों (वादी-प्रतिवादी) के मन को जानना कठिन है।

विषग्रन्थेः (विषग्रन्थि-इति पाठान्तरम्) गर्भे अभ्यन्तरे प्रविष्टेन। अन्तरं बहिर्निगमनार्थं छिद्रम्। मार्गमाणेन अन्वेषयता। महदन्तरं महच्छिद्रम्, महान् मार्गः उपायो वा इति भावः। कृपणचेष्टितं कुकृत्यम् मोटयित्वा कण्ठं निष्पीड्य। श्रेष्ठी वणिक्। कायस्थः व्यवहारलेखकः जातिविशेषः। व्यवहारस्य विवादनिर्णयस्य पराधीनतया वादिप्रतिवादिसाक्ष्यादीनां युक्त्यधीनतया। परचित्तस्य वादिप्रतिवादिचित्तस्य ग्रहणं ज्ञानम् अधिकरणिकैः दुष्करम्।

छन्नं कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृतं
स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे रागाभिभूताः स्वयम् ।
तैः पक्षापरपक्षवर्धितबलैर्दोषैर्नृपः स्पृश्यते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥३॥

अपि च ।

छन्नं दोषमुदाहरन्ति कुपिता न्यायेन दूरीकृताः
स्वान्दोषान्कथयन्ति नाधिकरणे सन्तोऽपि नष्टा ध्रुवम् ।
ये पक्षापरपक्षदोषसहिताः पापानि संकुर्वते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥४॥

यतः अधिकरणिकः खलु

शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन—
स्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः ।
क्लीवान्पालयिता शठान्व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः ॥५॥

कथं परचित्तग्रहणं दुष्करं किं च तस्य फलमित्याह—छन्नमिति । पुरुषाः जनाः न्यायेन नीत्या अथवा प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः तेन दूरीकृतं रहितं छन्नं पररूपेण आच्छादितं कार्यम् अभियोगादिकम् उपक्षिपन्ति निर्णयार्थम् उपस्थापयन्ति । रागेण स्वार्थानुरागेण अभिभूताः आक्रान्ताः अधिकरणे स्वयं स्वान् दोषान् न कथयन्ति । तैः पक्षापरपक्षाभ्यां वादिप्रतिवादिपक्षाभ्यां वर्धितं बलम् अपकीर्तिजननसामर्थ्यं येषां तादृशैः दोषैः नृपः स्पृश्यते । नृपस्यापकीर्तिर्भवतीति भावः, यतः नृप एव न्यायस्य परमम् अधिष्ठानम् । एवं संक्षेपात् द्रष्टुः निर्णायकस्य अपवादः अपकीर्तिः सुलभः गुणः कीर्तिस्तु दूरतः दुर्लभा एवेति भावः । काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३॥

उक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेण कथयति-छन्नमिति । कुपिताः क्रोधयुक्ताः जनाः न्यायेन दूरीकृताः रहिताः परेषां छन्नं पररूपेण आच्छादितं दोषम् उदाहरन्ति उपस्थापयन्ति किन्तु स्वान् दोषान् अधिकरणे न्यायाधिष्ठाने न कथयन्ति । एभिः सह ते सन्तः सज्जनाः निर्दोषाः अपि ध्रुवं नष्टाः भवन्ति ये पक्षस्य अपरपक्षस्य वा दोषेण सहिताः पापानि संकुर्वते कुर्वन्ति । संक्षेपात् द्रष्टुः ।

लोग (वादी तथा प्रतिवादी) अन्य रूप में (छन्न) न्याय से रहित अभियोग (दोष) को (निर्णय के लिये) उपस्थित करते हैं। (स्वार्थ साधन की) आसक्ति (राग) से युक्त होकर वे न्यायालय में स्वयं अपने दोषों को नहीं बतलाते हैं। इसलिये वादी और प्रतिवादी के पक्षों के द्वारा बढ़ गया है (अपकीर्तिजनन) सामर्थ्य जिनका ऐसे (निर्णय की अयथार्थता) के दोष राजा पर लगते हैं, संक्षेप में न्यायधीश (द्रष्टुः) को अपकीर्ति (अपवाद) मिलना ही सुगम है, कीर्ति तो दूर की बात है ॥३॥

और भी—

न्याय से हीन मनुष्य क्रुद्ध होकर अन्य रूप में (दूसरों के) दोष न्यायालय में प्रस्तुत करते हैं, न्यायालय में अपने दोषों को नहीं कहते हैं। (ऐसे लोगों के साथ) वे बुद्धिमान् (सज्जन) भी निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं, जो वादी या प्रतिवादी के दोष में साथ होकर पाप करते हैं। संक्षेप में न्यायाधीश को अपकीर्ति मिलना ही सुगम है, कीर्ति तो दूर की बात है ।४॥

क्योंकि, अधिकरणिक तो

शास्त्रों का ज्ञाता (वादी-प्रतिवादी द्वारा किये गये) कपट को समझने में कुशल, वक्ता तथा क्रोधरहित होता है। वह मित्र, शत्रु एवं स्वजनों में समान दृष्टि रखने वाला (वादी प्रतिवादी के) व्यवहार (चरितं) को देखकर निर्णय देने वाला, दुर्बलों का रक्षक, धूर्तों को दण्ड देने वाला, धर्मयुक्त होता है तथा लोभ से युक्त नहीं होता। उपाय रहते दूसरों की यथार्थ बात को जानने में दत्तचित्त एवं राजा के कोप को नष्ट करने वाला होता है ॥५॥

व्यवहारनिर्णायकस्य न्यायदर्शिनो वा अपवादः एव सुलभः गुणः तु दूरतः एव तिष्ठति। काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥३॥

अधिकरणिकस्य स्वरूपं दर्शयति—शास्त्रज्ञ इति। अधिकरणिकः हि शास्त्रज्ञः शास्त्राणि जानाति इति सः। कपटस्य वादिप्रतिवादिकृतस्य छलस्य अनुसारे अनुसरणे कुशलः वक्ता न च क्रोधनः क्रोधी, मित्रपरस्वकेषु मित्रे शत्रौ स्वजने च तुल्यः समदर्शी, चरितं वादिप्रतिवादिनोः व्यवहारं दृष्ट्वा समीक्ष्य एव दत्तोत्तरः दत्तम् उत्तरं निर्णयः येन तथाभूतः, क्लीबान् निर्बलान् पालयिता शठान् धूर्तान् व्यथयिता दण्डयिता, धर्म्यः धर्मयुक्तः, धर्माद् अनपेतः धर्म्यः धर्मशब्दात् यत्प्रत्ययः, न लोभान्वितः लोभयुक्तः, द्वार्भावे द्वाः उपायः तस्य भावे विद्यमानतायां उपाये सति इति भावः परस्य वादिनः प्रतिवादिनः वा तत्त्वे वास्तविकताज्ञाने बद्धहृदयः दत्तमतिः सति संभवे तयोः याथार्थ्यज्ञाने प्रयत्नशीलः इति भावः [काले-महोदयस्तु—द्वार्भावे न लोभान्वितः इत्यन्वयः, इत्याह। उत्कोचादीनामवसरे सति यः लोभयुतो न भवतीति तदर्थः] राज्ञः च कोपापहः वाक्पाटवेन वस्तुतथ्यकथनेन च नृपकोपस्य नाशको भवति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५॥

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्जस्स विणाम गुणो दोसो त्तिवुच्चदि। जइ एव्वम्, ता चन्दालोए वि अन्धआरो त्ति वुच्चदि। [आर्यस्यापि नाम गुणे दोष इत्युच्यते। यद्येवम्, तदा चन्द्रालोकेऽप्यन्धकार इत्युच्यते।]

अधिकरणिकः—भद्र शोधनक, अधिकरणमण्डपस्य मार्गमादेशय।

शोधनकः—एदु एदु अधिअरणभोइओ, एदु। [एत्वेत्वधिकरणभोजक, एतु।]

(इति परिक्रामन्ति)

शोधनकः—एदं अधिअरणमण्डवम्। ता पविसन्तु अधिअरणभोइआ। [अयमधिकरणमण्डपः, तत्प्रविशन्त्वधिकरणभोजकाः।]

(सर्वे च प्रविशन्ति)

अधिकरणिकः—भद्र शोधनक, वहिर्निष्क्रम्य ज्ञायताम्—'कः कः कार्यार्थी' इति।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रम्य) अज्जा, अधिअरणिआ भणन्ति—'को को इध कज्जत्थी' त्ति। [यदार्य आज्ञापयति। आर्याः, अधिकरणिका भणन्ति 'कः क इह कार्यार्थी' इति।

शकारः—(सहर्षम्) उवत्थिए अधिअलणिए। (साटोपं परिक्रम्य) हगे वलपुलिशे मणुश्शे वाशुदेवे लश्टिअशाले लाअशाले कज्जत्थी। [उपस्थिता अधिकरणिकाः। अहं वरपुरुषो मनुष्यो वासुदेवो राष्ट्रियश्यालो राजश्यालः कार्यार्थी।]

शोधनकः—(संसभ्रमम्) ह्रीमादिके, पढमं ज्जेव रट्ठिअसालो कज्जत्थी। भोदु। अज्ज मुहुत्तं चिट्ठ। दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि। (उपगम्य) अज्जा, एसो क्खु रट्टिअसालो कज्जत्थी व्यवहारं उवत्थिदो। [हन्त, प्रथममेव राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी। भवतु। आर्य मुहूर्तं तिष्ठ। तावदधिकरणिकानां निवेदयामि। आर्याः, एष खलु राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी व्यवहारमुपस्थितः।]

अधिकरणिकः—कथम्। प्रथममेव राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी यथा सूर्योदय उपरागो महापुरुषनिपातमेव कथयति। शोधनक, व्याकुलेनाद्य व्यवहारेण भवितव्यम्। भद्र, निष्क्रम्योच्यताम्—गच्छाद्य। न दृश्यते तव व्यवहारः, इति।

श्रेष्ठि-कायस्थ—क्या आपके गुणों में भी 'दोष हैं' ऐसा कहा जा सकता है ? यदि ऐसा है तो चन्द्रमा के प्रकाश में भी 'अन्धकार' कहा जा सकता है।

अधिकरणिक—भद्र शोधनक, न्याय-भवन का मार्ग बतलाओ।

शोधनक—आइये, आइये न्यायाधीश, आइये।

(चलते हैं)

शोधनक—यह न्याय-भवन है, अतः न्यायाधिकारी गण प्रवेश करें।

(सब प्रवेश करते हैं)

अधिकरणिक—भद्र शोधनक बाहर निकलकर ज्ञात कीजिये—'कौन-कौन' व्यवहार प्रस्तुत करने का इच्छुक (कार्यार्थी) है ?'

शोधनक—जैसी आप आज्ञा करें। (बाहर जाकर) सज्जनो, न्याय के अधिकारी कहते हैं—"यहाँ कौन-कौन व्यवहार प्रस्तुत करने का इच्छुक है ?"

शकार—(हर्षपूर्वक) न्यायाधिकारी उपस्थित हैं। (गर्वपूर्वक चलकर) मैं श्रेष्ठ पुरुष, मनुष्य, वासुदेव, राष्ट्रिय, राजश्यालक कार्यार्थी हूँ।

शोधनक—(घबराहट के साथ) हाँ, पहले ही राजा का साला कार्यार्थी है। अच्छा, आर्य, क्षण भर ठहरो, तब तक न्यायाधिकारियों से निवेदन करता हूँ। (समीप जाकर) आर्यजनो, यह राजा का साला कार्यार्थी होकर व्यवहार के लिए उपस्थित हुआ है।

अधिकरणिक—क्यों? पहले ही राजा का साला कार्यार्थी है। जैसे सूर्योदय का ग्रहण (किसी) महापुरुष की मृत्यु को सूचित करता है। शोधनक, आज का व्यवहार (न्याय-विचार) अव्यवस्थित (आपत्तिपूर्ण Causing disturbance) होगा। भद्र, बाहर जाकर कहिये—'जाओ आज तुम्हारा विवाद नहीं विचारा जाता।

कार्यार्थी कार्येण अर्थी व्यवहारार्थी, व्यवहारोपस्थापनस्य अभिलाषी इति यावत् । साटोपं सगर्वम् । व्यवहारं व्यवहारार्थम् उपस्थितः। 'व्यवहारे' इति पाठान्तरं व्यवहारनिमित्तमित्यर्थः । उपराग ग्रहणम्, सूर्यस्य ग्रासः । व्याकुलेन क्षोभयुक्तेन।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि त्ति । (निष्क्रम्य शकारमुपगम्य) अज्ज, अधिअरणिआ भणन्ति—'अज्ज, गच्छ । ण दीशदि तव ववहारो' । [यदार्य आज्ञापयतीति । आर्य, अधिकरणिका भणन्ति—अद्य गच्छ । न दृश्यते तव व्यवहारः' ।]

शकारः—(सक्रोधम्) आः किं ण दीशदि मम ववहाले ? जइ ण दीशदि, तदो आउत्तं लाआणं पालअं बहिणीवदिं विण्णविअ बहिणिं अत्तिकं च विण्णविअ एदं अधिअलणिअं दूले फेलिअ एत्थ अण्णं अधिअलणिअं ठावइश्शम् । [आः, किं न दृश्यते मम व्यवहारः । यदि न दृश्यते, तदावुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातरं च विज्ञाप्यैतमधिकरणिकं दूरीकृत्यात्रान्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि ।] (इति गन्तुमिच्छति)

शोधनकः—अज्ज रट्ठिअशालअ, मुहुत्तअं चिट्ठ । दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि । (अधिकरणिकमुपगम्य) एसो रट्ठिअशालो कुविदो भणादि । [आर्य राष्ट्रियश्याल, मुहूर्तं तिष्ठ । तावदधिकरणिकानां निवेदयामि । एष राष्ट्रियश्यालः कुपितो भणति ।] (इति तदुक्तं भणति)

अधिकरणिकः—सर्वमस्य मूर्खस्य संभाव्यते । भद्र, उच्यताम्—'आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहारः' ।

शोधनकः—(शकारमुपगम्य), अज्ज अधिअरणिआ भणन्ति 'आगच्छ । दीसदि तव ववहारो । ता पविसदु अज्जो । [आर्य, अधिकरणिका भणन्ति—'आगच्छ । दृश्यते तव व्यवहारः ।' तत्प्रविशत्वार्यः ।]

शकारः—पढमं भणन्ति ण दीशदि, संपदं दीशदि त्ति । ता णाम भीदभीदा अधिअलणभोइआ । जेत्तिअं हग्गे भणिश्शं तेत्तिअं पत्तिआवइश्शम् । भोदु । पविशामि (प्रविश्योपसृत्य) शुशुहं अम्हाणम्, तुम्हाणं पि शुहं देमि ण देमि अ ।

[प्रथमं भणन्ति न दृश्यते सांप्रतं दृश्यत इति । तन्नाम भीतभीता अधिकरणभोजकाः यावदहं भणिष्यामि तावत्प्रत्याययिष्यामि । भवतु । प्रविशामि । सुसुखमस्माकम् युष्माकमपि सुखं ददामि न ददामि च ।]

अधिकरणिकः—(स्वगतम्) अहो, स्थिरसंस्कारता व्यवहारार्थिनः (प्रकाशम्) उपविश्यताम् ।

शकारः—आं, अत्तणकलका शे भूमी । ता जहिं मे लोअदि तहिं उवविशामि (श्रेष्ठिनं प्रति) एश उवविशामि । (शोधनकं प्रति) णं एत्थ उवविशामि । (इत्यधिकरणिकमस्तके हस्तं दत्त्वा) एश उवविशामि । [आं, आत्मीयैषा भूमिः । तद्यत्र मह्यं रोचते तत्रोपविशामि । एष उपविशामि । नन्वत्रोपविशामि । एष उपविशामि ।] (इति भूमावुपविशति) ।

शोधनक---जो आर्य आज्ञा करें (निकलकर, शकार के पास जाकर) आर्य, न्यायाधिकारी कहते हैं—'जाओ आज तुम्हारा विवाद नहीं विचारा जायेगा।"

शोधनक—(क्रोधपूर्वक) आः ! क्या मेरा विवाद नहीं विचारा जायेगा ? यदि नहीं विचारा जाता तो मैं अपने बहनोई, बहन के पति राजा पालक से कहकर बहन तथा माता से कहकर इस न्यायाधीश को हटाकर दूसरे न्यायाधीश को नियुक्त करा दूँगा।

(जाना चाहता है।)

शोधनक—आर्य राजश्यालक, क्षण भर ठहरो। तब तक न्यायाधिकारियों से निवेदन करता हूँ। (न्यायाधीशों के पास जाकर) यह राजा का साला कुपित होकर कहता है (उसके कथन को सुनता है।)

अधिकरणिक—इस मूर्ख से सब संभावना की जा सकती है। भद्र, कहिये—

शोधनक--(शकार के पास जाकर) आर्य, न्यायाधिकारी कहते हैं कि आ-जाओ तुम्हारा विवाद सुना जाता है। तो आर्य प्रवेश करें।

शकार—पहले कहते हैं—'नहीं सुना जाता अब (कहते हैं) 'सुना जाता है।' तो अवश्य ही न्यायाधिकारी अत्यन्त डर गये हैं, जो-जो मैं कहूँगा वही-वही उनसे स्वीकार करा लूँगा। अच्छा प्रवेश करता हूँ। (प्रविष्ट होकर तथा पास जाकर हमारा भली-भाँति कुशल है तुम्हें भी सुख देता हूँ अथवा नहीं देता हूँ।

अधिकरणिक—(अपने आप) अहो ! इस कार्यार्थी के संस्कारों की दृढ़ता (अर्थात् न्यायालय में भी यह अपनी आदतों पर दृढ़ हैं) (प्रकट रूप में) बैठिये।

शकार—हाँ, यह अपनी भूमि है। तो जहाँ मुझे अच्छा लगेगा वहाँ बैठूँगा। (श्रेष्ठी से) यह मैं बैठता हूँ। (शोधनक से) नहीं, मैं यहाँ बैठता हूँ। (अधिकरणिक के मस्तक पर हाथ रखकर) यह मैं बैठता हूँ। (भूमि पर बैठता है)।

'आः' इति क्रोधेऽव्ययम्। आवुत्त भगिनीपतिम्। शकारवचनत्वात् पुनरुक्तिः। नाम इति निश्चयेऽव्ययम्। प्रत्याययिष्यामि प्रत्ययं विश्वासं कारयिष्यामि, स्वीकारयिष्यामि वा।

स्थिरः संस्कारो यस्य सः स्थिरसंस्कारः तस्य भावः स्थिरसंस्कारता, संस्काराणां दृढता इति यावत्।

अधिकरणिकः—भवान्कार्यार्थी ।

शकारः—अध इं [अथ किम् ।]

अधिकरणिकः—तत्कार्यं कथय ।

शकारः—कण्णे कज्जं कधइश्शम् । एव्वं वड्डके मल्लकप्पमाणाह कुले हग्गे जादे ।

लाअशशुले मम पिदा लाआ तादश्श होइ जामादा ।
लाअशिआले हग्गे ममावि वहिणीवदी लाआ ॥६॥

[कर्णे कार्यं कथयिष्यामि । एवं बृहति मल्लकप्रमाणस्य कुलेऽहं जातः ।]
राजश्वशुरो मम पिता राजा तातस्य भवति जामाता ।
राजश्यालोऽहं ममापि भगिनीपती राजा ॥]

अधिकरणिकः—सर्वं ज्ञायते ।

किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
भवन्ति नितरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ।७॥

तदुच्यतां कार्यम् ।

शकारः—एव्वं भणामि, अवलद्धाह वि ण अ मे किं पि कलइश्शदि, तदो तेण वहिणीवदिणा परितुश्टेण मे कीलिदुं लक्खिदुं शव्वुज्जाणाणं पवले पुप्फकलण्डकजिण्णुज्जाणे दिण्णे । तहिं च पेक्खिदुं अणुदिअह शोशावेदुं शोधावेदुं पोत्थावेदुं लुणावेदुं गच्छामि । देव्वजोएण पेक्खामि, ण पेक्खामि वा इत्थिआशलीलं णिवडिदम् । [एवं भणामि, अपराद्धस्यापि न च मे किमपि करिष्यति, ततस्तेन भगिनीपतिना परितुष्टेन मे क्रीडितुं रक्षितुं सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं दत्तम् । तत्र च प्रेक्षितुमनुदिवसं शुष्कं कारयितुं शोधयितुं पुष्टं कारयितुं लूनं कारयितुं गच्छामि । दैवयोगेन पश्यामि, न पश्यामि वा, स्त्रीशरीरं निपतितम् ।]

अधिकरणिकः—अथ ज्ञायते का स्त्री विपन्नेति ।

शकारः—हंहो अधिअलणभोइआ, किंत्ति ण जाणामि । तं तादिशिं णअलमण्डणं कच्चणशदभूशणिअं । केण वि कुपुत्तेण अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो शुण्णं पुप्फकलण्डकजिण्णुज्जाणं पवेशिअ बाहुपाशबलक्कालेण वशन्तशेणिआ मालिदा ण मए । [अहो अधिकरणभोजकाः, किमिति न जानामि । तां तादृशीं नगरमण्डनं काञ्चनशतभूषणां, केनापि कुपुत्रेणार्थकल्यवर्तस्य कारणाच्छून्यं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण वसन्तसेना मारिता । न मया ।] (इत्यधोक्ते मुखमावृणोति)

अधिकरणिक—आप कार्यार्थी हैं ?

शकार—और क्या ?

अधिकरणिक—तो कार्य बतलाओ।

शकार—कान में कार्य कहूँगा। ऐसे (?) बड़े मल्लक जैसे कुल में से उत्पन्न हुआ हूँ।

मेरे पिता राजा के श्वसुर हैं, राजा (पालक) मेरे पिता का जामाता होता है। मैं राजा का साला हूँ और राजा भी मेरी बहन के पति हैं ॥६॥

अधिकरणिक—यह सब ज्ञात ही है।

कुल के वर्णन से क्या (लाभ) ? क्योंकि यहाँ तो चरित्र ही (निर्णय का) कारण है। अच्छे खेत में भी काँटों वाले वृक्ष बहुत अधिक बढ़ जाते हैं ॥७॥
अतः 'कार्य' बतलाइये।

शकार—अच्छा कहता हूँ। अपराधी होते हुए भी (राजा) मेरा कुछ नहीं करेगा। तो मेरी बहन के पति उस राजा ने प्रसन्न होकर क्रीड़ा करने के लिये और रक्षा करने के लिये सब उद्यानों में श्रेष्ठ 'पुष्पकरण्डक' नामक जीर्णोद्यान मुझे दिया है। और वहाँ मैं प्रतिदिन देखभाल करने के लिये (आर्द्र प्रदेशों को) शुष्क कराने के लिये, सफाई कराने के लिये, पालन कराने के लिये तथा (आवश्यकतानुसार) कटवाने के लिये जाता हूँ। संयोग-वश वहाँ मैंने एक स्त्री का शरीर पड़ा देखा या नहीं देखा।

अधिकरणिक—क्या ज्ञात हुआ कि मृतक कौन थी ?

शकार—अहो न्यायाधिकारी गण, भला, उस ऐसी (प्रसिद्ध) नगर की शोभा, सैकड़ों आभूषणों वाली को क्या मैं नहीं जानता ? किसी कुपुत्र (दुर्जन) ने कलेवे जैसे तुच्छ धन के निमित्त, निर्जन पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में प्रवेश करके भुजपाश से बलपूर्वक (दबाकर) वसन्तसेना को मार दिया। मैंने नहीं। (इस) प्रकार आधा कहे जाने पर मुख ढक लेता है।

राजश्वशुर इति। मम पिता राज्ञः पालकस्य श्वशुरः राजा च मम तातस्य पितुः जामाता भवति। अहं शकारः राजश्यालः राजा अपि च मम भगिनीपतिः। गाथा वृत्तम् ॥६॥

किमिति। उपरि (अष्टमाङ्के २९ तमं पद्यम्) व्याख्यातम् ॥७॥

काञ्चनस्य शतं भूषणानि यस्याः ताम्। बाहुः एव पाशः तस्य बलात्कारेण। मुखसंवरणं कथनस्य स्खलनं सूचयति। प्रमादः अनवधानता। ह्रीमादिके खेदे भये वाऽव्ययम्। त्वरमाणेन इति पाठान्तरम् त्वरया प्रवर्तमानेन इत्यर्थः। पायकं

अधिकरणिकः—अहो नगररक्षिणां प्रमादः । भोः श्रेष्ठिकायस्थौ, न मयेति व्यवहारपदं प्रथममभिलिख्यताम् ।

कायस्थः—जं अज्जो आणवेदि । (तथा कृत्वा) अज्ज लिहिदम् । [यदार्य आज्ञापयति । आर्य, लिखितम् ।]

शकारः—(स्वगतम्) हीमादिके । उत्तलान्तेण विअ पाअशपिण्डालकेण अज्ज मए अत्ता एव्व णिण्णाशिदो भोदु । एव्वं दाव (प्रकाशम् अहो) अधिअलणभोईआ, ण भणामि, मए ज्जेव दिट्ठा । किं कोलाहलं कलेध । [आश्चर्यम् । त्वरां कुर्वाणेनेव पायसपिण्डारकेणाद्य मयात्मैव निर्नाशितः । भवतु एवं तावत् । अहो अधिकरणभोजकाः, ननु भणामि, मयैव दृष्टा । किं कोलाहलं कुरुत ।] (इति पादेन लिखितं प्रोञ्छति)

अधिकरणिकः—कथं त्वया ज्ञातं यथा खल्वर्थनिमित्तं बाहुपाशेन व्यापादिता ।

शकारः—हंहो, णूणं पडिशूणाए मोघट्ठाणाए गीवालिआए णिशुवण्णकेहिं आहलणट्ठाणेहिं तक्केमि । [हंहो, नूनं परिशून्यया मोघस्थानया ग्रीवालिकया निःसुवर्णकैराभरणस्थानैस्तर्कयामि ।]

श्रेष्ठिकायस्थौ—जुज्जदि विअ । [युज्यत इव ।]

शकारः—(स्वगतम्) दिट्ठिआ पच्चुज्जीविदम्हि । अविदमादिके । [दिष्टया प्रत्युज्जीवितोऽस्मि । अविदमादिके ।]

श्रेष्ठिकायस्थौ—भो, कं एसो ववहारो अवलम्बदि । [भोः, कमेष व्यवहारोऽवलम्बते ।]

अधिकरणिकः—इह हि द्विविधो व्यवहारः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—केरिसो । [कीदृशः ?]

अधिकरणिकः—वाक्यानुसारेण अर्थानुसारेण च । यस्तावद्वाक्यानुसारेण, स खल्वर्थिप्रत्यर्थिभ्यः । यश्चार्थानुसारेण स चाधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ता वसन्तसेणामादरं अवलम्बदि ववहारो [तद्वसन्तसेनामातरमवलम्बते व्यवहारः ।]

अधिकरणिकः—एवमिदम् । भद्र शोधनक, वसन्तसेनामातरमनुद्वेजयन्नाह्वय ।

शोधनकः—तथा (इति निष्क्रम्य गणिकामात्रा सह प्रविश्य) एदु एदु अज्जा । [तथा । एत्वेत्वार्या]

परमान्नं,' क्षीरभोजनम् । तस्य पिण्डारकः (१) उद्गमनगृ·पयसः त्वरयोद्गमनं यथा स्वनाशाय भवति इत्यर्थः । (२) भोक्तुं प्रवृत्तो वा (३) भिक्षुको वा—'पिण्डारो

अधिकरणिक—अहो, नगररक्षकों की असावधानता। हे श्रेष्ठी-कायस्थ 'मैंने नहीं' (न मया) यह अभियोग शब्द प्रथमतः लिख लीजिये।

कायस्थ—जो आर्य आदेश करें। (वैसा करके). आर्य, लिख लिया।

शकार—(अपने आप) खेद है, [गर्म-गर्म खाने के लिये] उतावले खीर खाने वाले (भिक्षुक) के समान मैंने आज अपने आपको ही नष्ट कर लिया। अच्छा, अब इस प्रकार कहूँ (प्रकट रूप में) अहो, न्यायाधिकारीगण, मैं तो यह कहता हूँ कि मैंने ही देखी। क्यों कोलाहल करते हो (लिखे हुए को पैर से पोंछ देता हूँ)

अधिकरणिक—तुमने कैसे जाना कि धन के लिये भुजपाश से (दबाकर) मारी गई।

शकार—जी, उसकी सूनी रिक्त स्थान वाली ग्रीवा तथा आभूषण (पहनने) के स्थानों के आभूषण रहित होने से ऐसा अनुमान करता हूँ।

श्रेष्ठी-कायस्थ—ठीक सा-ही है (हो सकता है)।

शकार—(अपने आप) सौभाग्य से पुनः जीवित हो गया हूँ। सन्तोष है।

श्रेष्ठि-कायस्थ—श्रीमान्, यह व्यवहार किस पर आश्रित है ?

अधिकरणिक—यहाँ दो प्रकार का व्यवहार है।

श्रेष्ठि-कायस्थ—कैसा ?

अधिकरणिक—वाक्य (वादी-प्रतिवादी के बयान) के अनुसार होने वाला तथा अर्थ (वास्तविक तथ्य) के अनुसार होने वाला। जो वाक्य के अनुसार होता है वह तो वादी तथा प्रतिवादी (की युक्तियों) से एवं जो अर्थ के अनुसार होता है, वह न्यायाधिकारी की अपनी बुद्धि से निर्णय किये जाने योग्य होता है।

श्रेष्ठी-कायस्थ—तब वसन्तसेना की माता पर यह व्यवहार आश्रित है।

अधिकरणिक—ऐसा ही है। भद्र शोधनक, वसन्तसेना की माता को उद्विग्न न करते हुए बुला लाओ।

शोधनक—अच्छा जी, (निकल कर और गणिका वसन्तसेना की माता के साथ प्रवेश करके) आइये आर्या, इधर आइये।

भिक्षुके द्रुमे' इति कोशः व्यापादिता मारिता।

शूनशूनया (शूणशूणाए) इति पाठान्तरम् अत्यन्तम् उच्छूनया (Much swollen) इत्यर्थः। मोघं रिक्तं स्थानं यस्याः तया। ग्रीवालिकया ग्रीवया। अविदमाविके इत्याश्वासे (काले) अव ग्रीवालिका कण्ठस्य हारसूत्रावली इत्यन्ये।

वृद्धा—गदा मे दरिआ मित्तघरअं अत्तणो जोव्वणं अनुभविदुम् । एसो उण दीहाऊ भणादि—'आअच्छ । अधिअरणिओ सद्दावेदि । ता मोहपरवसं विअ अत्ताणअं अवगच्छामि । हिअअं मे थरथरेदि । अज्ज आदेसेहि मे अधिअरणमण्डवस्स मग्गम् । [गता मे दारिका मित्रगृहमात्मनो यौवनमनुभवितुम् । एष पुनर्दीर्घायुर्भणति 'आगच्छ' अधिकरणिक आह्वयति । तन्मोहपरवशमिवात्मानमवगच्छामि । हृदयं मे प्रकम्पते । आर्य, आदिश मह्यमधिकरणमण्डपस्य मार्गम् ।]

शोधनकः—एदु एदु अज्जा । [एत्वेत्वार्या ।]

(उभौ परिक्रामतः)

शोधनकः—एदं अधिअरणमण्डवम् । एत्थ पविसदु अज्जा । [एषोऽधिकरणमण्डपः । अत्र प्रविशत्वार्या ।]

(इत्युभौ प्रविशतः)

वृद्धा—(उपसृत्य) सुह तुम्हाणं भोदु भावमिस्साणम् । [सुखं युष्माकं भवतु भाव-मिश्राणाम् ।]

अधिकरणिकः—भद्रे, स्वागतम् । आस्यताम् ।

वृद्धाः—तधा [तथा ।] (इत्युपविष्टा)

शकारः—(साक्षेपम्) आगदाशि बुड्ढकुट्टणि, आगदाशि । [आगतासि वृद्ध-कुट्टनि, आगतासि ।]

अधिकरणिकः—अये, त्वं किल वसन्तसेनाया माता ।

वृद्धा—अध इ [अथ किम् ।]

अधिकरणिकः—अथेदानीं वसन्तसेना क्व गता ।

वृद्धा—मित्तघरअम् [मित्रगृहम्]

अधिकरणिकः—किंनामधेयं तस्या मित्रम् ।

वृद्धा—(स्वगतम्) हद्धी हद्धी । अदिलज्जणीअं क्खु एदम् । (प्रकाशम्) जणस्स पुच्छणीओ अअं अत्थो, ण उण अधिअरणिअस्स । [हा धिक् हा धिक् । अतिलज्जनीयं खल्विदम् । जनस्य पृच्छनीयोऽयमर्थः, न पुनरधिकरणिकस्य ।]

अधिकरणिकः—अलं लज्जया । व्यवहारस्त्वां पृच्छति ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ववहारो पुच्छदि । णत्थि दोसो कधेहि । [व्यवहारः पृच्छति । नास्ति दोषः । कथय ।]

वृद्धा—कधं ववहारो । जइ एव्वम्, ता सुणन्तु अज्जमिस्सा । सो क्खु सत्थवाहविणअदत्तस्स णत्तिओ, साअरदत्तस्स तणओ, सुगहिदणामहेओ अज्ज-चारुदत्तो णाम, सेट्ठिचत्तरे पडिवसदि । तहिं मे दारिआ जोव्वणसुहं अ णुभवदि । [कथं व्यवहारः । यद्येवम्, तदा शृण्वन्त्वार्यमिश्राः स खलु सार्थवाहविनय-दत्तस्य नप्ता, सागरदत्तस्य तनयः, सुगृहीतनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम, श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति । तत्र मे दारिका यौवनसुखमनुभवति ।]

वृद्धा—मेरी पुत्री मित्र (चारुदत्त) के घर अपने यौवन को भोगने के लिये गई है और यह दीर्घायु कहता है—आओ, न्यायाधीश बुलाते हैं। इसलिये मैं अपने आप को मोह के अधीन (किंकर्तव्यविमूढ) सी समझती हूँ। मेरा हृदय कांपता है। आर्य, मुझे न्यायालय का मार्ग बताइये।

शोधनक—आर्या, (इधर से) आयें, आयें।

(दोनों चलते हैं)

शोधनक—यह न्यायालय है। आर्या यहाँ प्रवेश करें।

(दोनों प्रवेश करते हैं)

वृद्धा—(पास जाकर) आदरणीय आपका कल्याण हो।

अधिकरणिक—भद्रे स्वागत है, बैठिये।

वृद्धा—अच्छा (बैठती है)।

शकार—(आक्षेपपूर्वक) आ गई, बूढ़ी कुटनी आ गई।

अधिकरणिक—अजी, तुम वसन्तसेना की माता हो?

वृद्धा—जी हाँ।

अधिकरणिक—तो इस समय वसन्तसेना कहाँ गई है?

वृद्धा—मित्र के घर।

अधिकरणिक—उसके मित्र का क्या नाम है?

वृद्धा—(अपने आप) हाय, हाय? यह (बात) अत्यन्त लज्जा के योग्य है। (प्रकट रूप में) यह बात साधारण लोगों के पूछने योग्य है, न्यायाधीश के नहीं।

अधिकरणिक—लज्जा मत करो। आपसे 'व्यवहार' पूछ रहा है।

श्रेष्ठी-कायस्थ—'व्यवहार' पूछ रहा है। कोई दोष नहीं। कहो।

वृद्धा—क्या? व्यवहार है? यदि ऐसा है तो श्रीमान् जी सुनिये। वह सार्थवाह विनयदत्त के नाती, सागरदत्त के पुत्र, स्वनाम-धन्य आर्य चारुदत्त हैं जो सेठों के चौक में रहते हैं। वहाँ मेरी पुत्री यौवन सुख का अनुभव करती है।

लम्बते आश्रयति। निष्पाद्यः करणीयः। अनुद्वेजयन् वसन्तसेनायाः मरणवृतान्त-कथनेन उद्विग्नां न कुर्वन् मोहेन परवशं पराधीनम् आत्मानम् सुगृहीतं नामधेयं यस्य सः। दारिका पुत्री।

शकारः—शुदं अज्जेहिं। लिहीअन्दु एदे अक्खला। चालुदत्तेण शह मम विवादे। [श्रुतमार्यैः। लिख्यन्तामेतान्यक्षराणि। चारुदत्तेन सह मम विवादः।]

श्रेष्ठिकायस्थौ—चारुदत्तो मित्तो त्ति णत्थि दोसो। [चारुदत्तो मित्रमिति नास्ति दोषः।]

अधिकरणिकः—व्यवहारोऽयं चारुदत्तमवलम्बते।

श्रेष्ठिकायस्थौ—एव्वं विअ। [एवमिव।]

अधिकरणिकः—धनदत्त, वसन्तसेनार्यचारुदत्तस्य गृहं गतेति लिख्यतां व्यवहारस्य प्रथमः पादः। कथम्। आर्यचारुदत्तोऽप्यस्माभिराह्वाययितव्यः। अथवा व्यवहारस्तमाह्वयति। भद्र शोधनक, गच्छ। आर्यचारुदत्तं स्वैरमसंभ्रान्तमनुद्विग्नं सादरमाहूय प्रस्तावेन—'अधिकरणिकस्त्वां द्रष्टुमिच्छति' इति।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रान्तः चारुदत्तेन सह प्रविश्य च) एदु एदु अज्जो [यदार्य आज्ञापयति। एत्वेत्वार्यः।]

चारुदत्तः—(विचिन्त्य)।

परिज्ञातस्य मे राज्ञा शीलेन च कुलेन च।
यत्सत्यमिदमाह्वानमवस्थामभिशङ्कते ॥८॥

(सवितर्कं स्वगतम्)

ज्ञातो हि किं न खलु बन्धनविप्रयुक्तो
मार्गागतः प्रवहणेन मयापनीतः।
चारेक्षणस्य नृपतेः श्रुतिमागतो वा
येनाहमेवमभियुक्त इव प्रयामि ॥९॥

अथवा किं विचारितेन। अधिकरणमण्डपमेव गच्छामि। भद्र शोधनक, अधिकरणस्य मार्गमादेशय।

धनदत्तेति कायस्थसम्बोधनम्। प्रथमः पादः अंशः। व्यवहारस्य हि चत्वारः पादाः भवन्ति। उक्तं च याज्ञवल्क्येन—'चतुष्पाद् व्यवहारोऽयं विवादेषूपदर्शितः'। तत्र प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यमिति भाषापादः प्रथमः। स्वैरं स्वच्छन्दम्। असम्भ्रान्तं सम्भ्रमरहितम्। अनुद्विग्नम् उद्वेगशून्यम्।

आधिकरणिकैराहूतः चारुदत्तः मनसि तर्कयति—परिज्ञातस्येति। राज्ञा शीलेन आचारेण कुलेन च परिज्ञातस्य सम्यग् ज्ञातस्य मे मम चारुदत्तस्य इदम्

शकार—आर्यजनों ने सुन लिया। लिख लीजिये इन अक्षरों को मेरा विवाद चारुदत्त के साथ है।

श्रेष्ठीकायस्थ—चारुदत्त (वसन्तसेना) का मित्र है, इसमें दोष नहीं है।

अधिकरणिक · यह व्यवहार चारुदत्त पर आश्रित है।

श्रेष्ठीकायस्थ—ऐसा ही है।

अधिकरणिक—धनदत्त, वसन्तसेना आर्यचारुदत्त के घर गई' यह व्यवहार का प्रथमपाद लिखिये। क्या! आर्य चारुदत्त को भी हमें बुलाना होगा। अथवा व्यवहार' उन्हें बुलाता है। भद्र शोधनक जाओ। (व्यवहार के) 'प्रसङ्ग से न्यायाधीश आपसे मिलना चाहते हैं।' यह कहकर आर्य चारुदत्त को स्वतन्त्रतापूर्वक (या धीरे से) बिना घबराये, बिना उद्विग्न किये आदरपूर्वक बुला लाओ।

शोधनक—जो आर्य आज्ञा करें। (निकलकर तथा चारुदत्त के साथ प्रवेश करके) आर्य, आइये आइये।

चारुदत्त—(सोचकर)

राजा के द्वारा शील और कुल से भली भाँति जाने गये मेरा यह आह्वान (बुलाना) सचमुच ही (प्रकट करता है कि वह) मेरी ऐसी (दरिद्रता की) अवस्था के कारण शङ्कित है ॥८॥

(तर्कपूर्वक अपने आप)

बन्धन से मुक्त हुआ आर्यक मार्ग क्रम से मेरे पास आया और मैंने अपनी गाड़ी से उसे अन्यत्र पहुँचा दिया—क्या यह राजा ने (स्वयं) जान लिया अथवा दूत ही हैं नेत्र जिसके ऐसे राजा के कानों में आ गया, जिससे कि मैं अभियुक्त के समान इस प्रकार (न्यायालय में) जा रहा हूँ ॥९॥

अथवा विचार से क्या? न्यायालय में ही जाता हूँ। भद्र शोधनक, न्यायालय का मार्ग बतलाओ।

आह्वानं यत्सत्यं निश्चितमेव अवस्थाम् इदृशीं दरिद्रावस्थाम् अभिशङ्कते अभिलक्ष्य शङ्कते। दारिद्र्यस्य कारणात् सः मां प्रति शङ्कायुक्तो जातः इति भावः उक्तं हि 'दारिद्र्यदोषो हि गुणराशिनाशी' ॥८॥

ज्ञात इति। बन्धनविप्रयुक्तः बन्धनात् मुक्तः मार्गागतः मार्गेण मार्गक्रमेण मम समीपे आगतः मया प्रवहणेन अपनीतः अपवाहितः आर्यकः किन्तु खलु ज्ञातः नृपेण स्वयं ज्ञातः वा अथवा चाराः दूताः ईक्षणं चक्षुः यस्य तस्य नृपतेः श्रुति आगतः प्राप्तः? येन हेतुना अहं चारुदत्तः अभियुक्तः अभियोगेन दूषित इव एवं प्रयामि न्यायालयं गच्छामि। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥९॥

शोधनकः—एदु एदु अज्जो ।

(इति परिक्रामतः)

चारुदत्तः—(सशङ्कम्) तत्किमपरम् ।

रूक्षस्वरं वाशति वायसोऽय-
ममात्यभृत्या मुहुराह्वयन्ति ।
सव्यं च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य
ममानिमित्तानि हि खेदयन्ति ॥१०॥

शोधनकः—एदु एदु अज्जो सैरं असंभन्तम् । [एत्वेत्वार्यः स्वैरमसंभ्रान्तम् ।]

चारुदत्तः—(परिक्रम्याग्रतोऽवलोक्य च)

शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्क्ष आदित्याभिमुखस्तथा ।
मयि चोदयते वामं चक्षुर्घोरमसंशयम् ॥११॥

(पुनरन्यतोऽवलोक्य) अये, कथमयं सर्पः ।

मयि विनिहितदृष्टिर्भिन्ननीलाञ्जनाभः
स्फुरितविततजिह्वः शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः ।
अभिपतति सरोषो जिह्मिताध्मातकुक्षि-
र्भुजगपतिरयं मे मार्गमाक्रम्य सुप्तः ॥१२॥

अपि च इदम् ।

स्खलति चरणं भूमौ न्यस्तं न चार्द्रतमा मही
स्फुरति नयनं वामो बाहुर्मुहुश्च विकम्पते ।

अनिमित्तानि विलोक्य चारुदत्तश्चिन्तयति-रूक्षेति । अयं वायसः काकः रूक्षस्वरं कर्कशस्वरेण वाशति शब्दं करोति । अमात्यभृत्याः अमात्यानाम् अधिकरणिकानां वा सेवकाः मुहुः वारंवारम् आह्वयन्ति । सव्यं वामं च नेत्रं प्रसह्य बलात् स्फुरति । एतानि अनिमित्तानि अपशकुनानि हि मम खेदयन्ति । मम इति शेषत्वविवक्षायां कर्मणि षष्ठी । अत्र च 'दारुणनादस्तरुकोटरोपगो वायसो महाभयदः' इति वराहमिहिरोक्तं 'वामनयनस्पन्दनं बन्धुविच्छेदं धनहानिं वा इति

शोधनक—आइये, आइये, आर्य (दोनों चलते हैं)।

चारुदत्त—(शङ्कापूर्वक) तब यह और क्या ?

यह कौआ रुखे स्वर से बोल रहा है, मन्त्रियों के सेवक बार-बार बुला रहे हैं, मेरी बाईं आँख बलपूर्वक फड़क रही है। ये अपकुशन मुझे खिन्न कर रहे हैं ॥१०॥

शोधनक—आप बिना घबराये स्वतन्त्रतापूर्वक आइये।

चारुदत्त—(घूमकर तथा आगे देखकर)।

यह कौआ सूखे वृक्ष पर बैठा है तथा सूर्य की ओर मुख किये है। और मुझ पर अपनी बाईं आँख डाल रहा है। निःसन्देह भयङ्कर आपत्ति है ॥११॥

(फिर दूसरी ओर देखकर) अरे! क्या यह सर्प है ?

चूर्णित नीले अञ्जन के समान आभा वाला, लम्बी जीभ को लपलपाता हुआ, श्वेत चार दाढ़ वाला, मेरे मार्ग में फैलकर पड़ा हुआ, यह विशाल सर्प क्रोधपूर्वक वायु से फूले हुए उदर को वक्र करता हुआ, मुझ पर दृष्टि लगाए, मेरी ओर आ रहा है ॥१२॥

और भी यह—

भूमि पर रक्खा हुआ पैर फिसल रहा है, यद्यपि पृथ्वी गीली नहीं है। बाईं आँख फड़क रही है तथा बाईं भुजा बार-बार काँप रही है।

गर्गवचनं च अनुसन्धेयम्। उपजातिः वृत्तम् ॥१०॥

शुष्केति—शुष्केवृक्षे स्थितः तथा आदित्याभिमुखः ध्वाङ्क्षः काकः मयि चारुदत्ते वामं चक्षुः चोदयते प्रेरयति। असंशयं घोरं महद्भयं वर्धते उक्तं च वृहत्संहितायाम्—'कलहःशुष्कद्रुमस्थिते ध्वाङ्क्षे'।॥११॥

सर्पं विलोक्य चारुदत्तः विचारयति—मयीति। भिन्नं चूर्णितं यत् नीलाञ्जनं तद्वद् आभा यस्य सः, स्फुरिता वितता विस्तृता जिह्वा यस्य सः, शुक्लं दंष्ट्राचतुष्कं यस्य सः मे मम चारुदत्तस्य मार्गम् आक्रम्य सुप्तः सुप्तवत् पतितः अयं भुजगपतिः महान् सर्पः सरोषः रोषयुक्तः जिह्मितः वक्रीकृतः आध्मातः वायुना प्रफुल्लः कुक्षिः यस्य तादृशः तथा मयि चारुदत्ते विनिहितदृष्टिः विनिहिता दत्ता दृष्टिर्येन तथाभूतः सन् अभिपतति अभिमुखम् आगच्छति। इदं चापशकुनं मन्यते। उपमा स्वभावोक्तिश्च। मालिनी वृत्तम् ॥१२॥

स्खलतीति। भूमौ न्यस्तं स्थापितं चरणं स्खलति, न च मही पृथिवी आर्द्रतमा अतिशयेन आर्द्रा। नयनम् अर्थात् वामं नेत्रं स्फुरति वामः बाहुः च मुहुः वारं वारं विकम्पते,

शकुनिरपरश्चायं तावद्विरौति हि नैकशः
कथयति महाघोरं मृत्युं न चात्र विचारणा ॥१३॥

सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति ।

शोधनकः—एदु एदु अज्जो । इमं अधिकरणमण्डवं पविसदु अज्जो । [एत्वेत्वार्यः । इममधिकरणमण्डपं प्रविशत्वार्यः ।]

चारुदत्तः—(प्रविश्य समन्तादवलोक्य) अहो, अधिकरणमण्डपस्य परा श्रीः । इह हि,

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकर नागाश्वहिंस्राश्रयम् ।
नानावाशककङ्कपक्षिरचितं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥१४॥

भवतु । (प्रविशञ्छिरोघातमभिनीय सवितर्कम्) अहह, इदमपरम् ।

सव्यं मे स्पन्दते चक्षुर्विरौति वायसस्तथा ।
पन्थाः सर्पेण रुद्धोऽयं स्वस्ति चास्मासु दैवतः ॥१५॥

तावत्प्रविशामि । (इति प्रविशति)

अधिकरणिकः—अयमसौ चारुदत्तः । य एषः ।

घोणोन्नतं मुखमपाङ्गविशालनेत्रं
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम् ।

वारं वारं विकम्पते । अयं च अपरः काकाद् अन्यः गृध्रादिः शकुनिः पक्षी तावत् नैकशः मुहुः विरौति शब्दं करोति । इदं सर्वं महाघोरं भयङ्करं मृत्युं कथयति सूचयति अत्र च विचारणा तर्कना ननास्ति । यतो हि इमानि अनिष्टसूचकानि मन्यन्ते । हरिणी वृत्तम् ॥१३॥

इदं न्यायाधिकरणं समुद्रवत् दुष्प्रवेश्यमिति वर्णयति चारुदत्तः—चिन्तेति । चिन्तायां व्यवहारचिन्तने आसक्ताः तत्पराः अतएव निमग्नमनाः मन्त्रिणः एव सलिलानि यत्र तत्, दूताः एव ऊर्म्यूर्दाः शङ्खाः तैः आकुलं युक्तम्, पर्यन्ते इतस्ततः स्थिताः चाराः गुप्तचराः एव नक्राः मकराः च यत्र तत्, नागाः हस्तिनः अश्वाः च हिंस्राः हिंस्रजन्तव इव तेषाम् आश्रयः स्थितिः यत्र तत्, नाना बहुप्रकाराः वाशकाः शब्दं

और यह दूसरा पक्षी भी अनेक बार बोल रहा है। ये सब भयङ्कर मृत्यु की सूचना दे रहे हैं। इस विषय में कुछ सन्देह नहीं है ॥१३॥

सब प्रकार से देवता लोग कल्याण करेंगे।

शोधनक—आर्य आइये आइये। आप इस न्याय-मण्डप में प्रवेश कीजिये।

चारुदत्त—(प्रवेश करके, चारों ओर देखकर) अहो, न्यायालय की उत्कृष्ट शोभा! क्योंकि यहाँ—

जहाँ विवाद–चिन्तन में तत्पर एवं निमग्न मन्त्री ही जल के समान हैं, जो तरंगों पर आए हुए शङ्खों जैसे दूतों से युक्त है, जहाँ इधर-उधर स्थित गुप्तचर ही नाके और मगर हैं और हाथी-घोड़े रूपी हिंस्र जन्तुओं की स्थिति है, जो बहुत प्रकार के शब्द करने वाले वादी–प्रतिवादी रूपी कङ्क पक्षियों से व्याप्त है, कायस्थ रूपी सर्पों का स्थान, राजनीति से भग्न है तट (मर्यादा) जिसका ऐसा यह न्यायाधिकरण घातक जनों के कारण समुद्र के समान हो रहा है ॥१४॥

अच्छा (प्रवेश करता हुआ सिर टकराने का अभिनय करके तर्कपूर्वक) कष्ट! यह और (अपशकुन)—

मेरी बाईं आँख फड़कती है तथा कौआ चिल्ला रहा है। यह मार्ग सर्प से रुका हुआ है। भाग्य से ही हमारा कल्याण होगा ॥१५॥

तब तक प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश करता है)

अधिकरणिक—यह है वह चारुदत्त जो यह—

ऊँची नासिका से युक्त तथा विशाल कोनों वाले नेत्रों से युक्त मुख को धारण करता है। यह मुख, निश्चय ही, इच्छानुसार लगाये गए दोषों का पात्र नहीं है।

कुर्वन्तः वादिप्रतिवादिजनाः एव कङ्कपक्षिणः मांसादाः पक्षिविशेषाः (हाड़गिला इति भाषायां प्रसिद्धाः) तैः रचितं व्याप्तम् (पृथ्वी०) अशुभसूचकत्वेन तेषां समवधान-मुक्तम्-इति पृथ्वीधरः। कायस्थाः एव सर्पाः तेषाम् आस्पदं स्थानम् नीतिः सामादिरूपा तया क्षुण्णं नद्या इव भग्नं तटं समुद्रतटं मर्यादा वा यत्र तत् च राजकरणं न्यायाधिकरणं हिंस्रैः घातुकैः उपलक्षितं समुद्रायते समुद्र इव आचरति। उपमारूपकयोः अलङ्कारयोः सङ्करः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१४॥

सव्यमिति। मे सव्यं वामं चक्षुः स्पन्दते स्फुरति तथा वायसः काकः विरौति शब्दं करोति। अयं पन्थाः मार्गः सर्पेण रुद्धः अस्मासु दैवतः भाग्यादेव स्वस्ति भवतु ॥१॥

चारुदत्तमवलोक्य 'निर्दोषेयमाकृतिरिति' कथयति अधिकरणिकः घोणोन्नत-मिति। यः एषः चारुदत्तः घोणा उन्नता यत्र तत्, घोणायां वा उन्नतमुत्कृष्टम्। अपाङ्गयोः नेत्रान्तयोः विशाले नेत्रे यत्र तत् च (एतेन नेत्र–विशालत्वमुक्तम्-पृथ्वी०) एवं-विधं मुखं धारयति। एतत् ईदृशं मुखम् अकारणेन हठेन आरोपितानां दूषणानां

शकुनिरपरश्चायं तावद्विरौति हि नैकशः
कथयति महाघोरं मृत्युं न चात्र विचारणा ॥१३॥

सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति ।

शोधनकः—एदु एदु अज्जो । इमं अधिकरणमण्डवं पविसदु अज्जो । [एत्वेत्वार्यः । इममधिकरणमण्डपं प्रविशत्वार्यः ।]

चारुदत्तः—(प्रविश्य समन्तादवलोक्य) अहो, अधिकरणमण्डपस्य परा श्रीः । इह हि,

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम् ।
नानावाशककङ्कपक्षिरचितं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥१४॥

भवतु । (प्रविशञ्छिरोघातमभिनीय सवितर्कम्) अहह, इदमपरम् ।

सव्यं मे स्पन्दते चक्षुर्विरौति वायसस्तथा ।
पन्थाः सर्पेण रुद्धोऽयं स्वस्ति चास्मासु दैवतः ॥१५॥

तावत्प्रविशामि । (इति प्रविशति)

अधिकरणिकः—अयमसौ चारुदत्तः । य एषः ।

घोणोन्नतं मुखमपाङ्गविशालनेत्रं
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम् ।

वारं वारं विकम्पते । अयं च अपरः काकाद् अन्यः गृध्रादिः शकुनिः पक्षी तावत् नैकशः मुहुः विरौति शब्दं करोति । इदं सर्वं महाघोरं भयङ्करं मृत्युं कथयति सूचयति अत्र च विचारणा तर्कना ननास्ति । यतो हि इमानि अनिष्टसूचकानि मन्यन्ते । हरिणी वृत्तम् ॥१३॥

इदं न्यायाधिकरणं समुद्रवत् दुष्प्रवेश्यमिति वर्णयति चारुदत्तः—चिन्तेति । चिन्तायां व्यवहारचिन्तने आसक्ताः तत्पराः अतएव निमग्नमनाः मन्त्रिणः एव सलिलानि यत्र तत्, दूताः एव ऊर्म्यूढाः शङ्खाः तैः आकुलं युक्तम्, पर्यन्ते इतस्ततः स्थिताः चाराः गुप्तचराः एव नक्राः मकराः च यत्र तत्, नागाः हस्तिनः अश्वाः च हिंस्राः हिंस्रजन्तव इव तेषाम् आश्रयः स्थितिः यत्र तत्, नाना बहुप्रकाराः वाशकाः शब्दं

और यह दूसरा पक्षी भी अनेक बार बोल रहा है। ये सब भयङ्कर मृत्यु की सूचना दे रहे हैं। इस विषय में कुछ सन्देह नहीं है ॥१३॥

सब प्रकार से देवता लोग कल्याण करेंगे।

शोधनक—आर्य आइये आइये। आप इस न्याय-मण्डप में प्रवेश कीजिये।

चारुदत्त—(प्रवेश करके, चारों ओर देखकर) अहो, न्यायालय की उत्कृष्ट शोभा! क्योंकि यहाँ—

जहाँ विवाद-चिन्तन में तत्पर एवं निमग्न मन्त्री ही जल के समान हैं, जो तरंगों पर आए हुए शङ्खों जैसे दूतों से युक्त है, जहाँ इधर-उधर स्थित गुप्तचर ही नाके और मगर हैं और हाथी-घोड़े रूपी हिंस्र जन्तुओं की स्थिति है, जो बहुत प्रकार के शब्द करने वाले वादी-प्रतिवादी रूपी कङ्क पक्षियों से व्याप्त है, कायस्थ रूपी सर्पों का स्थान, राजनीति से भग्न है तट (मर्यादा) जिसका ऐसा यह न्यायाधिकरण घातक जनों के कारण समुद्र के समान हो रहा है ॥१४॥

अच्छा (प्रवेश करता हुआ सिर टकराने का अभिनय करके तर्कपूर्वक) कष्ट! यह और (अपशकुन)—

मेरी बाईं आँख फड़कती है तथा कौआ चिल्ला रहा है। यह मार्ग सर्प से रुका हुआ है। भाग्य से ही हमारा कल्याण होगा ॥१५॥

तब तक प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश करता है)

अधिकरणिक—यह है वह चारुदत्त जो यह—

ऊँची नासिका से युक्त तथा विशाल कोनों वाले नेत्रों से युक्त मुख को धारण करता है। यह मुख, निश्चय ही, इच्छानुसार लगाये गए दोषों का पात्र नहीं है।

कुर्वन्तः वादिप्रतिवादिजनाः एव कङ्कपक्षिणः मांसादाः पक्षिविशेषाः (हाड़गिला इति भाषायां प्रसिद्धाः) तैः रचितं व्याप्तम् (पृथ्वी०) अशुभसूचकत्वेन तेषां समवधानमुक्तम्-इति पृथ्वीधरः। कायस्थाः एव सर्पाः तेषाम् आस्पदं स्थानम् नीतिः सामादिरूपा तया क्षुण्णं नद्या इव भग्नं तटं समुद्रतटं मर्यादा वा यत्र तत् च राजकरणं न्यायाधिकरणं हिंस्रैः घातुकैः उपलक्षितं समुद्रायते समुद्र इव आचरति। उपमारूपकयोः अलङ्कारयोः सङ्करः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१४॥

सव्यमिति। मे सव्यं वामं चक्षुः स्पन्दते स्फुरति तथा वायसः काकः विरौति शब्दं करोति। अयं पन्थाः मार्गः सर्पेण रुद्धः अस्मात्तु दैवतः भाग्यादेव स्वस्ति भवतु ॥१५॥

चारुदत्तमवलोक्य 'निर्दोषेयमाकृतिरिति' कथयति अधिकरणिकः घोणोन्नतमिति। यः एषः चारुदत्तः घोणा उन्नता यत्र तत्, घोणायां वा उन्नतमुत्कृष्टम्। अपाङ्गयोः नेत्रान्तयोः विशाले नेत्रे यत्र तत् च (एतेन नेत्र-विशालत्वमुक्तम्-पृथ्वी०) एवं-विधं मुखं धारयति। एतत् ईदृशं मुखम् अकारणेन हठेन आरोपितानां दूषणानां

नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु
नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् ॥१६॥

चारुदत्तः—भोः अधिकृतेभ्यः स्वस्ति । हंहो नियुक्ताः, अपि कुशलं भवताम्
अधिकरणिकः—(ससंभ्रमम्) स्वागतमार्यस्य । भद्र शोधनक, आर्यस्यासनमुपनय ।

शोधनकः—(आसनमुपनीय) एदं आसनम् । एत्थ उपविसदु अज्जो ।
[इदमासनम् । अत्रोपविशत्वार्यः।]

(चारुदत्त उपविशति)

शकारः—(सक्रोधम्) आगदेशि ले इश्थिआघादआ, आगदेशि । अहो णाए ववहाले, अहो धम्मे ववहाले, जं एदाह इश्थिआघादकाह, आशणे दीअदि। (सगर्वम्) भोदु । णं दीअदु । [आगतोऽसि रे स्त्रीघातक, आगतोऽसि । अहो न्याय्यो व्यवहारः, अहो धर्म्यो व्यवहारः, यदेतस्मै स्त्रीघातकायासनं दीयते भवतु । ननु दीयताम् ।]

अधिकरणिकः—आर्य चारुदत्त, अस्ति भवतोऽस्या आर्याया दुहित्रा सह प्रसक्तिः प्रणयः प्रीतिर्वा ।

चारुदत्तः—कस्याः ।

अधिकरणिक —अस्याः । (इति वसन्तसेनामातरं दर्शयति)

चारुदत्तः—(उत्थाय) आर्ये, अभिवादये ।

वृद्धा--जाद, चिरं मे जीव (स्वगतम्) अअं सो चारुदत्तो । सुणिक्खित्तं खु दरिआए जोव्वणम् । [जात, चिरं मे जीव । अयं स चारुदत्तः। सुनिक्षिप्तं खलु दारिकया यौवनम् ।]

अधिकरणिकः—आर्य, गणिका तव मित्रम् ।

(चारुदत्तो लज्जां नाटयति)

शकारः—

लज्जाए भीलुदाए वा
चालित्तं अलिए णिगूहिदुम् ।
अअं मालिअ अत्थकालणा
दाणि गूहदि ण तं हि भश्टके ॥१७॥

[लज्जया भीरुतया वा चारित्रमलीकं निगूहितुम् ।
स्वयं मारयित्वार्थकारणादिदानीं गूहति न तद्धि भट्टकः ॥]

क्योंकि हाथी, गाय, अश्व तथा मनुष्यों में उनका आकार अपने अनुकूल चरित्र का त्याग नहीं करता ॥१६॥

चारुदत्त—न्यायाधिकारियों का कल्याण हो। हे अधिकारीगण, आप कुशल तो हैं।

अधिकरणिक—(घबराहट से) आर्य का स्वागत है। भद्र शोधनक, आर्य के लिये आसन लाओ।

शोधनक—(आसन लाकर) यह आसन है। आर्य इस पर बैठें।

(चारुदत्त बैठता है)

शकार—(क्रोधपूर्वक) आ गया रे स्त्रीघातक आ गया। अहो! कितना न्याययुक्त 'व्यवहार' (विवाद-निर्णय legal procedure) है! कितना धर्मयुक्त 'व्यवहार' है! इस स्त्रीघातक को आसन दिया जा रहा है। (गर्व के साथ) अच्छा, दीजिये।

अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त, आपका इस आर्या की पुत्री के साथ गाढ सम्पर्क, अनुराग या स्नेह है क्या?

चारुदत्त—किसकी?

अधिकरणिक—इसकी। (वसन्तसेना की माता को दिखलाता है)

चारुदत्त—(उठकर) आर्ये, अभिवादन करता हूँ।

वृद्धा—वत्स चिरञ्जीव। (अपने आप) यह वह चारुदत्त है। निश्चय ही मेरी पुत्री ने अपना यौवन ठीक प्रकार से अर्पित किया है।

अधिकरणिक—आर्य, वेश्या तुम्हारी मित्र है।

(चारुदत्त लज्जा का अभिनय करता है)

शकार—

धन के लिये (वसन्तसेना को) स्वयं मारकर इस समय तू लज्जा अथवा भीरुता के कारण अपने बुरे चरित्र को छिपाने का यत्न करता है, किन्तु निश्चय ही उसको भट्टक (राजा पालक या अधिकरणिक, नहीं छिपायेगा ॥१७॥

भाजनं पात्रं न भवति हि यतः नागेषु हस्तिषु गोषु तुरगेषु अश्वेषु तथा नरेषु आकृतिः आकारः सुसदृशं सर्वथा आकारानुकूलं वृत्तं चरित्रं न विजहाति त्यजति। आकृतिमनुसरन्ति गुणाः ईदृशी चाकृतिर्न शीलं व्यभिचरतीति भावः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१६॥

न्याय्यः न्यायाद् अनपेतः, न्याययुक्तः इति यावत्। धर्म्यः धर्माद् अनपेतः धर्मयुक्तः इति भावः। प्रसक्तिः गाढानुरागः। प्रणयः अनुरागः। प्रीतिः स्नेहः। सुनिक्षिप्तं सुष्ठु समर्पितम्।

लज्जयेति। अर्थकारणात् स्वयं वसन्तसेनां मारयित्वा इदानीं लज्जया भीरुतया भयेन वा अलीकं मिथ्या चारित्रं निगूहितुं गोपायितुं यतसे इति शेषः किन्तु भट्टकः भट्टारकः राजा अधिकरणिको वा तद् चारित्रं न गूहति हि। वैतालीयं वृत्तम् ॥१७॥

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्जचारुदत्त, भणाहि। अलं लज्जाए। ववहारो क्खु एसो। [आर्य चारुदत्त, भण अलं लज्जया। व्यवहारः खल्वेषः।]

चारुदत्तः—(सलज्जम्) भो अधिकृताः मया कथमीदृशं वक्तव्यम्, यथा गणिका मम मित्रमिति। अथवा यौवनमत्रापराध्यति, न चारित्र्यम्।

अधिकरणिक :—

व्यवहारः सविघ्नोऽयं त्यज लज्जां हृदि स्थिताम्।
ब्रूहि सत्यमलं धैर्यं छलमत्र न गृह्यते ॥१८॥

अलं लज्जया। व्यवहारस्त्वां पृच्छति।

चारुदत्तः—अधिकृत, केन सह मम व्यवहारः।

शकारः—(साटोपम्) अले, मए शह ववहाले। [अरे, मया सह व्यवहारः।]

चारुदत्तः—त्वया सह मम व्यवहारः सुदुःसहः।

शकारः—अले इश्थिआघादआ, तं तालिशिं लअणशदभूशणिअं वशन्तशेणिअं मालिअ, शंपदं कवडकावडिके भविअ णिगूहेशि। [अरे स्त्रीघातक तां तादृशीं रत्नशतभूषणां वसन्तसेनां मारयित्वा, सांप्रतं कपटकापटिको भूत्वा, निगूहसि।]

चारुदत्तः—असंबद्धः खल्वसि।

अधिकरणिकः—आर्यचारुदत्त, अलमनेन। ब्रूहि सत्यम्। अपि गणिका तव मित्रम्।

चारुदत्तः—एवमेव।

अधिकरणिकः—आर्य, वसन्तसेना क्व।

चारुदत्तः—गृहं गता।

श्रेष्ठिकायस्थौ—कधं गदा, कदा गदा, गच्छन्ती वा केण अणुगदा। [कथं गता, कदा गता, गच्छन्ती वा केनानुगता।]

चारुदत्तः—(स्वगतम्) किं प्रच्छन्नं गतेति ब्रवीमि।

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्ज, कधेहि। [आर्य, कथय।]

चारुदत्तः—गृहं गता। किमन्यद् ब्रवीमि।

शकारः—मम केलकं पुप्फकलण्डकजिण्णुज्जाणं पवेशिअ अत्थणिमित्तं बाहुपाशबलक्कालेण मालिदा। अए, शंपदं ववशि घलं गदे त्ति। [मदीयं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्यार्थनिमित्तं बाहुपाशबलात्कारेण मारिता। अये, सांप्रतं वदसि गृहं गतेति।]

चारुदत्तः—आः असंबद्धप्रलापिन्।

व्यवहार इति। अयं व्यवहारः सविघ्नः विघ्नेन सहितः अतः हृदि स्थितां लज्जां त्यज। सत्यं ब्रूहि धैर्यमलं "विलम्बो माऽस्तु इत्यर्थः यद्वा धैर्यम् अलम्

श्रेष्ठीकायस्थ—आर्य चारुदत्त, कहो। लज्जा मत करो। यह तो 'व्यवहार' है।

चारुदत्त—(लज्जापूर्वक) हे अधिकारी गण, मुझसे इस प्रकार कैसे कहा जा सकता है कि वेश्या मेरी मित्र है। अथवा यौवन अपराधी है चरित्र नहीं।

अधिकरणिक—

यह व्यवहार विघ्नयुक्त है। हृदय में स्थित लज्जा को छोड़ दो, सच कहो, विलम्ब मत करो (अथवा सत्य कहने के लिये पर्याप्त धैर्य धारण करो)। व्यवहार में कपट को स्वीकार नहीं किया जाता ॥१८॥

लज्जा न करो तुम से 'व्यवहार' पूछ रहा है।

चारुदत्त—अधिकरणिक, किसके साथ मेरा 'व्यवहार' है।

शकार—(गर्व के साथ) अरे, मेरे साथ 'व्यवहार' है।

चारुदत्त—तेरे साथ मेरा व्यवहार दुःसह्य है।

शकार—अरे स्त्रीघातक, उस ऐसी सैकड़ों रत्नों के आभूषण वाली वसन्तसेना को मार कर इस समय कपट से धूर्त बनकर छिपाता है।

चारुदत्त—तू असङ्गत (बात कहने वाला) है।

अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त, इसे (शकार को) रहने दो। सच बतलाओ। क्या गणिका तुम्हारी मित्र है?

चारुदत्त—ऐसा ही है।

अधिकरणिक—आर्य, वसन्तसेना कहाँ है?

चारुदत्त—घर को गई।

श्रेष्ठीकायस्थ—कैसे गई? कब गई? अथवा जाती हुई के साथ कौन गया?

चारुदत्त—(अपने आप) क्या 'गुप्त रूप से गई, यह कह दूँ।

श्रेष्ठीकायस्थ—आर्य कहिये।

चारुदत्त—घर को गई। और क्या कहूँ?

शकार—मेरे पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में ले जाकर धन के लिये भुजपाश से बलपूर्वक (दबाकर) मार दी है। अरे, अब कहता है 'घर को गई'।

चारुदत्त—अरे असङ्गत प्रलाप करने वाले,

अस्तु सत्यकथनायेति शेषः—(काले) (?)। अत्र व्यवहारे छलं न गृह्यते स्वीक्रियते ॥१८॥

कपटेन कापटिकः धूर्तः।

अभ्युक्षितोऽसि सलिलैर्न बलाहकानां
चाषाग्रपक्षसदृशं भृशमन्तराले ।
मिथ्यैतदाननमिदं भवतस्तथाहि
हेमन्तपद्ममिव निष्प्रभतामुपैति ॥१९॥

अधिकरणिकः—(जनान्तिकम्)
तुलनं चाद्रिराजस्य समुद्रस्य च तारणम् ।
ग्रहणं चानिलस्येव चारुदत्तस्य दूषणम् ॥२०॥

(प्रकाशम्) आर्यचारुदत्तः खल्वसौ कथमिदमकार्यं करिष्यति । ('घोणा' (९।१६) इत्यादि पठति)

शकारः—किं पक्खवादेण ववहाले दीशदि [किं पक्षपातेन व्यवहारो दृश्यते]

अधिकरणिकः—अपेहि मूर्ख,
वेदार्थान्प्राकृतस्त्वं वदसि न च ते जिह्वा निपतिता
मध्याह्ने वीक्षसेऽर्कं न तव सहसा दृष्टिर्विचलिता ।
दीप्ताग्नौ पाणिमन्तः क्षिपसि स च ते दग्धो भवति नो
चारित्र्याच्चारुदत्तं चलयसि न ते देहं हरति भूः ॥२१॥

आर्यचारुदत्तः कथमकार्यं करिष्यति ।
कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रयमात्रशेषं
दत्तानि येन हि धनान्यनपेक्षितानि ।

मिथ्या तवाभियोग इति शकारमाह चारुदत्तः—अभ्युक्षित इति । एतत् तव कथनं मिथ्या । तथा हि बलाहकानां जलदानां सलिलैः जलैः न अभ्युक्षितः सिक्तः असित्वं, किन्तु अन्तराले एतद्वचनमध्ये भृशम् अत्यन्तं चाषस्य पक्षिविशेषस्य (नीलकण्ठ इति लोके प्रसिद्धस्य) अग्रपक्षः पक्षाग्रं तस्य सदृशं कृष्णवर्णं सद् इति भावः भवतः तव शकारस्य इदम् आननं मुखम् हेमन्तस्य पद्मं कमलम् इव निष्प्रभतां कान्तिहीनताम् उपैति प्राप्नोति । उपमालङ्कारः वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१९॥

तुलनमिति । चारुदत्तस्य दूषणं दोषसाधनम् अद्रिराजस्य पर्वतराजस्य हिमालयस्य तुलनम् इव समुद्रस्य च तारणं तीर्त्वा पारे गमनम् इव अनिलस्य पावकस्य ग्रहणम् इव च अशक्यमस्तीति भावः ॥२०॥

यह झूठ है, क्योंकि तू बादलों के जल से नहीं भीगा, किन्तु इस बात को कहते हुए (अन्तराले—कथन के बीच में) बिल्कुल नीलकण्ठ के पंख के अग्र भाग के समान (काला-काला) तेरा यह मुख हेमन्त ऋतु में कमल की भांति कान्तिहीनता को प्राप्त कर रहा है ॥१६॥

अधिकरणिक—(अलग से) चारुदत्त का दोष दिखलाना पर्वतराज हिमालय को तोलने के समान, सागर को तैर कर पार करने के समान तथा अग्नि को पकड़ने के समान (असम्भव) है ॥२०॥

(प्रकट रूप में) भला यह आर्य चारुदत्त इस अकार्य को कैसे करेंगे ?

('घोणा' ६।१६ इत्यादि श्लोक पढ़ता है)

शकार—क्या पक्षपात से व्यवहार का विचार किया जा रहा है ?

अधिकरणिक—हट, मूर्ख,

नीच (प्राकृत) होकर तू वेद का अर्थ कथन करता है तथापि तेरी जिह्वा नहीं गिरी। मध्याह्न के समय तू सूर्य की ओर देखता है तथापि तेरी दृष्टि सहसा ही भ्रष्ट नहीं हुई। तू प्रज्वलित अग्नि में हाथ डाल रहा है तथापि तेरा हाथ जला नहीं। तू चारुदत्त को चरित्र से भ्रष्ट कर (बतला) रहा है तथापि पृथ्वी तेरे शरीर का हरण नहीं करती ॥२१॥

आर्य चारुदत्त अकार्य कैसे करेंगे ?

जिस चारुदत्त ने (रत्नों का दान देते हुए) समुद्र को जल की प्रचुरता मात्र है शेष जिसमें ऐसा कर दिया तथा जिसने (याचकों के द्वारा) अप्रार्थित धन का दान

अधिकरणिकः शकारं भर्त्संयति—वेदार्थान् इति। प्राकृतः पामरः त्वं शकारः वेदार्थान् वदसि तथापि ते तव जिह्वा च न निपतिता (नीचस्य हि वेदार्थकथने जिह्वापातस्योक्तत्वात्) मध्याह्ने अर्कं सूर्यं वीक्षसे पश्यसि तथापि तव दृष्टिः सहसा तत्कालमेव न विचलिता भ्रष्टा (मध्याह्ने सूर्यदर्शनेन दृष्ट्युपघातो जायते)। दीप्ते प्रज्ज्वलिते अग्नौ अन्तः अभ्यन्तरे पाणि हस्तं क्षिपसि तथापि ते तव सः हस्तः च दग्धः नो भवति। त्वं च चारुदत्तं चारित्र्यात् चलयसि च्यावयसि तथापि भूः पृथ्वी ते देहं न हरति। निदर्शनालङ्कारः विशेषोक्तिश्च। सुमधुरा वृत्तम् ॥२१॥

चारुदत्ते पापस्य सम्भावनापि नास्तीत्याह—कृत्वेति। येन चारुदत्तेन हि समुद्रम् उदकोच्छ्रयमात्रशेषं उदकस्य उच्छ्रयः उन्नतिः आधिक्यं वा तन्मात्रमेव शेषः यत्र तादृशं कृत्वा दानार्थं रत्नानाम् उद्धरणात् जलमात्रावशेषं सागरं कृत्वा इति भावः,

स श्रेयसां कथमिवैकनिधिर्महात्मा
पापं करिष्यति धनार्थमवैरिजुष्टम् ॥२२॥

वृद्धा—हृदास, जो तदाणिं णासीकिदं सुवण्णभण्डअं रत्तिं चोरेहिं अवहिदं त्ति तस्स कारणादो चदुस्समुद्दसारभूदं रअणावलिं देदि, सो दाणिं अत्थकल्लवत्तस्स कालणादो इमं अकज्जं करेदि ? हा जादे, एहि मे पुत्ति [हताश, यस्तदानीं न्यासीकृतं सुवर्णभाण्डं रात्रौ चौरैरपहृतमिति तस्य कारणाच्चतुःसमुद्रसारभूतां रत्नावलीं ददाति, स इदानीमर्थकल्यवर्तस्य कारणादिदमकार्यं करोति ? हा जाते, एहि मे पुत्रि ।] (इति रोदिति)

अधिकरणिकः—आर्य चारुदत्त, किमसौ पद्भ्यां गता, उत प्रवहणेनेति ।

चारुदत्तः—ननु मम प्रत्यक्षं न गता । तन्न जाने किं पद्भ्यां गता, उत प्रवहणेनेति ।

(प्रविश्य सामर्षः)

वीरकः—

पादप्पहारपरिभवविमाणणाबद्धगरुअवेरस्स ।
अणुसोअन्तस्स इअं कधं पि रत्ती पभादा मे ॥२३॥
ता जाव अधिअरणमण्डवं उवसप्पामि । (प्रवेष्टकेन) सुहं अज्जमिस्साणम् ।

[पादप्रहारपरिभवविमाननाबद्धगुरुकवैरस्य ।
अनुशोचत इयं कथमपि रात्रिः प्रभाता मे ॥
तद्यावदधिकरणमण्डपमुपसर्पामि । सुखमार्यमिश्राणाम् ।]

अधिकरणिकः—अये, नगररक्षाधिकृतो वीरकः । वीरक, किमागमनप्रयोजनम् ?

वीरकः—ही, बन्धणभेअणसंभमे अज्जकं अण्णेसन्तो, ओवारिदं पवहणं वच्चदि त्ति विआरं करन्तो अण्णेसन्तो, अरे तुए वि आलोइदे मए वि आलोइदव्वो' त्ति भणन्तो ज्जेव चन्दणमहत्तरएण पादेण ताडिदो ह्मि । एदं सुणिअ अज्जमिस्सा पमाणम् । [ही, बन्धनभेदनसंभ्रमे आर्यकमन्वेषयन्, अपवारितं प्रवहणं व्रजतीति विचारं कुर्वन्नन्वेषयन्, अरे, त्वयाप्यालोकितम्, मयाप्यालोकितव्यम्' इति भणन्नेव चन्दनमहत्तरकेण, पादेन ताडितोऽस्मि । एतच्छ्रुत्वार्यमिश्राः प्रमाणम् ।]

अधिकरणिकः—भद्र, जानीषे कस्य तत्प्रवहणमिति ।

किया, कल्याणों का एक (अद्वितीय) आधार वह महात्मा, धन के लिये वैरियों के द्वारा] भी (अथवा कायरों द्वारा भी) न किया जाने योग्य यह पाप कैसे करेगा ॥२२॥

वृद्धा—हताश, जो (चारुदत्त) उस समय धरोहर रक्खे हुए सुवर्णभाण्ड को रात्रि में चोरों ने हर लिया, इसलिये उसके निमित्त चारों समुद्रों की सारभूत रत्नावली दे देता है, वह इस समय कलेवा जैसे (तुच्छ) धन के निमित्त यह कुकृत्य करता है ? हाय वत्से, आओ मेरी पुत्री। (रोती है)।

अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त, क्या वह पैदल गई या गाड़ी से ?

चारुदत्त—मेरे सामने नहीं गई। अतः मैं नहीं जानता कि पैदल गई या गाड़ी से।

वीरक—(चन्दनक के) पाद-प्रहार के तिरस्कार से होने वाली क्षुब्धता द्वारा उत्पन्न हो गया है, वैर-भाव जिसमें उस मेरी (वीरक की) सोच करते हुए ही रात्रि व्यतीत हुई (प्रभात रूप में आई) ॥२३॥

अतः न्यायालय में जाता हूँ। (हाथ से) भद्र पुरुषों (आपका) कल्याण हो।

अधिकरणिक—अरे नगर-रक्षा में नियुक्त वीरक है। वीरक तुम्हारे आने का क्या प्रयोजन है ?

वीरक अहो ! बन्धन तोड़ने से होने वाली घबराहट के समय आर्यक को ढूँढते हुए 'ढकी हुई गाड़ी जा रही है।' यह विचार करते हुए तथा निरीक्षण करते हुए 'तूने (चन्दनक) भी देख ली मुझे (वीरक) भी देख लेनी चाहिए' यह कहते हुए ही मुझे अधिक महान् (?) चन्दनक ने लातों से मारा है। यह सुनकर (मान्यगण आप) ही प्रमाण हैं।

अधिकरणिक—भद्र, जानते हो कि वह किसकी गाड़ी थी ?

अनपेक्षितानि अर्थिभिः अयाचितानि (?) धनानि दत्तानि। श्रेयसां कल्याणानाम् एकनिधिः मुख्याश्रयः सः महात्मा चारुदत्तः धनार्थम् अवैरिजुष्टं (अवीरजुष्टम् पाठान्तरम्) वैरिजनेनापि असेवितं पापं कथं करिष्यामि। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२२॥

हता आशा यस्य सः (सम्बुद्धौ) अत्र क्रूरः, निर्दयः इति भावः। पादेति। पादप्रहारेण चन्दनकस्य चरणप्रहारेण कृतः यः परिभवः तिरस्कारः तेन जाता या विमानना अवमानना क्षोभः इति यावत् तया बद्धं गुरुकं महत् वैरं वैरभावः यस्य तस्य अनुशोचतः पश्चात्तापं कुर्वतः मे मम वीरकस्य इयं रात्रिः कथमपि कष्टेन प्रभाता प्रभातं प्राप्ता व्यतीता इति भावः ॥२३॥

'हि इति विस्मयेऽव्ययम् बन्धनभेदनेन यः सम्भ्रमः त्वरा तस्मिन् सति तत्समये इति यावत्। अपवारितम् आवृतम्।

वीरकः—इमस्स अज्जचारुदत्तस्स । वसन्तसेणा आरूढा पुप्फकरण्डकजिण्णुज्जाणं कीलिदं णीअदि त्ति पवहणवाहएण कहिदम् । [अस्यार्यचारुदत्तस्य । वसन्तसेनारूढा पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं क्रीडितुं नीयत इति प्रवहणवाहकेन कथितम् ।।

शकारः—पुणो वि शुदं अज्जेहिं । [पुनरपि श्रुतमार्यैः] ।

अधिकरणिकः—

एष भो निर्मलज्योत्स्नो राहुणा ग्रस्यते शशी ।
जलं कूलावपातेन प्रसन्नं कलुषायते ।।२४।।

वीरक, पश्चादिह भवतो न्यायं द्रक्ष्यामः य एषोऽधिकरणद्वारेऽश्वस्तिष्ठति, तमेनमारुह्य गत्वा पुष्पकरण्डकोद्यानम्, दृश्यतामस्ति तत्र काचिद्विपन्ना स्त्री न वेति ।

वीरकः—जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रान्तः । प्रविश्य च) गदो म्हि तहिं । दिट्ठं च मए इत्थिआकलेवरं सावदेहिं विलुप्पन्तम् । [यदार्य आज्ञापयति । गतोऽस्मि तत्र । दृष्टं च मया स्त्रीकलेवरं श्वापदैर्विलुप्यमानम् ।]

श्रेष्ठिकायस्थौ—कधं तुए जाणिदं इत्थिआकलेवरं त्ति । [कथं त्वया ज्ञातं स्त्रीकलेवरमिति ।]

वीरकः—सावसेसेहिं केसहत्थपाणिपादेहिं उवलक्खिदं मए । [सावशेषैः केशहस्तपाणिपादैरुपलक्षितं मया ।]

अधिकरणिकः—अहो, धिग्वैषम्यं लोकव्यवहारस्य ।

यथा यथेदं निपुणं विचार्यते तथा तथा संकटमेव दृश्यते ।
अहो सुसन्ना व्यवहारनीतयो मतिस्तु गौः पङ्कगतेव सीदति ।।२५।।

चारुदत्तः—(स्वगतम्)

यथैव पुष्पं प्रथमे विकाशे समेत्य पातुं मधुपाः पतन्ति ।
एवं मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ।।२६।।

वीरकस्य वचनमाकर्ण्य अधिकरणिकः कथयति—एष इति । भो इति खेदे (काले) एषः अयं निर्मला ज्योत्स्ना चन्द्रिका यस्य स शशी चन्द्रः राहुणा ग्रस्यते । प्रसन्नं प्रसादयुक्तं, स्वच्छं जलं कूलावपातेन तटस्य पतनेन कलुषायते मलिनं जायते । निर्मलचरित्रेण युक्तः चारुदत्तः अपवादेन दुष्यतीति भावः । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ।।२४।।

विपन्ना मृता । श्वापदैः हिंसकपशुभिः विलुप्यमानं विनाश्यमानम् । केशहस्तः केशपाशः धिक् लोकव्यवहारस्य जनानां चरित्रस्य अथवा लोकवृत्तस्य वैषम्यं वैपरीत्यं धिक् ।

वीरक—इस आर्य चारुदत्त की। "इस पर बैठी हुई वसन्तसेना पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में क्रीड़ा करने के लिये ले जाई जा रही है" यह गाड़ीवान् ने कहा था।

शकार—आर्यजन, आपने फिर भी सुन लिया।

अधिकरणिक—खेद ! निर्मल चांदनी वाला यह चन्द्रमा राहु से ग्रसा जा रहा है। तट के गिरने से स्वच्छ जल मलिन हो रहा है। (अर्थात् दुर्दैव से पवित्र चरित्र वाला चारुदत्त कलङ्कित हो रहा है) ॥२४॥

वीरक, तुम्हारे अभियोग पर पीछे विचार करेंगे। जो यह न्यायालय के द्वार पर घोड़ा खड़ा है, इस पर चढ़कर पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में जाकर देखिये कि वहाँ कोई मृतक स्त्री है या नहीं।

वीरक—जो आर्य आज्ञा करें। (चला गया, और प्रवेश करके) मैं वहाँ गया। वहाँ मैंने स्त्री का शरीर हिंसक पशुओं द्वारा समाप्त किया जाता देखा।

श्रेष्ठी कायस्थ—तुमने कैसे जाना कि स्त्री का शरीर है ?

वीरक—बचे हुए केशपाश, हाथ और पैरों से मैंने समझ लिया।

अधिकरणिक—अहो, लोकव्यवहार की विषमता को धिक्कार है।

जैसे-जैसे इस पर भली-भांति विचार किया जाता है, वैसे-वैसे ही यह उलझा हुआ दिखलाई देता है। अहो, व्यवहार के नियम (The legal points or proofs) भली-भांति सम्बद्ध या स्पष्ट हो (सुसन्ना) रहे हैं, किन्तु मेरी बुद्धि कीचड़ में गई हुई गौ के समान फँस रही है ॥२५॥

चारुदत्त—(अपने आप) जैसे विकास की प्रारम्भिक अवस्था में पुष्प (मकरन्द) का पान करने के लिये भ्रमर एकत्रित होकर गिरते हैं, इसी प्रकार आपत्ति के समय मनुष्य की भूल (=छिद्र) होते ही अनेक अनिष्ट एकत्रित हो जाते हैं ॥२६॥

आधिकरणिकः लोकव्यवहारस्य वैषम्यमेव प्रकटयति—यथेति। इदं चारुदत्तवृत्तं यथा यथा निपुणं सम्यक् विचार्यते तथा तथा संकटं साबाधं गहनं वा दृश्यते। अहो ! व्यवहारनीतयः व्यवहारस्य विवादस्य नीतयः नियमाः सुसन्नाः सम्यक् सम्बद्धाः स्पष्टाः प्रतीयन्ते इति भावः तु किन्तु मम मतिः पङ्कगता गौः इव सीदति निमज्जति, न किमपि निर्णेतुं शक्नोतीति भावः। उपमालङ्कारः। वंशस्थं वृत्तम् ॥२५॥

यथैवेति। यथा एव प्रथमे विकाशे विकासस्य आरम्भे पुष्पं कुसुमं तस्य मकरन्दमिति तावत् पातुं पानार्थं भ्रमराः समेत्य एकत्रीभूय पतन्ति एवम् अनेन प्रकारेणैव विपत्तिकाले मनुष्यस्य छिद्रेषु दोषस्थलेषु सत्सु अनर्थाः अनिष्टार्थाः बहुलीभवन्ति एकत्र जायन्ते। उपजातिः वृत्तम् ॥२६॥

अधिकरणिकः—आर्य चारुदत्त, सत्यमभिधीयताम् ।

चारुदत्तः—

दुष्टात्मा परगुणमत्सरी मनुष्यो
रागान्धः परमिह हन्तुकामबुद्धिः ।
किं यो यद्वदति मृषैव जातिदोषा-
त्तद्ग्राह्यं भवति न तद्विचारणीयम् ॥२७॥

अपि च,

योऽहं लतां कुसुमितामपि पुष्पहेतो-
राकृष्य नैव कुसुमावचयं करोमि ।
सोऽहं कथं भ्रमरपक्षरुचौ सुदीर्घे
केशे प्रगृह्य रुदतीं प्रमदां निहन्मि ॥२८॥

शकारः—हंहो अधिअलणभोइआ, किं तुम्हे पक्खवादेण ववहालं पेक्खध, जेण अज्ज वि एशे हदाशचालुदत्ते आशणे धालीअदि । [हंहो अधिकरणभोजकाः, किं यूयं पक्षपातेन व्यवहारं पश्यत येनाद्याप्येष हताशचारुदत्त आसने धार्यते ।]

अधिकरणिकः—भद्र शोधनक एवं क्रियताम् ।

(शोधनकस्तथा करोति)

चारुदत्तः—विचार्यतां भो अधिकृताः, विचार्यताम् । (इत्यासनादवतीर्य भूमावुपविशति)

शकारः—(स्वगतम् । सहर्षं नर्तित्वा) ही, अणेण मए कडे पावे अण्णश्श मश्तके निवडिदे । ता जहिं चालुदत्ताके उवविशदि तहिं हग्गे उवविशामि । (तथा कृत्वा) चालुदत्ता, पेक्ख पेक्ख मम् । ता भण भण मए मालिदे त्ति । [हि, अनेन मया कृतं पापमन्यस्य मस्तके निपतितम् । तद्यत्र चारुदत्त उपविशति तत्राहमुपविशामि । चारुदत्त पश्य पश्य माम् । तद्भण भण मया मारितेति ।]

चारुदत्तः—भो अधिकृताः, ('दुष्टात्मा'—९।२७ इत्यादि पूर्वोक्तं पठति) सनिश्वास स्वगतम्)

मैत्रेय भोः किमिदमद्य ममोपघातो
हा ब्राह्मणि द्विजकुले विमले प्रसूता ।

चारुदत्तोऽधिकरणिक प्रतिवदति—दुष्टात्मेति । इह अधिकरणे संसारे वा दुष्टात्मा दुष्टः आत्मा बुद्धिः यस्य सः परगुणेषु मत्सरी मत्सरोऽस्यास्तीति ईर्ष्यालुः रागेणः अन्ध परम् अन्यजनं हन्तुकामा बुद्धि. यस्य तादृशः यः मनुष्यः जातिदोषात्

अधिकरणिक आर्य चारुदत्त, सत्य कहिये।

चारुदत्त—इस (न्यायालय या जगत्) में दुष्टात्मा, दूसरों के गुणों के प्रति ईर्ष्या करने वाला, राग से अन्धा, दूसरे को मारने की कामना वाला मनुष्य स्वाभाविक दोष से मिथ्या ही जो कुछ कहता है क्या वह स्वीकार योग्य होता है ? क्या वह विचारणीय नहीं होता ? ॥२७॥

और भी –

जो मैं पुष्पयुक्त लता को भी पुष्प लेने के लिये खींचकर पुष्पचयन नहीं करता, वह मैं (चारुदत्त) भ्रमर के पंखों के समान कान्ति वाले लम्बे केशों को पकड़कर रोती हुई रमणी को कैसे मारता ? ॥२८॥

शकार—हे न्यायाधिकारीगण, क्या तुम पक्षपात से विवाद का विचार करते हो, जो अब भी इस नीच चारुदत्त को इस आसन पर बैठा रक्खा है।

अधिकरणिक—भद्र शोधनक, ऐसा ही (जैसा शकार कहता है) कीजिए।

(शोधनक वैसा ही करता है)

चारुदत्त—विचार कीजिए, अधिकारीगण, विचार कीजिए।

(आसन से उतरकर भूमि पर बैठता है)

शकार—(अपने आप, हर्षपूर्वक नाचकर) अहा इस (चारुदत्त को आसन से उतारने) से मेरे द्वारा किया गया पाप दूसरे के माथे पड़ गया। तब जहाँ चारुदत्त बैठता वहाँ मैं बैठता हूँ। (वैसा करके) चारुदत्त, मुझे देख, देख। तो कह दे कह दे कि मैंने मारी है।

चारुदत्त—हे अधिकारीगण, ('दुष्टात्मा' ९। २७ इत्यादि पूर्वोक्त पढ़ता है) (लम्बी सांस लेकर अपने आप)–

हे मैत्रेय, यह क्या (हो रहा है)? आज मेरा विनाश (उपस्थित हो गया है) हाय ! ब्राह्मणि, तुम पवित्र ब्राह्मणवंश में उत्पन्न हुई हो (मेरी इस प्रकार की मृत्यु

स्वभावदोषात् मृषा मिथ्या एव यद् वदति किं तद् ग्राह्यं स्वीकार्यं भवति ? नैव भवतीति भावः। किं न तद् विचारणीयम् ? तद् विचारणीयमेवेति भावः। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥२७॥

योऽहमिति। यः अहं चारुदत्तः कुसुमितां कुसुमानि संजातानि अस्याः तां (तारकादित्वाद् इतच् प्रत्ययः) लताम् अपि पुष्पहेतोः पुष्पाणि ग्रहीतुं आकृष्य कुसुमानां अवचयं पुष्पचयनं न करोमि सः अहं भ्रमरस्य पक्षयोः इव रुचिः कान्तिः यस्य तस्मिन् कृष्णवर्णे सुदीर्घे केशे प्रगृह्य गृहीत्वा रुदतीं प्रमदां रमणीं कथं निहन्मि मारयामि। न कथमपि हन्तुं शक्नोमीति भावः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२८॥

स्वमित्रं भार्यां पुत्रं च स्मृत्वा चारुदत्तः सम्बोधयति—मैत्रेयेति। भो मैत्रेय, किम् इदं भवति ? अद्य मम उपघातः विनाशः उपस्थितः। हा इति खेदेऽव्ययम्। ब्राह्मणि, त्वं विमले पवित्रे 'द्विजकुले ब्राह्मणवंशे प्रसूता जातासि। "अतः तव

हा रोहसेन हि न पश्यसि मे विपत्तिं
मिथ्यैव नन्दसि परव्यसनेन नित्यम् ॥२६॥

प्रेषितश्च मया तद्वार्तान्वेषणाय मैत्रेयो वसन्तसेनासकाशं शकटिकानिमित्तं च तस्य प्रदत्तान्यलङ्करणानि प्रत्यर्पयितुम् । तत्कथं चिरयते ।

(ततः प्रविशति गृहीताभरणो विदूषकः)

विदूषकः—पेसिदोह्मि अज्जचारुदत्तेण वसन्तसेणासआसम्, तहिं अलंकरणाइ गेण्हिअ जधा 'अज्जमित्तेअ वसन्तसेणाए वच्छो रोहसेणो अत्तणो अलंकारेण अलंकरिअ जणणीसआसं पेसिदो । इमस्य आहरणं दादव्वम्, ण उण गेण्हिदव्वम् । ता समप्पेहि' त्ति । ता जाव वसन्तसेणासआसं ज्जेव गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च । आकाशे) कधं भावरेभिलो । भो भाव रेभिल, किंणिमित्तं तुमं उव्विग्गो उव्विग्गो विअ लक्खीअसि । (आकर्ण्य) किं भणासि—पिअवअस्सो चारुदत्तो अधिअरणमण्डवे सद्दाइदो' त्ति । ता ण हु अप्पेण कज्जेण होदव्वम् (विचिन्त्य) ता पच्छा वसन्तसेणासआसं गमिस्सम् । अधिअरणमण्डवं दाव गमिस्सम् । (परिक्रम्यावलोक्य च) इदं अधिअरणमण्डवम् । ता जाव पविसामि । (प्रविश्य) सुहं अधिअरणभोइअणम् । कहिं मम पिअवअस्सो । [प्रेषितोस्म्यार्यचारुदत्तेन वसन्तसेनासकाशम्, तत्रालङ्करणानि गृहीत्वा, यथा—'आर्यमैत्रेय, वसन्तसेनया वत्सो रोहसेन आत्मनोलङ्कारेणालङ्कृत्य जननीसकाशं प्रेषितः । अस्या आभरणं दातव्यम्, न पुनर्ग्रहीतव्यम् । तत्समर्पय' इति । तद्यावद्वसन्तसेनासकाशमेव गच्छामि । कथं भावरेभिलः । भो भावरेभिल, किंनिमित्तं त्वमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे । किं भणसि—'प्रियवयस्यश्चारुदत्तोऽधिकरणमण्डप आहूतः' इति । तन्न खल्वल्पेन कार्येण भवितव्यम् । तत्पश्चाद्वसन्तसेनासकाशं गमिष्यामि । अधिकरणमण्डपं तावद्गमिष्यामि । अयमधिकरणमण्डपः । तद्यावत्प्रविशामि । सुखमधिकरणभोजकानाम् । कुत्र मम प्रियवयस्यः ।]

अधिकरणिकः—नन्वेष तिष्ठति ।

विदूषकः—वअस्स, सोत्थि दे । [वयस्य, स्वस्ति ते ।]

चारुदत्तः—भविष्यति ।

विदूषकः—अवि क्खेमं दे ? [अपि क्षेमं ते ?]

चारुदत्तः—एतदपि भविष्यति ।

विदूषकः—भो वअस्स, किंणिमित्तं उव्विग्गो उव्विग्गो विअ लक्खीअसि कुदो वा सद्दाइदो ? [भो वयस्य, किंनिमित्तमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे । कुतो वाहूतः ?]

चारुदत्तः—वयस्य,

तुम्हारे लिये अनुचित है)। हाय ! पुत्र रोहसेन, तू भी मेरी विपत्ति को नही जानता है। सदा बालसुलभ क्रीडा से (परव्यसनेन) आनन्दित होता है, किन्तु यह व्यर्थ ही है !।२६।।

और मैंने उस (वसन्तसेना) का समाचार जानने के लिये तथा उस (रोहसेन) की (स्वर्ण की) गाड़ी (बनाने) के निमित्त (वसन्तसेना द्वारा) दिये गये अलङ्कारों को लौटाने के लिये वसन्तसेना के पास मैत्रेय को भेजा है। किन्तु वह क्यों देर कर रहा है ?

(तब आभूषण लिये हुए विदूषक प्रविष्ट होता है)

विदूषक—मुझे आर्य चारुदत्त के द्वारा आभूषणों को लेकर वहाँ (वसन्तसेना के घर) वसन्तसेना के पास भेजा गया है (और कहा गया है—) 'आर्य मैत्रेय, वसन्तसेना ने वत्स रोहसेन को अपने आभूषणों से अलङ्कृत करके (उसकी) माता के पास भेजा है। इस (वसन्तसेना) के आभूषण दे देने चाहियें, लेने नहीं चाहियें, अतः लौटा दो।' इसलिये अब मैं वसन्तसेना के पास जाता हूँ। (चलकर और देखकर आकाश की ओर···) क्या भाव रेभिल है ? किसलिये तुम उद्विग्न से दिखलाई दे रहे हो ? (सुनकर) क्या कहते हो ? प्रिय मित्र चारुदत्त न्यायालय में बुलाया गया है।' तो कोई साधारण (छोटा) कार्य न होना चाहिए। (सोचकर) तब वसन्तसेना के पास पीछे जाऊँगा, पहले न्यायालय में जाऊँगा (चलकर और देखकर) यह न्यायालय है तो तब तक प्रवेश करता हूँ (प्रवेश करके) न्यायाधिकारी जनों का कल्याण हो। मेरा प्रिय मित्र कहाँ है ?

अधिकरणिक—यह बैठा है।

विदूषक—मित्र, तुम्हारा कल्याण हो।

चारुदत्त—होगा।

विदूषक—तुम्हारी कुशल तो है ?

चारुदत्त—यह भी होगी।

विदूषक—हे मित्र, उद्विग्न-उद्विग्न से क्यों दिखलाई दे रहे हो और यहाँ क्यों बुलाये गये हो ?

चारुदत्त—मित्र,

पत्युरीदृशो विनाशस्तेऽनुचितः इति भावः'—इति कालेमहोदयः। हा ! रोहसेन, मे मम विपत्तिं हि न पश्यसि, नित्यं सदा परव्यसनेन केवलेन बालसुलभक्रीडनेन (परं दूरम् अज्ञातम् इति यावत् च तद् व्यसनं च तेन-इति काले)। नन्दसि आनन्दमनुभवसि किन्तु मिथ्या व्यर्थम् एव तत्। वसन्ततिलका वृत्तम् ।।२६।।

मया खलु नृशंसेन परलोकमजानता ।
स्त्री रतिर्वाविशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति ॥३०॥

विदूषकः—किं किम । [किं किम् ।]

चारुदत्तः—(कर्णे) एवमेवम् ।

विदूषकः—को एव्वं भणादि । [क एवं भणति ।]

चारुदत्तः—(संज्ञया शकारं दर्शयति) नन्वेष तपस्वी हेतुभूतः कृतान्तो मां व्याहरति ।

विदूषकः—(जनान्तिकम्) एव्वं कीस ण भणीअदि गेहं गदेत्ति । [एवं किमर्थं न भण्यते, गृहं गतेति ।]

चारुदत्तः—उच्यमानमप्यवस्थादोषान्न गृह्यते ।

विदूषकः—भो भो अज्जा, जेण दाव पुरट्ठावणविहारारामदेउलतडागकूवजूवेहिं अलंकिदा णअरी उज्जइणी, सो अणीसो अत्थकल्लवत्तकारणादो एरिसं अकज्जं अणुचिट्ठदित्ति ? (सक्रोधम्) अरे रे काणेलीसुदा राअस्सालसंठाणआ उस्सुङ्खलआ किदजणदोसभण्डआ बहुसुवण्णमण्डिदमक्कडआ, भण भण मम अग्गदो, जो दाणिं मम पिअवअस्सो कुसुमिदं माधवीलदं पि आकिट्टिअ कुसुमावचअं ण करेदि कदा वि आकड्ढिदाए पल्लवच्छेदो भोदि त्ति, सो कधं एरिसं अकज्जं उहअलोअविरुद्धं करेदि । चिट्ठ रे कुट्टणिपुत्ता चिट्ठ । जाव एदिणा तव हिअअकुडिलेण दण्डअट्ठेण मत्थअं दे सदखण्डं करेमि । [भो भो आर्याः, येन तावत्पुरस्थापनविहारारामदेवालयतडागकूपयूपैरलङ्कृता नगर्युज्जयिनी, सोऽनीशोऽर्थकल्यवर्तकारणादीदृशमकार्यमनुतिष्ठतीति । अरे रे कुलटापुत्र राजश्यालसंस्थानक, उच्छृङ्खलक, कृतजनदोषभण्ड, बहुसुवर्णमण्डितमर्कटक, भण भण ममाग्रतः, य इदानीं मम प्रियवयस्यः कुसुमितां माधवीलतामप्याकृष्य कुसुमावचयं न करोति कदाचिदाकृष्टतया पल्लवच्छेदो भवतीति, स कथमीदृशमकार्यमुभयलोकविरुद्धं करोति । तिष्ठ रे कुट्टिनीपुत्र, तिष्ठ । यावदेतेन तव हृदयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन मस्तकं ते शतखण्डं करोमि ।]

तद्वार्तायाः तस्याः वसन्तसेनायाः वृत्तान्तस्य अन्वेषणाय । तस्य रोहसेनस्य शकटिकानिमित्तं स्वर्णशकटिकानिर्माणार्थम् । चिरयते विलम्बं करोति । आकाशे आकाशाभिमुखम इत्यर्थः, इदं च आकाशभाषितं नाम संवादभेदः । मयेति परलोकम् अजानता परलोकानभिज्ञेन नृशंसेन क्रूरेण मया चारुदत्तेन खलु स्त्री

परलोक को न जानने वाले तथा क्रूर मैंने एक स्त्री अथवा (कहिए कि) बिना किसी भेद के (स्वयं) रति ही··· ···शेष (अर्थात् मार दी) यह (शकार) कहेगा ॥३०॥

विदूषक—क्या-क्या ?

चारुदत्त—(कान में) इस प्रकार, इस प्रकार।

विदूषक—कौन ऐसा कहता है ?

चारुदत्त—(संकेत से शकार को दिखलाता है) यह बेचारा निमित्तमात्र होने वाला, (वस्तुतः) यमराज ही मुझे (इस प्रकार) कह रहा है।

विदूषक—(धीरे से) यह क्यों नहीं कहा गया कि घर गई है।

चारुदत्त—कहा गया भी अवस्था (दरिद्रावस्था) के दोष से नहीं माना गया।

विदूषक—हे आर्यजनो, जिसने उपनगर-निर्माण, बौद्ध-विहार, उपवन, मन्दिर, तालाब, कूप तथा यज्ञस्तम्भों के द्वारा उज्जैन नगर को अलङ्कृत किया है, वह निर्धन होकर कलेवा जैसे (तुच्छ) धन के निमित्त इस प्रकार का अकार्य करेगा ? (क्रोधपूर्वक) अरे कुलटा के पुत्र, राजा के साले, संस्थानक, उच्छृङ्खल, जनता का अपराध करने वाले भाण्ड, बहुत से सुवर्ण से आभूषित बन्दर, मेरे सामने कहो, कहो। इस समय जो मेरा प्रिय मित्र पुष्पयुक्त माधवीलता को भी खींचकर या झुका कर पुष्पचयन नहीं करता कि कभी (कहीं) झुकाने से इसके पत्ते न टूट जायें, वह इस प्रकार का, दोनों लोकों के विरुद्ध, दुष्कार्य कैसे करता ? ठहर रे, कुलटा के पुत्र ठहर। जब तक तेरे हृदय के समान कुटिल इस काष्ठ-दण्ड से तेरे मस्तक के सौ टुकड़े करता हूँ।

सामान्यस्त्री वा अथवा अविशेषेण भेदाभावेन रतिः साक्षाद् रतिः एव रतितुल्या नारीति भावः ···। शेषं 'हता' इति वाक्यशेषम् . एषः शकारः अभिधास्यति कथयिष्यति। अहंतु तद्वक्तुमपि न समर्थः इति भावः ॥३०॥

तपस्वी वराकः शोच्यो वा यतः कृतान्तस्य क्रूरकर्मणि हेतुभूतः। अयं तु निमित्तमात्रं संजातः वस्तुतः कृतान्तः एव कथयति इति भावः अवस्थायाः दारिद्र्यावस्थायाः दोषात्। गृह्यते स्वीक्रियते।

पुरस्थापनं पुरनिर्माणम्, उपनगरनिर्माणमिति यावत्। विहारः बौद्धविहारः आरामः उपवनम्। यूपः यज्ञस्तम्भः। अनीशः ऐश्वर्यरहितः निर्धनः सन् इति भावः। उच्छृङ्खलकः स्वैरः। कृताः जनानां दोषाः येन सः, कृतजनदोषः चासौ भण्डश्च। बहुभिः सुवर्णैः मण्डितः भूषितः मर्कटकः वानरः (इमे च सम्बुद्धि-प्रयोगाः) आकृष्टतया आकर्षणात्। कुट्टिनी प्रसती। हृदयवत् कुटिलेन वक्रेण।

शकारः—(सक्रोधम्) शुणन्तु शुणन्तु अज्जमिश्शा । चालुदत्तकेण शह मम यिवादे ववहाले वा । ता कीश एशे काकपदशीशमश्तके मए शिले शदखण्डे कलेदि। मा दाव । ले दाशीएपुत्ता, दुट्ठबडुका । [शृण्वन्तु शृण्वन्त्वार्यमिश्राः । चारुदत्तेन सह मम विवादो व्यवहारो वा । तत्किमर्थमेष काकपदशीर्षमस्तको मम शिरः शतखण्डं करोति । मा तावत् । रे दास्याः पुत्र दुष्टवटुक ।]

(विदूषको दण्डकाष्ठमुद्यम्य पूर्वोक्तं पठति । शकारः सक्रोधमुत्थाय ताडयति। विदूषकः प्रतीपं ताडयन्ती । अन्योऽन्यं ताडयतः । विदूषकस्य कक्षदेशादाभरणानि पतन्ति)

शकारः—(तानि गृहीत्वा दृष्ट्वा ससाध्वसम्) पेक्खन्तु पेक्खन्तु अज्जा । एदे क्खु ताए तवश्शिणीए केलका अलंकाला । (चारुदत्तमुद्दिश्य) एमश्श अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो एश्श मालिदा वावादिदा अ। [पश्यन्तु पश्यन्त्वार्याः । एते खलु तस्यास्तपस्विन्या अलङ्काराः । अस्यार्थकल्यवर्तस्य कारणादेषा मारिता व्यापादिता च ।]

(अधिकृताः सर्वेऽधोमुखाः स्थिताः)

चारुदत्तः—(जनान्तिकम्) ।

अयमेवंविधे काले दृष्टो भूषणविस्तरः ।
अस्माकं भाग्यवैषम्यात्पतितः पातयिष्यति ॥३१॥

विदूषकः—भो, कीस भूदत्थं ण णिवेदीअदि । [भोः, किमर्थं भूतार्थो न निवेद्यते ।]

चारुदत्तः—वयस्य,

दुर्बलं नृपतेश्चक्षुर्नैतत्तत्त्वं निरीक्षते ।
केवलं वदतो दैन्यमश्लाघ्यं मरणं भवेत् ॥३२॥

अधिकरणिकः कष्टं भोः कष्टम् ।

अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः ।

अयमिति । एवं विधे काले अपराधनिर्णयस्य समये अस्माकं भाग्यवैषम्यात् भाग्यस्य वैपरीत्यात् पतितः दृष्टः च अयं भूषणविस्तरः अलङ्कारसमूहः मां पातयिष्यति विपत्तौ पातयिष्यति । 'भाग्यवैषम्यापतितः इति पाठान्तरम्, भाग्यवैषम्याद् आपतितः इत्यर्थः ॥३१॥

भूतः युक्तः सत्यो वा अर्थः भूतार्थः ।

दुर्बलमिति । नृपतेः राज्ञः तत्प्रतिनिधेः न्यायाधीशस्य वा चक्षुः नेत्रं दुर्बलं

शकार—(क्रोधपूर्वक) मान्यगण, सुनिये सुनिये। चारुदत्त के साथ मेरा विवाद या व्यवहार है। तब क्यों यह काकपद के समान सिर-माथे वाला मेरे सिर के सौ टुकड़े करता है। ऐसा नहीं, ठहर अरे दासी के पुत्र दुष्ट ब्राह्मण।

(विदूषक काष्ठ-दण्ड को उठाकर पूर्वोक्त पढ़ता है। शकार क्रोधपूर्वक उठकर मारता है। विदूषक उल्टा मारता है। एक दूसरे को मारते हैं। विदूषक की काँख से आभूषण गिरते हैं।)

शकार—(उन्हें लेकर, देखकर भय के साथ) आर्य, देखिये देखिये, अवश्य ही ये उस बेचारी के अलङ्कार हैं। (चारुदत्त को लक्ष्य करके) इस कलेवे जैसे (तुच्छ) धन के निमित्त यह (वसन्तसेना) मारी गई है, नष्ट की गई है।

(सब अधिकारी नीचा मुख करके बैठ जाते हैं)

चारुदत्त—(धीरे से विदूषक के प्रति) ऐसे समय हमारे भाग्य के दोष से गिरा हुआ तथा (अधिकारियों द्वारा) देखा गया यह आभूषणसमूह मुझे (विपत्ति में) गिरा देगा ॥३१॥

विदूषक—जी, यथार्थ बात क्यों नहीं कह दी जाती ?

चारुदत्त—मित्र,

राजा (या उसके प्रतिनिधि न्यायाधीश) की दृष्टि दुर्बल होती है। वह यथार्थ बात को नहीं देखती, अतः यथार्थ कहने वाले की केवल दीनता प्रकट होगी, निन्दनीय मृत्यु तो होगी ही ॥३२॥

अधिकरणिक—कष्ट है अरे कष्ट है—

मङ्गल ग्रह है विरुद्ध जिसके ऐसे दुर्बल बृहस्पति के समीप धूमकेतु के समान यह (अलङ्कारपतन रूपी) दूसरा ग्रह उपस्थित हुआ है। (जिस प्रकार मङ्गल ग्रह का विरोध, नीचे स्थान में स्थिति अर्थात् क्षीणता और समीप ही धूमकेतु का उदय,

---

यथार्थं द्रष्टुमसमर्थम्। एतत् चक्षुः तत्त्वं तथ्यभूतमर्थं न निरीक्षते पश्यति, किन्तु बहिः प्रमाणानि अन्वेषयतीत्यर्थः। अतः वदतः भूतार्थं कथयतः मम दैन्यम् एव केवलं प्रकाशितं स्यात्, अश्लाघ्यं गर्हितं मरणं च भवेत् ॥३२॥

अङ्गारकेति। अङ्गारकः मङ्गलग्रहः विरुद्धो यस्य तस्य प्रक्षीणस्य नीचस्थान-स्थिततया दुर्बलस्य बृहस्पतेः एतन्नामकग्रहस्य पार्श्वे समीपे धूमकेतुः इव अयम् अलङ्कारपतनरूपः अपरः ग्रहः उत्थितः उद्गतः। यथा मङ्गलग्रहस्य विरोधः

ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः ॥३३॥

श्रेष्ठिकायस्थौ—(विलोक्य वसन्तसेनामातरमुद्दिश्य) अवहिदा दाव अज्जा एदं सुवण्णभण्डअं अवलोएदु, सो ज्जेव एसो, ण वेत्ति। [अवहिता तावदार्येदं सुवर्णभाण्डमवलोकयतु तदेवेदं न वेति।]

वृद्धा—(अवलोक्य) सरिसो एसो, ण उण सो। [सदृशमेतत्, न पुनस्तत्।]

शकारः—आं बुड्ढकुट्टणि, अक्खीहिं मन्तिदं वाआए मूकिदम्। [आं वृद्धकुट्टनि, अक्षिभ्यां मन्त्रितं वाचा मूकितम्।]

वृद्धा—हदास, अवेहि। [हताश, अपेहि।]

श्रेष्ठि-कायस्थौ—अप्पमत्तं कधेहि, सो ज्जेव एसो ण वेत्ति। [अप्रमत्तं कथय, तदेवैतन्न वेति।]

वृद्धा—अज्ज, सिप्पिकुसलदाए ओबन्धेदि दिट्ठिम्। ण उण सो। [आर्य शिल्पिकुशलतयावबध्नाति दृष्टिम्। न पुनस्तत्।]

अधिकरणिकः—भद्रे, अपि जानास्येतान्याभरणानि ?

वृद्धा—णं भणामि, ण हु ण हु अणभिजाणिदो। अह वा कदावि सिप्पिणा गढिदो भवे। [ननु भणामि, न खलु न खल्वनभिज्ञातः। अथवा कदापि शिल्पिना घटितो भवेत्।]

अधिकरणिकः—पश्य श्रेष्ठिन्,

वस्त्वन्तराणि सदृशानि भवन्ति नूनं
रूपस्य भूषणगुणस्य च कृत्रिमस्य।
दृष्ट्वा क्रियामनुकरोति हि शिल्पिवर्गः
सादृश्यमेव कृतहस्ततया च दृष्टम् ॥३४॥

श्रेष्ठिकायस्थौ—अज्जचारुदत्तस्स केरकाइ एदाइं। [आर्यचारुदत्तीयान्येतानि।]

चारुदत्तः—न खलु न खलु।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ता कस्स। [तदा कस्य।]

नीचस्थानस्थितिः, पार्श्वे धूमकेतोरुदयश्च बृहस्पतेः पराभवाय कल्पन्ते तथैव शकारविरोधः, दरिद्रता, अलङ्कारपातश्च चारुदत्तस्य विनाशाय भविष्यन्ति इति भावः। अप्रस्तुतप्रशंसा उपमा च ॥३३॥

मन्त्रितं 'सदृशमेतद्' इति कथितम्। मूकितं 'न पुनस्तद्' इति गोपायितम्।

बृहस्पति के लिये अनिष्टकर होते हैं, इसी प्रकार शकार का विरोध, दरिद्रता और यह अलङ्कारपतन चारुदत्त के लिए अनिष्टकर हैं) ॥३३॥

श्रेष्ठीकायस्थ—(देखकर, वसन्तसेना की माता को लक्ष्य करके) सावधान होकर आप इस सुवर्णपात्र को तो देखिये, यह वही है या नहीं।

वृद्धा—(देखकर) उसके समान है यह, किन्तु वही नहीं।

शकार—अरी वृद्ध कुट्टनी, (तुम्हारी) आँखों ने कह दिया, वाणी चुप हो गई।

वृद्धा—हताश, दूर हटो।

श्रेष्ठी-कायस्थ—सावधानी से कहो, यह वही है या नहीं ?

वृद्धा—आर्य, शिल्पकार की कुशलता से यह (मेरी) दृष्टि को बाँध रहा है, किन्तु वह नहीं है।

अधिकरणिक—भद्रे, क्या इन आभूषणों को पहचानती हो ?

वृद्धा—कहती तो हूँ कि नहीं, यह अपरिचित नहीं है। अथवा सम्भवतः शिल्पकार ने (वैसा ही) बना दिया हो।

अधिकरणिक—सेठ जी देखो—

निश्चय ही कृत्रिम आकार (बनावट) तथा आभूषणों में सौन्दर्य आदि गुणों में अन्य वस्तुयें समान होती हैं क्योंकि शिल्पकार जन (किसी वस्तु को) देखकर उसकी रचना का अनुकरण करता है और (शिल्पकार के) हस्तकौशल के कारण ही (दो वस्तुओं में) सादृश्य देखा गया है ॥३४॥

श्रेष्ठीकायस्थ—ये (आभूषण) आर्य चारुदत्त के हैं !

चारुदत्त—नहीं, निश्चित रूप से नहीं।

श्रेष्ठी-कायस्थ—तब किसके हैं ?

सदृशान्येतानि आभूषणानि न पुनस्तान्येवेति वसन्तसेनामातुर्वचनं निशम्य अधिकरणिकः समर्थयति—वस्त्वन्तराणीति। कृत्रिमस्य रूपस्य भूषणगुणस्य च सदृशानि वस्त्वन्तराणि भवन्ति नूनम्। शिल्पिवर्गः हि दृष्ट्वा क्रियाम् अनुकरोति कृतहस्ततया एव च सादृश्यं दृष्टम्। इत्यन्वयः।

कृत्रिमस्य कार्येण निवृत्तस्य रचितस्य इति यावत् रूपस्य भूषणगुणस्य अलङ्काराणां सौन्दर्यादेः च सदृशानि वस्त्वन्तराणि अन्यानि वस्तूनि भवन्ति नूनं निश्चयेन। हि यतः शिल्पिवर्गः शिल्पकारगणः दृष्ट्वा अन्यनिर्मितं वस्तु दृष्ट्वा क्रियां तस्य कृतिम् अनुकरोति शिल्पिवर्गस्य कृतहस्ततया हस्तकौशलेन एव च वस्तुनोः सादृश्यं दृष्टम् अस्माभिः दृश्यते। काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥३४॥

चारुदत्तः—इहात्रभवत्या दुहितुः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—कधं एदाइं ताए विश्रोश्रं गदाइं । [कथमेतानि तस्या वियोगं गतानि ।]

चारुदत्त—एवं गतानि । श्रां इदम् ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—श्रज्जचारुदत्त, एत्थं सच्चं वत्तव्वम् । पेक्ख पेक्ख ।

सच्चेण सुहं क्खु लब्भइ सच्चालावे ण होइ पावम् ।
सच्चं त्ति दुवेवि श्रक्खरा मा सच्चं श्रलिएण गूहेहि ॥३५॥

[श्रार्यचारुदत्त, श्रत्र सत्यं वक्तव्यम् । पश्य पश्य ।
सत्येन सुखं खलु लभ्यते सत्यालापे न भवति पातकम् ।
सत्यमिति द्वे श्रप्यक्षरे मां सत्यमलीकेन गूहय ॥]

चारुदत्तः—श्राभरणान्याभरणनीति । न जाने, किंत्वस्मद्गृहादानीतानीति जाने ।

शकारः—उज्जाणं पवेशिश्र पढमं मालेशि । कवडकावडिश्राए शंपदं णिगूहेशि । [उद्यानं प्रवेश्य प्रथमं मारयसि । कपटकापटिकतया सांप्रतं निगूहसि ।]

श्रधिकरणिकः—श्रार्यचारुदत्त, सत्यमभिधीयताम् ।

इदानीं सुकुमारेऽस्मिन्निःशङ्कं कर्कशाः कशाः ।
तव गात्रे पतिष्यन्ति सहास्माकं मनोरथैः ॥३६॥

चारुदत्तः—

श्रपापानां कुले जाते मयि पापं न विद्यते ।
यदि संभाव्यते पापमपापेन च किं मया ॥३७॥

(स्वगतम्) न च वसन्तसेनाविरहितस्य जीवितेन कृत्यम् । (प्रकाशम्) भोः किं बहुना ।

मया किल नृशंसेन लोकद्वयमजानता ।
स्त्रीरत्नं च विशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति ॥३८॥

सत्येनेति । सत्येन सत्यकथनेन खलु निश्चयेन सुखं लभ्यते । सत्यालापे सत्यकथने पातकं पापं न भवति । 'सत्यम्' इति द्वे श्रपि श्रक्षरे वर्णौ नष्टे न भवतः इति व्यज्यते; न क्षरति इत्यक्षरमिति व्युत्पत्तिलभ्योऽयमर्थः । श्रतः सत्यम् श्रलीकेन श्रसत्यकथनेन मा न गूहय संवृणु । श्रत्र 'सत्यमालापयतीति क्विपि सत्यालापः । तत्र न भवति पातकम्" इति पृथ्वीधरः । वैतालीयं वृत्तम् ॥३५॥

चारुदत्त—इस आदरणीया की पुत्री के।

श्रेष्ठी-कायस्थ—ये उसके वियोग (पृथक्त्व) को कैसे प्राप्त हुए ?

चारुदत्त—इस प्रकार प्राप्त हुए। हाँ यह—

श्रेष्ठी कायस्थ—आर्य चारुदत्त, यहाँ सच कहना चाहिये। देखो, देखो,

निश्चय ही सत्य से सुख प्राप्त होता है। सत्य कहने पर पाप नहीं होता। 'सत्य' ये दो वर्ण (अक्षर) नष्ट न होने वाले (अक्षर) हैं। अतः सत्य को झूठ से न छिपाओ ॥३५॥

चारुदत्त—ये आभूषण (वे ही) आभूषण हैं—यह मैं नहीं जानता, किन्तु हमारे घर से लाये गये हैं, यह जानता हूँ।

शकार—पहले तो उद्यान में ले जाकर उसे मार दिया अब कपट द्वारा धूर्तता से छिपाता है।

अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त, सच बतलाइये—(अन्यथा)

इस समय तुम्हारे इस कोमल शरीर पर कठोर कोड़े, हमारे मनोरथों के साथ ही गिरने लगेंगे ॥३६॥

चारुदत्त—पाप-रहित जनों के कुल में उत्पन्न होने वाले मुझ में पाप नहीं है। यदि (तुम्हारे द्वारा) मुझ में पाप की शङ्का की जाती है तो मेरे पाप-रहित होने से भी क्या (लाभ) ? ॥३७॥

(अपने आप) और वसन्तसेना से रहित मेरे जीवन से कुछ प्रयोजन नहीं। (प्रकट रूप में) अरे, अधिक क्या ?

दोनों लोकों को न जानने वाले तथा क्रूर मैंने एक स्त्री और विशेष रूप से स्त्रीरत्न ही...शेष (अर्थात् 'मार दीं') यह (शकार) कहेगा ॥३८॥

कपटेन छलेन छलस्य वा कापटकिता धूर्तता।

इदानीमिति। इदानीं सुकुमारे कोमले अस्मिन् तव गात्रे शरीरे कर्कशा कठोराः कशाः अश्वताडन्यः अस्माकं मनोरथैः त्वद्रक्षणविषयकैः अभिलाषैः सह साकं निशङ्कं यथा स्यात् तथा पतिष्यन्ति। तव शरीरे कशाः पतिष्यन्ति तत्समकालमेव चास्माकं मनोरथाः नश्यन्तीति भावः। सहोक्तिः अलङ्कारः ॥३६॥

अपापानामिति। अपापानां पापरहितानां जनानां कुले जाते उत्पन्ने मयि चारुदत्ते पापं न विद्यते। यदि पापं सम्भाव्यते युष्माभिः शङ्क्यते तर्हि अपापेन पापरहितेन मया किम् ? न कोऽपि लाभः इति भावः। यतो हि भवन्त एव निर्णये प्रमाणम् ॥३७॥

मयेति। स्त्री एव रत्नं। पूर्वं (६—३०) व्याख्यातम् ॥३८॥

शकारः—वावादिश्रा । श्रले, तुमं पि भण मए वावादिदेत्ति । [व्यापादिता । अरे, त्वमपि भण, मया व्यापादितेति ।]

चारुदत्तः—त्वयैवोक्तम् ।

शकारः—शुरोध भट्टारका, एदेरा मालिदा । एदेरा ज्जेव शंशए छिण्णे । एदश्श दलिद्दचालुदत्तश्श शालीले दण्डे धालीअदु । [शृणुत शृणुत भट्टारकाः, एतेन मारिता । एतेनैव संशयच्छिन्नः । एतस्य दरिद्रचारुदत्तस्य शारीरो दण्डो धार्यताम् ।]

अधिकरणिकः—शोधनक, यथाह राष्ट्रियः । भो राजपुरुषाः गृह्यतामयं चारुदत्तः ।

(राजपुरुषा गृह्णन्ति)

वृद्धा—पसीदन्तु पसीदन्तु अज्जमिस्सा । (जो दाव चोरेहिं अवहिदस्स—' (२१५ पृष्ठे) इत्यादि पूर्वोक्तं पठति) ता जदि वावादिदा मम दारिआ, वावादिदा । जीवदु मे दीहाऊ । अण्णं च । अत्थिपच्चत्थिण्ण व्वावहारो । रणहं अत्थिणी । ता मुञ्चध एदम् । [प्रसीदन्तु प्रसीदन्त्वार्यमिश्राः तद्यदि व्यापादिता मम दारिका, व्यापादिता । जीवतु मे दीर्घायुः । अन्यच्च । अर्थिप्रत्यर्थिनोर्व्यवहारः । अहमर्थिनी । तन्मुञ्चतैनम् ।]

शकारः—अवेहि गब्मदाशि गच्छ । किं तव एदिणा । [अपेहि गर्भदासि, गच्छ । किं तवैतेन ।]

अधिकरणिकः—आर्ये गम्यताम् । हे राजपुरुषाः, निष्क्रामयतैनाम् ।

वृद्धा—हा जाद, हा पुत्तअ । [हा जात ! हा पुत्रक !] (इति रुदती निष्क्रान्ता)

शकारः—(स्वगतम्) कडं मए एदश्श अत्तणो शलिशम् । शंपदं गच्छामि । [कृतं मयैतस्यात्मनः सदृशम् । सांप्रतं गच्छामि ।] (इति निष्क्रान्तः)

अधिकरणिकः—आर्यचारुदत्त, निर्णये वयं प्रमाणम्, शेषे तु राजा । तथापि शोधनक, विज्ञाप्यतां राजा पालकः ।

'अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत् ।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ॥३९॥

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य । सास्रम्) अज्जा गदह्मि तहिं । राजा पालओ भणादि—'जेण अत्थकल्लवत्तस्स कालणा दो वसन्तसेणा वावादिदा, तं ताइं ज्जेव आहरणाइं गले बन्धिअ डिण्डिमं ताडिअ दक्खिणमसाणं णदुअ सूले भञ्जेध' त्ति । जो को वि अवरो एरिसं अकज्जं अणुचिट्ठदि सो एदिणा सणिआरदण्डेण सासीअदि । यथार्य आज्ञापयति, आर्याः,

शकार— मार दी। अरे तू भी कह, कि "मैंने मारी।"

चारुदत्त—तूने ही कह दिया।

शकार—सुनिये, अधिकारीगण सुनिये। इसने मारी। इसने ही संशय दूर (नष्ट) कर दिया। अतः इस दरिद्र चारुदत्त के लिये शारीरिक दण्ड निर्धारित किया जाये।

अधिकरणिक—शोधनक, जैसा राजश्यालक ने कहा (वैसा किया जाये)। हे राजपुरुषो, इस चारुदत्त को पकड़ लिया जाये।

(राजपुरुष पकड़ते हैं)

वृद्धा—आर्य जन, कृपा कीजिये, कृपा कीजिये ('यः तावत् चोरैः अपहृतस्य' इत्यादि पूर्वोक्त पृ० २१५ पढ़ती है) तब यदि मेरी पुत्री मारी गई, तो मारी गई। मेरा यह दीर्घायु (चारुदत्त) जीवित रहे। इसके अतिरिक्त वादी और प्रतिवादी का व्यवहार है। मैं वादिनी हूँ। अतः इसको छोड़ दो।

शकार—दूर हट गर्भदासी, जा, तेरा इससे क्या (प्रयोजन)?

अधिकरणिक—आर्ये, जाइये। हे राजपुरुषो, इसे, निकालो।

वृद्धा—हाय वत्स! हाय पुत्र! (रोती हुई निकल जाती है)।

शकार—(अपने आप) मैंने इसके प्रति अपने अनुरूप (कार्य) कर दिया। इस समय जाता हूँ। (निकल जाता है)।

अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त, निर्णय करने में हम प्रमाण (अधिकारी) हैं किन्तु शेष कार्य करने में राजा (प्रमाण है)। तथापि हे शोधनक, राजा पालक को यह सूचित किया जाये—

मनु ने बतलाया है कि यह ब्राह्मण पापी होकर भी वध के योग्य नहीं है, किन्तु क्षतिरहित सम्पत्ति के साथ इसे इस राष्ट्र से निकाल देना चाहिए ॥३९॥

शोधनक—जो आर्य आज्ञा करें। (निकलकर तथा पुनः प्रवेश करके अश्रु-पूर्वक) आर्यगण मैं वहाँ गया। राजा पालक कहते हैं—जिसने कलेवा जैसे (तुच्छ)

संशयः अनेन मारिता न वेति सन्देहः छिन्नः नाशितः, दूरीकृतः। आत्मनः सदृशम् अनुरूपं, योग्यम्, स्वशक्तेः अनुरूपमिति भावः।

अयमिति। अयं विप्रः पातकी निर्णीतदोषः हि तथापि न वध्यः न वधार्हः यतः इत्थमेव मनुः अब्रवीत् यथा 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्। राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥ तु किन्तु अक्षतैः क्षतिरहितैः विभवैः सम्पद्भिः सह अस्मात् राष्ट्रात् निर्वास्यः निःसारणीयः ॥३९॥

डिण्डिमः वाद्यविशेषः (ढोल इति भाषायाम्) यः घोषणावसरे ताड्यते।

गतोऽस्मि तत्र। राजा पालको भणति—'येनार्थकल्यवर्तस्य कारणाद्वसन्तसेना व्यापादिता, तं तान्येवाभरणानि गले बद्ध्वा डिण्डिमं ताडयित्वा दक्षिण-श्मशानं नीत्वा शूले भङ्क्त' इति। यः कोऽप्यपर ईदृशमकार्यमनुतिष्ठति स एतेन सनिकारदण्डेन शास्यते।]

चारुदत्तः—अहो, अविमृश्यकारी राजा पालकः। अथवा—

ईदृशे व्यवहाराग्नौ मन्त्रिभिः परिपातिताः।
स्थाने खलु महीपाला गच्छन्ति कृपणां दशाम् ॥४०॥

अपि च

ईदृशैः श्वेतकाकीयै राज्ञः शासनदूषकैः।
अपापानां सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च ॥४१॥

सखे मैत्रेय, गच्छ। मद्वचनादम्बामपश्चिममभिवादयस्व। पुत्रं च रोहसेनं परिपालयस्व।

विदूषकः—मूले छिण्णे कुदो पादवस्स पालणम्। [मूले छिन्ने कुतः पादपस्य पालनम्।]

चारुदत्तः—मा मैवम्।

नृणां लोकान्तरस्थानां देहप्रतिकृतिः सुतः।
मयि यो वै तव स्नेहो रोहसेने स युज्यताम् ॥४२॥

विदूषकः—भो वअस्स अहं ते पिअवअस्सो भविअ तुए विरहिदाइं पाणाइं धारेमि? [भो वयस्य, अहं ते प्रियवयस्यो भूत्वा त्वया विरहितान्प्राणान्धारयामि?]

चारुदत्तः—रोहसेनमपि तावद्दर्शय।

विदूषकः—एव्वम् जुज्जदि। [एवम्। युज्यते।]

अधिकरणिकः—भद्र शोधनक, अपसार्यतामयं बटुः।

(शोधनकस्तथा करोति)

अधिकरणिकः—कः कोऽत्र भोः। चाण्डलानां दीयतामादेशः।

(इति चारुदत्तं विसृज्य निष्क्रान्ताः सर्वे राजपुरुषाः)

शोधनकः—इदो आअच्छदु अज्जो। [इत आगच्छत्वार्यः।]

निकारेण तिरस्कारेण सहितः सनिकारः यो दण्ड तेन।

ईदृश इति। ईदृशे व्यवहारः एव अग्निः तस्मिन् विवादविचाररूपाग्नौ इति यावत् मन्त्रिभिः परिपातिताः महीपालाः कृपणां कातरां शोचनीयां वा दशां गच्छन्ति इति स्थाने खलु युक्तम् एव ॥४०॥

धन के निमित्त वसन्तसेना को मार दिया, उसको—वे ही आभूषण गले में बांधकर, ढिंढोरा पीटकर, दक्षिण श्मशान में ले जाकर—शूली पर चढ़ा दो। जो कोई दूसरा ऐसा बुरा कार्य करेगा वह इस अपमान सहित दण्ड से शासित होगा।

चारुदत्त—अरे, राजा पालक बिना विचारे कार्य करने वाला है। अथवा—

इस प्रकार की व्यवहाररूपी अग्नि में मन्त्रियों के द्वारा डाले गये भूमिपाल शोचनीय दशा को प्राप्त होते हैं, यह युक्त ही है ॥४०॥

और भी—

'काक श्वेत है' इस प्रकार का विश्वास कर लेने वाले, राजा के शासन को दूषित करने वाले ऐसे (न्यायाधीशों) के द्वारा सहस्रों निरपराध (व्यक्ति) मारे गये हैं तथा मारे जा रहे हैं ॥४१॥

मित्र मैत्रेय, जाओ। मेरे वचन (मेरी ओर) से माता को अन्तिम अभिवादन करो और मेरे पुत्र रोहसेन का पालन करना।

विदूषक—जड़ कट जाने पर वृक्ष का पालन कैसे ?

चारुदत्त—नहीं, ऐसा नहीं।

परलोक में गये हुए जनों का पुत्र अपना प्रतिनिधि होता है। अत. तुम्हारा मुझ पर जो स्नेह है, रोहसेन में लगा दिया जाये ॥४२॥

विदूषक—हे मित्र, तुम्हारा प्रिय मित्र होकर मैं, तुमसे वियुक्त प्राणों को धारण कर सकूंगा ?

चारुदत्त—तनिक, रोहसेन को भी दिखला (मिला) दो।

विदूषक—अच्छा, ठीक है।

अधिकरणिक—भद्र शोधनक, इस व्यक्ति (?) को हटा दो।

(शोधनक वैसा करता है)

अधिकरणिक—कौन ? अरे यहाँ कौन है ? चाण्डालों को आदेश दिया जाये।

(चारुदत्त को छोड़कर सब राजपुरुष निकल जाते हैं)

शोधनक—आर्य इधर आइये।

ईदृशैरिति। ईदृशैः श्वेतकाकः इव इति श्वेतकाकीयैः 'समासाच्च तद्विषयात्' इति छप्रत्ययः, 'श्वेतः काकः' इत्येवं विपरीतार्थदर्शिभिः "उत्पातकल्पैरित्यर्थः" इति पृथ्वीधरः। राज्ञः शासनदूषकैः न्यायाधिकारिभिः अपापानां पापरहितानां सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च ॥४१॥

नास्ति पश्चिमं पश्चाद्भवं यस्य तत् तथा।

नृणामिति। लोकान्तरस्थानां परलोकं गतानां नृणां सुतः पुत्रः देहप्रतिकृतिः आत्मनः शरीरस्य प्रतिनिधिः "आत्मा वै जायते पुत्रः" इत्युक्तेः। तव मैत्रेयस्य मयि चारुदत्ते यः स्नेहः सः वै निश्चयेन रोहसेने युज्यताम् ॥४२॥

चारुदत्तः—(सकरुणम्) 'मैत्रेय भोः किमिवमद्य' (९।२९) इत्यादि पठति। (आकाशे)।

विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते मे विचारे
क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दातव्यमद्य।
अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मणं मां निहंसि
पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः ॥४३॥

अयमागतोऽस्मि।

(इति निष्क्रान्ताः नाम सर्वे)

इति व्यवहारो नाम नवमोऽङ्कः।

भावि मरणं निश्चित्य चारुदत्तः पालकं नृपमुद्दिश्य आकाशे कथयति-विषेति। विषं विषपानं सलिलं जले मज्जनं तुला तुलारोहणम् अग्निः अग्निवारणम् इत्येवंविधाभिः परीक्षाभिः प्रार्थिते परीक्षितुम् अभीष्टे मे मम विचारे व्यवहारे सति अद्य इह अस्मिन् मम शरीरे क्रकचं करपत्रम् ('आरा') वीक्ष्य विचार्य दातव्यम् अथवा यदि विचारनिरपेक्षं रिपुवचनाद् शकारस्य कथनात् मां ब्राह्मणं निहंसि मारयसि ततः पुत्रपौत्रैः समेतः सहितः नरकमध्ये पतसि पतिष्यसि। तथा चोक्तं मनुना—

चारुदत्त—(करुणापूर्वक) मैत्रेय भोः 'किमिदमद्य' ६।२९ इत्यादि पढ़ता है। (आकाश में)

मेरे व्यवहार-विचार में विष, जल, तुला तथा अग्नि (की दिव्य परीक्षा) अभीष्ट है, अतः आज इस मेरे शरीर में विचार करके ही 'आरा' देना चाहिये। किन्तु यदि शत्रु (शकार) के वचन से ही (हे राजन्) तू मुझ ब्राह्मण को मारता है तो पुत्र तथा पौत्रों के साथ तू नरक में गिरेगा ॥४३॥

यह मैं आ गया हूँ।

(सब निकल जाते हैं)

व्यवहार नामक नवम अङ्क समाप्त

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा, दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।

अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥

व्यवहार :—विवादः अत्र हि शकारचारुदत्तयोः व्यवहारः तन्नामकः अङ्कः।

व्यवहारस्वरूपं चोक्तं मिताक्षरायाम्—

परस्परं मनुष्याणां स्वार्थविप्रतिपत्तिषु।

वाक्यान्न्याय्याद्व्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः ॥

इति व्यवहारो नाम नवमोऽङ्कः

दशमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चाण्डालद्वयेनानुगम्यमानश्चारुदत्तः)

उभौ—

तक्कि ण कलअ कालणं णववहवन्धणअणे णिउणा ।
अचिलेण शीशछेअणशूलालीवेशु कुशलह्म ॥१॥

ओशलध अज्जा, ओशलध । एशे अज्जचालुदत्ते ।

दिण्णकलवीलदामे गहिदे अम्हेहिं वज्झपुलसेहिं ।
दीवे व्व मन्दहेणे थोअं थोअं खअं जादि ॥२॥
[तत्किं न कलय कारणं नववधबन्धनयने निपुणौ ।
अचिरेण शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु कुशलौ स्वः ॥
अपसरतार्याः अपसरत । एष आर्यचारुदत्तः
दत्तकरवीरदामा गृहीत आवाभ्यां वध्यपुरुषाभ्याम् ।
दीप इव मन्दस्नेहः स्तोकं स्तोकं क्षयं याति ॥]

चारुदत्तः—(सविषादम्)

नयनसलिलसिक्तं पांशुरुक्षीकृताङ्गं
पितृवनसुमनोभिर्वेष्टितं मे शरीरम् ।
विरसमिह रटन्तो रक्तगन्धानुलिप्तं
वलिमिव परिभोक्तुं वायसास्तर्कयन्ति ॥३॥

चाण्डालौ—ओशलध अज्जा, ओशलध ।

किं पेक्खथ छिज्जन्तं शप्पुलिशं कालपलशुधालाहिं ।
शुअणशउणाधिवाशं शज्जणपुलिशद्दुमं एदम् ॥४॥

अस्मिन्नङ्के—चारुदत्तस्य वध्यभूमिं प्रति नयनम्, वसन्तसेनायाः संज्ञाप्राप्तिः, तथा चारुदत्तस्य मोक्षः, आर्यकस्य राज्यलाभः चारुदत्तस्य इष्टसिद्धिश्च वर्ण्यन्ते । चारुदत्तं वध्यभूमिं नयन्तौ चाण्डालौ चारुदत्तं प्रति कथयतः—तत्किमिति । तत् ततः किम् ? इति कारणं वधस्य निमित्तं न कलय तर्कय । नवौ नूतनौ यौ वधबन्धौ तयोः नयने प्रापणे निपुणौ तथा अचिरेण अविलम्बेन शीर्षच्छेदनानि शूलारोपाश्च तेषु कुशलौ आवां स्वः । गाथा वृत्तम् ।

दत्तेति । दत्तं कण्ठे क्षिप्तं करवीराणां 'कनियर' इति प्रसिद्धानां पुष्पवि-

दशम अङ्क

(इसके पश्चात् दो चाण्डालों द्वारा अनुगत चारुदत्त प्रवेश करता है)

दोनों (चाण्डाल)

तत्र क्या (कारण है) ? इस प्रकार वध के निमित्त को न विचारो । हम दोनों (प्रतिदिन के) नवीन वध और बन्धन के लिये ले जाने में निपुण हैं, अविलम्ब सिर काटने और शूली पर चढ़ाने में कुशल हैं ।१।।

हटो, आर्यजनो, हटो । यह आर्य चारुदत्त—

जिसे कनियर की माला पहनाई गई है, जो वध के लिए नियुक्त हम दोनों जनों के द्वारा पकड़ा गया है, ऐसा यह चारुदत्त स्वल्प तेल वाले दीपक के समान धीरे-धीरे विनाश को प्राप्त हो रहा है ।।२।।

चारुदत्त—(दुःख के साथ)

यहाँ कर्कश शब्द करते हुये ये कौए-अश्रुजल से भीगे हुये, धूलि से धूसरित अवयवों वाले, श्मशान के पुष्पो से ढके हुए तथा लाल चन्दन से लिप्त मेरे इस शरीर को वलि के समान खाने का विचार कर रहे हैं ।।३।।

दोनों चाण्डाल – हटो आर्यगण, हटो ।

साधुजन रूपी पक्षिगण के निवास स्थान, सत्पुरुषों के वृक्ष इस श्रेष्ठ पुरुष चारुदत्त को कालरूपी कुठार की धाराओं से काटा जाता हुआ क्यों देखते हो ? ।।४।।

शेफाणां दाम माला यस्य सः, आवाभ्यां वध्यौ वधे नियुक्तौ पुरुषौ वध्यपुरुषौ ताभ्यां गृहीतः एष आर्यचारुदत्तः (इति गद्येनान्वयः) मन्दस्नेहः क्षीणतैलः दीप इव स्तोकं स्तोकम् अल्पशःक्षयं विनाशं याति गच्छति । उपमालङ्कारः । आर्या वृत्तम् ।।२।।

नयनेति । इह विरसं यथा स्यात् तथा रटन्तः शब्दं कुर्वन्तः वायसाः काकाः नयनसलिलेन अश्रुजलेन सिक्तं पांशुभिः धूलिभिः रूक्षीकृतानि धूसरीकृतानि अङ्गानि यस्य तत् पितृवनस्य श्मशानस्य सुमनोभिः पुष्पैः वेष्टितं तथा रक्तगन्धेन रक्तचन्दनेन अनुलिप्तं मे मम चारुदत्तस्य शरीरं बलिम् इव बलिरूपेण दत्तम् अन्नमिव परिभोक्तुं तर्कयन्ति कलयन्ति । उपमालङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ।।३।।

किमिति । सुजनाः एव शकुनाः पक्षिणः तेषाम् अधिवासं वासस्थानम्, पुरुषः एव द्रुमः पुरुषद्रुमः सज्जनानां पुरुषद्रुमं वृक्षवत् छायाकरं पुरुषम् एतं पुरतः स्थितं सत्पुरुषं कालः एव परशुः तस्य धाराभिः छिद्यमानं किं कथम् पश्यत ? रूपकालङ्कारः । आर्या वृत्तम् ।।४।।

अअच्छ ले चाअुदत्ता, अाअच्छ ।

[अपसरतार्याः, अपसरत ।
किं पश्यत छिद्यमानं सत्पुरुषं कालपरशुधाराभिः ।
सुजनशकुनाधिवासं सज्जनपुरुषद्रुममेतम् ॥
आगच्छरे चारुदत्त, आगच्छ ।]

चारुदत्तः—पुरुषभाग्यानामचिन्त्याः खलु व्यापाराः, यदहमीदृशीं दशामनुप्राप्तः ।

सर्वगात्रेषु विन्यस्तै रक्तचन्दनहस्तकैः ।
पिष्टचूर्णावकीर्णश्च पुरुषोऽहं पशूकृतः ॥५॥

(अग्रतो निरूप्य) अहो, तारतम्यं नराणाम् । (सकरुणम्)

अमी हि दृष्ट्वा मदुपेतमेतन्मर्त्यं धिगस्त्वित्युपजातवाष्पाः ।
अशक्नुवन्तः परिरक्षितुं मां स्वर्गं लभस्वेति वदन्ति पौराः ॥६॥

चाण्डालौ—ओशलध अज्जा ओशलध किं पेक्खध ।

इन्दे प्पवाहिअन्ते गोप्पशवे संकमं च तालाणम् ।
शुपुलिशपाणविपत्ती चत्तालि इमे ण दट्ठव्वा ॥७॥
[अपसरतार्याः अपसरत । किं पश्यत ।
इन्द्रः प्रवाह्यमाणो गोप्रसवः संक्रमश्च ताराणाम् ।
सुपुरुषप्राणविपत्तिश्चत्वार इमे न द्रष्टव्याः ॥]

एकः - हण्डे आहीन्ता, पेक्ख पेक्ख ।

णअलीपधाणभूदे वज्झीअन्ते कदन्तअण्णाए ।
किं लुअदि अन्तलिक्खे आदु अणब्भे पडदि वज्जे ॥८॥
[अरे आहीन्त, पश्य पश्य ।
नगरीप्रधानभूते वध्यमाने कृतान्ताज्ञया ।
किं रोदित्यन्तरिक्षमथवानभ्रे पतति वज्रम् ॥]

द्वितीयः—अले गोहा,

सर्वेति । सर्वगात्रेषु समस्ताङ्गेषु विन्यस्तैः स्थापितैः रक्तचन्दनस्य हस्तकैः हस्ताः एव हस्तकाः इति स्वार्थे कन् अथवा हस्ता इव हस्तकाः इति इवार्थे कन् हस्तचिह्नैः इत्यर्थः । पिष्टचूर्णेन पिष्टचूर्णं श्यामतण्डुलचूर्णमिति पृथ्वीधरः । पिष्टं तण्डुलानां चूर्णं च तिलानामिति परे ताभ्याम् अवकीर्णः व्याप्तः अहं चारुदत्तः पुरुषः रांनु पशूकृतः बलिपशुतुल्यः कृतः ॥५॥

आओ रे, चारुदत्त आओ।

चारुदत्त—पुरुष के भाग्यों का कार्य अचिन्तनीय है जिससे मैं ऐसी दशा को प्राप्त हो गया हूँ।

समस्त अङ्गों पर लालचन्दन के हस्तचिह्नों (थापे या छाप) के द्वारा तथा (चावल के) आटे और (तिलों के) चूर्ण से व्याप्त करके मुझ पुरुष को ही (बलि का) पशु बना दिया गया है।

ये नगरवासी मेरे द्वारा प्राप्त इस अवस्था को देखकर, यह कहकर कि—'मरणशील मनुष्य को धिक्कार है' अश्रुयुक्त हो गये हैं और मेरी रक्षा करने में असमर्थ होते हुए 'तुम स्वर्ग प्राप्त करो' यह कहते हैं ॥६॥

विसर्जन के लिये ले जाया जाता इन्द्रध्वज, गौ का प्रसव, तारों का पतन और श्रेष्ठ पुरुष का प्राण-त्याग-इन चारों को नहीं देखना चाहिये ॥७॥

एक—अरे, आहीन्त, देखो देखो।

दैव (अथवा (कृतान्तसदृश राजा पालक) के आदेश से नगरी के प्रधान पुरुष (चारुदत्त) के वध की तैयारी होने पर क्या अन्तरिक्ष रोता है अथवा मेघों के बिना ही वज्रपात हो रहा है ॥८॥

द्वितीय—अरे गोह,

तरतमस्य भावः तारतम्यं परम्परा।

अमी। इति अमी इमे हि पौराः पुरवासिनः मदुपेतं मया प्राप्तम् एतद् रूपं व्यसनं वा दृष्ट्वा मर्त्यं मरणधर्माणं मनुष्यं धिग् अस्तु इति उक्त्वा उपजात-बाष्पाः अश्रुयुक्ताः सन्तः मां चारुदत्तं परिरक्षितुम् अशक्नुवन्तः असमर्थाः स्वर्गं लभस्व इति वदन्ति। उपजाति वृत्तम् ॥६॥

इन्द्र इति। प्रवाह्यमाणः विसर्जनाय नीयमानः इन्द्रः इन्द्रध्वजः, गोः प्रसवः प्रसवनं, ताराणां संक्रमः पतनं, सुपुरुषस्य प्राणविपत्तिः मरणं च चत्वारः इमे न द्रष्टव्याः न दर्शनीयाः। आर्या वृत्तम् ॥७॥

'हण्डे' इति नीचपात्राणां सम्बोधनम्। 'आहीन्त' इति द्वितीयस्य चाण्डालस्य नाम। नागरीति। कृतान्तस्य विधेः कृतान्ततुल्यस्य पालकस्य वा आज्ञया आदेशेन नगर्याः उज्जयिन्याः प्रधानभूते पुरुषे चारुदत्ते वध्यमाने सति किम् अन्तरिक्षं रोदिति अथवा अनभ्रे मेघरहिते नभसि वज्रं पतति। गाथा वृत्तम् ॥८॥

'गोह' इति प्रथमस्य चाण्डालस्य नाम।

ण अ लुअदि अन्तलिक्खे णेअ अणब्भे पडदि वज्जे ।
महिलाशमूहमेहे णिवडदि णअणम्बु धाराहिं ॥९॥
वज्झम्मि णीअमाणे जणश्श शव्वश्श लोदमाणश्श ।
णअणशलिलेहिं शित्ते लच्छादो ण उण्णमइ लेणू ॥१०॥

[अरे गोह,
न च रोदित्यन्तरिक्षं नैवानभ्रे पतति वज्रम् ।
महिलासमूहमेघान्निपतति नयनाम्बु धाराभिः ॥

अपि च।

वध्ये नीयमाने जनस्य सर्वस्य रुदतः ।
नयनसलिलैः सिक्तो रथ्यातो नोन्नमति रेणुः ॥]

चारुदत्त :—(निरूप्य सकरुणम्)

एताः पुनर्हर्म्यगता स्त्रियो मां वातायनार्धेन विनिःसृतास्याः ।
हा चारुदत्तेत्यभिभाषमाणा वाष्पं प्रणालीभिरिवोत्सृजन्ति ॥११॥

चाण्डालो—आअच्छ ले चालुदत्ता, आअच्छ । इमं घोषणट्ठाणम् । आहणेध डिण्डिमम् । घोशेध घोशणम् । [आगच्छ रे चारुदत्त, आगच्छ । इदं घोषणास्थानम् । आहत डिण्डिमम्, घोषयत घोषणाम् ।

उभौ—शुणाध अज्जा, शुणाध । एशे शत्थवाहविणअदत्तश्श णत्तिके शाअलदत्तश्श पुत्तके अज्जचालुदत्ते णाम । एदिणा किल अकज्जकालिणा गणिआ वशन्तशेणा अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो शुण्णं पुप्फकलण्डअजिण्णुज्जाणं पवेशिअ बाहुपाशबल्लक्कालेण मालिदे त्ति एशे शलोत्ते गहिदे, शअं अ पडिवण्णे । इदं लण्णा पालएण अह्मे आण्णत्ता एदं मालेदुम् । जदि अवले ईदिशं उभअलोअविलुद्धं अकज्जं कलेदि तं पि लाआ पालए एव्वं ज्जेव शाशदि । [शृणुतार्याः शृणुत । एष सार्थवाहविनयदत्तस्य नप्ता सागरदत्तस्य पुत्रक आर्यचारुदत्तो नाम । एतेन किलाकार्यकारिणा गणिका वसन्तसेनार्थकल्यवर्तस्य कारणाच्छून्यं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण मारितेति एष सलोप्त्रो गृहीतः स्वयं च प्रतिपन्नः । ततो राज्ञा पालकेन वयमाज्ञप्ता एतं मारयितुम् । यद्यपर ईदृशमुभयलोकविरुद्धमकार्यं करोति तमपि राजा पालक एवमेव शास्ति ।]

न चेति । न च अन्तरिक्षं रोदिति नैव अनभ्रं मेघरहितं (अनभ्रे इति पाठान्तरम्) वज्रं पतति । किन्तु महिलासमूहः एव मेघः तस्मात् नयनाम्बुजलम् धाराभिः पतति । रूपकालङ्कारः । गाथा वृतम् ॥९॥

न तो आकाश ही रो रहा है, न मेघ के बिना वज्र ही गिर रहा है। महिला समुदाय रूपी मेघ से नेत्र-जल धाराओं में गिर रहा है ॥९॥

और भी—

वध्य (चारुदत्त) को ले जाये जाते समय रोते हुए समस्त जनों के नेत्रजल से भीगी हुई धूलि गली से नहीं उठ रही है ॥१०॥

चारुदत्त—(देखकर, करुणा सहित)

और ये भवनों पर स्थित नारियाँ खिड़की के एक भाग से मुख निकाले हुए 'हाय चारुदत्त' यह कहती हुई मानो परनालों से ही अश्रुजल बहा रही हैं ॥११॥

दोनों चाण्डाल—आ रे चारुदत्त आ। यह घोषणा का स्थान है। ढोल पीटो। घोषणा करो।

दोनों—सुनो आर्यजन, सुनो। यह व्यापारी विनयदत्त का नाती (पौत्र) सागरदत्त का पुत्र आर्य चारुदत्त है। इस अकार्य करने वाले ने वसन्तसेना नामक वेश्या को, कलेवा जैसे (तुच्छ) धन के निमित्त, पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में ले जाकर भुजपाश से बलपूर्वक मार दिया। यह चोरी के धन (लोप्त्र) सहित पकड़ा गया और इसने स्वयं स्वीकार कर लिया। तब राजा पालक ने हमें इसको मारने की आज्ञा दी है। यदि कोई दूसरा दोनों लोकों के विरुद्ध इस प्रकार का अकार्य करता है तो राजा पालक उसको भी इसी प्रकार दण्ड देंगे।

वध्य इति। वध्ये चारुदत्ते वध्यभूमिं नीयमाने सति रुवतः रोदनं कुर्वतः सर्वस्य जनस्य नयनसलिलैः नेत्रजलैः सिक्तः रेणुः धूलिः रथ्यातः प्रतोल्याः न उन्नमति उत्तिष्ठति। आर्या वृत्तम् ॥१०॥

एता इति। पुनः तथा एताः हर्म्यगताः भवनेषु स्थिताः स्त्रियः वातायनस्य गवाक्षस्य अर्धेन एकभागेन विनिःसृतानि निर्गतानि आस्यानि मुखानि यासां ताः तादृश्यः भूत्वा इति यावत् 'हा चारुदत्त' इति अभिभाषमाणाः कथयन्त्यः प्रणालीभिः इव जलनालिकाभिः इव बाष्पम् अश्रुजलम् उद्गिरन्ति प्रवाहयन्ति। उत्प्रेक्षालङ्कारः। इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥११॥

लोप्त्रं चौर्येण प्राप्तं धनम्, तेन सहितः सलोप्त्रः। प्रतिपन्नः स्वीकृतवान्

चारुदत्त :—(सनिर्वेदं स्वगतम्)

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं मे
सदसि निविडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।
मम मरणदशायां वर्तमानस्य पापै—
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥१२॥

(उद्वीक्ष्य कर्णौ* पिधाय) हा प्रिये वसन्तसेने,

शशिविमलमयूखशुभ्रदन्ति सुरुचिरविद्रुमसन्निभाधरौष्ठि ।
तव वदनभवामृतं निपीय कथमवशो ह्ययशोविषं पिबामि ॥१४॥

उभौ—ओशलध अज्जा, ओशलध ।

एशे गुणलअणणिहि शज्जणदुक्खाणं उत्तलणशेदू ।
अशुवण्णं मण्डणअं अवणीअदि अज्ज णअलीदो ॥१४॥

अण्णं च ।

शव्वे क्खु होइ लोए लोए शुहशंठिदाणं तत्तिल्लो ।
विणिवडिदाणं णलाणं पिअकाली दुल्लहो होदि ॥१५॥

[अपसरतार्याः, अपसरत ।

एष गुणरत्ननिधिः सज्जनदुःखानामुत्तरणसेतुः ।
असुवर्णं मण्डनकमपनीयतेऽद्य नगरीतः ।

अन्यच्च ।

सर्वः खलु भवति लोके लोकः सुखसंस्थितानां चिन्तायुक्तः ।
विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति ।]

चारुदत्त :—(सर्वतोऽवलोक्य)

मखेति । मखानां यज्ञानां शतैः परिपूतं पवित्रीकृतं मे मम चारुदत्तस्य गो॰ कुल यत् पुरस्तात् पूर्वकाले सदसि सभायां निविडेषु जनसंकुलेषु चैत्येषु अग्निच॰ स्थलेषु यज्ञशालासु इति यावत् ब्रह्मघोषैः वेदपाठैः उद्भासितं प्रकाशितम् आसीत् तद् गोत्रं मरणदशायां वर्तमानस्य मम पापैः असदृशमनुष्यैः अयोग्यजनैः नी॰ रित्यर्थः घोषणायाम् अपराधघोषणास्थले घुष्यते । विषमालङ्कारः । मालि॰ वृत्तम् ॥१२॥

*'उद्वीज्य' इति पाठान्तरम् । उद्वीज्य उद्वेगं कृत्वा इति पृथ्वीधरः । शशी॰

शशिविमलमयूखाः चन्द्रस्य निर्मलकिरणाः इव शुभ्राः दन्ताः यस्याः

चारुदत्त—(दुःख के साथ, अपने आप)

संकड़ों यज्ञों से पवित्र जो मेरा वंश पूर्वकाल की सभाओं में जनाकीर्ण यज्ञशाला की वेदध्वनियों से प्रकाशित हुआ था, वही मेरे मरणावस्था में विद्यमान होने पर इन पापी तथा अयोग्य जनों के द्वारा (अपराध) घोषणा स्थल में घोषित किया जा रहा है ॥१२॥

(ऊपर देखकर, कानों को बन्द करके) हाय प्रिये, वसन्तसेने।

हे चन्द्रमा की निर्मल किरणों के समान श्वेत दांतों तथा सुन्दर मूंगे के सदृश अधरोष्ठ वाली वसन्तसेने, तेरे मुख से उत्पन्न अमृत का पान करके अब पराधीन हुआ मैं अपकीर्ति रूपी विष क्यों पी रहा हूँ ॥१३॥

दोनों—हटो, आर्यजनो, हटो।

गुण रूपी रत्नों का भण्डार (सागर), सज्जनों के दुःखों को तरने के लिए सेतु के समान, बिना सुवर्ण का आभूषण यह चारुदत्त आज (उज्जयिनी) नगरी से दूर किया जा रहा है ॥१४॥

और भी—

संसार में सभी जन सुखी मनुष्यों के ही शुभचिन्तक होते हैं। विपत्ति में पड़े हुए मनुष्यों का हित करने वाला दुर्लभ ही है ॥१५॥

चारुदत्त—(सब ओर देखकर)—

(सम्बुद्धौ), सुरुचिरः अतिसुन्दरः यः विद्रुमः प्रवालः तत्सन्निभः तस्य सदृशः अधरोष्ठः यस्याः सा (सम्बुद्धौ), तव वसन्तसेनायाः वदनभवं मुखाद् उत्पन्नम् अमृतं निपीय पीत्वा अवशः पराधीनः अहं अयशः अपकीर्तिः एव विषं कथं पिबामि। उपमा, रूपकम्, विषमश्चालङ्काराः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥१३॥

एष इति। गुणा एव रत्नानि तेषां निधिः सागरः सज्जनदुःखानाम् उत्तरणसेतुः लङ्घनसाधनम्, असुवर्णं असुवर्णघटितं मण्डनम् आभूषणम् एषः चारुदत्तः अद्य नगरीतः अपनीयते दूरीक्रियते। रूपकालङ्कारः। गाथा वृत्तम् ॥१४॥

सर्वं इति। लोके संसारे सर्वः लोकः जनः खलु निश्चयेन सुखे संस्थितानां सम्यक् विद्यमानानां सुखयुक्तानां जनानामिति भावः चिन्तायुक्तः शुभचिन्तकः (चिन्तापरः उपयुक्तः इत्यर्थः इति पृथ्वीधरः) भवति। विनिपतितानां विपत्तौ पतितानां नराणां प्रियकारी हितकर्त्ता दुर्लभः भवति। अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारः। गाथा वृत्तम् ॥१५॥

अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः प्रयान्ति मे दूरतरं वयस्याः।
परोऽपि बन्धुः समसस्थितस्य मित्रं न कश्चिद्विषमस्थितस्य ॥१६॥

चाण्डालौ—ओशालणं किदम् । विवित्तं लाअमग्गम । ता आणेध एदं दिण्णवज्झचिण्हम् । [अपसारणं कृतम् । विविक्तो राजमार्गः । तदानयतैनं दत्त-वध्यचिह्नम् ।]

(चारुदत्तो निःश्वस्य 'मैत्रेय भोः किमिदमद्य' (६।२६) इत्यादि पठति)

(नेपथ्ये)

हा ताद, हा पिअवअस्स । [हा तात, हा प्रियवयस्य ।]

चारुदत्त :—(आकर्ण्य सकरुणम्) भोः स्वजातिमहत्तर, इच्छाम्यहं भवतः सकाशात्प्रतिग्रहं कर्तुम् ।

चाण्डालौ—किं अम्हाणं हत्थादो पडिग्गहं कलेशि। [किमस्माकं हस्तात्प्रति-ग्रहं करोषि ।]

चारुदत्त :—शान्तं पापम् । नापरीक्ष्यकारी दुराचारः पालक इव चाण्डालः। तत्परलोकार्थं पुत्रमुखं द्रष्टुमभ्यर्थये ।

चाण्डालौ—एव्वं कलीअदु [एवं क्रियताम् ।]

(नेपथ्ये)

हा ताद, हा आवुक । [हा तात, हा पितः ']

(चारुदत्तः श्रुत्वा सकरुणम् भोः स्वजातिमहत्तर' इत्यादि पठति)

चाण्डालौ—अले पउला, खणं अन्तलं देध। एशे अज्जचालुदत्ते पुत्तमुहं पेक्खदु । (नेपथ्याभिमुखम्) अज्ज, इदो इदो । आअच्छ ले दालआ, आअच्छ । [हे पौराः क्षणमन्तरं दत्त । एष आर्यचारुदत्तः पुत्रमुख पश्यतु । आर्य, इत इतः। आगच्छ रे दारक, आगच्छं ।]

(ततः प्रविशति दारकमादाय विदूषकः)

विदूषकः—तुवरदु तुवरदु भद्दमुहो । पिदा दे मारिदुं णीअदि । [त्वरतां त्वरतां भद्रमुखः । पिता ते मारयितुं नीयते ।]

दारकः—हा ताद, हा आवुक । [हा तात, हा पितः ।]

विदूषकः—हा पिअवअस्स कहिं मए तुमं पेक्खिदव्वो । [हा प्रियवयस्य, कुत्र मया त्वं द्रष्टव्यः ।]

अमी हीत । अमी हि मे मम चारुदत्तस्य वयस्याः सुहृदः वस्त्रान्तेन वसनाञ्चलेन निरुद्धम् आच्छादितं वक्त्रं मुख यैः तादृशाः सन्तः दूरतरं प्रयान्ति। समसंस्थितस्य समावस्थायां सुखावस्थायामिति यावद् स्थितस्य जनस्य परः अन्यः अपि बन्धुः समस्नेही भवति; किन्तु विषमावस्थायाम् आपत्तिकाले इति यावद

ये मेरे मित्र वस्त्र के आँचल से मुख ढके हुए दूर जा रहे हैं। (सच है) सुख की अवस्था में अन्य जन भी (सगे) सम्बन्धी हो जाते हैं; किन्तु आपत्ति में पड़े हुए मनुष्य का कोई मित्र नहीं होता।

दोनों चाण्डाल—(भीड़ को) हटा दिया गया। राजमार्ग जन-शून्य (विविक्त) है। अतः दिया गया है वध्य का चिह्न जिसको, ऐसे इस (चारुदत्त) को लाओ।

(चारुदत्त दीर्घ श्वास लेकर 'मैत्रेय भो किमिदमद्य (९·२९)' इत्यादि पढ़ता है।)

(नेपथ्य में)

हा तात ! हा प्रिय मित्र !

चारुदत्त—(सुनकर, करुणासहित) हे अपनी जाति के महत्तो (प्रधान), मैं आपसे (कुछ) दान लेना चाहता हूँ।

दोनों चाण्डाल—क्या हमारे हाथ से दान लेते हो ?

चारुदत्त—पाप शान्त हो। पालक के समान चाण्डाल (भी) बिना परीक्षा के (कार्य) करने वाला तथा बुरा व्यवहार करने वाला नहीं है। अतः मैं परलोक के लिये पुत्र का मुख देखने की प्रार्थना करता हूँ।

दोनों चाण्डाल—ऐसा कर लीजिये।

(नेपथ्य में)

हाय तात ! हाय प्रिय मित्र !

(चारुदत्त सुनकर करुणापूर्वक 'भोः स्वजातिमहत्तर' पृ० ३९२ इत्यादि पढ़ता है)

दोनों चाण्डाल—अरे नगरवासियों क्षण भर के लिये अवकाश दो। यह आर्य चारुदत्त पुत्र का मुख देखले। आर्य, इधर इधर (नेपथ्य की ओर) आ रे, बालक, आ जा।

(तब बालक को लेकर विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक—शीघ्रता करो, भद्रमुख, शीघ्रता करो। तुम्हारे पिता वध के लिये ले जाये जा रहे हैं।

दारक—हाय तात, हाय पिता।

विदूषक—हाय प्रिय मित्र, अब मैं तुम्हें कहाँ देखूँगा ?

स्थितस्य जनस्य न कश्चिद् अपि मित्रं भवति। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। उपजाति वृत्तम् ॥१६॥

विविक्तः विजनः। स्वजात्यां महत्तरः प्रतिग्रहं दानं पुरस्कारं पक्षपातम् अनुग्रहं वा। अभ्यर्थये प्रार्थये। परलोकार्थं परलोके शुभगत्यर्थम्। उक्तं मनुना—

पुन्नामनो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः।
तस्माद् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा॥ मनु० ९·१३८.

प्रयुक्त पितः।

चारुदत्तः—(पुत्रं मित्रं च वीक्ष्य) हा पुत्र, हा मैत्रेय (सकरुणम्) भोः कष्टम् ।

चिरं खलु भविष्यामि परलोके पिपासितः ।
अत्यल्पमिदमस्माकं निवापोदकभोजनम् ।।१७।।

किं पुत्राय प्रयच्छामि । (आत्मनमवलोक्य । यज्ञोपवीतं दृष्ट्वा) आं, इदं तावदस्ति मम च ।

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।
देवतानां पितृणां च भागो येन प्रदीयते ।।१८।।

(इति यज्ञोपवीतं ददाति)

चाण्डालः—आअच्छ ले चालुदत्ता, आअच्छ । [आगच्छ रे चारुदत्त, आगच्छ ।[

द्वितीयः—अले, अज्जचालुदत्तं णिलुववदेण णामेण आलवशि । अले, पेक्ख ।

अब्भुदए अवशाणे तहे अ लत्तिदिवं अहदमग्गा ।
उद्दामे व्व किशोली णिअदी क्खु पडिच्छिदुं जादि ।।१९।।

अरुणं च ।

शुक्खा वि वदेश शे किं विणमिअमत्थए ण काअव्वम् ।
लाहुग्गहिदे वि चन्दे ण वन्दणीए जणपदश्श ।।२०।।

चिरमिति । परलोके चिरं खलु पिपासितः भविष्यामि कुतः ? यतो हि इदं पुत्रेण दास्यमानं निवापस्य पितृतर्पणस्य उदकमेव भोजनम् अस्माकं अत्यल्पम् भविष्यति । पुत्रस्य बालत्वाद् तेन दीयमानो जलाञ्जलिः अपर्याप्तः स्यादिति भावः ।।१७।।

अमौक्तिकमिति । इदं यज्ञोपवीतम् अमौक्तिकं नास्ति मौक्तिकं मुक्ता यस्मिन् तथाभूतम् असौवर्णं न सुवर्णनिर्मितं ब्राह्मणानां विभूषणम् आभूषणम् अस्ति; येन यज्ञोपवीतेन देवतानां पितृणां च भागः देवबलि पितृपिण्डादिकं वा प्रदीयते ।।१८।।

निरुपपदेन 'आर्य' इत्यादि विशेषणरहितेन ।

अभ्युदय इति । अभ्युदये सम्पन्नावस्थायाम् अवसाने सम्पदां समाप्तौ तथैव रात्रिदिवसं अहोरात्रम् अहतः अप्रतिहतः मार्गः यस्याः सा अप्रतिहतगमना नियतिः भाग्यं उद्दामा उद्गतं दाम बन्धनं यस्या सा बन्धनरहिता किशोरी यौवनं प्राप्ता बालेव (बालाश्वा इव इति कालेमहोदयः) खलु प्रत्येषितुं पुरुषं स्वीकर्तुं याति गच्छति उपमालङ्कारः । गाथा वृत्तम् ।।१९।।

चारुदत्त—(पुत्र और मित्र को देखकर) हाय पुत्र, हाय मैत्रेय (करुणापूर्वक) अरे कष्ट है।

मैं परलोक में चिरकाल तक प्यासा ही रहूँगा, क्योंकि यह (पुत्र के द्वारा दिया गया) पितृतर्पण का जलरूपी भोजन हमारे लिये अत्यन्त थोड़ा होगा ॥१७॥

मैं पुत्र को क्या दूँ ? (अपने आप को देखकर। यज्ञोपवीत को देखकर) अच्छा, यह तो मेरे पास है।

यह बिना मोती का तथा सुवर्ण से न बना हुआ, ब्राह्मणों का आभूषण है, जिससे देवता और पितरों का भाग दिया जाता है॥१८॥

(यज्ञोपवीत देता है)

चाण्डाल—आओ रे चारुदत्त, आओ।

द्वितीय—अरे, आर्य चारुदत्त को '(आर्य' आदि) उपपद-रहित नाम से पुकारते हो। अरे, देखो—

सम्पन्नावस्था में और सम्पत्ति के समाप्त होने पर तथा रात में और दिन में यह अप्रतिहत-गति वाली नियति बन्धन-रहित (स्वच्छन्द) युवति के समान पुरुष को स्वीकार करने के लिये जाती है ॥१९॥

और भी—

इसके (सम्पत्ति-कीर्ति आदि) अङ्ग सूख गये हैं अतः (इसे) मस्तक झुकाने से क्या (प्रयोजन) ? (ऐसा नहीं, क्योंकि) क्या राहु द्वारा ग्रस्त चन्द्रमा भी जनपदवासियों के लिये वन्दनीय नहीं होता ? [पाठान्तर में पूर्वपद का अनुवाद यह है–इस चारुदत्त

शुष्का इति। अस्य चारुदत्तस्य प्रदेशाः अङ्गानि साधनानि वा अपि शुष्काः शुष्कतां गतानि, अतः विनमितं मस्तकं विनमितमस्तकं तेन किं कर्त्तव्यं किं प्रयोजनमिति न। कुतः इत्याह-राहुणा गृहीतः अपि ग्रस्तः अपि चन्द्रः जनपदस्य तत्र स्थितस्य जनस्य न वन्दनीयः ? अपि तु वन्दनीय एव। अत्र पूर्वपदस्य—'शुष्का अपि प्रदेशा अङ्गानि। किं विनमितमस्तकेन = अवनत शिरसा किं कर्तव्यम्। अस्य स्त्रीहरणस्य लज्जया नतशिरसोऽपि न कुत्सेत्यर्थः''—इति पृथ्वीधर.। 'शुष्का व्यपदेशा अस्य किं विनमितमस्तकं न कर्तव्यम्' इति पाठान्तरम्—''अस्य चारुदत्तस्य व्यपदेशाः

[अरे, आर्यचारुदत्तं निरुपपदेन नाम्नालपसि । अरे, पश्य,
अभ्युदयेऽवसाने तथैव रात्रिदिवमहृतमार्गा ।
उद्दामेव किशोरी नियतिः खलु प्रत्येषितुं याति ।।

अन्यच्च—

शुष्का अपि प्रदेशा अस्य किं विनमितमस्तकेन कर्त्तव्यम् ।
राहुगृहीतोऽपि चन्द्रो न वन्दनीयो जनपदस्य ।।]

दारकः—अरे रे चाण्डाला, कहिं मे आवुकं णेध । [अरे रे चाण्डालौ, कुत्र मम पितरं नयत ।]

चारुदत्तः—वत्स,

अंसेन बिभ्रत्करवीरमालां स्कन्धेन शूलं हृदयेन शोकम् ।
आघातमद्याहमनुप्रयामि शामित्रमालब्धुमिवाध्वरेऽजः ।।२१।।

चाण्डालः—दालआ,

ण हु अम्हे चाण्डाला चाण्डालकुलम्मि जादपुव्वा वि ।
जे अहिभवन्ति शाहुं ते पावा ते अ चाण्डाला ।।२२।।

[दारक,

न खलु वयं चाण्डालाश्चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि ।
येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः ।।]

दारकः—ता कीस मारध आवुकम् । [तत्किमथ मारयत पितरम् ।]

चाण्डालः—दीहाऊ, अत्त लाअणिओओ क्खु अवलज्झदि, ण क्खु अम्हे ।
[दीर्घायुः, अत्र राजनियोगः खल्वपराध्यति न खलु वयम् ।]

दारकः—वावादेध मम् । मुञ्चध आवुकम् । [व्यापादयत माम् । मुञ्चत पितरम्]

चाण्डालः—दीहाऊ, एवं भणन्ते चिलं मे जीव । [दीर्घायुः एवं भणंश्चिरं मे जीव ।]

चारुदत्तः—(सास्रं पुत्रं कण्ठे गृहीत्वा)

इदं तत्स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयोः ।
अचन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम् ।।२३।।

शोभननामादयः किं शुष्काः अनेनापवादेन क्षीणाः अस्य विनमितमस्तकं किं न कर्तव्यम् । कर्तव्यमेव । इत्यर्थः" इति कालेमहोदयः । अत्र च सुधियः एव प्रमाणम् । दृष्टान्तलङ्कारः । गाथा वृत्तम् ।।२०।।

चारुदत्तः स्वपुत्रं प्रति कथयति—अंसेनेति । अंसेन कण्ठेन [अंसः स्कन्धे विभागे च' इति विश्वः] करवीरमालां करवीरपुष्पमालां स्कन्धेन शूलं हृदयेन च शोकं बिभ्रत् धारयन्

के शोभननामादि क्या सूख गये ? क्या इसके प्रति मस्तक नत नहीं करना चाहिए ?……] ॥२०॥

दारक—अरे चाण्डालो, मेरे पिता को कहाँ ले जाते हो ?

चारुदत्त—वत्स,

गले में कनेर की माला, कन्धे पर शूल तथा हृदय में शोक धारण किये हुए मैं आज यज्ञ में बलि (अभिमन्त्रण) के लिये पशुवध स्थल (अभिमन्त्रणा स्थल) पर (ले जाये जाते) छाग के समान (अधिकरण के) वध स्थान पर जा रहा हूँ ॥२१॥

चाण्डाल—बालक,

चाण्डाल कुल में उत्पन्न होकर भी हम चाण्डाल नहीं हैं। जो सज्जन को अपमानित (पीड़ित) करते हैं वे पापी हैं और वे चाण्डाल हैं ॥२२॥

दारक—तो मेरे पिता को क्यों मारते हो ?

चाण्डाल—दीर्घायु, इसमें राजाज्ञा दोषी है, हम नहीं।

दारक—मुझे मार दो। पिताजी को छोड़ दो।

चाण्डाल—दीर्घायु, इस प्रकार कहते हुए तुम बहुत समय जीओ।

चारुदत्त—(अश्रुयुक्त पुत्र को गले लगाकर)

यह वह स्नेह का सर्वस्व है जो धनिक और दरिद्र दोनों के लिए समान है। यह हृदय का सुखकर लेप है जो चन्दन का तथा उशीर (खश) का नहीं (बना) ॥२३॥

अहम् अद्य अध्वरे यज्ञे आलब्धुम् अभिमन्त्रयितुं हन्तुं वा शामित्रं शमितरि यज्ञे भवं शामित्रं अभिमन्त्रणस्थानं पशुघातस्थानं वा अजः इव आघातम् अधिकरणवधस्थानम् अनुप्रयामि अनुगच्छामि। आलब्ध इवाध्वरेऽजः' इति पृथ्वीधरानुमतः पाठः। आलब्धोऽभिमन्त्रितः मारितः इत्येके। यज्ञे अभिमन्त्रितः अजः यथा शामित्रं गच्छति तथेति भावः। उपमालङ्कारः गाथा वृत्तम् ॥२१॥

न खल्विति। चाण्डालकुले जातपूर्वाः पूर्वं जाताः लब्धजन्मानोऽपि वयं न खलु चाण्डालाः कर्मणा न चाण्डालाः इति भावः। ये जनाः शकारप्रभृतयः इति व्यज्यते साधुं सत्पुरुषम् अभिभवन्ति तिरस्कुर्वन्ति ते पापाः पापिनः ते च चाण्डालाः। विशेषोक्तिरलङ्कारः गाथा। वृत्तम् ॥२२॥

राजनियोगः राज्ञः नियोगः आदेशः।

स्वपुत्रं कण्ठे गृहीत्वा चारुदत्तः कथयति—इदमिति। इदं पुत्रालिङ्गनं तव प्रसिद्धं स्नेहस्य वात्सल्यस्य सर्वस्वं तत्त्वम्। इदं च आढ्याः धनिकः दरिद्रः च तयोः द्वयोरपि समं तुल्यमेव अचान्दनं चन्दनस्येदं चान्दनं न चान्दनम् अचान्दनम् अनौशीरम् उशीरस्येदम् औशीरं, न औशीरम् अनौशीरं च हृदयस्य अनुलेपनम् अनुकूलः सुखकरः इति यावत् लेपः अस्ति। रूपकालङ्कारः ॥२३॥

('अंसेन बिभ्रत्--' (१०।२१) इत्यादि पुनः पठति । अवलोक्य स्वगतम् । 'अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः (१०।१६) इत्यादि पुनः पठति)

विदूषकः—भो भद्दमुहा, मुञ्चध पिअवअस्सं चालुदत्तम् । मं वावादेध । [भो भद्रमुखाः, मुञ्चत प्रियवयस्यं चारुदत्तम् । मां व्यापादयत ।]

चारुदत्तः—शान्तं पापम् (दृष्ट्वा स्वगतम्) अद्यावगच्छामि ।

(परोऽपिसमरांस्थितस्य—' (१०।१६) इत्यादि पठति । प्रकाशम् । 'एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो माम्' (१०।११) इत्यादि पुनः पठति)

चाण्डालः—ओशलध अज्जा, ओशलध ।

कि पेक्खध शप्पुलिशं अजशवशेण प्पणट्टजीवाशम् ।
कूवे खण्डिदपाशं कञ्चणकलशं विअ डुब्बन्तम् ।।२४।।

[अपसरतार्याः, अपसरत ।
किं पश्यत सत्पुरुषमयशोवशेन प्रनष्टजीवाशम् ।
कूपे खण्डितपाशं काञ्चनकलशमिव मज्जन्तम् ।।]

(चारुदत्तः सकरुणम् 'शशिविमलमयूख—' (१०।१३) इत्यादि पठति)

अपरः—अले, पुणोवि घोशेहि । [अरे, पुनरपि घोषय ।]

(चाण्डालस्तथा करोति)

चारुदत्तः—

प्राप्तोऽहं व्यसनकृशां दशामनार्यां
यत्रेदं फलमपि जीवितावसानम् ।
एषा च व्यथयति घोषणा मनो मे
श्रोतव्यं यदिदमसौ मया हतेति ।।२५।।

(ततः प्रविशति प्रासादस्थो बद्धः स्थावरकः)

स्थावरकः—(घोषणामाकर्ण्य सवैक्लव्यम्) कधं अपावे चालुदत्ते वावादीअदि हगे णिअलेण शामिणा बन्धिदे । भोदु आक्कन्दामि । शुणाध अज्जा, शुणाध । अत्थि दाणिं मए पावेण पवहणपडिवत्तेण पुप्फकलण्डअजिण्णुज्जाणं वशन्तशेणा णीदा । तदो मम शामिणा मं ण कामेशित्ति कदुअ बाहुपाशबलक्कालेण मालिदा, ण उण एदिणा अज्जेण । कधम । विदूलदाए ण को वि शुणादि । ता किं कलेमि । अत्ताणअं पाडेमि । (विचिन्त्य) जइ एव्वं कलेमि, तदा अज्जचालुदत्ते ण वावादी-

---

किमिति । खण्डितः छिन्नः पाशः रज्जुः यस्य तथाभूतं कूपे मज्जन्त काञ्चनस्य सुवर्णस्य कलशम् इव अयशोवशेन अनेन वसन्तसेना हतेति अपकीर्तिनिमित्तेन

['अंसेन बिभ्रत्' (१०।२१) इत्यादि फिर पढ़ता है। (देखकर अपने आप) 'अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः' (१०।१६) इत्यादि फिर पढ़ता है।]

विदूषक—हे भद्रमुखो, मेरे प्रिय मित्र चारुदत्त को छोड़ दो। मुझे मार दो।

चारुदत्त—पाप शान्त हो। (देखकर अपने आप) आज जान रहा हूँ।

['समसंस्थित—' (१०।१६) इत्यादि पढ़ता है। (प्रकट रूप में) 'एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो माम्' (१०।११) इत्यादि फिर पढ़ता है।]

चाण्डाल—हटो, आर्यजनो, हटो।

रस्सी टूटने पर कूप में डूबते हुए सुवर्णघट के समान अपकीर्ति के कारण जिसके जीवन की आशा नष्ट हो गई है ऐसे इस सत्पुरुष को क्या देखते हो ॥२४॥

[चारुदत्त करुणापूर्वक 'शशिविमलमयूख' (१०।१३) इत्यादि पढ़ता है]

दूसरा—अरे, फिर भी घोषणा करो।

(चाण्डाल वैसा करता है)

चारुदत्त—

मैं विपत्ति (व्यसन) के कारण हीन एवं गर्हित (अनार्या) दशा को प्राप्त हो गया हूँ। जिस दशा का यह जीवन की समाप्ति फल है। और यह घोषणा मन को पीड़ित करती है जो मुझे यह सुनना पड़ता है—'मैंने यह (वसन्तसेना) मारी है ॥२५॥

(तब प्रासाद पर स्थित, बंधा हुआ स्थावरक प्रवेश करता है)

स्थावरक—(घोषणा को सुनकर, विकलता के साथ) क्या! पापरहित चारुदत्त मारा जा रहा है। मुझे स्वामी ने बेड़ी से बांध दिया है। अच्छा। चिल्लाता हूँ। सुनिये आर्यजन, सुनिये। ऐसा है कि मुझ पापी के द्वारा प्रवहण-परिवर्तन के कारण वसन्तसेना पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में ले जाई गई। तब मेरे स्वामी (शकार) ने—'तुम मुझे नहीं चाहती हो' यह कहकर भुजपाश से बलपूर्वक इसे मार दिया, इस आर्य (चारुदत्त) ने नहीं। क्या, दूर होने के कारण कोई भी नहीं सुनता है। तो क्या करूँ?

प्रनष्टा जीवाशा जीवनस्य आशा यस्य तं सत्पुरुषं सज्जनं किं पश्यथ ? उपमालङ्कारः। गाथा वृत्तम् ।२४।

प्राप्त इति । अहं चारुदत्तः व्यसनेन आपत्त्या दारिद्र्येण वा हेतुना 'व्यसनकृताम् इति पाठान्तरम् । आपत्तिजनिताम् इत्यर्थः कृशां हीनाम् अनार्यां गर्हितां दशां प्राप्तः, यत्र दशायाम् इदं जीवितस्य जीवनस्य अवसान समाप्तिः मरणम् इति भावः अपि फलं जातम् । एषा च घोषणा मे मम मनः व्यथयति पीडयति यत् मया इदं श्रोतव्यम् 'असौ वसन्तसेना मया चारुदत्तेन हता मारिता' इति। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥२५॥

अदि । भोदु । इमादो पाशादबालग्गपदोलिकादो एदिणा जिण्णगवक्खेण अत्ताणअं णिक्खिवामि । वलं हग्गे उदलदे, ण उण एशे कुलपुत्तविहगाणं वाशपादवे अज्ज-चालुदत्ते । एव्वं जइ विवज्जामि लद्धे मए पललोए । (इत्यात्मानं पातयित्वा) ही ही । ण उवलदम्हि । भग्गे मे दण्डणिअले, ता चाण्डालघोशं शमण्णेशामि (दृष्ट्वोपसृत्य) हंहो चाण्डाला, अन्तलं अन्तलम् । [कथमपापश्चारुदत्तो व्यापाद्यते । अहं निगडेन स्वामिना बद्धः । भवतु । आक्रन्दामि श्रृणुतार्याः, श्रृणुत । अस्तीदानीं मया पापेन प्रवहणमपरिवर्तन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं वसन्तसेना नीता । ततो मम स्वामिना मां न कामयस इति कृत्वा बाहुपाशबलात्कारेण मारिता, न पुनरेतेनार्येण । कथम् । विदूरतया न कोपि श्रृणोति । तत्किं करोमि । आत्मानं पातयामि । यद्येवं करोमि, तदार्यचारुदत्तो न व्यापाद्यते । भवतु । अस्याः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकात एतेन जीर्णगवाक्षेणात्मानं निक्षिपामि । वरमहमुपरतः, न पुनरेष कुलपुत्रविहगानां वासपादप आर्यचारुदत्तः । एवं यदि विपद्ये लब्धो मया परलोकः । आश्चर्यम् । नोपरतोऽस्मि । भग्नो मे दण्डनिगडः । तच्चाण्डालघोषं समन्विष्यामि । हंहो चाण्डालाः, अन्तरमन्तरम्]

चाण्डालौ—अले के अन्तलं मग्गेदि । [अरे, कोऽन्तरं याचते ।]

(चेटः 'शुणाध' (३९८ पृष्ठे) इति पूर्वोक्तं पठति)

चारुदत्तः—अये,

कोऽयमेवंविधे काले कालपाशस्थिते मयि ।
अनावृष्टिहते संस्ये द्रोणमेघं इवोदितः ॥२६॥

भोः, श्रुतं भवद्भिः ।

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः ।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत् ॥२७॥

अन्यच्च ।

तेनास्म्यकृतवैरेण क्षुद्रेणात्यल्पबुद्धिना ।
शरेणेव विषाक्तेन दूषितेनापि दूषितः ॥२८॥

चाण्डालौ—थावलअ, अवि शच्चं भणाशि । [स्थावरक, अपि सत्यं भणसि ।]

चेटः—शच्चम् । हग्गो वि मा कश्श वि कधइश्शशि त्ति पाशादबालग्गपदोलिकाए दण्डणिअलेण बन्धिअ णिक्खित्ते । [सत्यम् अहमपि मा कस्यापि कथयिष्यसीति प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायां दण्डनिगडेन बद्ध्वा निक्षिप्तः ।]

वैक्लव्येन सह इति सवैक्लव्यं विकलतापूर्वकम् । उपरतः मृतः । कुलपुत्राः

अपने आप को गिराता हूँ (सोचकर) यदि ऐसा करता हूँ तो आर्य चारुदत्त नहीं मारे जाते। अच्छा। इस प्रासाद के नवीन अग्रभाग से टूटी खिड़की द्वारा अपने आपको गिराता हूँ। मैं मरा (मर जाऊँ) अच्छा, किन्तु कुलपुत्र रूपी पक्षियों का निवास वृक्ष आर्य चारुदत्त नहीं। यदि मैं इस प्रकार मरता हूँ तो मैंने स्वर्ग पा लिया। (अपने आपको गिराकर) आश्चर्य। मैं मरा नहीं। मेरा बेड़ी-डण्डा (?) टूट गया। अब चाण्डाल की घोषणा (के स्थान) को खोजता हूँ (देखकर, पास जाकर) अरे, चाण्डालो, अवकाश दो अवकाश।

दोनों चाण्डाल—अरे कौन अवकाश माँगता है ?

(चेट 'श्रृणुतार्याः' यह पूर्वोक्त पढ़ता है)

चारुदत्त—अहो,

वर्षा के न होने से सूखते हुए धान्य पर द्रोण नामक मेघ के समान इस प्रकार के (आपत्ति) समय में मेरे काल के पाश में स्थित होने पर यह कौन आ गया है ? ॥२६॥ अरे, आपने सुना।

मैं मृत्यु से भयभीत नहीं हूँ, किन्तु (इसलिये कि) मेरी कीर्ति कलङ्कित हुई है। दोष रहित (पवित्र) होकर मेरी मृत्यु होती तो वह पुत्र के जन्म के समान होती ॥२७॥

और भी—

जिसके साथ वैर नहीं किया था ऐसे नीच, मन्द बुद्धि वाले स्वयं दोषयुक्त उस शकार ने विषयुक्त बाण के समान मुझे दूषित कर दिया है ॥२८॥

दोनों चाण्डाल—स्थावरक, क्या सत्य कहते हो ?

चेट—सच। "तुम किसी से कहोगे नहीं" इसलिये मुझे भी प्रासाद के नवीन अग्रभाग में डण्डा-बेड़ी से बाँधकर डाल दिया।

एव विहगाः पक्षिणः। बालाग्रप्रतोलीतः प्रासादभागाद् इत्यर्थः—(पृथ्वी०)

कोऽयमिति। अनावृष्ट्या वृष्टेः अभावेन हते नष्टप्राये सस्ये धान्ये द्रोणमेघः सस्यवृद्धिकरः मेघविशेषः इव एवंविधे काले आपत्तिसमये मयि चारुदत्ते कालपाशस्थिते कालपाशे स्थिते सति अयं कः उदितः आविर्भूतः। उपमालङ्कारः ॥२६॥

न भीत इति। अहं मरणात् मृत्योः न भीतः अस्मि केवलं यशः कीर्तिः दूषितं कलङ्किता इति बिभेमि। हि तथा हि विशुद्धस्य दोषरहितस्य पवित्रस्य वा मे मम मृत्युः मम कृते पुत्रजन्मसमः पुत्रजन्मसदृशः सुखकरः भवेत्। उपमालङ्कार ॥२७॥

तेनेति। अकृतवैरेण न कृतं वैरं यस्य तादृशेन क्षुद्रेण नीचेन अल्पबुद्धिना अल्पा मन्दा बुद्धिः यस्य तथाभूतेन स्वयं दूषितेन दोषयुक्तेन तेन शकारेण विषाक्तेन विषयुक्तेन शरेण बाणेन इव दूषितः अस्मि। उपमालङ्कारः ॥२८॥

(प्रविश्य)

शकारः—(सहर्षम्)

मंशेण तिक्खामिलकेण भत्ते शाकेन शूपेण शमच्छलकेण
भुत्तं मए अत्तणअश्श गेहे शालिश्शकूलेण गुलोदेणेण ॥२६॥

(कर्णं दत्त्वा) भिण्णकंशखङ्खणाए चाण्डालवाआए शलशंजोए। जधा अ एशे उक्खालिदे वज्झडिण्डिमशद्दे पडहाणं अ शुणीअदि, तधा तक्केमि, दलिद्दचालुदत्ताके वज्झट्ठाणं णीआदि त्ति। ता पेक्खिश्शम्। शत्तुविणाशे णाम मम महन्ते हलक्कशश पलिदोशे होदि। शुदं अ मए, जे वि किल शत्तुं वावादअन्तं पेक्खदि तश्श अण्णशिं जम्मन्तले अक्खिलोगे ण होदि। मए क्खु विशगण्ठिगब्भपविट्ठेण विअ कीडएण किं पि अन्तलं मग्गमाणेण उप्पाडिदे ताह दलिद्दचालुदत्ताह विणाशे। शंपदं अत्तणकेलिकाए पाशादबालग्गपदोलिकाए अहिलुहिअ अत्तणो पलक्कमं पेक्खामि। (तथा कृत्वा दृष्ट्वा च) ही ही, एदाह दलिद्दचालुदत्ताह वज्झं णीअमाणाह एव्वड्ढे जणशंमद्दे जं वेलं अम्हालिशे पवले वलमणुश्शे वज्झं णीअदि तं वेले केदिशे भवे? (निरीक्ष्य) कधम्। एशे शे णवबलद्दके विअ मण्डिदे दक्खिणं दिशं णीअदि। अध किंणिमित्तं मम केलिकाए पाशादबालग्गपदोलिकाए शमीवे घोशणा णिवडिदा, णिवालिदा अ (विलोक्य) कधम्, थावलको चेडे वि णत्थि इध। मा णाम तेण इदो गदुअ मन्तभेदे कडे भविश्शदि। त जाव णं अण्णेशामि।

[मांसेन तिक्ताम्लेन भक्तं शाकेन सूपेन समत्स्यकेन।
भुक्तं मयात्मनो गेहे शालीयकूरेण गुडौदनेन॥]

[भिन्नकांस्यवत्खङ्खणायाश्चाण्डालवाचायाः स्वरसंयोगः। यथा चैष उद्गीतो वध्यडिण्डिमशब्दः पटहानां च श्रूयते, तथा तर्कयामि, दरिद्र चारुदत्तको वध्यस्थानं नीयत इति। तत्प्रेक्षिष्ये। शत्रुविनाशो नाम मम महान्हृदयस्य परितोषो भवति। श्रुतं च मया, योऽपि किल शत्रुं व्यापाद्यमानं पश्यति, तस्यान्यस्मिञ्जन्मान्तरेऽक्षिरोगो न भवति। मया खलु विषग्रन्थिगर्भप्रविष्टेनेव कीटकेन किमप्यन्तरं मृगयमाणेनोत्पादितस्तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य विनाशः। सांप्रतमात्मीयायां प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायामधिरुह्यात्मनः पराक्रमं पश्यामि। ही ही, एतस्य दरिद्रचारुदत्तस्य वध्यं नीयमानस्यैतावाञ्जनसंमर्दः, यस्यां वेलायामस्मादृशः प्रवरो वरमानुषो वध्यं नीयते तस्यां वेलायां कीदृशो भवेत्। कथम्। एष स नववलीवर्द इव मण्डितो दक्षिणां दिशं नीयते। अथ किंनिमित्तं मदीयायाः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायाः समीपे घोषणा निपतिता, निवारिता च? कथम्, स्थावरकश्चेटोऽपि नास्तहि? मा नाम तेनेतो गत्वा मन्त्रभेदः कृतो भविष्यति। तद्यावदेनमन्विष्यामि। (इत्यवतीर्योपसर्पति)

(प्रवेश करके)

शकार—(हर्षपूर्वक)

मैंने अपने घर तीते-खट्टे मांस, शाक, मछली सहित (दाल या रसा), शालि के भात तथा गुड़ मिश्रित चावल (भात) के साथ भोजन किया है ॥२६॥

(कान देकर) टूटे हुए कांसे के (पात्र के) समान खन्-खन् शब्द वाली चाण्डाल की वाणी की आवाज और यह वध्य के ढोल का उच्च (उद्गीत) शब्द तथा नगाड़ों का शब्द सुनाई दे रहा है। इससे मैं अनुमान करता हूँ कि दरिद्र चारुदत्त वध्यस्थान पर ले जाया जा रहा है। तो देखूँगा। शत्रु का विनाश मेरे हृदय का महान् आनन्द (सन्तुष्टि) है। और, मैंने सुना भी है कि जो भी कोई शत्रु को मारे जाते हुए देखता है, उसको दूसरे जन्म में नेत्र रोग नहीं होता। विष-ग्रन्थि के भीतर प्रविष्ट हुए कीट के समान कुछ अवकाश (छिद्र) खोजते हुए मैंने उस दरिद्र चारुदत्त का विनाश उपस्थित कर दिया है। इस समय अपने प्रासाद के नवीन अग्रभाग में चढ़कर अपने पराक्रम को देखता हूँ। (वैसा करके और देखकर) अहो, इस दरिद्र चारुदत्त को वध स्थान को ले जाते समय इतनी अधिक लोगों की भीड़ है। जिस समय हमारे जैसा मुख्य श्रेष्ठ मनुष्य वध स्थान को ले जाया जाये उस समय कैसी (भीड़) होगी। (देखकर) यह वह नये बैल के समान आभूषित करके दक्षिण दिशा को ले जाया जा रहा है। किन्तु किस लिये मेरे प्रासाद के नवीन अग्रभाग के समीप घोषणा हुई और रोक दी गई। (देखकर) क्यों! यहाँ स्थावरक चेट भी नहीं है। ऐसा न हो कि उसने यहाँ से जाकर रहस्य को खोल दिया हो। तो जब तक खोजता हूँ। (उतर कर पास जाता है)।

मांसेनेति। मया शकारेण आत्मनः गेहे तिक्तं च तद् अम्लं चेति तिक्ताम्लं तेन मांसेन शाकेन समत्स्यकेन मत्स्यसहितेन सूपेन शालीयकूरेण शाल्युत्पन्नेन अन्नेन इति काले महोदयः, शालेर्भक्तेन इति पृथ्वीधरः गुडौदनेन गुडमिश्रितेन ओदनेन सह भक्तं भोजनं भुक्तम् ॥२६॥

भिन्नकांस्यवत् खङ्खणायाः खण खण इति शब्दायमानायाः। स्वरसंयोगः स्वराणां सम्बन्धः। विषग्रन्थेः गर्भे अन्तरे प्रविष्टेन कीटकेन इव अन्तरम् अवकाशं छिद्रं मार्गं वा। 'ही' इति विस्मयेऽव्ययम्। जनानां संमर्दः एकत्रीभवनं (भीड़' इति भाषायाम्)। प्रवरः मुख्यः।

चेटः—(दृष्ट्वा) भट्टालका, एशे आगदे। [भट्टारकाः एष स आगतः।]

चाण्डालौ—

ओशलध देध मग्गं दालं ढक्केध होध तुण्हीआ।
अविणअतिक्खविशाणे दुट्ठबइल्ले इदो एदि ॥३०॥
[अपसरत दत्त मार्गं द्वारं पिधत्त भवत तूष्णीकाः।
अविनयतीक्ष्णविषाणो दुष्टबलीवर्द इत एति ॥]

शकारः—अले अले, अन्तले अन्तले वेध। (उपसृत्य) पुत्तका थावलका चेडा, एहि। गच्छम्ह। [अरे अरे, अन्तरमन्तरं दत्त। पुत्रक स्थावरक चेटक, एहि गच्छावः।]

चेटः—ही ही अणज्ज, वशन्तशेणिअं मालिअ ण पलितुट्ठे शि। शंपदं पणइजणकप्पपाववं अज्जचालुदत्तं मालइदुं ववशिवेशि। [ही ही अनार्य, वसन्तसेनां मारयित्वा न परितुष्टोऽसि। सांप्रतं प्रणयिजनकल्पपादपमार्यचारुदत्तं मारयितुं व्यवसितोऽसि।]

शकारः—ण हि लअणकुम्भशलिशे हग्गे इत्थिअं वावादेमि। [न हि रत्नकुम्भसदृशोऽहं स्त्रियं व्यापादयामि।]

सर्वे—अहो, तुए मारिवा। ण अज्जचारुदत्तेण। [अहो, त्वया मारिता नार्यचारुदत्तेन।]

शकार —के एव्वं भणादि। [क एवं भणति।]

सर्वे—(चेटमुद्दिश्य) णं एसो साहू। [नन्वेष साधुः।]

शकारः— (अपवार्य सभयम्) अविद मादिके, अविद मादिके, कधं थावलके चेडे शुश्ठु ण मए शंजदे। एशे क्खु मम अकज्जशश शक्खी। (विचिन्त्य) एव्वं दाव कलइश्शम्। (प्रकाशम्) अलीअं भश्टालका। हंहो, एशे चेडे शुवण्णचोलिआए मए गहिदे पिश्टिदे मालिदे बद्धे अ। तो किदवेले एशे जं भणादि किं शच्चम्। (अपवारितकेन चेटस्य कटकं प्रयच्छति। स्वैरकम्) पुश्तका थावलका चेडा, एदं गेण्हिअ अण्णधा भणाहि। [हन्त कथं स्थावरकश्चेटः सुष्ठु न मया संयतः। एष खलु ममाकार्यस्य साक्षी। एवं तावत्करिष्यामि। अलीकं भट्टारकाः। अहो, एष चेटः सुवर्णचोरिकया मया गृहीतस्ताडितो मारितो बद्धश्च। तत्कृतवैर एव यद्भणति किं सत्यम्? पुत्रक स्थावरक चेट, एतद्गृहीत्वान्यथा भण।]

चेटः—(गृहीत्वा) पेक्खव पेक्खव भट्टालका। हंहो, शुवण्णेण मं पलोभेदि। [पश्यत पश्यत भट्टारकाः। अहो, सुवर्णेन मां प्रलोभयति।]

चेट—(देखकर) मालिक, यह वह आता है।

दोनों चाण्डाल—

हट जाओ, मार्ग दे दो, द्वार बन्द कर लो, चुप हो जाओ। अविनय रूपी तीक्ष्ण सींगों वाला दुष्ट बैल (शकार) इधर आ रहा है ॥३०॥

शकार—अरे अरे, अवकाश दो अवकाश (समीप जाकर) पुत्र स्थावरक, चेट आओ चलें।

चेट—अहो ! अनार्य वसन्तसेना को मार कर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। इस समय प्रार्थी जनों के कल्प वृक्ष आर्य चारुदत्त को मरवाने के लिये उद्यत है।

शकार—रत्न कलश के समान मैं स्त्री को नहीं मारता हूँ।

सब—हाँ ! तुमने मारी है। आर्य चारुदत्त ने नहीं।

शकार—ऐसा कौन कहता है ?

सब—(चेट की ओर संकेत करके) जी, यह सज्जन।

शकार—(अलग से भयपूर्वक) खेद, स्थावरक चेट को मैंने भली-भांति क्यों नहीं बाँधा। यही मेरे अकार्य का साक्षी है। (सोचकर) तो ऐसा करूंगा। (प्रकट रूप में) अधिकारीगण, यह झूठ है। अहो, यह चेट स्वर्ण की चोरी करने के कारण मेरे द्वारा पकड़ा गया, पीटा गया, मारा गया और बांध लिया गया। तो वैर करके जो यह कहता है क्या यह सत्य है ? (अलग से चेट को कड़ा देता हुआ धीमे स्वर से) पुत्रक, स्थावरक, चेट, यह लेकर अन्य प्रकार से कह दे।

चेट—(लेकर) देखिये, मालिक, देखिये। अहो ! मुझे सुवर्ण से लुभा रहा है।

अपसरतेति। अपसरत दूरं गच्छत, मार्गं दत्त, द्वारं पिधत्त आवृतं कुरु तूष्णीकाः मौनयुक्ताः भवत। अविनय एव तीक्ष्णो विषाणः शृङ्गं यस्य तादृशः दुष्टबलीवर्दः दुष्टवृषभरूपः शकार इत्यर्थः इतः अत्र एति आगच्छति। आर्या वृत्तम् ॥३०॥

प्रणयिजनानां प्रार्थिजनानां कल्पपादपं कल्पवृक्षम्। व्यवसितः उद्यतः। स्वैरम् एव स्वैरकम् मन्दस्वरेण, यथा—'पश्चात् स्वैरं गजं इति किल व्याहृतं सत्यवाचा' (वेणीसंहार ३·१)।

शकारः—(कटकमाच्छिद्य) एशे शे शुवण्णके, जश्श कालणादो मए बद्धे । (सक्रोधम्) हंहो चाण्डाला, मए क्खु एशे शुवण्णभण्डाले णिउत्ते शुवण्णं चोलअन्ते मालिदे पिश्टिदे । ता जदि ण पत्तिआअध ता पिश्टिं दाव पेक्खध । [एतत्तत्सुवर्णकम्, यस्य कारणान्मया बद्धः । हंहो चाण्डालाः, मया खल्वेष सुवर्णभण्डारे नियुक्तः सुवर्णं चोरयन्मारितस्ताडितः । तद्यदि न प्रत्ययध्वं तदा पृष्ठं तावत्पश्यत ।]

चाण्डालौ—(दृष्ट्वा) शोहणं भणादि । वितत्ते चेडे किं ण प्पलवदि ? [शोभनं भणति । वितप्तश्चेटः किं न प्रलपति ?]

चेट—हीमादिके ईदिशे दाशभावे जं शच्चं कंपि ण पत्तिआअदि (सकरुणम्) अज्जचालुदत्त, एत्तिके मे विहवे । [हन्त, ईदृशो दासभावः, यत्सत्यं कमपि न प्रत्यायति । आर्य चारुदत्त, एतावन्मे विभवः ।] (इति पादयोः पतति)

चारुदत्तः—(सकरुणम्)

उत्तिष्ठ भोः पतितसाधुजनानुकम्पि-
न्निष्कारणोपगतबान्धव धर्मशील ।
यत्नः कृतोऽपि सुमहान्मम मोक्षणाय
दैवं न संवदति किं न कृतं त्वयाद्य ॥३१॥

चाण्डालौ—भट्टके, पिट्टिअ एदं चेडं णिक्कालेहि । [भट्टक, ताडयित्वैतं चेटं निष्कासय ।]

शकारः—णिक्कम ले (इति निष्क्रामयति) अले चाण्डाला, किं विलम्बेध । मालेध एदम् । [निष्क्राम रे । अरे अरे चाण्डालाः, किं विलम्बध्वम् । मारयतैनम् ।]

चाण्डालौ—जदि तुवलशि ता शअं ज्जेव मालेहि । [यदि त्वरयसे तदा स्वयमेव मारय ।]

रोहसेनः—अले, चाण्डाला, मं मारेध । मुञ्चध आवुकम् । [अरे चाण्डालाः, मां मारयत । मुञ्चत पितरम् ।]

शकारः—शपुत्तं ज्जेव एदं मालेध । [सपुत्रमेवैतं मारयत ।]

चारुदत्तः—सर्वमस्य मूर्खस्य संभाव्यते । तद्गच्छ पुत्र, मातुः समीपम् ।

रोहसेनः—किं मए गदेण कादव्वम् । [किं मया गतेन कर्तव्यम् ।]

चारुदत्तः—

आश्रमं वत्स गन्तव्यं गृहीत्वाद्यैव मातरम्

वितप्तः पीडितः । प्रलपति मिथ्या कथयति 'प्रलापोऽनर्थकं वचः' इत्यमरः ।

शकार—(कड़ा छीनकर) यह वह स्वर्ण है जिसके कारण मैंने इसे बाँधा था (क्रोध सहित) अरे, चाण्डालो मैंने इसे सुवर्ण-भाण्डार में नियुक्त किया था। सुवर्ण चुराते हुए इसे मारा पीटा। तो यदि (तुम दोनों) विश्वास नहीं करते तब (इसकी) पीठ को देख लो।

दोनों चाण्डाल—(देखकर) आप ठीक कहते हैं। उत्पीड़ित किया गया चेट क्या (झूठ) नहीं कहेगा ?

चेट—खेद, दासता ऐसी (बुरी) है कि सत्य का भी किसी को विश्वास नहीं करा पाती। (करुणा सहित) आर्य चारुदत्त, इतना ही मेरा सामर्थ्य है। (चरणों में गिरता है)

चारुदत्त—(करुणा सहित हे आपत्तिग्रस्त श्रेष्ठ जनों पर कृपा करने वाले, अकारण आये हुए बन्धु, धार्मिक जन, उठो। मेरी मुक्ति के लिये तुमने महान् प्रयास किया है किन्तु भाग्य अनुकूल नहीं है। तुमने आज क्या नहीं किया है ॥३१॥

दोनों चाण्डाल—स्वामी, इस चेट को पीटकर निकाल दो।

शकार—निकल रे। (निकलता है) अरे चाण्डालो, क्यों विलम्ब करते हो ? इसको मारो।

दोनों चाण्डाल—यदि शीघ्रता करते हो तो स्वयं ही मार दो।

रोहसेन—अरे चाण्डलो, मुझे मार दो। पिता जी को छोड़ दो।

शकार—इसको पुत्र सहित ही मार दो।

चारुदत्त—इस मूर्ख के लिये सब कुछ सम्भव है। अतः हे पुत्र, माता के समीप जाओ।

रोहसेन—मुझे जाकर क्या करना है ?

चारुदत्त—वत्स, आज ही माता को लेकर आश्रम में चले जाना चाहिए।

हन्त इति खेदे विस्मये चाव्ययम्। दासभावः दासता प्रत्याययति विश्वासयति। विभवः सामर्थ्यम्।

चारुदत्तः पादयोः पतितं स्थावरकचेटं प्रति कथयति—उत्तिष्ठेति। भो पतितम् आपद्ग्रस्तं साधुजनम् अनुकम्पते इति पतितसाधुजनानुकम्पी तत् तत्सम्बुद्धौ, निष्कारणम् उपगतः निष्कारणोपगतः, स चासौ बान्धवश्च तत्सम्बुद्धौ, धर्मशील, उत्तिष्ठ त्वया स्थावरकेण मम चारुदत्तस्य मोक्षणाय मुक्त्यर्थं सुमहान् यत्नः कृतः अपि दैवं न संवदति भाग्यम् अनुकूलं नास्ति। त्वया अद्य किं न कृतम्—यथाशक्ति सर्वमेव कृतमिति भावः। परिकरालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥३१॥

संवदति अनुकूलं भवति।

आश्रमभिति-वत्स अद्य एव मातरं गृहीत्वा आश्रमं तपोवनं गन्तव्यम्। पुत्र मा

मा पुत्र पितृदोषेण त्वमप्येवं गमिष्यसि ॥३२॥

तद्वयस्य, गृहीत्वैवं व्रज ।

विदूषकः—भो वअस्स, एव्वं तुए जाणिदम्, तुए विणा अहं पाणाइं धारेमि त्ति ? [भो वयस्य, एवं त्वया ज्ञातम्, त्वया विनाहं प्राणान्धारयामीति ?]

चारुदत्तः—वयस्य स्वाधीनजीवितस्य न युज्यते तव प्राणपरित्यागः ।

विदूषकः—(स्वगतम्) जुत्तं णेदम् । तधा वि ण सक्कुणोमि पिअवअस्सविरहिदो पाणाइं धारेदुं त्ति । ता बम्हणीए दारअं समप्पिअ पाणपरिच्चाएण अत्तणो पिअवअस्सं अणुगमिस्सम् । (प्रकाशम्) भो वअस्स, पराणेमि एदं लहुम् । [युक्तं नेदम् । तथापि न शक्नोमि प्रियवयस्यविरहितः प्राणान्धर्तुमिति । तद्ब्राह्मण्यै दारकं समर्प्य प्राणपरित्यागेनात्मनः प्रियवयस्यमनुगमिष्यामि । भो वयस्य, परानयाम्येतं लघु ।] (इति सकण्ठग्रहं पादयोः पतति)

(दारकोऽपि रुदन्पतति)

शकारः—अले, णं भणामि शपुत्तकं चालुदत्तकं वावादेध त्ति । [अरे ननु भणामि सपुत्रकं चारुदत्तं व्यापादयतेति ।]

(चारुदत्तो भयं नाटयति)

चाण्डालौ—णहि अम्हाणं ईदिशी लाआणत्ती, जधा शपुत्तं चालुदत्तं वावादेध त्ति । ता णिक्कम ले दालआ, णिक्कम । (इति निष्कामयतः) इमं तइअं घोशणट्ठाणम् । ताडेध डिण्डिमम् । [न ह्यस्माकमीदृशी राजाज्ञप्तिः यथा सपुत्रं चारुदत्तं व्यापादयतेति । तन्निष्क्राम रे दारक, निष्क्राम । इदं तृतीयं घोषणास्थानम् । ताडयत डिण्डिमम् ।] (पुनर्घोषयतः)

शकारः—(स्वगतम्) कधं एशे ण पत्तिआअन्ति पौला । (प्रकाशम्) हंहो चालुदत्ता बडुका, ण पत्तिआअदि एशे पौलजणे । ता अत्तणकेलिकाए जीहाए भणाहि मए वशन्तशेणा मालिदेत्ति । [कथमेते न प्रत्ययन्ते पौराः । अरे चारुदत्त बटुक, न प्रत्ययत एष पौरजनः । तदात्मीयया जिह्वया भण मया वसन्तसेना मारितेति ।]

(चारुदत्तस्तूष्णीमास्ते)

शकारः—अले चाण्डालगोहे, ण भणादि चालुदत्तबडुके । ता भणावेध इमिणा जज्जलवंशखण्डेण शङ्कलेण तालिअ तालिअ । [अरे चाण्डालमनुष्य, न भणति चारुदत्तबटुकः । तदभणयतानेन जर्जरवंशखण्डेन शङ्कुलेन ताडयित्वा ताडयित्वा ।]

चाण्डालः—(प्रहारमुद्यम्य) भो चालुदत्त भणाहि । [भोश्चारुदत्त, भण ।]

चारुदत्तः—(सकरुणम्)

हे पुत्र, नहीं तो पिता के (मेरे) अपराध से तुम भी इसी प्रकार चले जाओगे ॥३२॥

अतः मित्र, इसको लेकर जाओ ।

विदूषक—हे मित्र, तुमने यह समझ लिया है कि मैं तुम्हारे बिना प्राण धारण करूँगा ।

चारुदत्त—मित्र, तुम्हारा जीवन स्वाधीन है अतः तुम्हें प्राण त्याग करना उचित नहीं ।

विदूषक—(अपने आप) निश्चय ही यह ठीक नहीं है । तथापि प्रिय मित्र से विमुक्त होकर मैं प्राण धारण करने में समर्थ नहीं । अतः ब्राह्मणी को यह बालक सौंपकर प्राण-परित्याग कर अपने प्रिय मित्र का अनुसरण करूँगा । (प्रकट रूप से) हे मित्र, मैं इसे शीघ्र ही लौटा ले जाता हूँ ।

(गले मिलकर पैरों पर गिर जाता है)

(बालक भी रोता हुआ गिर जाता है)

शकार—अरे कहता तो हूँ कि चारुदत्त को पुत्र सहित मार दो ।

(चारुदत्त भय का अभिनय करता है)

दोनों चाण्डाल—हमें ऐसी राजाज्ञा नहीं है कि चारुदत्त को पुत्र सहित मार दो । अतः निकल जा हे बालक, निकल जा (दोनों निकालते हैं) यह तीसरा घोषणा स्थल है । ढोल पीटो । (फिर घोषणा करते हैं)

शकार—(अपने आप) क्यों ! ये नगरवासी विश्वास नहीं करते हैं । (प्रकट रूप से) अरे, चारुदत्त बटुक, ये नगरवासी विश्वास नहीं करते हैं । अतः अपनी जिह्वा से कहो कि 'मैंने वसन्तसेना मार दी है ।'

(चारुदत्त चुप रहता है)

शकार—अरे गोह नामक चाण्डाल, चारुदत्त बटुक तो नहीं कहता है । अतः जीर्ण बांस के टुकड़े के इस वादन दण्ड (शङ्खलेन) से पीट पीटकर इससे कहलाओ ।

चाण्डाल—(प्रहार के लिए उद्यत होकर) हे चारुदत्त कहो ।

चारुदत्त—(करुणा सहित)

एतद् न स्याद् यत् पितृदोषेण पितुः (मम) अपराधेन त्वम् अपि रोहसेनः अपि एवम् अहम् इव गमिष्यसि मृत्युं यास्यसि ॥३२॥

स्वाधीनं स्ववशं जीवितं यस्य तथाभूतस्य प्राणपरित्यागः न युज्यते, आत्म-हत्या हि नोचितेति भावः । परासयामि निवर्तयामि । लघु शीघ्रम् ।

प्राप्यैतद्व्यसनमहार्णवप्रपातं
न त्रासो न च मनसोऽस्ति मे विषादः ।
एको मां दहति जनापवादवह्नि-
र्वक्तव्यं यदिह मया हता प्रियेति ॥३३॥

(शकारः पुनस्तथैव)

चारुदत्तः—भो भोः पौराः । ('मया खलु नृशंसेन' (९।३०,३८) इत्यादि पुनः पठति)

शकारः—वावादिदा । [व्यापादिता ।]

चारुदत्तः—एवमस्तु ।

प्रथमचाण्डालः—अले, तव अत्त वज्झपालिआ । [अरे, तवात्र वध्यपालिका ।]

द्वितीयचाण्डालः—अले, तव । [अरे तव ।]

प्रथमः—अले, लेक्खअं कलेम्ह । (इति बहुविधं लेखकं कृत्वा) अले, जवि ममकेलिका वज्झपालिआ, ता चिट्ठवु दाव मुहुत्तअम् । [अरे लेखं कुर्मः । अरे, यदि मदीया वध्यपालिका, तदा तिष्ठतु तावन्मुहूर्तकम् ।]

द्वितीयः—किंणिमित्तम् । [किंनिमित्तम् ।]

प्रथमः—अले, भणिदो म्हि पिदुणा शग्गं गच्छन्तेण, जधा—पुत्त वीरअ, जइ तुह वज्झपालिआ होदि, मा शहशा वावादअशि वज्झम् । [अरे, भणितोऽस्मि पित्रा स्वर्गं गच्छता, यथा—पुत्र वीरक, यदि तव वध्यपालिका भवति, मा सहसा व्यापादयसि वध्यम् ।]

द्वितीयः—अले, किंणिमित्तम् । [अरे, किंनिमित्तम् ।]

प्रथमः—कदावि कोवि शाहू अत्थं दइअ वज्झं मोआवेदि । कदावि लण्णो पुत्ते भोदि, तेण वद्धावेण शव्ववज्झाणं मोक्खे होदि । कदावि हत्थी बन्धं खण्डेदि, तेण संभमेण वज्झे मुक्के होदि । कदावि लाअपलिवत्ते होदि, तेण शव्ववज्झाणं मोक्खे होदि । [कदापि कोऽपि साधुरर्थं दत्त्वा वध्यं मोचयति । कदापि राज्ञः पुत्रो भवति, तेन वृद्धिमहोत्सवेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति । कदापि हस्ती बन्धं खण्डयति, तेन संभ्रमेण वध्यो मुक्तो भवति । कदापि राजपरिवर्तो भवति, तेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति ।]

शकारः—किं किं लाअपलिवत्ते होदि । [किं किं राजपरिवर्तो भवति ।]

चाण्डालः—अले, वज्झपालिआए लेक्खअं कलेम्ह । [अरे, वध्यपालिकाया लेखं कुर्मः ।]

इस विपत्ति के महासमुद्र में गिरकर मेरे मन में भय नहीं और न विषाद ही है। केवल इस लोकापवाद की अग्नि ही मुझे जलाती है जो यहाँ मुझे कहना है कि "मैंने वसन्तसेना को मारा है" ॥३३॥

(शकार फिर वैसे ही कहता है)

चारुदत्त—हे नगरवासियो, (मया खलु नृशंसेन ६. ३०. ३८ इत्यादि फिर पढ़ता है।)

शकार—मार दी।

चारुदत्त—ऐसा ही हो।

प्रथम चाण्डाल—अरे तेरी वध करने की बारी है।

द्वितीय चाण्डाल—अरे तेरी।

प्रथम—अरे गणना करते हैं (बहुत प्रकार की गणना करके; अरे यदि मेरी वध करने की बारी है तो थोड़ी देर ठहरो।

द्वितीय—किस लिए ?

प्रथम—अरे स्वर्ग जाते हुए मेरे पिता ने मुझ से कहा था कि हे वीर पुत्र, यदि तेरी वध की बारी हो तो वध्य को सहसा न मारना।

द्वितीय—अरे, किस लिए ?

प्रथम—कभी कोई सज्जन धन देकर वध्य को छुड़ा लेता है। कभी राजा के पुत्र होता है, उस (कुल) वृद्धि के महोत्सव के कारण सब वध्यजनों को मुक्त कर दिया जाता है, कभी हाथी बन्धन को तोड़ देता है उस घबराहट से वध्यजन मुक्त हो जाता है। कभी राज-परिवर्तन हो जाता है, उससे सब वध्यजनों की मुक्ति हो जाती है।

शकार—क्या-क्या ? राज्य बदलता है ?

चाण्डाल—अजी, वध करने की बारी की गणना (हिसाब) कर रहे हैं।

शङ्कुलेन पटहवादनदण्डेन। प्रहारं प्रहारार्थम् उद्यम्य उद्यतो भूत्वा। चाण्डालेन भीषितः चारुदत्तः कथयति—प्राप्येति। एतद् व्यसनम् आपत्तिः एव महार्णवः महासमुद्रः तत्र प्रपातं पतनं प्राप्य मे मम चारुदत्तस्य मनसः न त्रासः भयं न च विषादः अस्ति। एकः केवलं मया चारुदत्तेन लोभात् प्रिया वसन्तसेना हतेति यत् इह अत्र वक्तव्यम् इति जनापवादः लोकापवादः एव वह्निः अग्निः मां दहति सन्तापयति। रूपकालङ्कारः। प्रहर्षि[illegible] वृत्तम् ॥३३॥

वध्यपालिका वेधपर्यायः (पृथ्वी०)। लेखं गणनाम्। वीर एव वीरकः तत्सम्बुद्धौ। वीरक इति चाण्डालनाम—इति पृथ्वीधरः।

वृद्धेः कुलवृद्धेः अभ्युदयस्य वा महोत्सवः तेन निमित्तेन। बन्धं खण्डयति बन्धम् आच्छिद्य प्रसरति (पृथ्वी०)।

शकारः—अले, शिग्घं मालेध चालुदत्ताकम् । [अरे, शीघ्रं मारयत चारुदत्तम् ।] (इत्युक्त्वा चेटं गृहीत्वैकान्ते स्थितः)

चाण्डालः—अज्जचालुदत्त, लाअणिओओ क्खु अवलज्झदि, ण क्खु अम्हे चाण्डाला । ता शुमलेहि जं शुमलिदव्वं । [आर्यचारुदत्त, राजनियोगः खल्वपराध्यति, न खलु वयं चाण्डालाः तत्स्मर यत् स्मर्तव्यम् ।]

चारुदत्तः—

प्रभवति यदि धर्मो दूषितस्यापि मेऽद्य
प्रबलपुरुषवाक्यैर्भाग्यदोषात्कथञ्चित् ।
सुरपतिभवनस्था यत्र तत्र स्थिता वा
व्यपनयतु कलङ्कं स्वस्वभावेन सैव ॥३४॥

भोः, क्व तावन्मया गन्तव्यम् ।

चाण्डालः—(अग्रतो दर्शयित्वा) अले, एदं दीशदि दक्खिणमशाणम्, जं पेक्खिअ वज्झा झत्ति पाणाइं मुञ्चन्ति । पेक्ख पेक्ख ।

अद्धं कलेवलं पडिवुत्तं कट्टन्ति दीहगोमाआ ।
अद्धं पि शूललग्गं वेशं विअ अट्टहाशश्श ॥३५॥

[अरे एतद्दृश्यते दक्षिणश्मशानं यत्प्रेक्ष्य वध्या झटिति प्राणान्मुञ्चन्ति । पश्य पश्य ।

अर्धं कलेवरं प्रतिवृत्तं कर्षन्ति दीर्घगोमायवः ।
अर्धमपि शूललग्नं वेश इवाट्टहासस्य ॥]

चारुदत्तः—हा, हतोऽस्मि मन्दभाग्यः (इति सावेगमुपविशति)

शकारः—ण दाव गमिश्शम् । चालुदत्ताकं वावादअन्तं दाव पेक्खामि । (परिक्रम्य दृष्ट्वा) कधं उवविट्ठे । [न तावद्गमिष्यामि । चारुदत्तकं व्यापाद्यमानं तावत्पश्यामि । कथमुपविष्टः ।]

चाण्डालः—चालुदत्ता किं भीदेशि । [चारुदत्त, किं भीतोऽसि ।]

चारुदत्तः—(सहसोत्थाय) मूर्ख । ('न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः' (१०।२७) इत्यादि पुनः पठति)

चाण्डालः—अज्जचालुदत्त, गअणदले पडिवशन्ता चन्दशुज्जा वि विपत्तिं लहन्ति । किं उण जणा मलणभीलुआ माणवा वा । लोए कोवि उट्ठिदो पडदि, कोवि पडिदोवि उट्ठेदि ।

उट्ठन्तपडन्ताह वशणपाडिआ शवश्श उण अत्थि ।
एवाइं हिअए कदुअ संधालेहि अत्ताणअम् ॥३६॥

शकार—अरे चारुदत्त को शीघ्र मार दो।

(यह कहकर चेट को लेकर एकान्त में ठहर जाता है)

चाण्डाल—आर्य चारुदत्त, राजा अपराधी है हम दोनों चाण्डाल नहीं। तो स्मरण कर लो जिसे स्मरण करना हो।

चारुदत्त—आज शक्तिशाली पुरुष (न्यायाधीश या शकार) के वचनों से अपने भाग्य-दोष के कारण कलङ्कित हुए मेरा धर्म यदि कुछ भी प्रभाव रखता है तो इन्द्र के भवन (स्वर्ग) में स्थित अथवा जहाँ कहीं (जीवित हो) विद्यमान वह वसन्तसेना ही अपने स्वभाव से मेरे कलङ्क को दूर करे ॥३४॥

अरे, अब मुझे कहाँ जाना है ?

चाण्डाल—(आगे दिखलाकर) अरे यह दक्षिण श्मशान दिखलाई दे रहा है जिसे देखकर वध्य तुरन्त ही प्राणों को छोड़ देते हैं। देखो देखो।

उन्नत शरीर वाले शृगाल शूल से लटकते हुए (प्रतिवृत्तं) आधे शरीर को खींच रहे हैं। शूल पर स्थित (शेष) आधा भाग भी (काल के) विकट हास का रूप-सा प्रतीत होता है ॥३५॥

चारुदत्त—हाय, मन्दभाग्य वाला मैं मर गया। (आवेग के साथ बैठ जाता है)—।

शकार—अभी नहीं जाऊँगा। जब तक चारुदत्त को मारे जाते हुए देखता हूँ। (घूमकर देखकर) क्या वह बैठ गया ?

चाण्डाल—चारुदत्त, क्या डर गये हो ?

चारुदत्त—(सहसा उठकर) मूर्ख (न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः १०।२७ इत्यादि फिर पढ़ता है)

चाण्डाल—आर्य चारुदत्त, गगन तल में वास करने वाले चन्द्रमा और सूर्य भी विपत्ति को प्राप्त होते हैं, फिर मनुष्य अथवा (कहिये) मृत्यु से डरने वाले मानव

सा वसन्तसेनैव भाग्याद्दूषितस्य मे कलङ्कं दूरीकरोतु इत्याह चारुदत्तः—प्रभवतीति। अद्य प्रबलपुरुषस्य न्यायाधीशस्य शकारस्य वा वाक्यैः वचनैः भाग्य-दोषात् दूषितस्य अपि मे मम चारुदत्तस्य धर्मः पुण्यं यदि कथञ्चित् प्रभवति समर्थोऽस्ति तदा सुरपतेः भवनस्था स्वर्गे स्थिता यत्र तत्र स्थिता वा जीवन्ती एव यत्र क्वचित् वर्तमाना वा सा वसन्तसेनैव स्वस्वभावेन आत्मनः स्वरूपेण चरित्रेण वा मम कलङ्कं व्यपनयतु दूरीकरोतु। मालिनी वृत्तम् ॥३४॥

अर्धमिति। दीर्घाः उन्नताः विशालाः वा गोमायवः शृगालाः प्रतिवृत्तं शूलाद् लम्बितम्। अर्धं कलेवरं शरीरं कर्षन्ति। शूले लग्नं स्थितम् अर्धम् अपि अट्टहासस्य कालस्य विकटहासस्य वेशः इव स्वरूपमिव विद्यते इति शेषः। आर्या वृत्तम् ॥३५॥

सावेगम् आवेगेन सहितम्।

उतिष्ठव् इति। उत्तिष्ठन् चासौ पतन् चेति तस्य अथवा पूर्वम् उत्तिष्ठतः पश्चात् पततः च शवस्य मृतशरीरस्य पुनः वसनस्य वस्त्रस्य इव पातिका

(द्वितीयचाण्डालं प्रति) एवं चउट्ठं घोशणट्ठाणम् । ता उग्घोशम्ह [आर्यचारुदत्त, गगनतले प्रतिवसन्तौ चन्द्रसूर्यावपि विपत्तिं लभेते । किं पुनर्जना मरणभीरुका मानवा वा । लोके कोऽप्युत्थितः पतति, कोऽपि पतितोऽप्युत्तिष्ठते ।

उत्तिष्ठत्पततो वसनपातिका शवस्य पुनरस्ति ।
एतानि हृदये कृत्वा संधारयात्मानम् ॥

एतच्चतुर्थं घोषणास्थानम् । तदुद्घोषयावः ।]

(पुनस्तथैवोद्घोषयतः)

चारुदत्तः—हा प्रिये वसन्तसेने । (शशिविमलमयूख' (१० १३) इत्यादि पुनः पठति) (ततः प्रविशति ससंभ्रमा वसन्तसेना भिक्षुश्च)

भिक्षु - हीमाणहे, अट्ठाणपलिश्शन्तं शमश्शाशिअ वशन्तशेणिअं णअन्ते अणुग्गहिदह्मि पव्वज्जाए । उवाशिके, कहिं तुमं णइश्शम् । [आश्चर्यम् । अस्थान-परिश्रान्तां समाश्वास्य वसन्तसेनिकां नयन्ननुगृहीतोस्मि प्रव्रज्यया । उपासिके कुत्र त्वां नेष्यामि ।

वसन्तसेना—अज्जचारुदत्तस्स ज्जेव गेहम् । तस्स दंसणेण मिअलाञ्छणस्स विअ कुमुदिणिं आणन्देहि मम् । [आर्य चारुदत्तस्यैव गेहम् । तस्य दर्शनेन मृग-लाञ्छनस्येव कुमुदिनीमानन्दय माम् ।]

भिक्षुः—(स्वगतम्) कदलेण मग्गेण पविशामि ! (विचिन्त्य) लाअमग्गेण ज्जेव पविशामि । उवाशिके, एहि । इमं लाअमग्गम् । (आकर्ण्य) किं णु क्खु एशे लाअमग्गे महन्ते कलअले शुणीअदि ? [कतरेण मार्गेण प्रविशामि । राजमार्गेणैव प्रविशामि । उपासिके, एहि । अयं राजमार्गः । किं नु खल्वेष राजमार्गे महान्कलकलः श्रूयते ?]

वसन्तसेना— (अग्रतो निरूप्य) कधं पुरदो महाजणसमूहो ? अज्ज जाणाहि दाव किं णेदं त्ति । विसमभरक्कन्ता विअ वसुन्धरा एअवासोण्णदा उज्जइणी वट्टदि । [कथं पुरतो महाञ्जनसमूहः ? आर्य, जानीहि तावत्किन्विदमिति । विषमभर-क्रान्तेव वसुन्धरा एकवासोन्नतोज्जयिनी वर्तते ।

चाण्डालः—इमं अ पच्छिमं घोषणट्ठाणम् । ता तालेध डिण्डिमम् । उग्घो-शेध घोशणम् । (तथा कृत्वा) भो चारुदत्त, पडिवालेहि । मा भाआहि । लहुं ज्जेव मालीअशि । [इदं च पश्चिमं घोषणास्थानम् । तत्ताडयत डिण्डिमम् । उद्-घोषयत घोषणाम् । भोश्चारुदत्त, प्रतिपालय । मा भैः । शीघ्रमेव मार्यसे ।]

चारुदत्तः—भगवत्यो देवताः ।

भिक्षुः—(श्रुत्वा ससंभ्रमम्) उवाशिके, तुमं किल चारुदत्तेण मालिदाशि त्ति चालुदत्तो मालिदुं णीअदि । [उपासिके, त्वं किल चारुदत्तेन मारितासीति चारुदत्तो मारयितुं नीयते ।]

(मर्त्यं) तो क्या ? लोक में कोई उठकर गिरता है, कोई गिरकर भी उठता है।

उठकर गिरते हुए मृत शरीर की भी वस्त्र के समान ही पतन क्रिया होती है। यह हृदय में विचार कर अपने आपको स्थिर करो ॥३३॥

(फिर वैसे ही घोषणा करते हैं)

चारुदत्त—हाय प्रिये, वसन्तसेने, (शशिविमलमयूख १०।१३ इत्यादि फिर पढ़ता है)

(तब घबराहट के साथ वसन्तसेना प्रवेश करती है और भिक्षु भी)

भिक्षु—आश्चर्य है ! अनुचित स्थान में परिश्रान्त (मूर्च्छित) हुई वसन्तसेना को आश्वस्त (स्वस्थ) करके ले जाता हुआ मैं संन्यास द्वारा अनुगृहीत (कृतकृत्य) हुआ हूँ। उपासिके तुम्हें कहाँ ले चलूं ?

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त के ही घर। उनके दर्शन से, चन्द्रमा के दर्शन से कुमुदिनी के समान, मुझको आनन्दित करो।

भिक्षु—(अपने आप) किस मार्ग से प्रवेश करूँ ? (सोचकर) राजमार्ग से ही प्रवेश करूँ। उपासिके, आओ यह राजमार्ग है। (सुनकर) क्या ! राजमार्ग पर बड़ा कोलाहल सुनाई दे रहा है ?

वसन्तसेना—(आगे देखकर) क्यों सामने बड़ा जन-समुदाय है। आर्य पता तो लगाओ कि यह क्या है ? विषमभार से आक्रान्त पृथ्वी के समान उज्जयिनी नगरी एक स्थान पर उमड़ी जा रही है।

चाण्डाल—और यह पाँचवाँ घोषणा स्थल है, अतः ढोल पीटो, घोषणा घोषित करो। (वैसा करके) हे चारुदत्त, प्रतीक्षा करो (उद्यत हो जाओ), डरो मत। शीघ्र ही मारे जा रहे हो।

चारुदत्त—भगवती देवताओ !

भिक्षु—(सुनकर घबराहट से) उपासिके, तुम्हें चारुदत्त ने मार दिया, इसलिये चारुदत्त को मारने के लिये ले जाया जा रहा है।

पतनक्रिया अस्ति यथा जीर्णवस्त्रं त्यज्यते तथैव शरीरमपि इति भावः, एतानि हृदये कृत्वा आत्मानं संधारय स्थिरं कुरु ॥३६॥

प्रव्रज्यया प्रव्रज्यते इति प्रव्रज्या तया, संन्यासेन अनुगृहीतः अस्मि कृतार्थः कृतोऽस्मि। मृगस्य लाञ्छनं चिह्नं यस्मिन् सः तस्य चन्द्रस्य। एकवासे एकस्थाने उन्नता। प्रतिपालय प्रतीक्षां कुरु प्रहारं सोढुमुद्यतो भवेति भावः।

वसन्तसेना—(ससंभ्रमम्) हद्धी हद्धी, कधं मम मन्दभाइणीए किदे अज्जचालुदत्तो वावादीअदि ? भो तुरिदं तुरिदं आदेसेहि मग्गम् । [हा धिक् हा धिक्, कथं मम मन्दभागिन्याः कृत आर्यचारुदत्तो व्यापाद्यते । भोः त्वरितं त्वरितमादिश मार्गम् ।]

भिक्षुः—तुवलदु तुवलदु बुद्धोवाशिका अज्जचालुदत्तं जीअन्तं शमश्शाशिदुम् । अज्जा, अन्तलं अन्तलं देध । [त्वरतां त्वरतां बुद्धोपासिकार्यचारुदत्तं जीवन्तं समाश्वासयितुम् । आर्याः अन्तरमन्तरं दत्त ।]

वसन्तसेना—अन्तरं अन्तरम् । [अन्तरमन्तरम् ।]

चाण्डालः—अज्ज चालुदत्त, शमिणिओओ अवलज्झदि । ता शुमलेहि जं शुमलिदव्वम् । [आर्यचारुदत्त, स्वामिनियोगोऽपराध्यति । तत्स्मर यत्स्मर्तव्यम् ।]

चारुदत्तः—किंबहुना । (प्रभवति—' (१०।३४) इत्यादि श्लोकं पठति)

चाण्डालः—(खड्गमाकृष्य) अज्जचालुदत्त, उत्ताणे भविअ समं चिट्ठ । एक्कप्पहालेण मालिअ तुमं शग्गं णेम्ह । [आर्यचारुदत्त, उत्तानो भूत्वा समं तिष्ठ । एकप्रहारेण मारयित्वा त्वां स्वर्गं नयामः ।]

(चारुदत्तस्तथा तिष्ठति)

चाण्डालः—(प्रहर्तुमीहते खड्गपतनं हस्तादभिनयन्) ही, कधम् ।

आअट्ठिदे शलोशं मुट्ठीए मुट्ठिणा गहीदे वि ।
धलणीऐ कीश पडिदे दालुणके अशणिशंणिहे खग्गे ॥३७॥

भअवदि शज्झजधा एदं संवुत्तम्, तधा तक्केमि ण विवज्जदि अज्जचालुदत्ते त्ति । भअवदि शज्झवाशिणि पशीद पशीद । अवि णाम चालुदत्तश्श मोक्खे भवे, तदो अणुगहीदं तुए चाण्डालउलं भवे । [ही कथम् ।

आकृष्टः सरोषं मुष्टिना गृहीतोऽपि ।
धरण्यां किमर्थं पतितो दारुणकोऽशनिसंनिभः खड्गः ॥

भगवति यथैतत्संवृत्तम्, तथा तर्कयामि न विपद्यत आर्यचारुदत्त इति । भगवति सह्यवासिनि, प्रसीद प्रसीद । अपि नाम चारुदत्तस्य मोक्षो भवेत्, तदानुगृहीतं त्वया चाण्डालकुलं भवेत् ।]

अपरः—जधाणत्तं अणुचिट्ठम्ह । [यथाज्ञप्तमनुतिष्ठावः ।]

प्रथमः—भोदु । एव्वं कलेम्ह । [भवतु । एवं कुर्वः ।]

(इत्युभौ चारुदत्तं शूले समारोपयितुमिच्छतः)

(चारुदत्तः 'प्रभवति' (१०।३४) इत्यादि पुनः पठति)

भिक्षुर्वसन्तसेना च—(दृष्ट्वा) अज्जा, मा दाव मा दाव । अज्जा एसा अहं मन्दभाइणी, जाए कारणादो एसो वावादीअदि । [आर्याः मा तावन्मा तावत् । आर्याः एषाहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते ।]

वसन्तसेना—(घबराहट के साथ) हाय धिक्कार ! हाय धिक्कार ! मुझ मन्दभागिनी के लिये चारुदत्त को क्यों मारा जा रहा है ? अरे, शीघ्रातिशीघ्र मार्ग बतलाओ ।

भिक्षु—जीवित रहते आर्य चारुदत्त को आश्वासन देने के लिये बुद्ध की उपासिका शीघ्रता करें, शीघ्रता करें । आयजनो, स्थान (दो), स्थान (दो) ।

वसन्तसेना— मार्ग (दो), मार्ग (दो) ।

चाण्डाल—आर्य चारुदत्त. (इसमें) स्वामी का आदेश ही अपराधी है । अतः जो कुछ स्मरण करना हो, स्मरण कर लो ।

चारुदत्त—अधिक क्या ('प्रभवति' १० । ३४ इत्यादि श्लोक पढ़ता है)

चाण्डाल—(तलवार खींचकर) आर्य चारुदत्त, ऊपर को होकर सीधे खड़े हो, एक प्रहार से मारकर तुम को स्वर्ग में पहुंचाते हैं ।

(चारुदत्त वैसे ही खड़ा होता है)

चाण्डाल—(प्रहार करना चाहता है । हाथ से तलवार गिरने का अभिनय करता हुआ) ओह ! यह कैसे ?

रोषपूर्वक (म्यान से) खींची गई, मूठ पर मुट्ठी से पकड़ी गई वज्र के समान भयंकर यह तलवार क्यों गिर गई ? ॥३७॥

क्योंकि ऐसा हुआ है उससे मैं अनुमान करता हूँ कि आर्य चारुदत्त नहीं मारा जाता । सह्य (पर्वत) पर वास करने वाली देवी (दुर्गा), प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ । यदि चारुदत्त की मुक्ति हो जाय तो तुम्हारे द्वारा यह चाण्डाल कुल अनुगृहीत हो जाये ।

दूसरा—हम दोनों (राजा की) आज्ञा के अनुसार कार्य करें ।

प्रथम—अच्छा, ऐसा ही करें ।

(दोनों चारुदत्त को शूली पर चढ़ाना चाहते हैं)

(चारुदत्त 'प्रभवति—१० । ३४ । इत्यादि फिर पढ़ता है)

भिक्षु और वसन्तसेना—(देखकर) आर्यजनो, ऐसा न कीजिए, न कीजिए । आर्यगण यह मैं मन्दभागिनी हूँ जिसके कारण ये मारे जा रहे हैं ।

आकृष्ट इति । सरोषं रोषपूर्वकम् आकृष्टः कोशात् निष्कासितः मुष्टौ: खड्गस्य मुष्टौ (त्सरौ) मुष्टिना स्वहस्तमुष्टिना गृहीतः अपि अशनिसन्निभः वज्रसदृशः दारु कः: भयङ्करः खड्गः किमर्थं किन्निमित्तं धरण्यां भूमौ पतितः ? उद्गीतिः वृत्तम् (पृथ्वी०) ॥३७॥

सह्ये एतन्नामके पर्वते वसतीति सह्यवासिनी, तत्रस्था दुर्गादेवी, तस्य चाण्डालस्य कुलदेवता, तस्याः सम्बोधनम् ।

चाण्डालः—(दृष्ट्वा)

का उण तुलिदं एशा अंशपडन्तेण चिउलभालेण ।
मा मेत्ति वाहलन्ती उट्ठिदहत्था इदो एदि ॥३८॥
[का पुनस्त्वरितमेषांसपतता चिकुरभारेण ।
मा मेति व्याहरन्त्युत्थितहस्तेत एति ॥]

वसन्तसेना—अज्जचालुदत्त, किं णेदम् । [आर्यचारुदत्त, किं न्विदम् ।] (इत्युरसि पतति)

भिक्षुः—अज्जचालुदत्त किं णेदम् । [आर्यचारुदत्त, किं न्विदम् ।]

(इति पादयोः पतति)

चाण्डालः—(सभयमुपसृत्य) कधम्, वसन्तशेणा । णं क्खु अम्हेहिं शाहू ण वावादिदे । [कथम् वसन्तसेना । ननु खल्वस्माभिः साधुर्न व्यापादितः ।]

भिक्षुः—(उत्थाय) अले जीवदि चालुदत्ते । [अरे, जीवति चारुदत्तः ।]

चाण्डालः—जीवदि वश्शशदम् । [जीवति वर्षशतम् ।]

वसन्तसेना—(सहर्षम्) पच्चुज्जीविदम्हि । [प्रत्युज्जीवितास्मि ।]

चाण्डालः—ता जाव एदं वुत्तं लाइणो जण्णवाडगदश्श णिवेदेम्ह । [तद्यावदेतद्वृत्तं राज्ञो यज्ञवाटगतस्य निवेदयावः ।]

(इति निष्क्रामतः)

शकारः—(वसन्तसेनां दृष्ट्वा सत्रासम् ह्रीमादिके) केण गब्भदाशी जीवाविदा उक्कन्ताइं मे पाणाइं । भोदु पलाइश्शम् । [आश्चर्यम् । केन गर्भदासी जीव प्रापिता । उत्क्रान्ता मे प्राणाः । भवतु पलायिष्ये] इति पलायते)

चाण्डालः—(उपसृत्य) अले, णं अम्हाणं ईदिशी लाआणत्ती जेण वावादिदा, तं मालेध त्ति । ता लट्ठिअश लअं ज्जेव अण्णेशम्ह । [अरे, नन्वस्माकमीदृशी राजाज्ञप्तिः—येन सा व्यापादिता, तं मारयतेति । तद्राष्ट्रियश्याल मेवान्विष्यावः ।]

(इति निष्क्रान्तौ)

चारुदत्तः—(सविस्मयम्)

केयमभ्युद्यते शस्त्रे मृत्युवक्त्रगते मयि ।
अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणवृष्टिरिवागता ॥३९॥

(अवलोक्य च)

वसन्तसेना किमियं द्वितीया समागता सैव दिवः किमित्थम् ।

का पुनरिति । अंसयोः स्कन्धयोः पतता चिकुरभारेण केशकलापेन उपलक्षिता उत्थितहस्ता उत्थितः हस्तः यस्याः सा 'मा' 'मा' इति व्याहरन्ती कथयन्ती एषा

चाण्डाल—(देखकर) कंधों पर बिखरे हुए केशकलाप से युक्त हाथ उठाये हुए "नहीं, नहीं" यह कहती हुई यह कौन शीघ्रता से इधर आ रही है ॥३८॥

वसन्तसेना—आर्य चारुदत्त, यह क्या ? (वक्षःस्थल पर गिर जाती है)

भिक्षु—आर्य चारुदत्त यह क्या ? (चरणों पर गिरता है)

चाण्डाल—(भयपूर्वक पास जाकर) क्या ? वसन्तसेना ! ठीक है, हमने सत्पुरुष को नहीं मारा।

भिक्षु—(उठकर) अरे, चारुदत्त जीवित है।

चाण्डाल—सौ वर्ष तक जीवित रहे।

वसन्तसेना—(हर्ष के साथ) मैं पुनः जीवित हो गई हूँ।

चाण्डाल—जब तक यह समाचार यज्ञशाला में स्थित राजा से निवेदन करते हैं।

(दोनों जाते हैं)

शकार—(वसन्तसेना को देखकर भयपूर्वक) आश्चर्य, किसने इस जन्मदासी को जीवन प्राप्त करा दिया ? मेरे प्राण निकल रहे हैं। अच्छा, भाग जाऊँ।

(भाग जाता है)

चाण्डाल—(समीप जाकर) अरे, हमें ऐसी राजा की आज्ञा है कि जिसने उस (वसन्तसेना) को मारा है, उसको मार दो। अतः राजा के साले को ही खोजते हैं।

(चले जाते हैं)

चारुदत्त—(आश्चर्य से)

(मेरे वध के लिये) शस्त्र उठ जाने पर तथा मेरे मृत्यु के मुख में चले जाने पर यह कौन (नारी), अनावृष्टि से नष्टप्रायः खेती पर द्रोण (नामक मेघ) की वर्षा के समान, आ गई है ॥३९॥

(तब देखकर)

क्या यह दूसरी वसन्तसेना है ? क्या वही स्वर्गलोक से इस प्रकार (देह धारण करके) आ गई है ?

त्वरितम् इतः एति आगच्छति ? गाथा वृत्तम् ॥३८॥

उरसि वक्षःस्थले, पादयोः इति पाठान्तरम् प्रत्युज्जीविता अस्मि चारुदत्तस्य जीवनेनाहं पुनर्जीविताऽस्मि। यज्ञवाटगतस्य यज्ञशालायां स्थितस्य।

केयमिति। शस्त्रे खड्गरूपे अभ्युद्यते मम वधार्थम् उद्गते मयि चारुदत्ते च मृत्योः वक्त्रगते मुखगते सति अनावृष्ट्या वृष्टेः अभावेन हते नष्टप्राये सस्ये द्रोणस्य मेघविशेषस्य वृष्टिः वर्षणमिव इयं का आगता। उपमालङ्कारः॥३९॥

वसन्तसेनेति। किम् इयं पुरो दृश्यमाना द्वितीया वसन्तसेना ? किम सा एव दिवः स्वर्गलोकाद् इत्थं एवं रूपेण समागता ?

भ्रान्तं मनः पश्यति वा ममैनां वसन्तसेना न मृताथ सैव ॥४०॥

अथवा

किं नु स्वर्गात्पुनः प्राप्ता मम जीवातुकाम्यया ।
तस्या रूपानुरूपेण किमुतान्येयमागता ॥४१॥

वसन्तसेना—(सास्रमुत्थाय पादयोर्निपत्य) अज्जचारुदत्त, सा ज्जेव अहं पावा, जाए कारणादो इअं तुए असरिसी अवत्था पाविदा । [आर्यचारुदत्त, सैवाहं पापा, यस्याः कारणादियं त्वयाऽसदृश्यवस्था प्राप्ता ।]

(नेपथ्ये)

अच्चरिअं अच्चरिअम् । जीवदि वसन्तसेणा । [आश्चर्यमाश्चर्यम् । जीवति वसन्तसेना ।] (इति सर्वे पठन्ति)

चारुदत्तः—(आकर्ण्य सहसोत्थाय स्पर्शसुखमभिनीय निमीलिताक्ष एव हर्ष-गद्गदाक्षरम्) प्रिये, वसन्तसेना त्वम् ।

वसन्तसेना—सा ज्जेवाहं मन्दभाआ । [सैवाहं मन्दभाग्या ।]

चारुदत्तः—(निरूप्य सहर्षम्) कथं वसन्तसेनैव । (सानन्दम्)

कुतो बाष्पाम्बुधाराभिः स्नपयन्ती पयोधरौ ।
मयि मृत्युवशं प्राप्ते विद्येव समुपागता ॥४२॥

प्रिये वसन्तसेने,

त्वदर्थमेतद्विनिपात्यमानं देहं त्वयैव प्रतिमोचितं मे ।
अहो प्रभावः प्रियसंगमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्ध्रियेत ॥४३॥

अपि च । प्रिये, पश्य ।

रक्तं तदेवं वरवस्त्रमियं च माला
कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति ।

अथवा मम भ्रान्तं भ्रान्तियुक्तं मनः एनां वसन्तसेनां पश्यति न तु वस्तुतोऽत्र विद्यते इति भावः । अथवा वसन्तसेना न मृता सा एव चेयम् ? सन्देहालङ्कारः । उपजातिः वृत्तम् ॥४० ।

किं न्विति । किं नु इति वितर्के मम चारुदत्तस्य जीवातु जीवितं तस्य काम्यया इच्छया पुनः प्राप्ता आगता । किमुत तस्याः वसन्तसेनायाः रूपानुरूपेण रूपस्य अनुरूपेण सादृश्येन उपलक्षिता इयम् अन्या काचिद् आगता । सन्देहालङ्कारः ॥४१॥

असदृशी अनुचिता ।

'वसन्तसेनैव समागता' इत्यवधार्य चारुदत्तः सानन्दं कथयति—कुत इति । मयि चारुदत्ते मृत्युवशं प्राप्ते सति बाष्पाम्बुधाराभिः अश्रुजलधाराभिः पयोधरौ

अथवा मेरा भ्रान्तियुक्त मन इस (स्त्री) को वसन्तसेना देख (समझ) रहा है ? अथवा वसन्तसेना मरी नहीं है, यह वही है ? ॥४०॥

अथवा-क्या मुझे जीवित रखने की इच्छा से यह फिर स्वर्ग से आ गई है अथवा उस (वसन्तसेना) के रूप के समान रूप वाली यह कोई अन्य (स्त्री) आई है ॥४१॥

वसन्तसेना—(अश्रुसहित उठकर, चरणों में गिरकर) आर्य चारुदत्त मैं वही पापिनी हूँ, जिसके कारण तुमने यह अनुचित दशा प्राप्त की है।

(नेपथ्य में)

आश्चर्य है, आश्चर्य ! वसन्तसेना जीवित है, (यह सब पढ़ते हैं)

चारुदत्त—(सुनकर, सहसा उठकर, स्पर्श-सुख का अभिनय करके नेत्र मूंदे हुए ही हर्ष से गद्गद् अक्षरों में) प्रिये, तुम वसन्तसेना हो।

वसन्तसेना—मैं वही मन्दभागिनी हूँ।

चारुदत्त—(देखकर, हर्षपूर्वक) क्या वसन्तसेना ही हो ? (आनन्दपूर्वक) मेरे मृत्यु के वश में होने पर अश्रु-जल की धाराओं से स्तनों को सींचती हुई (संजीवनी) विद्या के समान तुम कहाँ से आ गई हो ? ॥४२॥

प्रिय वसन्तसेने,

तुम्हारे कारण नष्ट किया जाता हुआ यह मेरा शरीर तुम्हारे द्वारा ही मुक्त करा दिया गया। अहो ! प्रियमिलन का महान् प्रभाव ! अन्यथा मरा हुआ भी कोई फिर जीवित हो सकता है ? ॥४३॥

और भी प्रिये, देखो—

प्रिया के आगमन से वही लाल वस्त्र दूल्हे के वस्त्र (के समान) और यह

स्तनौ स्नपयन्ती सिञ्चन्ती विद्या सञ्जीवनी विद्या इव कुतः समागता। पथ्यावक्त्रं वृत्तम्। उपमालङ्कारः ॥४२॥

त्वदर्थमिति। त्वदर्थं तव कारणात् विनिपात्यमानं विनाश्यमानं मे मम देहं शरीरं त्वया वसन्तसेनया एव प्रतिमोचितम्। अहो आश्चर्येऽव्ययम्। प्रियसङ्गमस्य प्रियजनस्य सङ्गमस्य प्रभावः प्रियसङ्गमस्य हि महान् प्रभावः इत्यर्थः अन्यथा मृतः अपि कः नाम कः जनः पुनः ध्रियेत प्राणैः इति शेषः, प्राणधारणं कुर्यादिति भावः। अत्र देहशब्दः नपुंसके प्रयुक्तः 'कायो देहः क्लीबपुंसोः' इत्यमरः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार उपजाति वृत्तम् ॥४३॥

प्रियागमनेन वध्यचिह्नानि अपि विवाहचिह्नानि जातानि इत्याह—रक्तमिति। कान्तागमेन हि तद् एव रक्तं वरवस्त्रम् इयं च माला वरस्य यथा (तथा) विभाति। तथैव च एते वध्यपटहध्वनयः विवाहपटध्वनिभिः समानाः जाताः—इत्यन्वयः।

कान्तायाः प्रियायाः आगमेन हि निश्चितं तद् एव वध्यचिह्नं रक्तं रक्तवस्त्रं वरवस्त्रं [illegible] इयं च गले धारिता माला करवीरपुष्पमाला वरस्य

एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव
जाता विवाहपटहध्वनिभिः समानाः ॥४४॥

वसन्तसेना—अदिदक्खिणदाए किं णेदं ववसिदं अज्जेण। [अतिदक्षिणतया किं न्विदं व्यवसितमार्येण।]

चारुदत्तः—प्रिये, त्वं किल मया हतेति—

पूर्वानुबद्धवैरेण शत्रुणा प्रभविष्णुना।
नरके पतता तेन मनागस्मि निपातितः ॥४५॥

वसन्तसेना—(कर्णौ पिधाय) सन्तं पावम्। तेण म्हि राअसालेण वावादिदा। [शान्तं पापम्। तेनास्मि राजश्यालेन व्यापादिता।]

चारुदत्तः– भिक्षुं दृष्ट्वा अयमपि कः।

वसन्तसेना—तेण अणज्जेण वावादिदा। एदिणा अज्जेण जीवाविदम्हि। [तेनानार्येण व्यापादिता। एतेनार्येण जीवं प्रापितास्मि।]

चारुदत्तः—कस्त्वमकारणबन्धुः।

भिक्षुः—ण पच्चभिजाणादि मं अज्जो। अहं शे अज्जश्श चलणशंवाहचिन्तए शंवाहके णाम। जूदिअलेहिं गहिदे। एदाए उवाशिकाए अज्जश्श केलके त्ति अलंकालपणणिक्कीदे म्हि। तेण अ जूदणिव्वेदेण शक्कशमणके शंवुत्ते म्हि। एशावि अज्जा पवहणविपज्जाशेण पुप्फकलण्डकजिण्णुज्जाणं गदा। तेणं अ अणज्जेण ण मं बहु मण्णेशि त्ति बाहुपाशबलक्कालेण मालिदा मए दिट्ठा। [न प्रत्यभिजानाति मामार्यः। अहं स आर्यस्य चरणसंवाहचिन्तकः संवाहको नाम द्यूतकरैर्गृहीत एतयोपासकयार्यस्यात्मीय इत्यलङ्कारपणनिष्क्रीतोऽस्मि। तेन च द्यूतनिर्वेदेन शाक्यश्रमणकः संवृत्तोऽस्मि। एषाप्यार्या प्रवहणविपर्यासेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं गता। तेन चानार्येण न मां बहु मन्यस इति बाहुपाशबलात्कारेण मारिता मया दृष्टा।]

(नेपथ्ये कलकलः)

जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता
तदनु जयति भेत्ता षण्मुखः क्रौञ्चशत्रुः।

यथा वरस्य माला इव विभाति शोभते। तथैव च एते वध्यपटहानां वाद्यविशेषाणां ध्वनयः विवाहपटहध्वनिभिः विवाहेवाद्यानां ध्वनिभिः समानाः जाताः। उपमा पर्यायश्चालङ्कारौ। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥४४॥

अतिदक्षिणतया अत्युदारतया। व्यवसितं कृतम्।

(वध्य) माला वर-माला के समान शोभायमान है तथा उसी प्रकार वध के वाद्यों की ध्वनियाँ विवाह के बाजों की ध्वनियों के समान हो गई हैं।

वसन्तसेना—अत्यन्त उदारता के कारण आर्य ने क्या कर डाला ?

चारुदत्त—प्रिये, (इस अभियोग में कि) मैंने तुम्हें मार दिया है—

पहले से ही वैर बांध लेने वाले, सामर्थ्यशाली, नरक में गिरने वाले मेरे शत्रु उस शकार ने मुझे विपत्ति में गिरा दिया है ॥४५॥

वसन्तसेना—(दोनों कान बन्द करके) पाप शान्त हो। उस राज्यश्यालक के द्वारा मैं मारी गई हूँ।

चारुदत्त—(भिक्षु) को देखकर) और यह कौन हैं ?

वसन्तसेना—उस अनार्य (शकार) ने मार डाली, इस आर्य ने मुझे (फिर) जीवन प्राप्त कराया।

चारुदत्त—तुम अकारण बन्धु कौन हो ?

भिक्षु—आर्य मुझे नहीं पहचानते ! मैं वह आपके चरण दवाने की चिन्ता करने वाला संवाहक हूँ जो जुआरियों के द्वारा पकड़ा गया और इस वृद्धोपासिका के द्वारा 'आपका आत्मीय हूँ' यह जानकर आभूषण रूपी मूल्य से खरीदा गया हूँ, और उस द्यूत के दुःखानुभव से मैं बौद्धभिक्षु हो गया। यह आर्या (वसन्तसेना) भी गाड़ी बदलने से पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में चली गई और वहाँ उस दुष्ट (शकार) के द्वारा 'यह मुझे नहीं चाहती' यह कहकर भुजपाश से बलपूर्वक (दबाकर) मार डाली गई, मैंने देखी।

(नेपथ्य में कोलाहल)

दक्ष-यज्ञ के विनाशक शिव (वृषध्वज) की जय हो। इसके पश्चात् (शत्रुओं के) विनाशक क्रौञ्च (नामक दैत्य) के शत्रु कार्तिकेय की जय हो।

पूर्वेति। पूर्वम् अनुबद्धं हृदये धारितं वैरं येन तेन प्रभविष्णुना सामर्थ्यशालिना नरके पतता मिथ्यादोषारोपणात् नरकं गच्छता शत्रुणा तेन शकारेण मनाक् ईषत्, प्रायेण वा निपातितः विपत्तौ पातितः मरणासन्नतां वा प्रापितः अस्मि ॥४५॥

चरणयोः संवाहस्य मर्दनस्य चिन्तकः। आर्यस्य चारुदत्तस्य आत्मीयः स्वजनः इति कृत्वा। अलङ्कार एव पणः मूल्यं तेन निष्क्रीतः। द्यूतेन कृतः निर्वेदः शान्तिः वैषयिकेच्छानिवृत्तिः (पृथ्वी०) द्यूतनिर्वेदः तेन।

जयतीति। दक्षयज्ञस्य हन्ता विनाशकः वृषभकेतुः शिवः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। तदनु तदनन्तरं भेत्ता शत्रूणां नाशकः क्रौञ्चस्य एतन्नामकस्य दैत्यस्य शत्रुः

तदनु जयति कृत्स्नां शुभ्रकैलासकेतुं
विनिहितवरवैरी चार्यको गां विशालाम् ॥४६॥

(प्रविश्य सहसा)

शर्विलकः—

हत्वा तं कुनृपमहं हि पालकं भो-
स्तद्राज्ये द्रुतमभिषिच्य चार्यकं तम् ।
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूतां
मोक्ष्येऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तम् ॥४७॥

हत्वा रिपुं तं बलमन्त्रिहीनं पौरान्समाश्वास्य पुनः प्रकर्षात् ।
प्राप्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं बलारेरिव शत्रुराज्यम् ॥४८॥

(अग्रतो निरूप्य) भवतु । अत्र तेन सन्निहितव्यम्, यत्रायं जनपदसमवायः । अपि नामायमारम्भः क्षितिपतेरार्यकस्यार्यचारुदत्तस्य जीवितेन सफलः स्यात् । (त्वरिततरमुपसृत्य) अपयात जाल्माः । (दृष्ट्वा । सहर्षम्) अपि ध्रियते चारुदत्तः सह वसन्तसेनया । संपूर्णाः खल्वस्मत्स्वामिनो मनोरथाः ।

दिष्ट्या भो व्यसनमहार्णवादपारा-
दुत्तीर्णं गुणधृतया सुशीलवत्या ।
नावेव प्रियतमया चिरान्निरीक्षे
ज्योत्स्नाढ्यं शशिनमिवोपरागमुक्तम् ॥४९॥

षण्मुखः कार्तिकेयः जयति । तदनु ततश्च विनिहतः वरवैरी प्रधानशत्रुः येन तथाभूतः आर्यकः शुभ्रः श्वेतः कैलाशः एव केतुः पताका यस्या तां विशालां विस्तीर्णां कृत्स्नां निखिलां गां पृथिवीं जयति आत्मसात् करोति । रूपकालङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥४६॥

आपद्ग्रस्तं चारुदत्तं मोचयितुम् उद्यतः शर्विलकः सहसा प्रविश्य कथयति—हत्वेति । भोः अहं शर्विलकः हि तं कुनृपं दुष्टनृपतिं पालकं हत्वा तस्य राज्ये तम् आर्यकं द्रुतं झटिति अभिषिच्य च तस्य आर्यकस्य शेषभूतां पुष्पदामायमानां (पृथ्वी०) 'प्रसादान्निजनिर्माल्यदाने शेषेति कीर्तिता' इति विश्व. आज्ञां शिरसि निधाय अहं शर्विलकः व्यसनगतं विपत्तिग्रस्तं चारुदत्तं च मोक्ष्ये मोचयिष्यामि । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥४७॥

हत्वेति । [illegible] मन्त्रहीनमिति पाठा

और तदनन्तर प्रधान (वर) शत्रु (पालक) को मारने वाला आर्यक श्वेत कैलास (पर्वत) है पताका जिसकी ऐसी समस्त विशाल पृथ्वी को जीतता है ॥४३॥

(सहसा प्रवेश करके)

शर्विलक—हे मनुष्यो, उस दुष्ट राजा पालक को मार कर, उसके राज्य पर तुरन्त ही उस आर्यक का अभिषेक करके मैं (शर्विलक) उस (आर्यक) की आज्ञा को (निर्माल्य की) पुष्पमाला के समान शिर पर धारण करके विपत्ति-ग्रस्त चारुदत्त को मुक्त करता हूँ ॥४७॥

सेना तथा मन्त्रियों से रहित उस शत्रु (पालक) को मार कर फिर अपने अधिक प्रभाव से नगरवासियों को सान्त्वना देकर, बल नामक दैत्य के शत्रु इन्द्र के राज्य के समान, पृथ्वी के आधिपत्य से युक्त समस्त शत्रु के राज्य को प्राप्त कर लिया ॥४८॥

(आगे देखकर) अच्छा, उन्हें (चारुदत्त को) यहाँ होना चाहिये, जहाँ यह लोगों की भीड़ है। और भूमिपति आर्यक की यह राज्य प्राप्ति (आरम्भ) आर्य चारुदत्त के (जीवन की रक्षा) से सफल हो सकती है। (अधिक वेग से समीप जाकर) विचारहीन जनो, हट जाओ। (देखकर, हर्षपूर्वक) अच्छा चारुदत्त वसन्तसेना सहित जीवित है। निश्चय ही हमारे स्वामी (आर्यक) के मनोरथ पूर्ण हो गये।

हे मनुष्यो, सौभाग्य से गुणों (उदारता आदि तथा नौका पक्ष में रस्सियों) से आकृष्ट सुन्दर स्वभाव वाली (पक्ष में सुघटित) नौका के समान प्रियतमा वसन्तसेना के द्वारा अपार विपत्ति (व्यसन) सागर से बचाये गये चारुदत्त को ग्रहण से मुक्त तथा चन्द्रिका से युक्त चन्द्रमा के समान, मैं बहुत समय में देख रहा हूँ ॥४६॥

रम्, रिपुं शत्रुं तं पालकं हत्वा पुनः प्रकर्षात् प्रभावोत्कर्षात् पौरान् नगरवासिनः समाश्वास्य बलारेः बलस्य दैत्यविशेषस्य अरेः शत्रोः इन्द्रस्य इति भावः राज्यमिव समग्रं वसुधाधिराज्यं वसुधायाः अधिराज्यं यस्मिन् तद् शत्रोः पालकस्य राज्यं प्राप्तम्। उपमाऽङ्कारः। इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥४८॥

जनपदानां जनपदस्थानां मनुष्याणां समवायः समूहः। आरम्भः राज्य-प्राप्तिः। अपयात अपसरत। जाल्माः असमीक्ष्यकारिणः विचारहीनाः इति यावत्।

व्यसनात् मुक्तस्य चारुदत्तस्य दर्शनं मम सौभाग्यादेवेत्याह—दिष्ट्येति। भोः दिष्ट्या सौभाग्याद् गुणधृतया गुणैः औदार्यादिभिः धृतया आकृष्टया नौकापक्षे गुणैः रज्जुभिः धृतया सुशीलवत्या शोभनस्वभावयुक्तया पक्षे शोभनया नावा इव प्रियतमया प्रियया वसन्तसेनया अपारात् व्यसनं विपत्तिः एव महार्णवः महासमुद्रः तस्माद् उत्तीर्णम् उद्धृतं चारुदत्तम् उपरागात् ग्रहणाद् मुक्तं ज्योत्स्नया चन्द्रिकया आढ्यं सम्पन्नं शशिनम् इव चिरात् निरीक्षे पश्यामि। रूपक श्लेष उपमा अलङ्काराः। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥४६॥

तत्कृतमहापातकः कथमिवैनमुपसर्पामि । अथवा सर्वत्रार्जवं शोभते । (प्रकाशमुपसृत्य बद्धाञ्जलिः) आर्यचारुदत्त ।

चारुदत्तः—ननु को भवान् ।

शर्विलकः—

येन ते भवनं भित्त्वा न्यासापहरणं कृतम् ।
सोऽहं कृतमहापापस्त्वामेव शरणं गतः ॥५०॥

चारुदत्तः—सखे, मैवम् । त्वयासौ प्रणयः कृतः । (इति कण्ठे गृह्णाति)

शर्विलकः—अन्यच्च ।

आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानं च रक्षता ।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः ॥५१॥

चारुदत्तः—किम् ।

शर्विलकः—

त्वद्यानं यः समारुह्य गतस्त्वां शरणं पुरा ।
पशुवद्वितते यज्ञे हतस्तेनाद्य पालकः ॥५२॥

चारुदत्तः—शर्विलक, योऽसौ पालकेन घोषादानीय निष्कारणं कूटागारे बद्ध आर्यकनामा त्वया मोचितः ।

शर्विलकः—यथाह तत्रभवान् ।

चारुदत्तः—प्रियं नः प्रियम् ।

शर्विलकः—प्रतिष्ठितमात्रेण तव सुहृदार्यकेणोज्जयिन्यां वेणातटे कुशवत्यां राज्यमतिसृष्टम् । तत्प्रतिमान्यतां प्रथमः सुहृत्प्रणयः । (परिवृत्य) अरे रे, आनीयतामयं पापो राष्ट्रियशठः ।

(नेपथ्ये)

यथाज्ञापयति शर्विलकः ।

शर्विलकः—आर्य, नन्वयमार्यको राजा विज्ञापयति—इदं मया युष्मद्गुणो-

---

कृतं महापातकं सुवर्णभाण्डापहरणरूपं येन सः । चौर्यकर्म हि महापातकेषु गण्यते ।

येनेति । येन ते चारुदत्तस्य भवनं गृहं भित्त्वा न्यासस्य निक्षेपरूपेण धृतस्य सुवर्णभाण्डस्य अपहरणं कृतम्, कृतं महापापं येन तादृशः सः अहं शर्विलकः त्वाम् चारुदत्तम् एव शरणं गतः शरणं प्राप्तोऽस्मि ॥५०॥

प्रणयः—अनुग्रहः ।

आर्यकेणेति आर्यवृत्तेन साधुशीलेन आर्यकेन कुलं मानं गौरवं च रक्षता

तो महान् पाप करने वाला मैं इनके समीप कैसे जाऊँ? अथवा सरलता सब जगह शोभायमान होती है (प्रकट रूप में, समीप जाकर, हाथ जोड़े हुए) आर्य चारुदत्त।

चारुदत्त—अच्छा, आप कौन हैं?

शर्विलक—जिसने आपके घर (की दीवार) को तोड़कर (सेंध लगाकर) धरोहर की चोरी की थी। वही महापापी में आपकी ही शरण में आया हूँ ॥५०॥

चारुदत्त—मित्र, ऐसा न कहो। तुमने तो यह अनुग्रह किया।

शर्विलक—और भी—

उत्तम शील वाले आर्यक ने कुल और गौरव की रक्षा करते हुए, यज्ञ-स्थान में स्थित पशु के समान, दुष्ट पालक को मार दिया ॥५१॥

चारुदत—क्या?

शर्विलक—जो आर्यक तुम्हारी गाड़ी में बैठकर पहले तुम्हारी शरण में गया था, उसने आज विस्तृत यज्ञ में पशु के समान, पालक को मार दिया ॥५२॥

चारुदत्त—शर्विलक, जो यह (राजा) पालक के द्वारा घोष में लाकर बिना कारण ही कारागार में बांधा गया था, तथा तुम्हारे द्वारा मुक्त किया गया था, वही आर्यक नाम का व्यक्ति?

शर्विलक—जैसा आदरणीय आप कह रहे हैं।

चारुदत्त—हमारे लिये प्रिय (समाचार) है, प्रिय।

शर्विलक—उज्जयिनी में (सिंहासन पर) प्रतिष्ठित होते ही तुम्हारे मित्र आर्यक ने वेणा नदी के तट पर कुशावती का राज्य (आपको) दिया है। मित्र की प्रथम स्नेह प्रार्थना को स्वीकार कीजिये (अथवा स्वीकार कर सम्मानित कीजिये)। (घूम कर) अरे रे, इस पापी धूर्त राजश्यालक (शकार) को लाइये।

(नेपथ्य में)

जैसी शर्विलक आज्ञा करें।

शर्विलक—आर्य, निश्चय ही राजा आर्यक सूचित करते हैं कि मैंने यह राज्य

यज्ञवाट: यज्ञस्थानं तत्र स्थितः यः पशुः तत्तुल्यः दुरात्मा पालकः हतः मारितः। उपमालङ्कारः ॥५१॥

त्वदिति। यः आर्यकः त्वद्यानं तव प्रवहणं समारुह्य पुरा पूर्वं त्वां चारुदत्त शरणं गतः। तेन आर्यकेण अद्य वितते प्रसृते यज्ञे पशुवत् पालकः हतः मारितः ॥५२॥

उज्जयिन्यां प्रतिष्ठितमात्रेण सिंहासने स्थितमात्रेण। अतिसृष्टं दत्तम्। प्रतिमान्यतां सम्मान्यतां, स्वीकारेण आद्रियतां वा। प्रणयः प्रार्थना। शठश्चासौ राष्ट्रियश्चेति राष्ट्रियशठः मयूरव्यंसकादेराकृतिगणत्वात् समासः।

पार्जितं राज्यम् । तदुपयुज्यताम् ।

चारुदत्तः—अस्मद्गुणोपार्जितं राज्यम् ।

(नेपथ्ये)

अरे रे राष्ट्रियश्यालक, एह्येहि । स्वस्याविनयस्य फलमनुभव ।

(ततः प्रविशति पुरुषैरधिष्ठितः पश्चाद्बाहुबद्धः शकारः)

शकारः—हीमादिके

एव्वं दूलमदिक्कन्ते उद्दामे विअ गद्दहे ।
आणीदे क्खु हगे वद्धे हुडे अण्णे व्व दुक्कले ।।५३।।

(दिशोऽवलोक्य) शमन्तदो उवट्ठिदे एशे लश्टिअबन्धे । ता कं दाणिं अशलणे शलणं वजामि । (विचिन्त्य) भोदु । तं ज्जेव अब्भुववण्णशलणवच्छलं गच्छामि । (इत्युपसृत्य) अज्जचालुदत्त, पलित्ताआहि, पलित्ताआहि । [आश्चर्यम् ।

एवं दूरमतिक्रान्त उद्दाम इव गर्दभः
आनीतः खल्वहं बद्धः कुक्कुरोऽन्य इव दुष्करः ।।

समन्तत उपस्थित एष राष्ट्रियबन्धुः । तत्किमिदानीमशरणः शरणं व्रजामि । भवतु । तमेवाभ्युपपन्नशरणवत्सलं गच्छामि । आर्यचारुदत्त, परित्रायस्व परित्रायस्व ।] (इति पादयोः पतति)

(नेपथ्ये)

अज्जचालुदत्त, मुञ्च मुञ्च । वावादेम्ह एदम् । [आर्यचारुदत्त, मुञ्च मुञ्च व्यापादयामैतम् ।]

शकारः—(चारुदत्तं प्रति) भो अशलणशलणे पलित्ताआहि । [भो अशरण-शरण, परित्रायस्व ।]

चारुदत्तः—(सानुकम्पम्) अहह, अभयमभयं शरणागतस्य ।

शर्विलकः—(सावेगम्) आः अपनीयतामयं चारुदत्तपार्श्वात् । (चारुदत्तं प्रति) ननूच्यतां किमस्य पापस्यानुष्ठीयतामिति ।

आकर्षन्तु सुबद्ध्वैनं श्वभिः संखाद्यतामथ ।
शूले वा तिष्ठतामेष पाट्यतां क्रकचेन वा ।।५४।।

चारुदत्तः—किमहं यद्ब्रवीमि तत्क्रियते ।

युष्माकं भवतः चारुदत्तस्य गुणैः उपार्जितं प्राप्तम् । उपयुज्यताम् उपयोगः क्रियताम् । अविनयः दुर्व्यवहारः । बाहुबद्धः बाह्वोः बद्धः बाहुबद्धः । बद्धौ बाहू यस्य, बद्धबाहुः इति प्रयोगः वरीयान् ।

एवमिति । उद्दामः उन्मुक्तबन्धनः गर्दभः इव एवम् अनेन प्रकारेण दूरं अतिक्रान्तः पलायितः अहं खलु अन्यः दुष्करः दुष्टः कुर्कुरः कुक्कुरः (काले) कुक्कुर

तुम्हारे गुणों से प्राप्त किया है। तो इसका उपयोग कीजिये।

चारुदत्त—हमारे गुणों से उपार्जित किया गया राज्य है ?

(नेपथ्य में)

अरे रे राजश्यालक, आओ आओ। अपने दुर्व्यवहार का फल भोगो। (तब मनुष्यों द्वारा शासित पीछे की ओर हाथ बंधा हुआ शकार प्रविष्ट होता है)।

शकार - आश्चर्य है।

बन्धन खुले हुए गधे के समान इस प्रकार दूर भागे हुए मुझको किसी दुष्ट कुत्ते के समान बाँधा गया है तथा यहाँ लाया गया है ।५३॥

(दिशाओं को देखकर) चारों ओर से राजश्यालक का (मेरा) बन्धन हो गया है। तो अब आश्रयहीन मैं किसकी शरण में जाऊँ (सोचकर) अच्छा, उसी शरणागत-वत्सल (चारुदत्त) के समीप जाता हूँ। (समीप जाकर) आर्य चारुदत्त, रक्षा करो, रक्षा करो। (चरणों में गिरता है)।

(नेपथ्य में)

आर्य चारुदत्त, छोड़ दो। हम (दोनों) इसको मार देवें।

शकार—(चारुदत्त से) हे अशरणों को शरण देने वाले, रक्षा करो।

चारुदत्त—(दया के साथ) अहह ! शरणागत का अभय हो, अभय।

शर्विलक—(आवेश के साथ) आः, इसे चारुदत्त के पास से हटा लीजिये। (चारुदत्त से) बतलाइये इस पापी का क्या किया जाये ?

क्या इस (शकार) को अच्छी तरह बाँधकर (मनुष्य) खींचे, अथवा इसे कुत्ते खायें। क्या इसे शूली पर चढ़ाया जाये, या इसे आरे से काटा जाये ॥५४॥

चारुदत्त—क्या जो मैं कहूँ वही किया जाना है।

इव बद्धः अत्र च आनीतः ॥५३॥

राष्ट्रियस्य राजश्यालस्य शकारस्य ममेति भावः बन्धः बन्धनम्, 'निरोद्धा पुरुषवर्गः' इति कालेमहोदयः, बन्धादेशः इति केचित्। समन्ततः परितः उपस्थितः अहं समन्ततः बद्धः इति भावः। अभ्युपपन्नशरणानां शरणागतानां वत्सलः स्नेहशीलः।

व्यापादयाम मारयाम। न भयम् अभयम्। अनुष्ठीयतां क्रियताम्। आकर्षन्त्विति। एनं शकारं सुबद्ध्वा सम्यक् बद्ध्वा ('सुबद्ध्य' इति पाठान्तरम्) आकर्षन्तु जनाः इति शेषः अथवा अयं श्वभिः कुक्कुरैः खाद्यताम्। एषः शूले वा तिष्ठताम् वा अथवा क्रकचेन करपत्रेण पाट्यताम्। अत्र 'सुबद्ध्वा', 'तिष्ठताम्' इति च प्रयोगौ चिन्त्यौ ॥५४॥

सदृशं योग्यम्।

शर्विलक—कोऽत्र सन्देहः।

शकारः—भश्टालका चालुदत्त, शलणागदे म्हि। ता पलित्ताआहि पलित्ताआहि। जं तुए शलिशं तं कलेहि। पुणो ण ईदिशं कलिश्शम्। [भट्टारक चारुदत्त, शरणागतोऽस्मि। तत्परित्रायस्व परित्रायस्व। यत्तव यदृशं तत्कुरु। पुनर्नेदृशं करिष्यामि।]

(नेपथ्ये)

पौराः वावादेध। किंणिमित्तं पादकी जीवावीअदि। [पौराः, व्यापादयत। किंनिमित्तं पातकी जीव्यते।]

(वसन्तसेना वध्यमालां चारुदत्तस्य कण्ठादपनीय शकारस्योपरि क्षिपति)

शकारः—गब्भदाशीधीए, पशीद पशीद। ण उण मालइश्शम्। ता पलित्ताआहि। [गर्भदासीपुत्रि, प्रसीद प्रसीद। न पुनर्मारयिष्यामि। तत्परित्रायस्व।]

शर्विलकः—अरे रे, अपनयत। आर्यचारुदत्त, आज्ञाप्यताम्—किमस्य पापस्यानुष्ठीयताम्।

चारुदत्तः—किमहं यद्ब्रवीमि तत्क्रियते।

शर्विलकः—कोऽत्र सन्देहः।

चारुदत्तः—सत्यम्।

शर्विलकः—सत्यम्।

चारुदत्तः—यद्येवं शीघ्रमयम्।

शर्विलकः—किं हन्यताम्।

चारुदत्तः—नहि नहि। मुच्यताम्।

शर्विलकः—किमर्थम्।

चारुदत्तः—

शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः।
शस्त्रेण न हन्तव्यः

शर्विलकः—एवम्। तर्हि श्वभिः खाद्यताम्।

चारुदत्तः—नहि

उपकारहतस्तु कर्तव्यः ॥५५॥

शर्विलकः—अहो, आश्चर्यम्। किं करोमि। वदत्वार्यः।

चारुदत्तः—तन्मुच्यताम्।

शर्विलकः—मुक्तो भवतु।

शकारः—हीमादिके। पच्चुज्जीविदे म्हि। [आश्चर्यम्। प्रत्युज्जीवितोऽस्मि।]
(इति पुरुषैः सह निष्क्रान्तः)

शर्विलक—इसमें क्या सन्देह है ?

शकार—स्वामी चारुदत्त, मैं शरण में आया हूँ। अतः रक्षा करो, रक्षा करो। जो तुम्हारे योग्य है वही करो। फिर ऐसा नहीं करूँगा।

(नेपथ्य में)

नगरवासियो, मार दो। यह पापी किसलिये जीवित रक्खा जा रहा है ? (वसन्तसेना वध्यमाला को चारुदत्त के गले से उतार कर शकार के ऊपर फेंकती है)

शकार—गर्भदासी की पुत्री, प्रसन्न हो। फिर नहीं मारूँगा। अतः रक्षा करो।

शर्विलक—अरे, हटाओ। आर्य चारुदत्त आज्ञा दीजिये कि इस पापी का क्या किया जाये ?

चारुदत्त—क्या जो मैं कहूँ वही किया जायेगा ?

शर्विलक—इसमें क्या सन्देह है ?

चारुदत्त—सचमुच।

शर्विलक—सचमुच।

चारुदत्त—यदि ऐसा है तो इसे शीघ्र—

शर्विलक—क्या मार दिया जाये।

चारुदत्त—नहीं, नहीं, छोड़ दिया जाये।

शर्विलक—किस लिये ?

चारुदत्त यदि अपराध करने वाला शत्रु शरण में आकर चरणों में गिर गया तो उसे शस्त्र से नहीं मारना चाहिये।

शर्विलक—यदि ऐसा है तो क्या कुत्तों द्वारा खाया जाये ?

चारुदत्त—नहीं।

...... किन्तु उसे उपकार से मरा हुआ कर देना चाहिये ॥५५॥

शर्विलक—अहो, आश्चर्य है ! क्या करूँ ? आर्य बतलाइये।

चारुदत्त—तो छोड़ दिया जाये।

शर्विलक—मुक्त हो जाये।

शकार—(आश्चर्य) फिर से जीवित हो गया हूँ। (मनुष्यों के साथ निकल जाता है)

शत्रुरिति। कृतः अपराधः येन तादृशः शत्रुः यदि शरणम् उपेत्य आगत्य पादयोः पतितः तर्हि सः शस्त्रेण न हन्तव्यः मारणीयः तु किन्तु उपकारेण अनुग्रहेण हतः कर्तव्यः तथा चोक्तं रामायणे—

बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।

न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप ॥युद्ध–१८ ॥५५॥

(नेपथ्ये कलकलः)

(पुनर्नेपथ्ये)

एसा अज्जचालुदत्तस्स वहूआ अज्जा धूदा पदे वसणाञ्चले विलग्गन्तं दारअं आक्खिवन्ती बाप्फभरिदणअणेहिं जणेहिं णिवारिज्जमाणा पज्जलिदे पावए पविसदि [एषार्यचारुदत्तस्य वधूरार्या धूता पदे वसनाञ्चले विलगन्तं दारकमाक्षिपन्ती वाष्पभरितनयनैर्जनैर्निवार्यमाणा प्रज्वलिते पावके प्रविशति ।]

शर्विलकः—(आकर्ण्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कथं चन्दनकः । चन्दनक, किमेतत् ।

चन्दनकः—(प्रविश्य) किं ण पेक्खदि अज्जो । महाराअप्पासादं दक्खिणेण महन्तो जणसंमद्दो वट्टदि । ('एसा' इत्यादि पुनः पठति) कधिदं अ मए तीए, जधा—'अज्जे, मा साहसं करेहि । जीवदि अज्जचारुदत्तो' त्ति । परन्तु दुक्खवावुडआए को सुणेदि, को पत्तिआएदि । [किं न पश्यत्यार्यः । महाराजप्रासादं दक्षिणेन महाञ्जनसंमर्दो वर्तते । कथितं च मया तस्यै, यथा-'आर्ये, मा साहसं कुरुष्व । जीवत्यार्यचारुदत्तः' इति । परन्तु दुःखव्यापृततया कः शृणोति, कः प्रत्ययते ।]

चारुदत्तः—(सोद्वेगम्) हा प्रिये, जीवत्यपि मयि किमेतद् व्यवसितम् । (ऊर्ध्वमवलोक्य दीर्घं निश्वस्य च)

न महीतलस्थितिसहानि भवच्चरितानि चारुचरिते यदपि ।
उचितं तथापि परलोकसुखं न पतिव्रते तव विहाय पतिम् ॥५६॥

(इति मोहमुपगतः)

शर्विलकः—अहो प्रमादः ।

त्वरया सर्पणं तत्र मोहमार्योऽत्र चागतः ।
हा धिक्प्रयत्नवैफल्यं दृश्यते सर्वतोमुखम् ॥५७॥

वसन्तसेना—समस्ससिदु अज्जो । तत्त गदुअ जीवावेदु अज्जाम् । अण्णधा अधीरत्तणेण अणत्थो संभावीअदि । [समाश्वसित्वार्यः । तत्र गत्वा जीवयत्वार्याम् । अन्यथाधीरत्वेनानर्थः संभाव्यते ।]

वाष्पैः अश्रुभिः भरितानि नयनानि येषां तैः जनैः । दक्षिणेन इति एनप्-प्रत्ययान्तम् । तद्योगे च 'एनपा द्वितीया' २।३।३१॥ इत्यनेन महाराजप्रासादमित्यत्र द्वितीया भवति । महाराजस्य आर्यकस्य प्रासादम् ।

दुःखे व्यापृता तत्परा दुःखव्यापृता तस्याः भावः तता तया । प्रत्ययते विश्वसिति । व्यवसितं निश्चितम् ।

जीवितं मां परित्यज्य स्वर्लोकगमनं न युक्तमित्याह चारुदत्तः—न महीति । हे चारुचरिते साधुचरिते धूते, यद्यपि भवत्याः चरितानि सदाचरणानि महीतले

(नेपथ्य में कोलाहल)

(फिर नेपथ्य में)

यह आर्य चारुदत्त की पत्नी आर्या धूता चरण में और वस्त्र के आँचल में लिपटे हुए बालक को हठाती हुई आँसू भरे नेत्रों वाले मनुष्यों के द्वारा रोकी जाती हुई भी अग्नि में प्रवेश कर रही है।

शर्विलक—सुनकर, (नेपथ्य की ओर देखकर) क्या चन्दनक है ? चन्दनक, यह क्या ?

चन्दनक—(प्रवेश करके) क्या आप नहीं देखते हैं कि महाराज के प्रासाद के दक्षिण की ओर मनुष्यों की बड़ी भीड़ हो रही है (एषा' इत्यादि फिर पढ़ता है) और मैंने उससे कहा "आर्ये साहस कम करो। आर्य चारुदत्त जीवित हैं"। किन्तु दुःख में लीन होने के कारण कौन सुनता है ? कौन विश्वास करता है ?

चारुदत्त—(उद्वेगपूर्वक) हाय प्रिये, मेरे जीवित रहते ही यह क्या निश्चय कर लिया ? (ऊपर देखकर और लम्बी साँस लेकर)

हे श्रेष्ठ चरित्र वाली, यद्यपि तुम्हारे सच्चरित्र इस भूमि पर रहने योग्य नहीं है तथापि हे पतिव्रते, पति को छोड़कर तुम्हें (अकेले ही) परलोक का सुख भोगना उचित नहीं ॥५६॥

(मूर्च्छा को प्राप्त होता है)

शर्विलक—अहो ! असावधानी !

वहाँ (धूता के समीप) शीघ्रता से जाना है किन्तु यहाँ आर्य चारुदत्त मूर्च्छा को प्राप्त हो गये हैं। हाय ! धिक्कार ! सब ओर से प्रयत्न की निष्फलता ही दिखलाई देती है ॥५७॥

वसन्तसेना—आर्य आश्वस्त हों (धैर्य धारण करें) वहाँ जाकर आर्या (धूता) को जीवित करें। नहीं तो अधीरता से अनर्थ की सम्भावना है।

भूतले स्थितिसहानि स्थातुं योग्यानि न सन्ति स्वर्लोकयोग्यानि सन्तीति भावः तथापि हे पतिव्रते, पतिं चारुदत्तं मां विहाय परित्यज्य तव धूतायाः परलोकसुखं स्वर्गसुखं न उचितम् पतिव्रतायास्तव एकाकिन्याः स्वर्गसुखोपभोगोऽपि नोचितः इति भावः काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः। प्रमिताक्षरा वृत्तम् ॥५६॥

त्वरयेति। तत्र धूतायाः समीपे त्वरया सर्पणं गमनम् आवश्यकम्। अत्र च आर्यः चारुदत्तः मोहम् मूर्च्छाम् आगतः। हा धिक् सर्वतोमुखं प्रयत्नवैफल्यं प्रयत्नानां विफलता दृश्यते। यदि धूतायाः चारुदत्तस्य च जीवनरक्षा न स्यात् तर्हि सर्वेऽस्माकं प्रयत्नाः निष्फलाः इति भावः ॥५७॥

अनर्थः सम्भाव्यते धूता मृता स्यादिति सम्भाव्यते। प्रतिवचनम् उत्तरम्।

चारुदत्तः—(समाश्वस्य सहसोत्थाय च) हा प्रिये, क्वासि ? देहि मे प्रतिवचनम् ।

चन्दनकः—इदो इदो अज्जो । [इत इत आर्यः ।]

(इति सर्वे परिक्रामन्ति)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा धूता चेलाञ्चलमाकर्षन्विदूषकेणानुगम्यमानो रोहसेनो रदनिका च)

धूता—(सास्रम्) जाद, मुञ्चेहि मम् । मा विग्घं करेहि । भीआमि अज्जउत्तस्स अमङ्गलाकण्णणादो । [जात, मुञ्च माम् । मा विघ्नं कुरुष्व । बिभेम्यार्यपुत्रस्यामङ्गलाकर्णनात् ।] (इत्युत्थायाञ्चलमाकृष्य पावकाभिमुखं परिक्रामति)

रोहसेनः—माद अज्जए, पडिवालेहि मम् । तुए विणा ण सक्कुणोमि जीविदं धारेदुम् । [मातरार्ये, प्रतिपालय माम् । त्वया विना न शक्नोमि जीवितं धर्तुम् ।] (इति त्वरितमुपसृत्य पुनरञ्चलं गृह्णाति)

विदूषकः—भोदीए दाव बम्हणीए भिण्णत्तणेण चिदाधिरोहणं पावं उदाहरन्ति रिसीओ । [भवत्यास्तावद्ब्राह्मण्या भिन्नत्वेन चिताधिरोहणं पापमुदाहरन्ति ऋषयः ।]

धूता—वरं पावाचरणं । ण उण अज्जउत्तस्स अमङ्गलाकण्णणम् । [वरं पापाचरणम् । न पुनरार्यपुत्रस्यामङ्गलाकर्णनम् ।]

शर्विलकः—(पुरोऽवलोक्य) आसन्नहुतवहार्या । तत्त्वर्यतां त्वर्यताम् ।

(चारुदत्तस्त्वरितं परिक्रामति)

धूता—रदणिए, अवलम्ब दारअम्, जाव अहं समीहिदं करेमि । [रदनिके, अवलम्बस्व दारकम् । यावदहं समीहितं करोमि ।]

चेटी—(सकरुणम्) अहं पि जधोपदेसिणि म्हि भट्टिणीए । [अहमपि यथोपदेशिन्यस्मि भट्टिन्याः ।]

धूता—(विदूषकमवलोक्य) अज्जो दाव अवलम्बेदु । [आर्यस्तावदवलम्बताम् ।]

विदूषकः—(सावेगम्) समीहिदसिद्धिए पउत्तेण बम्हणो अग्गदो कादव्वो । अदो भोदीए अहं अग्गणी होमि । [समीहितसिद्ध्यै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यः । अतो भवत्या अहमग्रणीर्भवामि ।]

धूता—कधं पच्चादिट्ठम्हि दुवेहिं । (बालकमालिङ्ग्य) जाद, तुमं ज्जेव पज्जवट्ठावेहि अत्ताणं तिलोदअदाणाअ । अदिक्कन्ते किं मणोरहेहिं । (सनिःश्वासम्) ण क्खु अज्जउत्तो तुमं पज्जवट्ठाविस्सदि । [कथं प्रत्यादिष्टास्मि द्वाभ्याम् । जात, त्वमेव पर्यवस्थापयात्मानमस्माकं तिलोदकदानाय । अतिक्रान्ते किं मनोरथैः । न खल्वार्यपुत्रस्त्वां पर्यवस्थापयिष्यति ।]

चारुदत्त—(आश्वस्त होकर और सहसा उठकर) हाय प्रिये, कहाँ हो ? मुझे उत्तर दो।

चन्दनक—इधर इधर आर्य।

(सब घूमते हैं)

(तब यथानिर्दिष्ट धूता, वस्त्राञ्चल को खींचता हुआ एवं विदूषक से अनुसरण किया गया रोहसेन और रदनिका प्रवेश करते हैं)

धूता—(अश्रु सहित) पुत्र, मुझे छोड़ दो। विघ्न न करो। आर्यपुत्र के (मरण रूप) अमङ्गल को सुनने से डरती हूँ (उठकर, आँचल खींचकर अग्नि की ओर चलती है।)

रोहसेन—आर्ये माता, मेरी प्रतीक्षा करो। मैं तुम्हारे बिना जीवन धारण नहीं कर सकता।

विदूषक—आप जैसी ब्राह्मणी के पति से पृथक् चितारोहण को ऋषिगण पाप बतलाते हैं।

धूता—पापाचरण अच्छा है, किन्तु आर्यपुत्र के अमङ्गल का सुनना नहीं।

शर्विलक—(आगे देखकर) आर्या (धूता) अग्नि के समीप हैं। अतः शीघ्रता कीजिये, शीघ्रता कीजिये।

(चारुदत्त शीघ्रता से चलता है)

धूता—रदनिका, बालक को पकड़ लो। जब तक मैं अभीष्ट (कार्य) करती हूँ।

चेटी—(करुणापूर्वक) मैं भी स्वामिनी के कथन के अनुसार ही करने वाली हूँ। (अर्थात् मैं भी अग्नि में प्रवेश करती हूँ।)

धूता—(विदूषक को देखकर) आर्य तनिक पकड़ लीजिये।

विदूषक—(आवेगपूर्वक) अभीष्ट-सिद्धि के लिये प्रवृत्त हुए (व्यक्ति) को ब्राह्मण आगे करना चाहिये। अतः मैं आपका अग्रगी होता हूँ।

धूता—क्या ! दोनों ने अस्वीकार कर दिया। (बालक को गले लगाकर) बालक, हमें तिल-मिश्रित जल (तिलाञ्जलि देने के लिये तुम ही अपनी रक्षा करो। समय बीत जाने पर मनोरथों से क्या लाभ ? (निश्वासपूर्वक) निश्चय ही आर्यपुत्र (चारुदत्त) तो तुम्हारी देख-भाल नहीं करेंगे।

जात पुत्र, वत्स (सम्बद्धौ)। अमङ्गलस्य मरणरूपस्य आकर्णनात् श्रवणात्। प्रतिपालय प्रतीक्षस्व अथवा मम पालनं कुरु। पापं पापजनकम्। तथा चोक्तम्—'पृथक् चितिं समारुह्य न विप्रा गन्तुमर्हति। अन्यासामेव नारीणां स्त्रीधर्मोऽयं परः स्मृतः॥ आसन्नः हुतवहः अग्निः यस्याः सा। उपदेशमनतिक्रम्य इति यथोपदेशम् तद् अस्याः अस्तीति यथोपदेशिनी, उपदेशानुरूपं कार्यं कुर्वाणा इति भावः। प्रत्याविष्टा प्रत्याख्याता, निषिद्धा वा।

चारुदत्तः—(आकर्ण्य सहसोपसृत्य) अहमेव पर्यवस्थापयामि बालिशम् । (इति बालकं बाहुभ्यामुत्थाप्य वक्षसालिङ्गति)

धूता—(विलोक्य) अम्महे । उज्जउत्तस्स ज्जेव सरसंजोओ (पुनर्निपुणं निरूप्य सहर्षम्) दिट्ठिआ अज्जउत्तो ज्जेव एसो । पिअं मे पिअम् । [आश्चर्यम् । आर्यपुत्रस्यैव स्वरसंयोगः । दिष्टचार्यपुत्र एवैषः । प्रियं मे प्रियम् ।]

बालकः—(विलोक्य सहर्षम्) अम्मो । आवुको मं परिस्सजदि । (धूतां प्रति) अज्जए, वड्ढवीअसि । आवुको ज्जे मं पज्जवट्ठावेदि । [आश्चर्यम् । पिता मां परिष्वजति । आर्ये, वर्धसे । तात एव मां पर्यवस्थापयति ।] (इति प्रत्यालिङ्गति)

चारुदत्तः—(धूतां प्रति)

हा प्रेयसि, प्रेयसि विद्यमाने कोऽयं कठोरो व्यवसाय आसीत् ।
अम्भोजिनीलोचनमुद्रणं किं भानावनस्तंगमिते करोति ॥५८॥

धूता—अज्जउत्त, अदो ज्जेव सा अचेतणेत्ति उच्चीअदि । [आर्यपुत्र, अतएव सोऽचेतनेति उच्यते ।]

विदूषकः—(दृष्ट्वा सहर्षम्) ही ही भो, एदेहिं ज्जेव अच्छीहिं पिअवअस्सो पेक्खीअदि । अहो ! सदीए पहावो, जदो जलणप्पवेसव्ववसाएण ज्जेव पिअसमागमं पाविदा (चारुदत्तं प्रति) जेदु जेदु पिअवअस्सो । [आश्चर्यं भोः, एताभ्यामेवाक्षिभ्यां प्रियवयस्यः प्रेक्ष्यते । अहो सत्याः प्रभावः यतो ज्वलनप्रवेशव्यवसायेनैव प्रियसमागमं प्रापिता । जयतु प्रियवयस्यः ।]

चारुदत्तः—एहि मैत्रेय । (इत्यालिङ्गति)

चेटी—अहो संविधाणअम् । अज्ज, वन्दामि । [अहो संविधानकम् । आर्य, वन्दे ।] (इति चारुदत्तस्य पादयोः पतति)

चारुदत्तः—(पृष्ठे करं दत्वा) रदनिके, उत्तिष्ठ । (इत्युत्थापयति)

धूता—(वसन्तसेनां दृष्ट्वा) दिट्ठिआ कुसलिणी बहिणिआ । [दिष्टचा कुशलिनी भगिनी ।]

वसन्तसेना—अहुणा कुसलिणी संवुत्तम्हि । [अधुना कुशलिनी संवृत्तास्मि ।]

(इत्यन्योन्यमालिङ्गतः)

शर्विलकः—दिष्टचा जीवितसुहृद्वर्ग आर्यः ।

चारुदत्तः—युष्मत्प्रसादेन ।

शर्विलकः—आर्ये वसन्तसेने, परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति ।

चारुदत्त—(सुनकर, सहसा समीप जाकर) मैं ही बालक की देख-भाल करूँगा।

(बालक को हाथों से उठाकर छाती से लगाता है)

धूता—(देखकर) आश्चर्य ! आर्यपुत्र का सा स्वर संयोग है। (फिर भली-भाँति देखकर हर्षपूर्वक) भाग्य से आर्यपुत्र ही हैं। मेरे लिये आनन्ददायक है, आनन्ददायक है।

बालक—(देखकर, हर्ष के साथ) आश्चर्य, पिता जी मुझे गले लगा रहे हैं। (धूता से) आर्ये, बढ़ रही हो (सौभाग्यशालिनी हो), पिता जी ही मेरी देख-भाल कर रहे हैं। (प्रत्यालिङ्गन करता है)

चारुदत्त—(धूता से) हे प्रियतमे पति के विद्यमान (जीवित) रहते ही तुमने यह क्या कठोर (अग्निप्रवेश का) निश्चय कर लिया था ? क्या सूर्य के अस्त को प्राप्त हुए विना कमलिनी कभी अपने नेत्र मूंदती है ? ॥५८॥

धूता—आर्यपुत्र इसीलिये यह अचेतन कही जाती है।

विदूषक—(देखकर, हर्षपूर्वक) अरे, आश्चर्य है। इन्हीं आँखों से प्रिय मित्र देखा जा रहा है। अहो ! सती का प्रभाव, जिससे कि अग्नि में प्रवेश के निश्चय से ही प्रिय-मिलन को प्राप्त हो गई (चारुदत्त से) प्रियमित्र की जय हो, जय हो।

चारुदत्त—आओ मैत्रेय, (आलिङ्गन करता है)

चेटी—अहो ! (आश्चर्यजनक) संयोग ! आर्य प्रणाम करती हूँ। (चारुदत्त के चरणों पर गिरती है)

चारुदत्त—(पीठ पर हाथ रखकर) रदनिका उठो। (उठाता है)

धूता—(वसन्तसेना को देखकर) भाग्य से बहन कुशलपूर्वक हैं।

वसन्तसेना—अब सकुशल हो गई हूँ। (परस्पर मिलती हैं)

शर्विलक—भाग्य से आर्य का मित्रवर्ग जीवित है।

चारुदत्तः—तुम्हारी कृपा से।

शर्विलक—आर्ये वसन्तसेना, प्रसन्न हुए राजा आपको वधू शब्द से अनुगृहीत करते हैं।

पर्यवस्थापय रक्ष बालिशं बालकम्। दिष्ट्या भाग्येन।

'कथं त्वया कठोरो व्यवसायः स्वीकृतः' इत्याह चारुदत्तः धूतां प्रति-हेति। हा प्रेयसि प्रियतमे, प्रेयसि स्वप्रियजने मयि विद्यमाने कः अयं कठोरः निष्ठुरः व्यवसायः अग्निप्रवेशनिश्चयः आसीत्। किम् ? भानौ सूर्ये अनस्तं गमिते अस्तं न प्राप्ते सति अम्भोजिनी कमलिनी लोचनमुद्रणं पुष्पसङ्कोचं करोति। सूर्यस्य अस्तं गमनात् पूर्वं कमलिनी न संङ्कोचं प्राप्नोत्येव। दृष्टान्तालङ्कारः। इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥५८॥

अचेतनेति—उच्यते, चुम्ब्यते इति पाठान्तरम्। ज्वलने अग्नौ प्रवेशस्य व्यवसायः निश्चयः तेन।

वसन्तसेना—अज्ज कदत्थम्हि । [आर्ये, कृतार्थास्मि ।]

शर्विलकः—(वसन्तसेनामवगुण्ठ्य चारुदत्तं प्रति) आर्य, किमस्य भिक्षोः क्रियताम् ?

चारुदत्तः—भिक्षो, किं तव बहुमतम् ?

भिक्षु—इमं ईदिशं अणिच्चत्तणं पेक्खिअ दिउणतले मे पव्वज्जाए बहुमाणे संवुत्ते । [इदमीदृशमनित्यत्वं प्रेक्ष्य द्विगुणतरो मम प्रव्रज्यायां बहुमानः संवृत्तः ।]

चारुदत्तः—सखे, दृढोऽस्य निश्चयः । तत्पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियताम् ।

शर्विलकः—यथाहार्यः ।

भिक्षुः—पिअं णो पिअम् । [प्रियं न प्रियम् ।]

वसन्तसेना—संपदं जीवाविदम्हि । [सांप्रतं जीवापितास्मि ।]

शर्विलकः—स्थावरकस्य किं क्रियताम् ।

चारुदत्तः—सुवृत्त, अदासो भवतु । ते चाण्डालाः सर्वचाण्डालानामधिपतयो भवन्तु । चन्दनकः पृथिवीदण्डपालको भवतु । तस्य राष्ट्रियश्यालस्य यथैव क्रिया पूर्वमासीत्, वर्तमाने तथैवास्यास्तु ।

शर्विलकः—एवं यथाहार्यः परमेनं मुञ्च मुञ्च । व्यापादयामि ।

चारुदत्तः—अभयं शरणागतस्य ('शत्रुः कृतापराधः' (१०।५४) इत्यादि पठति)

शर्विलकः—तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियं करोमि ।

चारुदत्तः—अतः परमपि प्रियमस्ति ।

लब्धा चारित्रशुद्धिश्चरणनिपतितः शत्रुरप्येष मुक्तः
प्रोत्खातारातिमूलः प्रियसुहृदचलामार्यकः शास्ति राजा ।
प्राप्ता भूयः प्रियेयं प्रियसुहृदि भवान्सङ्गतो मे वयस्यो
लभ्यं किं चातिरिक्तं यदपरमधुना प्रार्थयेऽहं भवन्तम् ॥५९॥

संविधानकं विधानम् प्रयोजनं वा । जीवितः सुहृद्वर्गः यस्य तथाभूतः । बहुमतम् अभीप्सितम् ।

सर्वमेव प्रियं जातमतः परमपि किं प्रियं स्यादित्याह चारुदत्तः—लब्धेति । चारित्रस्य शुद्धिः पवित्रता निर्दोषता वा लब्धा प्राप्ता वसन्तसेनावधापवादकलङ्कः परिहृतः इत्यर्थः एषः शत्रुः शकारः अपि चरणयोः निपतितः मुक्तः च । प्रोत्खातम् उन्मूलितम् अरातिमूलं येन स मम प्रियसुहृत् प्रियमित्रम् आर्यकः राजा सन् अचलां

वसन्तसेना—आर्य कृतार्थ हो गई।

शर्विलक—(वसन्तसेना का अवगुण्ठन करके चारुदत्त से) आर्य, इस भिक्षुक का क्या किया जाये ?

चारुदत्त—भिक्षुक तुम्हें क्या अभीष्ट है ?

भिक्षु—इस प्रकार की संसार की अनित्यता को देखकर मेरा संन्यास में दुगना आदरभाव हो गया है।

चारुदत्त—मित्र, इसका निश्चय दृढ़ है। अतः पृथ्वी के समस्त बौद्ध मठों का कुलपति इसे बना दिया जाये।

शर्विलक—जैसा आर्य कहें।

भिक्षु—हमारे लिये आनन्ददायक है, आनन्ददायक।

वसन्तसेना—इस समय मुझे जीवित कर दिया गया है।

शर्विलक—स्थावरक का क्या किया जाना चाहिये ?

चारुदत्त—अच्छे आचरण वाला यह अब दास न रहना चाहिये। वे चाण्डाल सब चाण्डालों के स्वामी बन जायें। चन्दनक पृथ्वी का दण्डनायक (न्यायाध्यक्ष या पुलिस का अध्यक्ष) हो जाये। उस राजश्यालक का जैसा पहले काम था, इस समय वैसा ही इसका रहे।

शर्विलक—जैसे आर्य ने कहा वैसा ही (होगा)। किन्तु इसे छोड़ दो, छोड़ दो। इसे मारता हूँ।

चारुदत्त—शरणागत के लिये अभय है (शत्रुः कृतापराधः १०।५४ इत्यादि पढ़ता है)

शर्विलक—तो बतलाइये कि आप का और क्या प्रिय करूँ ?

चारुदत्त—इससे अधिक भी क्या प्रिय है ?

चरित्र की निर्दोषता प्राप्त कर ली, चरणों पर लगे हुए शत्रु (शकार) को भी मुक्त कर दिया। शत्रुओं को उन्मूलित करके मेरा प्रिय मित्र आर्यक राजा हो गया तथा पृथ्वी का शासन करने लगा। यह प्रिया वसन्तसेना फिर मिल गई। प्रिय मित्र आर्यक से मिले हुए आप मेरे मित्र हो गये। इससे अधिक और क्या प्राप्त करना है, जिसकी मैं अब आपसे प्रार्थना करूँ ॥५६॥

पृथिवीं शास्ति। इयं प्रिया वसन्तसेना भूयः पुनः प्राप्ता। प्रियसुहृदि प्रियमित्रे आर्यके सङ्गतः भवान् शर्विलकः मे मम वयस्यः मित्रं जातः इति शेषः। किं च अतिरिक्तम् एभ्यः अधिकं लभ्यं प्रापणीयमस्ति, अधुना अहं चारुदत्तः यद् अपरम् अन्यत् भवन्तं शर्विलकं प्रार्थये। यत् प्रापणीयं तत्सर्वमेव प्राप्तं न किमपि लभ्यमवशिष्यते इति भावः। समुच्चयालङ्कारः, काव्यलिङ्गञ्च। स्रग्धरा वृत्तम् ॥४६॥

काञ्श्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा काश्चिन्नयत्युन्नतिं
काञ्श्चित्पातविधौ करोति च पुनः काञ्श्चिन्नयत्याकुलान् ।
अन्योन्यं प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधय-
न्नेष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥६०॥

तथापीदमस्तु (भरतवाक्यम्)

क्षीरिण्यः सन्तु गावो भवतु वसुमती सर्वसंपन्नसस्या
पर्जन्यः कालवर्षी सकलजनमनोनन्दिनो वान्तु वाताः ।
मोदन्तां जन्मभाजः सततमभिमता ब्राह्मणाः सन्तु सन्तः
श्रीमन्तः पान्तु पृथ्वीं प्रशमितरिपवो धर्मनिष्ठाश्च भूपाः ॥६१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

संहारो नाम दशमोऽङ्कः

विधिरेव जनानां जीवनेन क्रीडां करोतीत्याह चारुदत्तः कांश्चिदिति । कांश्चित् जनान् तुच्छयति तुच्छान् रिक्तान् करोति 'तत्करोति' इति णिच् । कांश्चिन् प्रपूरयति वा पूर्णान् करोति । कांश्चिद् उन्नतिम् अभ्युदयं नयति । कांश्चिन् पातविधौ पतनकर्मणि करोति च प्रेरयति । कांश्चित् पुनः आकुलान् व्याकुलान् नयति करोति-इत्यर्थः । इमाम् अन्योन्यं प्रतिक्षणां रिक्ततापूर्णताप्रभृतीनां विरोधिनां संहतिः समवायः यत्र तादृशीं लोकस्थितिं लोकावस्थां बोधयन् कूपयन्त्रस्य जलोद्धरणयन्त्रस्य घटिकानां क्षुद्रघटानां यः न्यायः पद्धतिः एकस्याः रिक्तता, अन्यस्याः जलपूरणं कस्याश्चिद् उन्नतिः कस्याश्चिच्च पतनम् तस्मिन् (न्याये) प्रसक्तः तत्परः एषः विधिः क्रीडति । निदर्शनाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥६०॥

भरतस्य नटस्य वाक्यम् आशीर्वचनम् । (टि०)

किन्हीं को रिक्त (तुच्छ) करता है, किन्हीं को पूर्ण करता है। किन्हीं को उन्नति की ओर ले जाता है तथा किन्हीं का पतन करता है और किन्हीं को तो व्याकुलता में ही डाल देता है। इस प्रकार परस्पर विरोधियों (रिक्तता-पूर्णता आदि) की समष्टि से युक्त इस संसार की अवस्था का बोध कराता हुआ, कूपयन्त्र (रहट) की घटिकाओं की पद्धति का अनुसरण करने वाला वह भाग्य क्रीड़ा करता है ॥६०॥

फिर भी यह होवे—

(भरतवाक्य)

गौएँ (प्रचुर) दूध वाली हों, पृथ्वी सब प्रकार के धान्य से पूर्ण हो। मेघ समय पर बरसने वाला हो, समस्त जनों के मन को आनन्दित करने वाली वायु चले। प्राणधारी निरन्तर सुखी रहें, पूज्य ब्राह्मण लोग उत्तम शील वाले हों, समृद्धिशाली, शत्रुओं का नाश करने वाले तथा धर्मनिष्ठ राजा पृथ्वी का पालन करें ॥६१॥

(सब निकल जाते हैं)

उपसंहार नामक दशम अङ्क समाप्त

क्षीरिण्य इति। गावः धनवः क्षीरिण्यः दुग्धवत्यः सन्तु। वसुमती पृथ्वी सर्वसम्पन्नसस्या सर्वाणि च तानि सम्पन्नानि च सस्यानि यस्यां तादृशी भवतु। पर्जन्यः मेघः कालवर्षी काले यथासमयं वर्षतीति तथा भवतु। सकलजनानां मनांसि नन्दयन्तीति तथाभूताः वाताः पवनाः वान्तु वहन्तु। जन्मभाजः देहधारिणः सततं मोदन्ताम्। अभिमताः पूजिताः ब्राह्मणाः सन्तः साधुशीलाः सन्तु। श्रीमन्तः समृद्धिशालिनः प्रशमिताः नाशिताः रिपवः शत्रवः यैः तादृशाः धर्मे निष्ठा येषां तादृशाश्च भूपाः भूमिपालाः पृथ्वीं पान्तु पालयन्तु। परिसंख्यालङ्कारः। स्रग्धरा वृत्तम् ॥६१॥

संहारः उपसंहारः, उपसंहाराख्योऽयं दशमोऽङ्कः।

इति दशमोऽङ्कः

समाप्तचायं ग्रन्थः

परिशिष्ट १

मृच्छकटिकश्लोकानां वर्णानुक्रमणिका

टिप्पणी

प्रथम अङ्क

[इस अङ्क का नाम 'अलङ्कार-न्यास' है। वसन्तसेना ने आना-जाना बढ़ाने के लिये चारुदत्त के घर में अपने आभूषणों को रख दिया—(=न्यास) यह इस अङ्क की प्रमुख घटना है। प्रारम्भ में नान्दी पाठ के पश्चात् प्रस्तावना आरम्भ होती है। प्रस्तावना में सूत्रधार तथा उसकी पत्नी नटी का कथोपकथन है। नटी के कहने से सूत्रधार किसी ब्राह्मण को निमन्त्रित करने के लिये निकलता है, तभी मैत्रेय (विदूषक) दिखाई देता है। इस अङ्क के चार दृश्य कहे जा सकते हैं—प्रथम दृश्य में मैत्रेय चारुदत्त के मित्र जूर्णवृद्ध का दिया हुआ उत्तरीय वस्त्र लेकर आता है। चारुदत्त मैत्रेय का स्वागत करके उसे देवियों को बलि देने के लिये जाने को कहता है। मैत्रेय आनाकानी करता है और चारुदत्त दरिद्रता के दुष्प्रभाव को स्मरण करता है। द्वितीय दृश्य में शकार, विट, चेट, वसन्तसेना का पीछा करते हैं और वसन्तसेना चारुदत्त के घर के समीप आ जाती है। तृतीय दृश्य में चारुदत्त जप समाप्त करके विदूषक को बलि देने के लिये भेजता है। रदनिका और मैत्रेय बाहर जाते हैं। इसी समय वसन्तसेना चारुदत्त के घर में प्रविष्ट होती है। शकार रदनिका को वसन्तसेना समझ कर उसको पकड़ लेता है और मैत्रेय तथा शकार का विवाद होता है। चतुर्थ दृश्य में रदनिका और मैत्रेय के लौटने पर चारुदत्त वसन्तसेना को पहचानता है। दोनों का प्रारम्भिक वार्तालाप होता है। वसन्तसेना न्यासरूप में अपने आभूषण चारुदत्त के घर रखकर चली जाती है।]

(पृष्ठ २) १. पर्यङ्क—इत्यादि नान्दी के दो श्लोक हैं। शम्भोः शून्येक्षणः समाधिः वः पातु' यह प्रधान वाक्य है। अन्य षष्ठी विभक्ति के पद 'शम्भु' के विशेषण हैं। पर्यङ्क का अभिप्राय है—योगाभ्यास का विशेष प्रकार का आसन; जिसे पद्मासन या वीरासन (काले) कहते हैं ग्रन्थि—गाँठ, पालथी लगाने के लिये एक पग पर मोड़कर दूसरा पग रखना। उसे दृढ़ करने के लिये (तस्य बन्धाय) दोहरे सर्प का आश्लेष—लपेटना (Coiling round); उससे जकड़े हुए हैं जानु जिसके (बहुव्रीहि समास)। अथवा ग्रन्थि बाँधने से दोहरे हुए सर्प के लिपटने के कारण जकड़ गये हैं जानु जिसके ऐसे शम्भु की (समाधि)। अन्तः प्राणावरोध०—प्रणायाम के समय प्राणवायु का शरीर के भीतर रोकना। इससे इन्द्रियों का बाह्यविषयक ज्ञान निवृत्त हो गया है तथा वे संयत हो गई हैं। बद्ध—संयत, वशीकृत। इन्द्रिय—इन्द्रस्य आत्मनः लिङ्गम् (इन्द्र अर्थात् आत्मा का अनुमान कराने वाला चिह्न), इन्द्र+घच् (इय्) आत्मनि० जिसने

तत्त्वज्ञान के द्वारा अपने भीतर ही आत्मा का दर्शन किया है। इस दर्शन के समय इन्द्रियों का व्यापार रुक गया है। यहाँ तत्त्वदृष्टया-सम्यक्दृष्टि के द्वारा, यह पश्यतः का कारण है तथा व्युपरतकरणम् रुक गया है करण अर्थात् इन्द्रिय-व्यापार जिस कर्म में, यह पश्यतः का क्रिया विशेषण है। आत्मानम्—विशुद्ध चैतन्य या ब्रह्मचैतन्य, वस्तुतः आत्मस्वरूप का दर्शन—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (योगसूत्र १।३)। शून्येक्षण० निराकार में वृत्तिघटित एकतानता अर्थात् तल्लीनता, उससे ब्रह्म में लगी हुई समाधि (शून्ये ईक्षणघटितो यो लयः, तेन ब्रह्मणि लग्नः)—यह अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। समाधिः वः पातु का भावार्थ है—समाधिनिष्ठः शिवः वः पातु।

यहाँ पर समाधिनिष्ठ शिव का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि—ये योग के आठ अङ्ग हैं। आसन से लेकर समाधि पर्यन्त समस्त अङ्गों का क्रमशः वर्णन इस पद्य में किया गया है। 'पर्यङ्क०' इत्यादि में 'स्थिरसुखमासनम्' का स्वरूप है, अन्तः०' इत्यादि में प्राणायाम तथा इन्द्रिय निरोधस्वरूप प्रत्याहार का वर्णन है। 'आत्मनि०' इत्यादि में 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' [योग० ३।१] इस धारणा का स्वरूप है तथा 'शून्येक्षणघटित' पद में 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् [योग० ३.२' यह ध्यान का रूप प्रकट होता है और 'ब्रह्मलग्नः' यह पद 'अर्थमात्रनिर्भास' समाधि का द्योतक है ।।१।।

२. पात० यहाँ पर 'गौरी' शब्द के प्रयोग से पार्वती की भुजा का गौरत्व अभिव्यक्त होता है जो श्यामाम्बुद सदृश नीले कण्ठ पर विद्युल्लता के सदृश है। इस श्लोक में कथावस्तु का बीज ध्वनित होता है; यथा—'शिव के कण्ठ में गौरी की भुजा' से चारुदत्त और वसन्तसेना का प्रेम प्रकट होता है। नीलाम्बुद का वर्णन मेघाच्छन्न दिवस में वसन्तसेना के अभिसरण का सूचक है। श्वेत तथा श्याम के सापेक्ष वर्णन से एक ओर संसार के शकारादिकृत धूर्ततापूर्ण व्यवहार अर्थात् कालुष्य तथा दूसरी ओर वसन्तसेना का पवित्र प्रेम अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में कथाबीज को प्रस्तुत करने वाली यह पत्रावली नामक नान्दी है। (देखिये सं० व्याख्या) ।।२।।

नान्दी—देव या राजा आदि को प्रसन्न करने के लिये नाटक के आदि में स्तुति या आशीर्वचन के रूप में मङ्गल किया जाता है वही 'नान्दी' कहलाती है। (देखिये सं० व्याख्या)। नन्दयति इति नन्दः √नन्द् + अच्; नन्द एव नान्दः (स्वार्थेऽण्), नान्द + ई (स्त्री०) = नान्दी। नान्दीपाठ सूत्रधार करता है। 'सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यम स्वरमाश्रितः।' यह आठ पदों की नान्दी है। व्याख्याकारों ने पद' की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। कहीं सुबन्त और तिङन्त को पद माना गया है; कहीं श्लोक के एक चरण को ही पद कहा गया है। यहाँ दोनों पद्यों के चार चार चरण मिलकर कुल आठ पद होते हैं।

सूत्रधार—रङ्गमञ्च का व्यवस्थापक। यहाँ 'सूत्र' शब्द का प्रयोग नाट्योपकरण अथवा अभिनय-निर्देशन के अर्थ में लाक्षणिक है। जिसके हाथ में समस्त नाट्यो-

पकरण होते हैं अथवा जो रङ्गमञ्च की व्यवस्था करता है, वह मुख्य नट अर्थात् अभिनेताओं का निर्देशक सूत्रधार कहलाता है। (विशेष देखिये सं० व्याख्या तथा भूमिका)।

विमर्दकारिणा—विघ्न करने वाले, विमर्द + √कृ + णिनि।

पृ० ४. **आर्यमिश्रान्**—आर्य—श्रेष्ठजन; कुलं शीलं दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता। अद्रोह इति येष्वेतत्तानार्यान् संप्रचक्षते। कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः। 'मिश्र' शब्द विद्वान् पुरुषों के लिये आदरसूचक उपाधि है।

मृच्छकटिक—मृच्छकट या मृच्छकटिका (मृद्+शकटिका) का अर्थ है—मिट्टी की गाड़ी। मृच्छकटम् अस्त्यस्मिन्निति मृच्छकट + ठन् (इक)। अथवा 'मृदः शकटिका यस्मिन्' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास होकर 'मृच्छकटिक' शब्द निष्पन्न होता है। षष्ठ अङ्क में वर्णित मिट्टी की गाड़ी इस प्रकरण की कथावस्तु के विकास में एक विशेष मोड़ दे देती है। अतः इसकी प्रधानता के कारण इस प्रकरण का नाम मृच्छकटिक रक्खा गया है। **प्रकरण**—रूपक के दश प्रकार होते हैं। उनमें से एक 'प्रकरण' नामक है। मृच्छकटिक एक प्रकरण है। (देखिये सं० व्याख्या तथा भूमिका)। **प्रयोक्तुम्**—अभिनय करने के लिये। **व्यवसिताः**—उद्यत हैं।

३. **द्विरदेन्द्र०**। यहाँ से प्ररोचना आरम्भ होती है। कवि तथा काव्य की प्रशंसा द्वारा सामाजिकों को काव्य की ओर आकृष्ट करना प्ररोचना कहलाता है (देखिये सं० व्याख्या)। **चकोरनेत्रः**—चकोर के नेत्र रक्तनील होते हैं। चकोर सदृश नेत्रों से शूद्रक की वीरता प्रकट होती है। **विग्रह**—शरीर। **द्विज**—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्ण द्विज कहे जाते हैं। यहाँ द्विज शब्द का प्रयोग क्षत्रिय के लिये किया गया है। **अगाधसत्त्वः**—अगाध = अथाह, सत्त्व = बल, अथाह बल वाला।

४. **ऋग्वेद० वैशिकीम्**—वेश से सम्बन्ध रखने वाली; वेश + ठक्। 'वेश' शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं,—जैसे १. वेश्याओं का वासस्थान अर्थात् वेश्यालय २. अग्निवेश कृत कामशास्त्र ३. नेपथ्य। यहाँ वेश (नेपथ्य सम्बन्धी कला अर्थात् नाट्यकला यह अर्थ ही अधिक संगत प्रतीत होता है। **शर्व**—शिव। **व्यपगततिमिरे**—चला गया हैं (अज्ञान का) अन्धकार जिनका, ऐसे चक्षु। **परमसमुद्येन**—अत्यधिक उन्नति करने वाले से; 'अश्वमेघ' का विशेषण है। इससे अश्वमेघ यज्ञ का महत्त्व प्रकट होता है। "अये अश्वमेघ इति नाम विश्वविजयिनां क्षत्रियाणामूर्जस्वलः सर्वक्षत्रपरिभावी महानुत्कर्षनिकषः।" (उत्तर० अङ्क ४) तथा 'यथाश्वमेधः क्रतुराट्—सर्वपापापनोदनः" (मनु० ११. २६१)। **इट्वा**—यज्ञ करके; √यज् + क्त्वा। **शूद्रकः**—राजा शूद्रक, मृच्छकटिक का रचियता (देखिये भूमिका)। **अग्निं प्रविष्टः**—अग्नि में प्रविष्ट हुआ अथवा परलोक को चला गया। यहाँ कवि का स्वयं ही अपनी आयु की समाप्ति तथा मृत्यु का वर्णन करना असङ्गत सा प्रतीत होता है। इस असङ्गति निवारण के लिये कई समाधान किये जाते हैं—(१) किन्हीं के मतानुसार ज्योतिष शास्त्र के द्वारा

भविष्यत् काल की बात जानकर यहाँ ऐसा वर्णन किया गया है, प्रविष्टः' इसमें (आगामी) सूत्रधार वचन की दृष्टि से भूतार्थक 'क्त' प्रत्यय है। शरभङ्ग मुनि के समान यज्ञविशेष की अग्नि में शूद्रक ने प्रवेश किया था ऐसी प्रसिद्धि है। (२) किसी कवि ने शूद्रक के नाम से यह प्रकरण लिखा और शूद्रक के पुत्र को भेंट कर दिया, अतः शूद्रक की मृत्यु का वर्णन किया जा सका। (३) यह श्लोक बाद में जोड़ा गया (प्रक्षिप्त) है। (४) 'अग्निं प्रविष्टः' का लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिये अर्थात् शूद्रक मृत्युपर्यन्त अग्निहोत्री बना रहा।

५. समर०। समरव्यसनी—युद्ध-प्रेमी। समरस्य व्यसनं समरव्यसनं तदस्यास्तीति समरव्यसनी (समरव्यसन + इन्) अथवा समरस्य व्यसनी इति (षष्ठी समासः)। ककुदं—श्रेष्ठ या प्रधान 'ककुदं नृपाणाम्' (रघु० ६, ७१)। तपोधनः—तप ही है धन जिसका (बहुव्रीहि)—तपस्वी। परवारण०; पर–शत्रु, वारण–हाथी; शत्रु के हाथियों या उत्कृष्ट हाथियों (पराः उत्कृष्टाः वारणाः परवारणाः) के साथ बाहुयुद्ध का इच्छुक। अथवा शत्रुओं को रोकने वाले (वारण) बाहुयुद्ध का इच्छुक। इससे शूद्रक की शारीरिक शक्ति सूचित होती है। किल—निश्चय ही प्रसिद्ध है।

प्र० ६. तत्कृतौ—उस (शूद्रक) की रचना में। यहाँ स्पष्टतया मृच्छकटिक को शूद्रक की कृति बतलाया गया है।

६. अवन्तिपुर्याम्०—प्राचीन काल में 'अवन्ति' नामक एक जनपद (प्रदेश) था, जिसकी राजधानी 'अवन्तीपुरी' (अवन्तीनां जनपदानां पुरी) अर्थात् उज्जयिनी थी। संस्कृत साहित्य में इसके वैभव का अनेकशः वर्णन किया गया है। द्विजसार्थवाहः—ब्राह्मण व्यापारी। सार्थ = व्यापारियों का समूह, काफला; सार्थं वहतीति सार्थवाहः; काफले लेकर व्यापार करने वाला। अधिकांश व्याख्याकारों ने यह अर्थ किया है। किन्तु एम० आर० काले का कथन है कि मृच्छकटिक के अनुशीलन से चारुदत्त के व्यापारी होने का कोई संकेत नहीं मिलता, अतः द्विजसार्थवाह का अर्थ है—ब्राह्मणश्रेष्ठ ब्राह्मण जाति का अगुआ a leader of the Brahman community और 'सार्थवाह' शब्द के इस भावार्थ के लिये प्रमाण है—मल्लिनाथ का–'कुरु मामम्ब कृतार्थसार्थवाहम्' (रघु० टीका मङ्गल श्लोक ३) यह प्रयोग। अथवा—सार्थवाह विनयदत्त का नाती होने के कारण चारुदत्त को भी सार्थवाह कह दिया गया है। 'सार्थवाह' उनकी परिवारिक उपाधि रही होगी ॥६॥

७. तयोरिदम्। तयोः—उन दोनों (चारुदत्त तथा वसन्तसेना) का, इसका 'नयप्रचारं' आदि के साथ अन्वय है। तयोः नयप्रचारम्' (आदि) इदं सर्वं चकार—यह मूलार्थ है। सत्सुरतोत्सवाश्रयः—सत्सुरतोत्सवः आश्रय यस्य तं नयप्रचारम् (बहुव्रीहि)। काले के अनुसार यह 'नयप्रचारं' का विशेषण है। वस्तुतः तो इसका सुसङ्गत अर्थ तथा अन्वय विचारणीय ही है। नयप्रचारं—नीति के व्यवहार को। व्यवहारदुष्टतां—न्याय की दोषपूर्णता को, जो चारुदत्त पर चलाये गये मिथ्याभियोग

में प्रकट हुई । व्यवहार—विवाद अथवा विवाद निर्णय सम्बन्धी विचार । भवितव्यतां—होनहार को, विधिविधान को, जिसका संकेत १०.६० में मिलता है ।

सङ्गीतशाला—(यहाँ) रङ्गशाला । कुशीलवाः—नट, अभिनय करने वाले (actors) । आं ज्ञातम्—अपनी दरिद्रता का स्मरण करके कहा गया है ।

८. शून्यम्० । शून्यं—सूना । अपुत्रस्य—नास्ति पुत्रः यस्य स अपुत्रः तस्य (बहुव्रीहिः) । चिरशून्यम्—दीर्घ काल तक सूना । दिशः शून्याः—दिशायें सूनी हैं ।८।

सङ्गीतकम्—सङ्गीतमेव सङ्गीतकम् । पुष्करबीजम्—कमल के बीज, वे सूर्य के ताप से सहज में ही सूख जाते हैं । खटखटायेते—खटखट करती है, अव्यक्त शब्द के अनुकरण 'खटत्' शब्द से डाच प्रत्यय होने पर द्वित्व होकर 'खटखटा' शब्द बनता है, खटखटा + य (क्यष्) 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् (३।१।१३), आत्मनेपद प्रथम पुरुष द्वि० में खटखटायेते रूप होता है । इस प्रसंग में भास के चारुदत्त नाटक में कोमलकान्त पदावली का प्रयोग किया गया है—"पुष्करपत्रपतितजलबिन्दू इव चञ्चलायेते अत्र मेऽक्षिणी ।" कार्य—स्त्री से सम्भाषणादि कार्य, 'कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः'—यह नाट्य-नियम है ।

प्रयोग—अभिनय का कार्य (The part he had to play—M. R. Kale) अथवा प्रयोगवशात्—नाट्य प्रयोग के नियम के अनुसार (दे० सं० व्याख्या) ।

पृष्ट ६ । अविद—खेद है । यह आश्चर्य तथा खेद के भाव को प्रकट करने वाला अव्यय है । संविधानकम्—आयोजन, भास ने केवल 'संविधा' शब्द का प्रयोग किया है । रथ्या—गली । परिवर्तन—मांजने के लिये घुमाना । कृष्णसारा—चितकबरी । विशेषक—तिलक । स्निग्ध गन्धेन—घृतादि स्निग्ध पदार्थों की गन्ध से । प्राणाधिकम्—जितनी जीव न सहन कर सके उससे अधिक, प्राणात्ययं—यह पाठान्तर है, इसका अर्थ है—जीवन को अतिक्रान्त करके । प्राणात्ययं बाधते मां बुभुक्षा—भूख के मारे प्राण निकल रहे हैं । वर्णकम्—रंग और गन्ध मिश्रित प्रलेपन । सुमनसः—पुष्प (स्त्रीलिङ्ग) । आर्ये—पत्नी के लिये सम्बोधन, जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—'वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परम् । शब्दाप्य—बुलाकर, पुकार कर । परमार्थम्—वास्तविक बात । नेपथ्य—(१) नटों के वेष रचना का स्थान, (२) 'नेपथ्यं स्याज्जवनिका ।' (३) वेष । यहाँ प्रथम अर्थ है ।

नियोगः—आज्ञा । अनुष्ठीयताम्—पालन किया जाये, अनु + √स्था (कर्मणि) लोट् प्र० पु० एक० । अशितव्यम्—खाने योग्य वस्तु, √अश् + तव्य । गुडौदनं—गुड से मिश्रित भात । ओदन—भात । तण्डुल—चावल । रसायनम्—सरस, रसयुक्त । आशासन्ताम्—आशीर्वाद देवें, आ √शंसु (इच्छार्थक) आशिषि लोट् प्र० पु० बहु० ।

पृष्ठ १० । 'स्वगतं' और 'प्रकाशं'—ये वस्तु को प्रकट करने के ढंग हैं । जो बात सुनाने योग्य नहीं होती उसे मन ही मन कहा जाता है और वह 'स्वगतम्' या 'आत्मगतम्' कहलाती है, किन्तु जो सबको सुनाने के लिये प्रकट रूप में कही जाती है उसे 'प्रकाशम्' कहते हैं । [illegible] के अनेक अर्थ किये गये हैं, जैसे

(१) वरण्ड—ढेकली में काम आने वाला लकड़ी का लट्ठा, लम्बुक—उस पर बंधा हुआ मिट्टी का थुआ (स्थूणः)। उसे कुयें आदि से जल निकालने के लिए ऊपर उठा कर नीचे गिराया जाता है। (पृथ्वी०)। (२) कुछ व्याख्याकारों के अनुसार डाट या लिण्टर के आधार-हेतु जो 'ढूला' तैयार किया जाता है वही 'वरण्डलम्बुक' कहलाता है, उसे पहले बताया जाता है और फिर गिरा दिया जाता, (३) एम. आर. काले का मत है कि लटकता हुआ घास का ढेर (वरण्ड-तृणसंचय) ही वरण्डलम्बुक कहलाता है जो तेज वायु के झोंके के द्वारा उठाकर नीचे गिरा दिया जाता है। 'वरण्ड' शब्द का आज भी इस अर्थ में कोंकण में प्रयोग देखा जाता है।

तत्किमिति—यहाँ वर्णकं पिनष्टि आदि का कवि ने पुनः वर्णन किया है। इनके द्वारा कवि वर्ण्य वस्तु की ओर संकेत करता है, यथा—'वर्णकं पिनष्टि' चारुदत्त को कुचलने के लिये किये गये शकार के प्रयत्नों का सूचक है, 'सुमनसो गुम्फति' वध्य-माला की ओर संकेत करता है तथा 'पञ्चवर्णं०' अन्तिम पाँच सुखद घटनाओं को सूचित करता है—(१) चारुदत्त के चरित्र की पवित्रता की पुनः स्थापना, (२) चारुदत्त का शकार को अभयदान, (३) आर्यक की राज्य प्राप्ति, (४) चारुदत्त और वसन्तसेना का पुनर्मिलन, (५) शर्विलक से मित्रता। किं नामधेयः—किस नाम का (उपवास)। अभिरूपपतिः—जिससे सुन्दर या विद्वान् पति मिलता है अर्थात् अनुकूल पति को दिलाने वाला। इहलौकिकः—इस लोक का, 'इहलोके भवः' इहलोक+ ठञ् (इक), पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'ऐहलौकिकः' प्रयोग होना चाहिये, क्योंकि 'अनुशतिकादीनां च' ७।३।२० से उभयपद वृद्धि होती है। पारलौकिकः—परलोक में होने वाला। क्रूर—भात, अन्न। जूर्णवृद्ध अथवा चूर्णवृद्ध दोनों नाम मिलते हैं सुगन्धस्—यह 'त्वां' तथा 'केशकलाप' दोनों का विशेषण है, 'त्वां' के साथ पुष्पों की माला (वध्यस्रक्) से युक्त—यह अर्थ होता है। जैसे वधू के सुवासित केशपाश में माँग फाड़ी जाती है, इसी प्रकार सुवासित पुष्पमालादि से युक्त चूर्णवृद्ध को राजा के द्वारा चीरा जाता हुआ मैं कब देखूंगा, यह भाव है।

पृष्ठ १२। कार्यम्—प्रयोजन। ब्राह्मणेनो०—व्रत-पारणा के समय जो ब्रह्म-भोज होता है उसके लिये ऐसे ब्राह्मण को निमन्त्रित करना है जो सूत्रधार की पारिवारिक अवस्था के अनुकूल हो। सुसमृद्धायामु०—इससे प्रकट होता है कि समृद्धिशाली उज्जयिनी नगरी में ब्राह्मण सम्पन्न थे और साधारण लोगों के निमन्त्रण पर उनका आना कठिन था अथवा 'नट' आदि के यहाँ वे आना पसन्द न करते थे। अग्रणीः—अग्रे नयतीति, आगे ले जाने वाला; अग्र+√नी+क्विप्। अशिशुमग्रणीः—यह भोजन के लिये निमन्त्रित करने की एक शिष्ट रीति है।

व्यापृतः—अन्य कार्य में लगा हुआ। सम्पन्नम्—समृद्ध, बढ़िया (Rich, delicious काले); 'सम्पन्न' शब्द का अर्थ प्रस्तुत (तैयार) भी किया जाता है। निःसपत्नम्—प्रतिद्वन्द्वी-रहित; कुछ व्याख्याकारों के अनुसार 'णीसवत्तं' इस प्राकृत शब्द का अर्थ है—'निःस्राव' अर्थात् पितरों को दिया जाने वाला घृतादि सहित

तण्डुलपूर्ण पात्र। यह सम्भव है कि मैत्रेय को लुभाने के लिये सूत्रधार ने इसका उल्लेख किया हो। किन्तु यह अर्थ कोश के अनुकूल नहीं अतः 'निःसपत्न' शब्द ही उचित है। भाव यह है कि इसमें तुम्हारा दूसरा प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं, है इसलिये समस्त दक्षिणा आदि तुम्हें ही मिलेगी अथवा तुमने हमारे यहाँ भोजन किया इसका किसी को पता न चलेगा (मि०, एम. आर. काले सं० टीका तथा नोट्स)।

प्रत्यादिष्टः—मना कर दिया गया। निर्बन्धः—आग्रह, दुराग्रह। अनुरोद्धुम्—अनुरोध के लिये, अपना अनुसरण करवाने के लिये—अनुरोधोऽनुवर्तनम्—अमरकोष।

आमुखम्—जहाँ सूत्रधार नटी या विदूषक आदि के साथ वार्तालाप करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत वस्तु का संकेत करता हुआ अपने कार्य की चर्चा करता है, उसे आमुख या प्रस्तावना कहते हैं (सं० व्याख्या) यहाँ सूत्रधार अपनी पत्नी नटी के साथ वार्तालाप करते हुए प्रकृत वस्तु की ओर कतिपय संकेत करता है, उन संकेतों का यथास्थान उल्लेख किया गया है।

आमुख भारती वृत्ति का भेद (अङ्ग) है। नट (सूत्रधार) का वह वाग्व्यापार (केवल कथन, जिसमें अभिनय प्रायः नहीं होता), जो अधिकांश संस्कृत भाषा में होता है, 'भारती वृत्ति कहलाता है। इसके चार अङ्ग होते हैं—(१) प्ररोचना (२) वीथी, (३) प्रहसन और (४) आमुख। प्ररोचना का ऊपर (पृष्ठ ४) उल्लेख किया जा चुका है।

प्रस्तावना भी पाँच प्रकार की होती हैं—(१) उद्घात्यक, (२) कथोद्घात, (३) प्रयोगातिशय, (४) प्रवर्तक, (५) अवलगित। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा। प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः॥ (६, ३३)। यहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है (लक्षण देखिये सं० व्याख्या); क्योंकि निमन्त्रण के लिये किसी ब्राह्मण को खोजते हुए सूत्रधार ने 'एष चारुदत्तस्य मित्रं मैत्रेय इत एवागच्छति' इस वाक्य से मैत्रेय का प्रवेश सूचित किया है। इस प्रकार सूत्रधार स्वयं ही अपने पूर्व प्रयोग अर्थात् निमन्त्रणार्थं ब्राह्मणान्वेषण का अतिक्रमण करके अन्य प्रयोग अर्थात् मैत्रेय के प्रवेश की सूचना देता है।

कथोदघात नामक प्रस्तावना में तो सूत्रधार के वाक्य का उच्चारण करते हुए अथवा उसके वाक्यार्थ को लेकर किसी पात्र का प्रवेश हुआ करता है। सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा। भवेत् पात्रप्रवेशश्चेत् कथोद्घातः स उच्यते। देखिये साहित्यदर्पण ६, २५ तथा उदाहरण)।

पृ० १४. समीहितव्यानि–चाहे जायें। तूलयसि—जांच करती है, तोलती है; तुला + णिच् + लट्, म० पु० एक०। तूलयसि यह भी पाठ है, हल्का करती है—यह अर्थ है। उद्गार०—उद्गार = डकार; डकारों में जिनकी सुगन्ध प्रकट होती है ऐसे (मोदक)। अशितः,—जिसने भोजन कर लिया है। अशितम् = अशनम्, अशितम् अस्यास्तीति अशितः, अर्श आदिभ्यः अच्' पा० ५।२।१२७॥ चतुः शालकम् आमने सामने बनी हुई चार शालाओं से घिरा हुआ भवन, चतस्रः शालाः समाहृताः यस्मिन्

तत् ततुःशालम् तदेव चतुशालकम् (स्वार्थे कः) मल्लक–व्यञ्जनपात्र, (चित्रकार-पक्ष में) रङ्ग पात्र; जिस प्रकार चित्रकार चित्रफलक पर बून्द गिरने के भय से तूलिका को रंग में छुआता सा है इसी प्रकार विदूषक अंगुलियों से चख-चख कर व्यञ्जन-पात्रों को छोड़ देता था। चत्वर—चौक, प्राङ्गण, चौराहा। वृषभ बैल; यहाँ पर उस वृषभ की ओर संकेत है जो किसी पर्व पर स्वच्छन्द विचरण के लिये छोड़ दिया जाता है और निर्बाध रूप से चरकर अत्यन्त पुष्ट हो जाता है, विदूषक ने अपने तत्कालीन निर्द्वन्द्व जीवन की उसके साथ समानता दिखलाई है। रोमन्थायमानः—जुगाली कराता हुआ, रोमन्थ=जुगाली, रोमन्थं वर्तयति रोमन्थायते, 'कर्मणोः रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः पा० ३।१।१।' इति क्यङ् रोमन्थ+क्यङ्+शानच्। गृहपारावतः—घरेलू या पालतू कबूतर। आवासनिमित्तम्—बसेरे के लिये। गृह-देवतानाम्—विशेष प्रकार के देवता, जिन्हें गृह-रक्षा करने वाला समझा जाता था और अन्न आदि की वलि दी जाती थी। यथानिर्दिष्ट—जैसा ऊपर निर्देश किया गया है अर्थात् वलि का अन्न लिये हुए।

९. यासां०—बलिः—बलिवैश्वदेव यज्ञ के अनन्तर गृह द्वार पर जो बलि का अन्न रक्खा जाता है, उसकी प्रचुरता की ओर सकेत है।

पृ० १६। विरूढ०—उगे हुए हैं तृणाङ्कुर जिनमें (बहुव्रीहि); दरिद्रता के कारण देखभाल के हेतु कोई सेवक नहीं था अथवा दारिद्र्य-जनित अकर्मण्यता से स्वच्छता की ओर ध्यान नहीं दिया था। बीजाञ्जलिः—बीजानाम् अञ्जलि; अञ्जलि भरे बीज। यहाँ 'बीज' शब्द साधारण अन्न को ध्वनित करता है। कीट०—कीड़ों के मुख से खाई हुई (बीजाञ्जलि); इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं–(१) कीड़े लगे (घुने) अन्न की अंजलि अथवा (२) इतनी स्वल्प बीजाञ्जलि कि कीट ही उसे खा सकते हैं चिड़िया आदि नहीं। इससे प्रकारान्तर से दरिद्रता का ही कथन किया गया है; इस प्रकार प्रयतीमान् दरिद्रता का भङ्ग्यन्तर से कथन होने के कारण यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार है। 'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते।' ॥९॥

विदूषकः—नायक का मित्र, उसके व्यक्तिगत जीवन का सहचर एक विनोद-प्रिय ब्राह्मण, जो भोजनशूर भी होता है (लक्षण के लिये देखिये सं व्याख्या)

सर्वकालमित्रम्—सब समय अर्थात् सम्पत्ति तथा आपत्ति में मित्र।

१०. सुखं हि०। घनान्धकारेषु—गहन अन्धकार में (कर्मधारय) अथवा घना अन्धकार है जिनमें ऐसे स्थानों में ('स्थानेषु' का अध्याहार करके) सुखात्—सुख से, सुख के पश्चात् अथवा सुखमनुभूय (सुख का अनुभव करके; 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इस वार्तिक के अनुसार कर्म में पञ्चमी। मृतः स जीवति–मृतक के समान जीवन व्यतीत करता है, वस्तुतः यह मृतक ही है, किसी प्रकार प्राण धारण करता है ॥१०॥

११. दारिद्र्यात्०—दरिद्रता और मृत्यु में; यहाँ पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग चिन्तनीय है, कुछ व्याख्याकारों के अनुसार 'दारिद्र्यमाश्रित्य' इस प्रकार आश्रित्य पद का अध्याहार करके 'ल्यब्लोपे०' इत्यादि से कर्म में पञ्चमी है। मम रोचते–मुझे

पसन्द है; पाणिनि-व्याकरण के अनुसार 'मह्यं रोचते' प्रयोग होता है । **दारिद्र्य॰मनन्तकं दु:खम्**—दरिद्रता अनन्त दुःख है; यहाँ पर दरिद्रता को दुःखदायक न कहकर साक्षात् दुःखरूप ही कहा गया है । इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में उक्त अर्थ के साथ उत्तरार्ध वाक्य का अर्थ हेतुरूप में अन्वित होता है, अतः काव्यालिङ्ग अलङ्कार है ।।११।।

पृ० १८ **अलं संतप्तेन**—संताप मत करो, यदि दुर्व्यसनों में धन नष्ट किया जाता तो पाश्चात्ताप ठीक था । आपने तो उदारतापूर्वक प्रियजनों को प्रदान किया है। **सुरजन॰**—यह माना जाता है कि कृष्णपक्ष में देवगण अमृतमय चन्द्रकलाओं का क्रमशः पान कर लेते हैं—'तं च सोमं पपुर्देवाः पर्यायेणानुपूर्वशः' (रघु॰ मल्लि॰ २.७३) । **प्रतिपच्चन्द्र**—शुक्लपक्ष की प्रथम तिथि का चन्द्रमा, 'नवचन्द्र' से अभिप्राय है जिसको मनुष्य पूर्णिमा के चन्द्रमा से भी अधिक मानते हैं । **अर्थात्** प्रति—प्रति (कर्मप्रवचनीय) के योग में द्वितीया हुई है । **दैन्यम्**—सन्ताप (Misery)

१२, **एतत्तु॰**—मुझे तो यह अतिथियों के द्वारा की गई अवहेलना ही संतप्त करती है; क्योंकि 'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' (भगवद्गीता २.३४) **संशुष्क॰**—सूख गई हैं घनी मदपङ्क्ति जिसकी ऐसे (गज-कपोल) को बहुव्रीहि)। **कालात्यये**—कालस्य अत्यये अवसाने, मद गिरने का समय व्यतीत हो जाने पर ।।१२।।

दास्याः पुत्राः—दासी के पुत्र, नीच; इसका गाली के रूप में प्रयोग किया गया है । **अर्थकल्यवर्ताः**—धनरूपी कलेवा; जैसे कल्यवर्त (=कलेवा या प्रातराश) बहुत हल्का खाद्य होता है, इसी प्रकार से धन भी तुच्छ है । अथवा जैसे कलेवे का स्वल्पकालिक या क्षणिक सहारा होता है इसी प्रकार से धन भी क्षणस्थायी है । कल्यं प्रातःकालः वर्त्यते अनेन इति कल्यवर्तः प्रातराशः, यह शब्द 'तुच्छ' या 'महत्त्वहीन' अर्थ में लाक्षणिक है । आगे भी इसका प्रायः इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है; 'ननु कल्यवर्तमेतत्' (२।१२-१३) इत्यादि । **वरटा**—पीला ततइयाँ, भिरड, बर्र । **खाद्यन्ते-** (१) धन-पक्ष में भोगे जाते हैं (२) गोपालदारक पक्ष में काटे जाते हैं ।

१३. **सत्यं न॰** । **सत्यम्**—सचमुच । **भाग्यक्रमेण**—भाग्यपरिवर्तन से । **सौहृदात्**—मित्रता से, शोभनं हृदयं यस्य सः सुहृद—'हृदय' के स्थान में 'हृद्' हो जाता है । सुहृदो भावः→सौहृदम् । पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'सौहार्द' (सुहृद+अण्) होना चाहिये; क्योंकि यहाँ उभयपदवृद्धि (हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च ७।३।१९) होगी तथापि संस्कृत साहित्य में 'सौहृद्' शब्द का प्रचुर प्रयोग मिलता है; कालिदास (सखी जनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः; विक्रम॰ १.९) तथा भवभूति (सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम्; उत्तर॰ १.४५) ने भी इसका प्रयोग किया है । **शिथिलीभवन्ति**—शिथिल+च्वि+भवन्ति ।।१३।।

पृ॰ २०; १४. **दारिद्र्याद्** । **ह्रियम्**—लज्जा को । **प्रभ्रश्यते**—भ्रष्ट हो जाता है; सत्त्वात् प्रभ्रश्यते—यह पाठान्तर है । **निस्तेजाः**—तेज-शून्य । **निर्वेद**—नैराश्य (Despondency) ग्लानि । **बुद्ध्या**—विवेक से अर्थात् सदसद्विवेक से (बुद्धि =भले बुरे की पहचान) । **अहो**—आश्चर्य अर्थ में अव्यय । **निधनता**—निर्धनता

निर् का समानार्थक 'नि' उपसर्ग भी है । आस्पदम्=स्थान । यहाँ कारणमाला अलङ्कार है। जहाँ पूर्व कथित वस्तु क्रमशः अपने से आगे आने वाली का कारण होती है वहाँ 'कारणमाला' नामक अलङ्कार होता है—'यथोत्तरं चेत् पूर्वस्याथस्य हेतुर्वा तदा कारणमाला स्यात्' काव्यप्रकाश । १४॥

१५. निवास० । परपरिभवः—अत्यधिक तिरस्कार, परश्चासौ परिभवश्चेति' (कर्मधारय) अथवा दूसरों के द्वारा किया गया तिरस्कार 'परेषां परिभवः' इति (षष्ठी समास) अपरम्—अन्य, बहुत अधिक 'नास्ति परं यस्मात्' मित्राणाम्=मित्रों की, मित्रों द्वारा की गई (कर्तरि षष्ठी) । कलत्रात्—स्त्री से (नपुं० लिङ्ग) यहाँ दरिद्रता का 'चिन्ता का निवास' इत्यादि अनेक रूपों में उल्लेख किया गया है । अतः उल्लेख अलङ्कार है । 'शोकाग्निः' में रूपक है । अग्नि रूप कारण के होने पर भी दाहरूप कार्य नहीं होता, इस कथन में विशेषोक्ति है ॥१५॥

स्मृत्वा अलम्—याद मत करो; प्रतिषेधार्थक 'अलम्' शब्द के योग में √स्मृ +क्त्वा; अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' पा० ३.४.४८ । चतुष्पथे—चौराहे पर, चत्वारः पन्थाः समाहृताः यत्र तत्; चौराहे पर बलि देने की एक पुरानी प्रथा थी। मातृभ्यः—माताओं को, मान्यन्ते पूजयन्ते इति मातरः । ये विशेष प्रकार की देवियाँ हैं जो मतभेद से 'ब्राह्मी' आदि सात या आठ मानी जाती हैं । किन्हीं के अनुसार ये ६० हैं । यतः······अर्चितेषु—कार्य का उचित पुरस्कार न मिलने पर मनुष्य के हृदय में इस प्रकार की स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुआ करती है । को गुणः-क्या लाभ ?

पृ० २२ नित्यः अयं विधिः—यह नित्य कर्म (विधि, पुं०), धार्मिक कृत्य (विधि) तीन प्रकार के हैं—(१) नित्य—सन्ध्योपासना आदि, जिनके करने से कोई पुण्य नहीं मिलता, किन्तु न करने पर दोष लगता है, 'नित्यान्यकरणेप्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि' (वेदान्तसार), (२) नैमित्तिक—जो किसी निमित्त से किये जाते हैं जैसे 'जातेष्टि' इत्यादि, नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि' (वेदान्त-सार), (३) काम्य—जो स्वर्ग इत्यादि के साधन माने जाते हैं जैसे 'ज्योतिष्टोम' इत्यादि, काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि (वेदान्तसार) ।

१६. तपसा०, शमिनां—शमयुक्तों का, शम-मनः संयम, मनोनिग्रह; शमः एषा-मस्तीति शमिनः शम+इनि ॥१६॥

प्रदोषवेला—रात्रि का प्रथम प्रहर । विटः—नाटक में एक व्यक्ति जो कि धूर्त, किसी कला में कुशल, वेश-रचना में चतुर, वाक्कुशल, विनोदप्रिय होता है तथा गोष्ठी में बहुत पसन्द किया जाता है । यह वेश्या और नागरिकों के पारस्परिक सन्देश भी पहुँचाता है, (देखिये सं० व्याख्या) । चेटः—सेवक, शृङ्गार में सहायक । नायक या प्रतिनायक के शृङ्गार में सहायक विट तथा चेट होते हैं जैसा कि साहित्य-दर्पण में कहा है—शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्या स्युः । भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जना शुद्धाः ॥ (३,४०) । यहाँ पर विट और चेट (प्रतिनायक) शकार के विनोद सहचर हैं ।

१७. किम्० । परिवर्तितसौकुमार्या—बदल दिया है या त्याग दिया है सुकुमारता को जिसने ऐसी । विशद—स्पष्ट या स्वच्छ, इसी से कुशल या दक्ष अर्थ भी होता है । उद्विग्न०—यह एक सन्देहास्पद समास है । कुछ व्याख्याकारों ने इसकी क्रियाविशेषण के रूप में व्याख्या करने का प्रयास किया है, किन्तु प्रस्तुत पाठ को रखते हुए वह व्याख्या उचित नहीं कही जा सकती । अतः इसे वसन्तसेना का विशेषण ही मानना पड़ता है, और इसका विग्रह है—उद्विग्नचञ्चलकटाक्षरूपेण विसृष्टा दृष्टिः यया सा (पृथ्वी०) । उद्विग्नः अतएव चञ्चलश्च असौ कटाक्षश्च (कर्मधारयः) तेन विसृष्टा दृष्टिः यया सा अथवा उद्विग्नचञ्चलं च यथा स्यात् तथा (क्रियाविशेषणम्) कटाक्षेण विसृष्टा दृष्टिः यया सा । M. R. काले के अनुसार सर्वश्रेष्ठ विग्रह यह है—उद्विग्ना चाऽसौ चञ्चला च कटाक्षविसृष्टा च दृष्टिः यस्याः' अर्थात् जिसकी दृष्टि व्याकुल, चञ्चल तथा कटाक्षपात करने वाली है ।।१७।।

पृ० २४. शकारः—लक्षणग्रन्थों के अनुसार राजा का साला रखेली स्त्री का भ्राता जो दुष्कुलोत्पन्न मूर्ख तथा अभिमानी होता है वही शकार कहलाता है । वह शकारी (प्राकृत) बोली बोलता है जिसमें कि 'श वर्ण' (शकार) की बहुलता होती है इसी से वह शकार कहलाता है जैसा कि कहा गया है—'शकारप्रायभाषित्वाच्छकारो राष्ट्रिय अमृतः ।' इस नाटक का शकार, जिसका नाम संस्थानक है, विशेष महत्त्वपूर्ण है, यह प्रतिनायक भी है (देखिये सं० व्याख्या तथा भूमिका) ।

१८. किं यासि—शकार की भाषा पुनरुक्ति तथा व्यर्थ प्रलाप आदि दोषों से भरी है । उसकी भाषा की ऐसी ही विशेषतायें बतलाई गई हैं (देखिये सं० व्याख्या तथा भूमिका) । वासु—वाला, 'बाला स्याद् वासुः'—अमरकोष ।।१८।।

१९. उत्त्रासिता०—चेट की भाषा में अद्भुत उपमायें हैं, किन्तु इसके संवाद विट के समान कवितामय एवं विवेकपूर्ण नहीं हैं । चेट का लक्षण इस प्रकार किया गया है—'कलहप्रियो बहुकथो विरूपो गन्धसेवकः मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटोऽप्येवंविधः स्मृतः । अववल्गति—(उतावली के कारण) उछलता सा (ठोकर खाता-सा) जाता है । अपवलगति यह पाठान्तर है । स्वामी चासौ भट्टकारश्च, 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग राजा के लिये होता है 'भट्टारको नृपे नाट्यवाचा देवे तपोधने' मेदिनीकोष । यहाँ पर भट्टारक शब्द के प्रयोग से शकार का विशेष प्रभाव प्रकट होता है । कुक्कुट० इत्यादि हीनोपमा है, जो चेट की परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल है । कुक्कुरशावकः यह पाठान्तर है, जो शकार के लिये उपयुक्त है ।।१९।।

२०. किं यासि०, बालकदली—छोटी केली । वसन्तसेना लाल रेशमी वस्त्र (रक्तांशुक) धारण किये थी और काँपती सी जा रही थी । वह वायु से सहज प्रकम्पित लाल पुष्पों वाली कदली सी प्रतीत होती थी । दशा—आंचल ! रक्तोत्पल-प्रकर—लाल कमलों का समूह, वसन्तसेना लाल कमलों की माला पहने थी अथवा केशपाश में लाल पुष्प गूँथे हुए थी । उन पुष्पों की कलियाँ एक-एक कर ऐसे गिरने लगीं जैसे टाँकी से 'मनसिल' को काटने पर कलियों जैसे खण्ड बिखरते हैं । मनः शिल

गुहा—मनसिल की कन्दरा (खान)' 'मन:शिला' शब्द स्त्रीलिङ्ग है, अतः मन:शिला-गुहा' होना चाहिये। इसके लिये व्याख्याकारों ने कई समाधान दिये हैं, जिनमें यही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि 'मन:शिला' (स्त्री०) के समान मन:शिलः' (पुं०) शब्द भी है—'महाभारते मनःशिलशब्दोऽपि दृश्यते इति तथा प्रयुक्तः' (पृथ्वीधर)॥२०॥

पृ० २६। २१. मम०—यहाँ पर शकार का वचन होने के कारण 'मदनम-नङ्गम्' आदि में पुनरुक्ति है, 'भयभीता' में 'भय' शब्द निरर्थक है, 'रावणस्येव कुन्ती' में हतोपमा है यहाँ काल-भेद का ध्यान नहीं रक्खा गया॥२१॥

२२. किं त्वम्०, विशेषयन्ती—अतिक्रमण करती हुई, बढ़कर होती हुई। पतगेन्द्रस्य भयेन अभिभूता (तत्पुरुष)। प्रविसृतः—तेज चलता हुआ, दौड़ता हुआ। निरुन्ध्यां—रोक लूं। न रुन्ध्याम्—न रोक लूं? यहाँ काकु है, जिससे विपरीत अर्थ प्रकट होता है 'न रुन्ध्याम् इति न' अर्थात् रोक ही लूंगा। त्वन्निग्रहे०—इसके दो अर्थ हैं—(१) तुझे पकड़ने में मुझे कोई प्रयास नहीं करना अर्थात् मैं अनायास ही तुझे पकड़ सकता हूँ।। (२) तुझे बलात् रोकने का मेरा प्रयत्न नहीं है॥२२॥

भाव—आदरसूचक सम्बोधन है, जिसका नाटक में सेनापति आदि के लिये प्रयोग किया जाता है—सेनापतिरमात्यश्च श्यालो भावेति भाष्यते।'

२२. एषा नाणक०, नाणक—शिवाङ्कित सिक्के (पृथ्वीधर)। नाणकमोषिन्—धन का अपहरण करने वाला, चोर; उनकी कामकशिका; कशा—कोड़ा; कशा के समान काम को प्रेरित (उद्दीप्त) करने वाली। निर्नास—(निर्+नासा) यहाँ पर 'निर्' अल्पता का द्योतक है, नीची नाक वाली। कुलनाशिका—वेश्यासक्त पुरुषों के कुल को नष्ट करने वाली। वेशवधू वेशाङ्गना इत्यादि शब्द समानार्थक हैं, यह शकार की उक्ति है अतः यहां पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। वेश—वेश्यालय, 'वेशो वेश्या-जनाश्रयः'—अमरकोष, अथवा वस्त्र अलङ्कार आदि धारण करना। दशनामानि०—यदि देवों के आठ, दस या बारह नामों का पाठ किया जाता है तो वे प्रसन्न हो जाते हैं; जैसे गणेश की स्तुति में १२ नामों का पाठ किया जाता है; किन्तु यह वसन्तसेना दस नामों के रखने से भी प्रसन्न नहीं हो रही है—यह भाव है (एम० आर० काले)॥२३॥

पृ० २८। २०. प्रसरसि०, प्रचलित—ज्यों ही वसन्तसेना त्वरित गति से चलती थी उसके कपोलों में कुण्डलों के अग्रभाग का घर्षण होता था, इसी हेतु उसकी विट-नखघर्षित-वीणा से उपमा दी गई है; यहाँ कुण्डल ही विट के समान हैं॥२४॥

२५. झणत्०; द्रौपदीव—यहाँ पूर्वार्ध उत्तरार्ध दोनों भागों में इतिहास विरुद्ध सम्बन्ध दिखलाये गये हैं; राम का द्रौपदी से काल भेद है। इसी प्रकार 'विश्वावसु' नामक गन्धर्वराज का महाभारत में उल्लेख अवश्य मिलता है किन्तु सुभद्रा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। शकार का वचन होने से ही यह असम्बद्धता है॥२५॥

२६. रमय०, रमय—रमण करो। मत्स्यमासकम्—मछली मांस, यहाँ चेट ने अपने निम्न स्तर के अनुकूल ही यह बात कही है; उसकी दृष्टि में यह जीवन का

परम सुख है। श्वानः—संस्थानक के कुत्ते जो माँस मछली से तृप्त रहते थे, अतएव वे मृतक पशु आदि को नहीं खाते थे। इस कथन से शकार के मन में मास-मछली आदि की प्रचुरता प्रकट होती है ॥२६॥

२७. किं त्वम्; कटी०—कटि प्रदेश में बाँधे गये तथा तारा०—चमकदार मोती अथवा (तारे; तारों जैसे मोतियों से विचित्र और सुन्दर; ये दोनों रशनाकलापम्' के विशेषण हैं। निर्मथित०—तिरस्कृत किया है चूर्णित मनसिल को जिसने ऐसे मुख से उपलक्षित। कुछ व्याख्याकारों के अनुसार जिस (मुख) पर चूर्णित मनसिल लगाया गया है (निर्मथिता अवलिप्ता चूर्णमनः शिला यत्र) यह अर्थ है ॥२७॥

पृ० ३०। २८. अस्माभि०; चण्डम्—भयङ्कर रूप से, तीव्र गति से (क्रिया-विशेषण)। अभिसार्यमाणा—पीछा की जाती हुई। सवृन्तम्—वृन्त (मूलबन्ध) सहित अर्थात् धैर्य आदि के आश्रय सहित मेरे हृदय को हरती हुई ॥२८॥

पल्लवक—वसन्तसेना का सेवक परभृतिका तथा माधविका—वसन्तसेना की सेविकाएँ। वसन्तसेना के नाम के अनुरूप ही ये सुन्दर संज्ञायें चुनी गई हैं। परिभ्रष्टः—खोया गया।

पृ० ३२। विलप, विलप०—'परभृतिका' (१—कोयल, २—एक सेविका का नाम) इत्यादि शब्दों के श्लिष्ट अर्थ के आधार पर शकार ने वक्रोक्ति द्वारा उत्तर दिया है।

२०. किम्०; जमदग्निपुत्रः—जमदग्नि का पुत्र परशुराम। केशहस्ते (केशपाश में) गृहीत्वा—यहाँ केशहस्ते में सप्तमी के लिये द्रष्टव्य है। (आप्टे ९७ a) दुःशासनस्य०—जिस प्रकार दुःशासन ने द्रौपदी को खींचा था, उसी प्रकार केश पकड़-कर खींचता हूँ—यह भाव है ॥२९॥

३०. असि०; वलितम्—सुन्दर, 'वलितं त्रिषु सुन्दरम्—विश्वकोष। कल्पये—काटता हूँ। मुमूर्षुः—मरने को, जिसकी मृत्यु निकट होती है; भाव यह है कि जिसकी मृत्यु अवश्यंभावी है वह भागने से भी कैसे जीवित रह सकती है? शङ्के मरिष्यतीति =मुमूर्षति→√मृ+सन्; मुमूर्ष+उ ॥३०॥

अनुनयः—नम्रता, अनुकूल व्यवहार। तर्क्यते—संभावना (अपेक्षा) की जाती है। शान्तम्—किसी के कथन का निषेध करने के लिये या किसी आशङ्कित अनिष्ट के निवारण की कामना प्रकट करने के लिये 'शान्तं (शान्तं पापम्)' इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। कृतम् अलङ्करणैः—आभूषणों से बस करो; यहाँ कृतम् (=अलम्) के योग में 'अलङ्करणैः' में तृतीया विभक्ति है। कामयितव्यः—√कम्+णिच्+तव्य।

पृ० ३४। माम अन्तरेण—मेरे विषय में, मेरे प्रति (अन्तरेण के योग में द्वितीया)। सुस्निग्धा—अनुरक्त। भाव यह है कि यद्यपि यह वेश्या बाहर से मेरे प्रति घृणा प्रकट करती है तथापि मुझ में अनुरक्त है। शपे···पादाभ्याम्—यहाँ 'शीर्षे' के स्थान पर 'शीर्षेण' पाठ युक्त है; 'भावस्य शीर्षेण आत्मीयाभ्यां पादाभ्यां च शपे' यह

अर्थ होगा। कुछ व्याख्याकार 'स्पृष्ट्वा' का अध्याहार करके—'भावस्य शीर्षम् आत्मीयाभ्यां पादाभ्यां 'स्पृष्ट्वा' यह अर्थ करते हैं। शकार विट को आदरणीय समझता है, अतः यह भाव उचित नहीं प्रतीत होता तथापि शकार का वचन होने से ग्राह्य हो सकता है। पृष्ठानुपृष्ठिकया—पीछे-पीछे; पृष्ठानुपृष्ठमस्त्यस्यां क्रियायामिति पृष्ठानुपृष्ठिका तया; पृष्ठानुपृष्ठ + ठन् (इक)।' माहिण्डमानः—घूमता हुआ, आ√हिण्ड + शानच्। वेश०—वेश्यालय में वास के विरुद्ध, अर्थात् वेश्या को तो सब का समान रूप से स्वागत करना चाहिये।

३१. तरुण०—युवकजन हैं आश्रय जिसका ऐसा, वेशवासः—वेश्या का जीवन। विगणय—विशेष रूप से विचारो। धनहार्यम्—धन से ग्राह्य। पण्यभूतं—विक्रेय वस्तु के समान, ऐसे स्थलों पर 'भूत' शब्द 'समान' अर्थ को प्रकट करता है; पण्यं भूतं पण्यभूतं, सुप्सुपेति समासः (काले)। सुप्रिय अप्रिय को समान रूप से सेवन करो—इस कथन में 'धनहार्यम्' इत्यादि हेतु दिखलाया गया है। अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥३१॥

३२. वाप्याम्०—भाव यह है कि तुम सब का समान रूप से सेवन करो। फुल्लाम्—फूली हुई, √फुल + क्त। नाम्यति = नामयति—झुकाता है, 'नाम' (नमना) शब्द कण्ड्वादिगण में है, अतः 'नामं करोति' इस अर्थ में नाम + यक् → अकार लप होकर 'नाम्यति' रूप होता है। यहाँ पर 'सर्वं भज' इस कथन में 'वेश्याऽसि' यह कथन हेतु है। अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है तथा 'त्वं वापीव् लतेव, नौरिव, में मालोपमा है ॥३२॥

गुणः खलु०—इससे वसन्तसेना का गुणों के प्रति अनुराग प्रकट होता है। चारुदत्त नाटक में भी ऐसा ही कहा गया है—कुलपुत्रजनस्य शीलपरितोषोपजीविनी गणिका खल्वहम्। गर्भदासी—जन्म से दासी, यह गाली के रूप में प्रयोग किया गया है। कामदेवायतन०—यह उज्जयिनी का एक प्रसिद्ध उद्यान था, जिसमें कामदेव का मन्दिर रहा होगा। संस्कृत साहित्य के अनेक नाटकों तथा कहानियों में युवक-युवतियों द्वारा कामदेव की पूजा का उल्लेख मिलता है। परिहर्तव्यम्—छोड़ना है। उदाहरति-कहता है, उद् + आ√हृ प्र० पु० एक०। चारुदत्तम् अनुरक्ता—अथवा चारुदत्ते अनुरक्ता—(द्वितीया अथवा सप्तमी) यह शुद्ध प्रयोग है, 'चारुदत्तस्य अनुरक्ता' यह शकार का प्रयोग उचित नहीं। काणेलीमातः—काणेली शब्द का अर्थ है—रखेल, एक अविवाहित स्त्री जो किसी पुरुष के साथ विवाहित स्त्री के समान रहती हो। उस स्त्री का पुत्र—काणेलीमातृकः या काणेलीमाता, यहाँ बहुव्रीहि के अन्त में विकल्प से 'क' प्रत्यय होता है। शकार की माता काणेली थी, अतः उसको 'काणेली-मातः' शब्द से सम्बोधित किया गया है। कहीं कहीं 'काणेलीभ्रातः' पाठ भी है, शकार की अविवाहित बहन भी राजा पालक के यहाँ विवाहिता के समान रहती थी (रखेल थी)।

०पृ २६. अपराध्यता—अपराध करते हुए अप√राध् + शतृ, तृ० वि० एक०।

३३. आलोक०, देखने में तीव्र अथवा प्रकाश में दूर तक देखने वाली, (आलोक =देखना, प्रकाश)। विच्छिन्ना—रुकी हुई, शक्तिहीन हुई ॥३४॥

३४. लिम्पतीव०—यह श्लोक काव्य-प्रकाश में (१०— ४१७ तथा ५९८) दो बार अलङ्कारों के उदाहरण रूप में उदधृत किया गया है, यहाँ यमक और अनुप्रास की संसृष्टि है तथा उपमा एवं उत्प्रेक्षा की भी। यह श्लोक चारुदत्त नाटक (१.१९) में भी इसी रूप में है ॥३४॥

उपलक्षयसि—उपलक्षण बना रहे हो अर्थात् जिसके सहारे ढूंढ रहे हो। भूषणशब्दम्—उपलक्षयसि—इस प्रकार ये अन्वय है।

जनान्तिकम्—नाटक में नियतश्राव्य उक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) जनान्तिक, (२) अपवारित। जब एक पात्र अपने हाथ की तीन अङ्गुलियाँ उठाकर तथा अनामिका अङ्गुलि को वक्र किये हुए (त्रिपताकाकरेण) अन्य लोगों को बचाकर किसी एक पात्र से कुछ कहता है तो वह जनान्तिक कहलाता है और जब मुख फेरकर दूसरे से गुप्त बात कही जाती है तब वह संवाद अपवारित कहलाता है (विशेष देखिये सं० व्याख्या तथा भूमिका)।

पृ० ३८। २५. कामम्—(अव्यय) चाहे, यद्यपि, पर्याप्त; जहाँ यह 'यद्यपि' के अर्थ को प्रकट करता है, वहाँ इसके बाद 'तु' शब्द का प्रयोग होता है। प्रदोष—रात्रि का प्रथम प्रहर। सौदामनी—विद्युत्, सुदाम्नः अपत्यं स्त्री। सन्धिलीना—के स्थान पर 'संविलीना' (भली-भाँति छिपी हुई) पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है ॥३८॥

श्रुतं वसन्तसेने—माला तथा भूषण उतारने के लिये 'सूचयिष्यति' शब्द द्वारा जो संकेत किया गया था, उसी को इस कथन द्वारा पुष्ट किया जा रहा है। परामृश्य—छूकर। संयोगेन—स्पर्श के द्वारा, स्पर्शनेन्द्रिय के अनुभव द्वारा, द्वार के किवाड़ों के मिलने से (The Joining of the panes of the door—काले); दैवयोग से (हिन्दी-अनुवाद)।

३६. दारिद्र्यात्०; स्फारीभवन्ति—विस्तृत हो जाती हैं। सत्त्वम्—बल, मानसिक बल, वीर्यातिशय। यह श्लोक कुछ पाठ-भेद से चारुदत्त नाटक में है ॥३६॥

३७. सङ्गम०; अल्पच्छदः—अल्प वस्त्र वाला, अल्पः छदः वस्त्रं यस्य सः। प्रकामम्—बहुत बड़ा ॥३७॥

पृ० ४०। ३८. दारिद्र्य०; विपन्न—नष्ट हो गया है, देह—शरीर जिसका ऐसे। हे दारिद्र्य, तुझे मेरे जैसा कोई मित्र नहीं मिलेगा—यह चिन्ता है ॥३८॥

सवैलक्ष्यम्—विलक्ष—लज्जित, आश्चर्ययुक्त; विलक्षस्य भावः वैलक्ष्यं तेन सहितं यथा स्यात्तथा। बलि देने के लिये जाने में आनाकानी करने से चारुदत्त अत्यन्त दुःखी हुआ था, अतः मैत्रेय लज्जित हुआ। अभ्युपपत्ति—अनुग्रह, पक्षपात। निर्वाप्य—बुझाकर। पिण्डीभूतेन—इकट्ठे हुए ने।

पृ० ४२। ३९. [illegible]। परामृष्टा—छुई गई, पकड़ी हुई। बाण०—यहाँ

काल भेद है, चतुर्थ शताब्दी ई० पू० में होने वाले चाणक्य का द्रौपदी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, अतः यह हतोपमा है जो शकार का वचन होने से क्षम्य है ॥३९॥

४०. एषाः वयसः—आयु के, यौवनावस्था के। कुलपुत्रम् अनुसरति इति अनु√सृ+णिनि (स्त्री)। कुसुमैः आढ्याः—(तृतीया तत्पुरुषः) तेषु। यह श्लोक चारुदत्त नाटक में कुछ पाठ-भेद से है ॥४०॥

४१. एषा०; वासु—हे बाले ! अधिचण्डम्—भयङ्कर रूप से, जोर से (क्रिया-विशेषण)। यहाँ शकार की उक्ति होने से पुनरुक्ति है। चारु० में पाठभेद है ॥४१॥

व्यवसितम्—करना आरम्भ किया है, वि+अव√सो+क्त। स्वरसंयोगः—स्वरों का संयोग, स्वर का सम्बन्ध, आवाज। दधिशर—दही की मलाई।

पृष्ठ ४४, ४२. इयम्०। रङ्गप्रवेशेन—रङ्गशाला में प्रवेश करने से। कला—सङ्गीत आदि कलायें अथवा कामशास्त्रोक्त ६४ कलायें। चारु० में यह श्लोक पाठ-भेद से है ॥४२॥

पशु०—जहाँ वलि का पशु बांधा जाता है वह खूंटा (यूप) पशुबन्ध कहलाता है। √वन्ध्+घञ (अ)। फुरफुरायते—फुर-फुर कर रहा है, काँप रहा है, (देखिये पृ० ६ खटखटायेते)। सदृशम्—योग्य। दरिद्रतया—निर्धनता से (करणे तृतीया)। भाग०—भाग एव भागधेयं—भाग्य, उसके सामने टेढ़े. यहाँ मैत्रेय अपनी भाग्य-हीनता की ओर संकेत कर रहा है। दुष्टस्य—दोषयुक्त, बिगड़े हुए, दीमक आदि से खाये हुए सूखे बाँस के समान।

पृष्ठ ४६. महाब्राह्मण—ब्राह्मणाधम, कुछ (ब्राह्मण आदि) शब्दों से पहले 'महत्' शब्द जोड़ने से निन्दा अर्थ प्रकट होता है जैसा कि कहा गया है—"शंखे तैले तथा मांसे वैद्ये ज्योतिषके द्विजे। यात्रायां पथि निद्रायां महच्छब्दो न दीयते।" यहाँ पर यह शब्द शिष्टविनोद में प्रयुक्त हुआ है किन्तु इसका भाव बुरा नहीं है क्योंकि इसके बाद विट ने मैत्रेय के प्रति आदर प्रकट किया है। उपमर्दः—अपमान।

४३. मा०। दुर्गत इति परिभवः मा (कर्तव्यः) इसमें दो हेतु दिये गये हैं—(१) क्योंकि कृतान्त (१: यमराज, २. भाग्य) के सामने कोई दरिद्र नहीं है और (२) चरित्रहीन धनी भी निन्दनीय होता है। इस प्रकार यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। नाम—प्रसिद्ध अर्थ या संभावना अर्थ में अव्यय है ॥४३॥

४४ सकामा—कामासक्ता, पीछा करने के औचित्य को प्रकट करने के लिये यह विशेषण दिया गया है। स्वाधीनयौवना—इससे वेश्यात्व प्रकट होता है। शील-वञ्चना—चरित्र की हानि ॥४४॥

अनुनयसर्वस्वं—विनती का सर्वस्व अर्थात् सबसे बड़ी मनोती जो हाथ जोड़-कर पैरों में पड़ना है।

पृष्ठ ४८. उपालब्धः—उपालम्भ दिया, बुरा-भला कहा। अनु+√नी=मनाना, विनती करना रूठे हुए या क्रुद्ध हुए को राजी करना इत्यादि। समयतः—शर्त से

पृष्ठ ४५. एष। प्रणयः—अनुग्रह मृच्छकटिक में 'प्रणय' शब्द का इस अर्थ में अनेकशः प्रयोग किया है जैसे अलङ्कृतोऽस्मि स्वयंग्रहप्रणयेन भवता (अङ्क ७ पृ०......)। येन—जिससे, जिस कारण से अथवा क्योंकि 'येन प्रणयेन' ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है ॥४२॥

सासूयम्—असूयापूर्वक, असूया—गुणों को सहन न करना, गुणों में दोष दिखलाना—'गुणेषु दोषाविष्करणमसूया' अशितव्यम्—खाना खाने को, √अश्+तव्य। अथवा 'आह्निकद्रव्यम् यह पाठ है, जिसका अर्थ है—दैनिक वस्तु या आज का खाना भी नहीं है।

४६. सो०, प्रणयैः—प्रार्थनाओं से, याचनाओं से अथवा प्रार्थना के अनुरूप दान से। कृशीकृतः—दुर्बल किया गया, निर्धन किया गया। इन विशेषणों से चारुदत्त की उदारता तथा दानशीनता प्रकट होती है। विभवैः—धन के कारण, धन के गर्व से। न विमानितः—अपमानित नहीं किया, इससे चारुदत्त की अनुद्धतता प्रकट होती है, 'अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः (नीतिशतक ७०, 'काले' द्वारा उद्धृत)। निदाघकालेषु—ग्रीष्मकाल में। ह्रदः—सरोवर। नृणाम्—'नृ' शब्द का षष्ठी बहु०। तृष्णा—(१) अभिलाषा (२) ह्रद पक्ष में—पिपासा। शुष्कवान्—(१) दरिद्र हो गया (२) सूख गया। चारुदत्त में यह श्लोक पाठ-भेद से है ॥४६॥

पृ० ५०. ४७ शूरो०। विक्रान्तः—पराक्रमयुक्त। इस पद्य में अनेक इतिहास विरुद्ध एवं असम्बद्ध बातें कही गई हैं, यथा श्वेतकेतु न तो पाण्डवः ही है न कोई योद्धा ही। शकार का वचन होने के कारण ही यह असंगति है ॥४७॥

४८. दीनानाम्। कल्पवृक्षः—अभिलाषा पूर्ण करने वाला वृक्ष, कल्पस्य वृक्ष इति (जन्यजनकभाव सम्बन्ध में षष्ठी), षष्ठ तत्पुरुष अथवा 'कल्पफलकः कल्पपूरणो वा वृक्षः शाकपार्थिवादिः'—यहाँ उत्तरपद (फलक या पूरण) का लोप हो जाता है। पाँच देववृक्षों में कल्पवृक्ष भी एक है। वे पाँच देववृक्ष हैं—

पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिश्चन्दनम्। आदर्शः—दृष्टान्त, नमूना। 'आदर्श' शब्द दर्पण के अर्थ में प्रसिद्ध है—आदृश्यते रूपमत्र, जिसमें अपना यथार्थ रूप देखा जाता है आ√दृश्+घञ। इसी अर्थ के विकसित होने से आदर्श शब्द 'नमूने' के अर्थ में आ गया है। सुचरितनिकषः—उत्तम चरित्र की कसौटी। जिस प्रकार कसौटी से सुवर्ण की परख होती है उसी प्रकार चारुदत्त से उत्तम चरित्र का मापदण्ड निर्धारित किया जाता है। शील०—वेला—सागर का तट, मर्यादा, शीलरूपी मर्यादा का (के पालन में) सागर (सं० व्याख्या)। दक्षिण०—सरल तथा उदार स्वभाव वाला, अथवा दक्षिण एवं उदारस्वभाव वाला, दक्षिणश्चासौ उदारसत्त्वश्च। सत्त्व—स्वभाव, 'सत्त्वं द्रव्ये गुणे चित्ते व्यसायस्वभावयोः'। स...जीवति—मानवगुणों से युक्त होने के कारण वही जीवित है। उच्छ्वसन्ति—साँस लेते हैं। यहाँ एक ही चारुदत्त का अनेक रूपों में

उल्लेख किया गया है अतः उल्लेख अलङ्कार है। शीलवेला' इत्यादि में रूपक है, उच्छ्वसन्तीव में क्रियोत्प्रेक्षा है ॥४८॥

४९. अन्धस्य०। तुम (शकार) को पाकर वह (वसन्तसेना) इसी प्रकार अदृश्य हो गई है जैसे अन्धे की दृष्टि इत्यादि लुप्त हो जाती है–यह भाव है। आतुर–रोगी, रोगाकुल। पुष्टिः–शारीरिक बल। मूर्खस्य०–जैसे नासमझ व्यक्ति का विचार-शक्ति (बुद्धि)। सिद्धि—कार्यों में सफलता। व्यसनिनः—द्यूत आदि व्यसनों में आसक्त व्यक्ति की, व्यसनमस्य अस्तीति व्यसनी व्यसन + इन्, द्यूत इत्यादि दुर्गुणों को व्यसन कहा जाता है। परमा विद्या—उत्कृष्ट विद्या या शास्त्रीय ज्ञान, व्यसनासक्त व्यक्ति की प्राप्त की हुई उत्तम विद्या नष्ट हो जाती है, क्यों ? इसके लिये विशेषण है स्वल्पस्मृतेः क्योंकि उसकी स्मृति अल्प होती है या क्षीण हो जाती है। अथवा परमा विद्या—परा विद्या या ब्रह्मविद्या, जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'। व्यसनी जनों के लिये ब्रह्मविद्या अदृश्य ही होती है। अरि०—शत्रु जन के प्रति प्रीति नहीं देखी जाती इसी प्रकार वह भी नहीं दिखलाई दे रही है। यहाँ कवि ने अमूर्त्त उपमाओं की सुन्दर योजना की है ॥४९॥

पृ० ५२, ५० आलाने०। आलानं—हाथी को बाँधने का खम्भा या शृङ्खला। वल्गासु–लगाम में, के द्वारा। हृदये गृह्यते—भाव यह है कि किसी नारी के हृदय को आकर्षित करके ही उसे वश में किया जाता है, बलपूर्वक नहीं, हृदये' शब्द में सप्तमी विभक्ति का यही भाव है कि नारी के हृदय को पकड़ कर या वश में करके ही उसको अपना बनाया जाता है। यदिदं०—यदि तुम उसके हृदय को आकर्षित नहीं कर सकते तो जाओ। यहाँ निदर्शना अलङ्कार है, आलान आदि में हस्ती आदि के ग्रहण के समान 'हृदय में' स्त्री ग्रहण की जाती है—इस प्रकार की उपमा में तात्पर्य प्रकट हो रहा है ॥५०॥

भावः अभावम्—भावः—आदरणीय, विट। अभाव = न भाव (सत्ता, होना) अनुपस्थिति या अदृश्यता को प्राप्त हुआ अर्थात् दृष्टि से ओझल हो गया, यहाँ यमक का चमत्कार है। काकपद०—कौए के पञ्जे के समान सिर तथा माथे वाला। विदूषक का सिर और माथा अनेक स्थलों पर ऊँचा नीचा रहा होगा और वह काकपद के समान भद्दा होगा, अतः इस शब्द का प्रयोग किया गया है। कृतान्तेन—भाग्य के द्वारा।

पृ० ५४. ससुवर्णा—सुन्दर वर्ण (रंग) सहित। दर्शन = प्रदर्शन। सूत्रधारी–सूत्रधार की स्त्री नटी। यहाँ नाटक की निर्देशिका अर्थ करना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि संस्कृत नाटकों में स्त्री-सूत्रधार' का उल्लेख नहीं मिलता। अनुनीयमाना—मनाई जाती हुई। अधिकरण—न्यायालय। व्यवहार—अभियोग। लघु—शीघ्र। निर्यातयतः—अर्पित करते हुए, लौटाते हुए—'निर्यातनं वैरशुद्धौ दाने न्यासार्पणेऽपि च' हेमचन्द्र।

५१, कूष्माण्डी०—कर्कारुकः (कक्कालुका) यह पाठान्तर है। लीन यां—नष्ट होने पर। पूति—विकृति = नाश। शकार का भाव यह है कि उपर्युक्त वस्तुएं उक्त अवस्थाओं में अधिक समय बीत जाने पर भी नहीं बिगड़तीं (नष्ट नहीं होतीं) इस प्रकार वसन्तसेना को अर्पित न करने के कारण उत्पन्न होने वाला वैरभाव नष्ट न होगा, ताजा बना रहेगा। यहाँ अप्रस्तुत कूष्माण्ड इत्यादि में पूतिगन्ध के अभाव का प्रतिपादन किया गया है तथा उससे प्रस्तुत वसन्तसेना को अर्पित न करने से उत्पन्न वैरभाव के नष्ट न होने की प्रतीत होती है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ॥५१॥

सकपटं—चालाकी से मेरे पक्ष का समर्थन करते हुए। प्रासाद०—इस समस्त पद का अनेक प्रकार का विग्रह एवं अर्थ किया गया है किन्तु इसका वास्तविक अर्थ क्या है' यह निश्चय करना कठिन है। (i) बालाग्रं–बालं नूतनम् अग्रम् अग्रभागो यस्याः सा कपोतपालिका अर्थात् नवीन है अग्रभाग जिसका ऐसी महल की अटारी। (ii) बालाग्र शब्द का कोश प्रसिद्ध अर्थ है 'मत्त-वारण' (मतवाले हाथी की आकृति से चिह्नित छज्जा)। कपोत-पालिका का अर्थ है–कबूतर पालने का स्थान, यहाँ शकार ने संभवतः ऊपर की अटारी को कपोतपालिका कहा है। अन्यथा—अन्य प्रकार से। कपित्थगुलिकं—कैथ का गोल फल। मडमडायिष्यामि'—मड मड शब्द सहित चूरा-चूरा कर दूंगा।' 'मडमडायिष्यामि' शब्द की बनावट के लिये देखिये ऊपर खट-खटायेते (पृ० ४५३)।

पृ० ५६, ५२. निर्वल्कलम्—वल्कल रहित, कोश से बाहर अर्थात् नंगी तलवार मूलक—मूली, पेशि—इस शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने छिलका (त्वक्, Rind) किया है, वस्तुतः इसका अर्थ माँसपेशियाँ (Muscles) प्रतीत होता है, अर्थात् (यहाँ) मूली के छिलके के भीतर का भाग। उसके रंग की तलवार। यहाँ 'निर्वल्कलम्' और 'कोशसुप्त' दोनों शब्दों का विरोध दूर करने के लिये यह कल्पना की जाती है कि शकार ने कन्धे पर रखने से पहले नग्न तलवार को कोश में रख लिया। बुक्यमानः √बुक्क (भोंकना) + शानच् (कर्मणि) ॥५२॥

रदनिका खल्वहं संयतमुखी—'रदनिका' उस सेविका का नाम है तथा 'रदनिका' शब्द का अर्थ दांत रखने वाली (रदन + ठन्), इस प्रकार भाव यह है कि मेरे मुख में दांत हैं जो बन्द रहते हैं जिससे मेरा मुख नियन्त्रण में रहता है अतः मैं किसी अवस्था में भी नहीं कहूँगी मारुताभिलाषी—वायु का इच्छुक, खुली वायु में प्रफुल्लित होने वाला, भाव यह है कि ऐसे स्वभाव वाला होने के कारण वह वस्त्र ओढे विना ही सो गया, किन्तु फिर रात्रि के प्रथम प्रहर के शीत का अनुभव करने लगा अनुदासीनम्—उदासीनता रहित, पुष्पों से सुगन्धित दुशाले के द्वारा प्रतीत [illegible] है कि चारुदत्त का यौवन [illegible]पूर्ण है, वह अब भी विलासप्रिय है। अपवा-[illegible]—चारुदत्त के दृष्टिपथ से हटकर। प्रावृणोति—(अपने आपको) ढकती है, क्योंकि चारुदत्त के प्रति गाढानुराग होने के कारण उसके दुशाले को ओढ़ने में

आनन्द का अनुभव करती है। 'अपवारितकेन' शब्द के प्रयोग से यही प्रतीत होता है कि वह दुशाले को स्वयं ओढ़कर देखती है। तवाभ्यन्तरस्य–तुम्हारे अन्तःपुर के, भाव यह है कि मैं वेश्या हूँ, अतः मुझे आपके अन्तःपुर में प्रवेश का अधिकार नहीं है, (मेरा ऐसा भाग्य कहाँ कि आपके प्रेम को प्राप्त करके वधू के स्थान में जा सकूँ—यह ध्वनित होता है)। यहाँ 'अभ्यन्तर' शब्द का अर्थ केवल 'घर के भीतर' नहीं है, इसीलिये पञ्चम अङ्क के अन्त में जो चारुदत्त ने वसन्तसेना से कहा है—'एहि अभ्यन्तरमेव प्रविशावः' (पृष्ठ २३२) उससे कोई विरोध नहीं है, वहाँ 'अभ्यन्तरम्' का अर्थ है—घर के भीतर।

पृ० ५८, ५३. भाग्यक्षय०; भाग्य—वैभव, पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्म—भाग्यं कर्म शुभाशुभम्–अमरकोश। पीडिता—पीडा संजाता अस्या ताम्; पीडा+इतच्। कृतान्त—विधि, दैव। यहाँ चारुदत्त अपनी भाग्यहीनता तथा वैभवनाश के कारण संताप का अनुभव करता है तथा सोचता है कि ऐसे समय सेवक भी मेरी आज्ञा नहीं मानते। यहाँ अप्रस्तुत मित्रादि के वर्णन से प्रस्तुत रदनिका की प्रतीति होती है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ॥५३॥

५४. अविज्ञाता—न जानी हुई। अवसक्तेन—अपने शरीर से छुए हुए अथवा अनजाने में छुए हुए (देखिये सं० व्याख्या)। दूषिता—दूषित हो गई; एक प्राचीन भावना है कि कोई नारी पर पुरुष के वस्त्र आदि के उपभोग से भी अपवित्र हो जाती है, उसी ओर यहाँ संकेत हैं। भूषिता—क्योंकि वसन्तसेना चारुदत्त से प्रेम करती है उसके लिये वह परपुरुष ही नहीं है। अतः वह उससे अपने आपको अलङ्कृत सा मानती है। छादिता०—वसन्तसेना झीने शुभ्रवस्त्र धारण कर रही थी, वह द्वितीया के चन्द्रमा (चन्द्रलेखा) के समान प्रतीत होती थी; श्वेत सूक्ष्म दुशाले से आच्छादित होकर वह शरद के मेघ से आच्छादित चन्द्रकला के समान शोभित होने लगी। यहाँ उपमा की छटा दर्शनीय है ॥५४॥

न युक्तम्०—परनारी को देखना उचित नहीं; यहाँ कवि ने भारतीय पुरुषों का आदर्श दिखलाया है; मिलाइये 'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्' शाकुन्तलम् अङ्क ५।

५५. यया०—इस कथन से यह प्रकट होता है कि चारुदत्त भी वसन्तसेना के प्रति गाढ़ अनुराग रखता था परन्तु अपनी निर्धनता के कारण उसे प्रकट नहीं करता था। कुपुरुष—निन्दित व्यक्ति; कुत्सितः पुरुषः; कुपुरुषः क्योंकि वह साहस नहीं रखता, अतः वह कुत्सित है। इसलिये यहाँ इस शब्द का भावार्थ है—कापुरुष (कायर) या निस्तेज। चारुदत्त में यह श्लोक कुछ पाठ भेद से है ॥५५॥

पृ० ६०. अलङ्कृतास्मि—भाव यह है कि 'बलात्कार' शब्द के प्रयोग से वसन्तसेना की शकार के प्रति विरक्ति या घृणा प्रकट होती है तथा चारुदत्त के प्रति गाढ़ानुराग व्यक्त होता है; इसको वसन्तसेना अपना सौभाग्य समझती है। देवतोपस्थान—देवता के समान पूजा या देवता की पूजा, देवतोपस्थानस्य योग्या—देवता के

समान पूजा के योग्य। तस्यां वेलायाम्—उस समय जब कि उसे रोहसेन को भीतर ले जाने के लिये कहा गया था।

५६. प्रविश०। प्रतोद्यमाना—कठोर शब्दों से प्रेरित की गई। भाग्यकृतां दशां—(i) भाग्य से प्राप्त हुई वेश्यावस्था को; मिलाइये 'मन्दभागिनी खल्वहं तवाभ्यन्तरस्य' (पृष्ठ ५६)। (ii) M. R. काले के अनुसार यह अर्थ संगत नहीं; अपितु इसका भाव है कि वह (वसन्तसेना) चारुदत्त की दुर्दैव कृत दरिद्रावस्था को देखकर नहीं आती; क्योंकि वह समझती है कि चारुदत्त मेरा उचित सत्कार न कर सकेगा। इस प्रकार 'भाग्यकृतां' का सम्बन्ध चारुदत्त से है। Ryder का मत भी यही है। किन्तु पूर्वापर संगति से प्रथम अर्थ ही उचित प्रतीत होता है। आगे विद्वज्जन प्रमाण हैं। पुरुष०—इत्यादि उत्तरार्ध का अन्वय तथा अर्थ सन्देहास्पद है। काले के अनुसार इसका उचित अर्थ है—She does not speak boldly on being acquainted with men, although he (पुरुषः) Speaks much कुछों के अनुसार पुरुष-परिचयेन का 'बहु भाषते' के साथ अन्वय है और यह अर्थ है—यद्यपि पुरुषों से परिचय होने के कारण वह बहुत बातें करती है तथापि वह प्रगल्भता से नहीं बोलती है।' M. R. काले ने अनेक युक्तियों द्वारा इस अर्थ को अयुक्त बतलाया है (नोट्स पृ० ३८)। हमारा अभिमत अर्थ संस्कृत व्याख्या तथा अनुवाद में दिया गया है॥५६॥

अभिज्ञानात्—अज्ञान के कारण। अनुचितभूमिका०—(i) बिना सूचित पक्षद्वार से प्रवेश करना आदि अनुचित कार्य करने से, (ii) वेश्या होकर ब्राह्मण के घर में प्रवेश करने से। इनमें प्रथम अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। पृथ्वीधर को भी यही अभिमत है। सुखं—सुखपूर्वक (क्रियाविशेषण) 'प्रणम्य' अथवा 'समागतौ' के साथ अन्वय है। कलम—एक प्रकार का उत्तम धान। केदार—क्षेत्र या क्यारी। करभ—ऊंट का बच्चा। जानु—घुटना। इससे प्रकट होता है कि मैत्रेय का सिर ऊंचा-नीचा तथा भद्दा था, वह ऊंट के घुटने जैसा लगता था। प्रणयः—स्नेह या शिष्टताप्रदर्शन (औपचारिकता–Formalities); यह प्रेम स्थिर रहे'—ऐसी गूढ़ व्यञ्जना है (अयं प्रणयः स्नेहः तिष्ठतु स्थिरो भवत्विति गूढाभिसन्धिः—काले)। 'प्रणय इत्यनेन संभोग-प्राथंना कटाक्षिता' इति पृथ्वीधरः।

पृ० ६२. उपन्यास—औपचारिकता को रहने दो—यह प्रस्ताव। ईदृशेन—इस प्रकार से; स्वेच्छा से आई हुई; सहवास की सामग्री आदि के बिना ही; काले का कथन है कि यहां 'सह' का अध्याहार करके 'ईदृशेन (चारुदत्तेन) सह' 'With him who is poor'; i. e. without the means of enjoyment or of repaying obligation—यह अर्थ है। किन्तु यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता; पृथ्वीधर का अर्थ भी प्रथम अर्थ का ही समर्थन करता है, तथा चारुदत्त नाटक के कथन (अदक्षिणं खलु प्रथमदर्शने यदृच्छागतया इह वस्तुम्) का 'यदृच्छागतया' शब्द भी इसी बात को प्रकट करता है। पुरुषेषु०—पुरुषों के विश्वास पर धरोहर रक्खी जाती है, घर की दशा को देखकर नहीं—यह भाव है। स्वस्ति मैत्रेय० समझता है कि

वसन्तसेना पुरस्कार रूप में अलङ्कार दे रही है,. इसीलिये आशीर्वाद देता है। 'अचिरेणैव कालेन' का 'निर्यातयिष्ये' से अन्वय है: यदि 'अचिरेण०' का 'एपोऽस्या:०' से भी अन्वय किया जाय तो अर्थ होगा—हम इस न्यास से थोड़े समय में ही मुक्त हो जायेंगे; 'विगतो न्यास: = विन्यास:' चतुष्पथे उपनीत:—चौराहे पर रखा हुआ। राजमार्ग०—ऐसी प्रदीपिका जो राजमार्ग पर विश्वसनीय हों अर्थात् वहाँ वायु आदि से न बुझ जायें अथवा विशेष प्रकार प्रदीपिकाएँ; जिन्हें सड़कों सड़कों पर लेकर चलना आवश्यक हो।

पृ० ६४. नि:स्नेहा:—(१) तेलरहित, (२) प्रेमरहित। यह कथन चारुदत्त के प्रति शिक्षात्मक संकेत करता है जिससे कि वह वसन्तसेना के अनुराग में न फँस जाये।

पृ० ५७. उदयति० । कामिनी—सुन्दर युवति; कामोऽस्या: अस्तीति। स्रुतजले—समाप्त हो गया है जल जिससे, ऐसी पङ्क जिसमें जल नहीं रहा तथा जो फटी नहीं है; उसमें चन्द्रमा की गौर किरणें दूध की धारा के समान गिरती हैं ॥६४॥

५८. राज०—वञ्चना—छला जाना, ठगी। बहुदोषा—बहुत से दोष हैं जिसमें (बहुव्रीहि), 'दोष' का अर्थ है—बुराइयाँ, आपत्तियाँ या चोर आदि के किये गये उपद्रव।

द्वितीय अङ्क

['द्यूतकर संवाहक' नाम का यह दूसरा अङ्क है। 'संवाहक' का कार्य करने वाला कोई चारुदत्त का सेवक द्यूतकर हो गया, वह दश सुवर्ण हार गया तथा जुआरियों के मुखिया द्वारा रोक लिया गया तब वसन्तसेना ने उसे ऋणमुक्त कराया—यह कथा इसमें है। इसमें चार दृश्य हैं। प्रथम दृश्य में वसन्तसेना और उसकी सेविका मदनिका का संवाद है। मदनिका वसन्तसेना से उसकी उद्विग्नता का कारण पूछती है और वसन्तसेना चारुदत्त के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करती है। द्वितीय दृश्य में द्यूत में हारा हुआ संवाहक किसी देवालय में शरण लेता है। वहाँ द्यूतकर और सभिक उसे पकड़ लेते हैं और इससे रुपया मांगते हैं तथा उसे मारते हैं। इसी समय दर्दुरक आता है और उसके संकेत से भागकर संवाहक वसन्तसेना के घर में शरण लेता है। तृतीय दृश्य में वसन्तसेना से संवाहक का परिचय होता है। वह चारुदत्त का भृत्य रह चुका है यह जानकर वसन्तसेना उसके साथ आत्मीयता का अनुभव करती है और द्यूतकर तथा सभिक के वहाँ आने पर उन्हें अपना हस्ताभरण देकर संवाहक को ऋणमुक्त करा देती है। वह बौद्धभिक्षु होने का निश्चय करके चला जाता है। चतुर्थ दृश्य में कर्णपूरक नाम का वसन्तसेना का सेवक परिव्राजक वेशधारी संवाहक को वसन्तसेना के खुण्टमोडक नामक हाथी के उपद्रव से बचाता है। चारुदत्त उसे पुरस्कार के रूप में एक प्रावारक देता है। कर्णपूरक उसे वसन्तसेना को दिखलाता है।]

पृ० ६६. सन्देशेन—संदेश के प्रयोजन से (हेतु में तृतीया विभक्ति है, हेतौ २/३/२३)। किमप्यालिखन्ती—कुछ चित्रित करती हुई अर्थात् हृदय में कुछ सोचती हुई। उत्कण्ठा—मिलन की अभिलाषा करते हुए किसी का चिन्तन करना। 'मन्त्रयसि' के स्थान पर 'मन्त्रयसे' पाठ भी मिलता है। स्नेहः पृच्छति—स्नेह पूछता है, अर्थात् स्नेह का भाव पूछने की प्रेरणा देता है। पुरोभागिता—'पुरोभाग' शब्द का मूल अर्थ है—आगे होना अगुआ होना (forwardness); इसी से विकसित होकर इस शब्द का अर्थ हो जाता है—'दोष देखना'। पुरोभागः अस्यास्तीति पुरोभागी = दोषों को देखने वाला, 'दोषैकदृक् पुरोभागी'—अमरकोश। परोभागिनः भावः पुरोभागिता = दोषदर्शिता। प्रायः व्याख्याकारों ने यही अर्थ लिया है किन्तु यहाँ इस शब्द का मूल अर्थ भी सङ्गत प्रतीत होता है, मैं स्नेह के कारण पूछ रही हूँ बड़ी (अगुआ) बनने के भाव से नहीं—यह अभिप्राय है।

पृ० ६८. शून्यहृदयत्वेन—हृदय के सूना होने के कारण। परहृदयः०—(i) दूसरे के मानसिक भाव को जानने में कुशल, (ii) दूसरे के हृदय को वश में करने में कुशल। मदनिका—(i) चेटी का नाम, (ii) मदनमस्यास्तीति मदनिका कामयुक्ता; जैसे काम (मदन) दूसरों के हृदय को वश में करने में चतुर है, इसी प्रकार मदनिका भी; यह भाव है।

कामः—'तरुणजनस्य' यह एक वाक्य है। अनुगृहीतः—कामदेव को आपने अनुगृहीत किया है। भाव यह है कि आप जो काम से प्रभावित हुई हैं यह कामदेव पर आपकी कृपा ही है। 'कः खलु नाम अद्य अत्रभवत्या अनुगृहीतो महोत्सवे तरुण-जनः।' यह पाठान्तर है, जो अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। सेव्यते = सेवितुम् इष्यते, किसकी सेवा करना अभीष्ट है। रन्तुम्—रमण करने के लिये √रम् + तुम् कुछ व्याख्याकारों का कथन है कि यहाँ से लेकर 'भर्तृदारिकया काम्यते' तक का पाठ प्रक्षिप्त है; क्योंकि कोई रमणी अपनी अभिलाषा को ऐसे स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं करती। वस्तुतः यहाँ वसन्तसेना अपनी सेविका (= सखी) से मन की बात कह रही है। अतः इसमें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। उपारूढ०—बढ़ा हुआ है स्नेह जिसका उनको। न राजा०—भाव यह है कि आप जैसी रूपवती तरुणी के योग्य वे ही व्यक्ति है, इन्हें आप चाहती नहीं, फिर आप किसे चाहती हैं] उदासीना + इव—अनजान सी; भाव यह है कि क्या तुम्हें पता नहीं कि कामदेवायतनोद्यान में उस व्यक्ति ने मेरे हृदय को जीत लिया था? शरणागता—शरण में आई हुई, शरणम् आगता (द्वितीया तत्पुरुष)। अभ्युपपन्ना—स्वीकार की गई। अनुगृहीता

पृ० ७०. श्रेष्ठि—श्रेष्ठं धनादि अस्यास्ति—इति श्रेष्ठी, श्रेष्ठ + इन् = श्रेष्ठिन्, सेठ। वचनीया—निन्दनीया; वेश्याओं का स्वभाव यह है कि वे धन के कारण ही किसी व्यक्ति से प्रेम करती हैं, अतः जो गणिका निर्धन व्यक्ति में अनुरक्त है, वह प्रशंसनीय (अवचनीया) है; क्योंकि उसका प्रेम धन के कारण नहीं अपितु गुणों के कारण है। अतएव ताः—इसीलिये वे मधु का निर्माण करने वाली हैं, मधु का आनन्द

लेने वाली नहीं; इसी प्रकार जो गणिका धन के लिये किसी में अनुरक्त होती हैं, वे दूसरों के आनन्द के लिये ही अपना शृङ्गार करती हैं, जीवन का आनन्द वे नहीं भोगतीं। पृथ्वीधर के अनुसार मधुकर्य्यः=मत्ताः (सं० व्याख्या), इसीलिये वे विचार-शून्य कहलाती हैं। विलसन के मतानुसार 'मधुकरी' शब्द के दो अर्थ हैं—(i) मधु बनाने वाली-भ्रमरी, (ii) याचक। **मनीषितः**—मनोवाञ्छित, मनसः ईषितः मनीषितः ('अस्' भाग को पररूप अर्थात् ई हो जाता है)। **सहसाभिसार्यमाणः०**—यदि मैं सहसा अभिसरण करूँगी तो प्रेम के प्रतिदान रूप से उपहार देने में असमर्थ होने के कारण वे दोबारा मुझ से मिलना पसन्द न करेंगे, इसलिये पहले मैं यह विश्वास दिला देना चाहती हूँ कि आपके दरिद्र होने पर भी मेरा आप में अनुराग है, मुझे धन या उपहार की आवश्यकता नहीं। **अतएव**—विश्वास उत्पन्न करने के लिये ही।

नेपथ्ये—संवाहक के प्रवेश को सूचित करने के लिये नेपथ्य में, इस प्रकार कहा गया है। यहाँ एक ऐसा दृश्य आरम्भ होता है जिसमें द्यूत का अत्यन्त विशद वर्णन उपलब्ध होता है, जो भास के 'चारुदत्त' में उपलब्ध नहीं होता। **भट्टारक**—द्यूतकरों के सभिक के प्रति सम्बोधन है। दशानां सुवर्णानां समाहारः **दशसुवर्णम्**—तस्य, सुवर्ण—एक सोने का सिक्का, जो प्रायः ८० रत्ती या १० माशे के बराबर होता था। उसकी तोल समय समय पर बदलती रही है। **सुवर्णस्य**—यहाँ हेतु के अर्थ में सम्बन्धसामान्य में षष्ठी है। **रुद्धः**—बाँधा गया, रोका गया।

पृ० ७२. अपटीक्षेपेण—बिना पर्दा गिराये या बिना पर्दा हटाये। प्रायेण यवनिकाक्षेप के पश्चात् ही मञ्च पर पात्र का आगमन होता है किन्तु नाट्यशास्त्र का विधान है कि किसी आर्तजन या राजा का प्रवेश पटीक्षेप के बिना ही होना चाहिये—'पटीक्षेपो न कर्त्तव्य आर्तराजप्रवेशने'। इसीलिये यहाँ घबराये हुए संवाहक का प्रवेश पटीक्षेप के बिना ही दिखलाया गया है। **हीणामहे**—यह खेद अथवा विस्मय अर्थ में अव्यय है। **द्यूतकरभावः**—द्यूतकरता, जुआरी होना।

१. नवबन्धन०—जैसे तत्काल बन्धन से खुली हुई गधी (गर्दभी) का प्रहार कठोर होता है, इसी प्रकार गर्दभी नामक द्यूतक्रीड़ा की कौड़ी का प्रहार कठोर है—यह भाव है। **ताडितोऽस्मि**—पीटा गया हूँ, इससे प्रकट होता है कि वह अपनी सम्पत्ति का एक भाग हार गया। **अङ्गराजः**—अङ्गानां राजा कर्ण तेन मुक्तया। **शक्त्या**—(१) शक्ति नामक अस्त्र से, (२) शक्ति नाम की द्यूतक्रीडा की कौड़ी से। **घटोत्कच इव**—कर्ण ने शक्ति नामक अस्त्र से घटोत्कच मारा था, यह महाभारत की कथा है। **घातितोऽस्मि**—मार दिया गया हूँ, इससे प्रकट होता है कि उसने समस्त सम्पत्ति हरा दी थी ॥१॥

२. लेखक०—द्यूत का विवरण या हिसाब। **सभिक**—जुआ कराने वाला, सभा + इक (ठन्), सभिक अपने घर में या किसी द्यूतगृह में द्यूतक्रीडा का प्रबन्ध करता है और वह जुआरियों का मुखिया होता है। अग्निपुराण, मनुस्मृति याज्ञवल्क्य

स्मृति तथा मिताक्षरा आदि में सभिक तथा द्यूत के नियम आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है ॥२॥

विपरीताभ्याम्०—उलटे पैरों से, भाव यह है कि मन्दिर की ओर पीठ करके इस प्रकार मन्दिर में प्रविष्ट हो जाऊँ कि सभिक और द्यूतकर मन्दिर से जाते हुए व्यक्ति के पद-चिह्नों को न देखें और यहाँ मुझे न पकड़ सकें। इससे प्रकट होता है कि संवाहक भी दूसरों को छलने में निपुण है। **देवीभविष्यामि**—देव हो जाऊँगा, अदेवः देवः सम्पद्यमानो भविष्यामि—इति देवीभविष्यामि, देव + च्वि + भविष्यामि 'कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः' इस सूत्रानुसार अभूततद्भाव में 'च्वि' प्रत्यय करके 'अस्य च्वौ' सूत्र से आकार को ईकार होकर रूप बनता है, अथवा 'देवी' और 'भविष्यामि'—ये दो शब्द हैं। यह भी संवाहक की दूसरी चाल है कि प्रतिमाशून्य मन्दिर में यदि वह प्रतिमा के स्थान पर बैठ जायेगा तो किसी को उसके यहाँ होने की आशंका ही न होगी।

३. **यदि०। सभिकं वर्जयित्वा**—सभिक के अतिरिक्त, इससे प्रकट होता है कि सभिक का द्यूतकरों का कितना अधिकार था।

पृ० ७४, ४. **कुत्र०। विप्रलम्भक**—ठगने वाले। **कुलं यशः०**—किसी के देय को न देने के कारण कुल और कीर्ति दोनों को कलुषित करता हुआ ॥४॥

पदवी—मार्ग अथवा पदपंक्ति, मित्र कच्चिद्दासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवाधमस्य पदवी' (वेणी० ६)। **धूर्तः**—दूसरों को धोखा देने में चतुर। **संज्ञाप्य**—संकेत करके, दोनों परस्पर वह संकेत करते हैं कि संवाहक यहाँ है। **शैल-प्रतिमा**—पाषाण-मूर्ति, शिलायाः इयं शैली, शैली चासौ प्रतिमा च शैलप्रतिमा। **द्यूतेच्छायाः विकारस्य संवरणं**—गोपनम् जुआ खेलते हुए उन दोनों को देखकर संवाहक के मन में भी जुआ खेलने की इच्छा होना स्वाभाविक था। उस इच्छा से अनेक प्रकार के मनोविकार उसके हृदय में आ रहे थे, किन्तु वह प्रतिमा रूप में छिपा बैठा था, अतः उन भावों को दबा रहा था।

पृ० ७६, ५. **कत्ता**—पाँसे या कौड़ी, अन्य मतानुसार एक विशेष प्रकार का द्यूत,। **ढक्का**—युद्ध का नगाड़ा 'ढक् ढक्' शब्द करने वाला—ढक् इति कायति ढक् + √कै + अ ॥५॥

६. **जानामि०। संनिभम्**—सदृश अर्थात् अत्यन्त कष्टदायक। **कोकिलः** कोकिल इव मधुरः, यहाँ 'कोकिल' शब्द से लक्षणा द्वारा 'कोयल का स्वर' अर्थ लिया जाता है ॥६॥

मम पाठे (?)—'मेरा दाँव है'-उस समय इस अर्थ में प्रचलित प्रयोग है, शब्द-प्रयोग का निमित्त विचारणीय है। **पतति**—घूमता है, चक्कर खा रहा है। अथवा-मेरा सिर झुकता है, तुम्हारे चरणों में गिरता है। **द्यूतकरमण्डल्या**—जुआरियों की मण्डली ने, इससे प्रकट होता है कि जुआरियों की मण्डली का अत्यन्त कठोर शासन था, इसीलिये आगे कहा गया है—**अलङ्घनीयसमयः**—ऐसा नियम है जिसका

उल्लंघन नहीं किया जा सकता। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः—अमरकोश। गण्डः—वायदा, भाव यह है कि यदि इस समय नहीं दे सकते तो वायदा करो कब दोगे।

पृ० ७८ साम्प्रतं गमिष्यामि—संवाहक यह भी एक चाल खेलता है, वह आधे रुपये की छूट सभिक से स्वीकार कराता है और शेष आधे की द्यूतकर से। वे दोनों इस चाल को समझ नहीं पाते और यही समझते हैं कि दोनों से एक आधे भाग की मुक्ति के लिये ही प्रार्थना की गई है। भट्टारकाः—स्वामिजनों, यहाँ सामान्य जनों के लिये सम्बोधन है।

निपुणः—चतुर, तुम्हारे कपट को समझने वाला। न धूर्तयामि—धूर्तता का कार्य नहीं करता हूँ अथवा तुझे धूर्त नहीं कहता हूँ अर्थात् तेरी धूर्तता को जानता हुआ भी दूसरों को नहीं बतलाता हूँ। 'धूर्तं करोति आचष्टे वा' इस अर्थ में तत्करोति तदाचष्टे' इस से 'णिच्' होकर 'धूर्तयामि' क्रिया शब्द बनता है। M. R. काले का कथन है कि यहाँ धूर्त्ये: पाठ उचित है (Read धूर्त्ये, pass Jst Sing of धूर्तय्) जिसका अर्थ है—मैं तुझ से छला नहीं जाऊँगा।

पृ० ८. आकाशे—आकाश में अर्थात् 'आकाशभाषित' नामक नाट्योक्ति के द्वारा जब कोई पात्र किसी अन्य पात्र की उपस्थिति के बिना ही उसकी बात सुनता-सा है तथा 'क्यों भाई क्या कहा ?' इत्यादि कहकर उसे उत्तर देता है, तो यह नाट्ययोक्ति आकाशभाषित कही जाती है। 'आकाशोक्तिः, स्वयं प्रश्न प्रत्युत्तरमपात्रकम्'। वर्ते—हो गया हूँ। असिंहासनं—बिना सिंहासन का; 'नास्ति सिंहासनम् अस्मिन् इति' (बहुब्रीहि), भाव यह है कि द्यूत या द्यूतकर तो एक राजा के समान हैं, केवल वह सिंहासन नहीं रखता है।

न गणयति—नहीं गिनता, आशङ्का नहीं करता या कुछ नहीं समझता (१) राजा तो अपने सामर्थ्य के कारण किसी से अपमान की आशङ्का नहीं करता (२) द्यूत मानापमान को कुछ नहीं समझता। अर्थजातम्—(१) राजा कर ग्रहण करता है और शासन में व्यय करता है। (२) द्यूत में पराजित व्यक्ति से धन लिया जाता है और जीतने वाले को दिया जाता है। निकामम्—अत्यन्त। आयदर्शी—धन प्राप्ति को देखने वाला ॥७॥

८. द्रव्यम्०—इसके दो अर्थ हो सकते हैं—मैंने द्यूत द्वारा ही द्रव्य आदि प्राप्त किया और इसी से नष्ट कर दिया। (२) द्यूत द्वारा द्रव्य आदि प्राप्त किया जा सकता है और इसी से नष्ट हो जाता है। यहाँ प्राप्ति और विनाश दो विरूप वस्तुओं का एक द्यूत के साथ सम्बन्ध दिखलाया गया है, अतः विषमालङ्कार है—'विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्' ॥८॥

९. त्रेता०—इस श्लोक में बतलाया गया है कि द्यूत से सर्वस्व नाश कैसे हो गया ? यहाँ त्रेता, पावर, नर्दित और कट इन चार जुए में प्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग किया गया है। व्याख्याकारों के अनुसार ये चार प्रकार के दाँव हैं; उसरी

भारत में इनके ये नाम प्रचलित हैं—(१) नर्दित=नक्का (एक, पाँच, नौ, तेरह), (२) पावर=दूआ (दो, छः, दस, चौदह), (३) त्रेता=तीया (तीन, सात, ग्यारह, पन्द्रह). (४) कट=पूरा, चार, आठ, बारह, सोलह)। अन्य व्याख्याकार इन चारों को जुए के भिन्न-भिन्न दाँव नहीं मानते। प्रथम मत के अनुसार चार वार उसके विरुद्ध दाव आया—'तीया' ने उसका सर्वस्व हर लिया। 'दूआ' ने उसे ऐसा चिन्तित कर दिया कि उसका गात्र सूखने लगा। 'नक्का' ने उसे वहाँ ठहरना ही भारी कर दिया और घर का रास्ता दिखलाया तथा 'पूरा' ने तो उसे पूर्णतया नष्ट कर दिया ॥९॥

पृ० ८२, १०. अयं पटः०। सूत्रदरिद्रतां—सूत की जीर्णता को, अर्थात् इसके धागे बहुत पुराने हो गये हैं। संवृत—लिपटा हुआ। यहाँ प्रत्येक चरण में 'अयं पटः' इन शब्दों का प्रयोग है अतः 'अनवीकृतत्व' दोष है, ऐसा कुछ व्याख्याकारों का कथन है। अन्य व्याख्याकार इसे मूर्ख का कथन होने से दोष नहीं मानते ॥१०॥

अयं तपस्वी—यह वेचारा; सभिक (माथुर) की ओर संकेत है।

११. पादेन यो हि—जो मैं, (अहम् इति शेषः) उल्लम्बितः (उत्+लम्बितः) लटका हुआ। भाव यह है कि मेरे जैसे सहनशील एवं शक्तिशाली का वेचारा माथुर क्या करेगा ॥११॥

खलीक्रियते—सताया जा रहा है, खलीकृते (१) कुचलना (२) आघात पहुँचाना (३) दुर्व्यवहार करना (४) ताड़ना या भर्त्सना करना। अन्तरमन्तरम्—अवकाश—अवकाश; भीड़ में प्रवेश के लिये मार्ग की प्रार्थना के समय इस वाक्यांश का प्रयोग होता है। धूर्तः—जुआरी।

१२. यः स्तब्धम्०। इस श्लोक में पराजित जुआरी द्वारा भोगे जाते हुए कष्टों का उल्लेख किया गया है। आनतशिरः—यह पाठान्तर है; आनतं शिरः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् (क्रिया-विशेषण)। अत्यायतकोमलः—अत्यन्तस्थूल तथा कोमल। अव्यायत०—यह पाठान्तर है अव्यायतः=अकृतश्रमः, श्रम न करने वाला। द्यूतप्रसङ्गेन किम्—भाव यह है कि द्यूत अत्यन्त कष्टसाध्य है जो कष्ट सहन नहीं कर सकता उसका द्यूत से क्या सम्बन्ध ? ॥१२॥

पृ० ८४. लुण्ठीकृतम्—लपेटा हुआ। कटकरणेन—(१) 'पूरा' नामक दाव के द्वारा (२) वायदा करके ? (३) कट का अर्थ है चटाई. अतः चटाई बनाकर यह अर्थ उचित प्रतीत होता है, भाव यह है कि चटाई बुनने जैसा साधारण सा कार्य करके दश सुवर्ण दे दूँगा।

१३. दुर्वर्णः—नीच वर्ण का। व्यापाद्यते—मारा जाता है ॥१३॥

शीलयतु—पुनः पुनः खेले, √शील (चुरादि)+लोट्। आचक्षणः कहने वाला, आ+√चक्ष्+शानच्। धूर्तः=द्यूतकरः, जुआरी; 'धूर्तोऽक्षदेवी कितवोऽक्ष-धूर्तो द्यूतकृत् समाः'—अमरकोश। मिथ्या+आदर्शयामि इतिच्छेदः—यहाँ काकु है। भाव यह है कि मैं प्रसिद्ध जुआरी माथुर भी क्या जुए को मिथ्या होने दूँगा ? अर्थात्

हारे हुए से देय धन न लेने पर द्यूतव्यवहार दूषित होता है। अतः द्यूत के नियमों की रक्षा के लिये मैं इससे सुवर्ण माँगता हूँ। (देखिये सं० व्याख्या तथा काले नोट्स पृ० ५२) **खण्डितवृत्तः**—द्यूतकरों की सभा के नियमों को तोड़ने के कारण तुम चरित्रहीन हो, यह भाव है।

पृ० ८६ **एवमेव**--द्यूत के नियम तोड़ने के लिये ही। **मयैवम्०**—पीड़ितों की सहायता करने के लिये ही। **अन्तरयति**–बीच में पड़ता है। **प्रतीपम्**—उल्टा, इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जल के प्रवाह के विरुद्ध; प्रतिगता आपो यस्मिन्–प्रति+अप्–अप् के अकार को 'ईकार' (द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ६।३।९७) हो जाता है। **पुंश्चली**–छिनाल ('छिणालिआ' प्राकृत), पुंसः चलति (स्वपुरुषात् पुरुषान्तरं गच्छति) इति पुंश्चली।

पृष्ठ ८८. **विरोधितः**—विरोध कर लिया। **शर्विलक**—तृतीय अङ्क में आने वाला एक पात्र। **सिद्धादेशेन**—सिद्धस्य आदेशेन; मन्त्रादि की सिद्धि प्राप्त करने वाला या अणिमा आदि योग की सिद्धि प्राप्त करने वाला व्यक्ति सिद्ध कहलाता है, उसके निर्देश से अथवा सिद्धः आदेशः यस्य (बहुव्रीहि), जिसका कथन सदा सत्य होता है (काले)। **अस्मद्विधो**–इस प्रबन्ध में यही सर्वप्रथम एक योजनाबद्ध क्रान्ति का संकेत मिलता है। **भयम्०**–इससे वसन्तसेना की शरणागत वत्सलता प्रकट होती है; क्योंकि अभी वह संवाहक के विषय में कुछ नहीं जानती। **अपावृणु**—खोल दो; वसन्तसेना सोचती है कि धनिक को तो धन देकर पीछा छुड़ाया जा सकता है। अतः द्वार बन्द करने की आवश्यकता नहीं। **तुलितम्**—तुला हुआ, सीमित या अपनी शक्ति के अनुकूल; यह धनिक से होने वाले भय से क्यों नहीं डरती यह आश्चर्य की बात है।

१४ यः० **कान्तार**—गहन वन या दुर्गम मार्ग; 'कान्तारं वर्त्म दुर्गमम्' अमरकोश ॥१४॥

लक्षितोऽस्मि—देख लिया गया हूँ; श्लोक में कही गई बात का मैं (वैधर्म्य-रूप से) दृष्टान्त हूँ अर्थात् मैंने अपनी शक्ति को न देखकर द्यूतकार्य में धन हरा दिया है, उसका ही यह दुष्परिणाम भोग रहा हूँ। **कलहायिताः**; कलहं करोति इति कलहायते, शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे ३।१।१७॥ इससे क्यङ् प्रत्यय होकर नामधातु 'कलहाय' बनती है; कलहाय+क्त।

पृष्ठ ९०. **भूतानि सुवर्णानि**—सुवर्ण प्राप्त हो गये; वसन्तसेना अत्यन्त उदार है अतः वह शरणागत का ऋण चुका देगी, यह भाव है। **उपरोध**–(1) घेरना (blocking up या Sutrounding), (2) अनुग्रह (Favour) यहाँ पर व्याख्यानकारों ने दोनों ही अर्थ किये है। **संज्ञा ददाति**—(संवाहक का परिचय पूछने के लिये) संकेत करती है। **वृत्ति**–जीविका। **उपजीवति**–आश्रित है। **गृहपति**–गृहस्थी घर का स्वामी, व्याख्याकारों ने इस शब्द का अर्थ ग्रामाध्यक्ष ((The headman of a village) भी किया है। **संवाहकः**—संवाहयति शरीरं मर्दयति इति; सम्+

√वह + ण्वुल् । निर्विण्णम्—खेदयुक्त । आहिण्डकानाम्—घूमने वालों के आ√हिण्ड + ण्वुल् ।

पृष्ठ २. मनोरथान्तरस्य—हृदय के प्रिय के; मनोरथ-अभिलाषा, कामना। अन्तर-भीतर, सम्बद्ध, प्रिय । अनुक्रोश—सहानुभूति, करुणा; 'कारुण्यं करुणा घृणा कृपा दयानुकम्पा स्यादनुक्रोशः"—अमरकोश । उपरत-नष्ट, समाप्त । दुर्लभा०-भाव यह है कि जहाँ उदाहरता इत्यादि गुण होते हैं वहाँ सम्पत्ति नहीं ठहरती इसी में दृष्टान्त दिया गया है—अपेयेषु० इत्यादि; अर्थात् जिनका धन दुखियों के काम नहीं आता उसके पास ही धन का संचय होता है । मृगाङ्क—मृगः अङ्कः यस्य सः अथवा मृगः अङ्कों यस्य सः; चन्द्रमा । श्लाघनीय—प्रशंसा के योग्य; √श्लाघ + अनीयर् । अवतीर्य—उतरकर; अव + √तृ + ल्यप् ।

पृष्ठ ६४. कुत्र सः धनिकः—(१) वह धनिक (जिसके दस सुवर्ण तुम पर हैं) कहाँ है ? (२) वह (चारुदत्त) धनिक कैसे रह सकता है ? (जबकि वह दान में इतना अधिक धन व्यय करता है) ।

१५ सत्कार०-यः पूजयितुमपि जानाति०—यह पाठान्तर है; भाव यह है कि जो दूसरों का सत्कार करना जानता है वह अपने प्रति किये गये विशेष सम्मान का अनुभव कर सकता है । पृथ्वीधर आदि व्याख्याकारों ने इस श्लोक में 'मात्रासमक' वृत्त दिखलाया है किन्तु यहाँ 'वैतालिय' वृत्त है (काले—देखिये—परिशिष्ट में छन्दों के लक्षण ।।१५।।

सद्वृत्तिः—वैतनिक । चारित्र्य०—चारित्र्य ही है अवशिष्ट जिसका; अर्थात् धनहीन हो जाने पर । अनुसन्धत्तः—खोज रहे हैं । विसंष्ठुलतया—स्थिर न होने से । विसंष्ठुल—अस्थिर, विसंष्ठुलस्य भावः विसंष्ठूलता तया ।

पृष्ठ ६६. १६. कस्य०—यहाँ 'कस्य' का जल्पसि' के साथ अन्वय है; किससे कहती हो' । रतदष्टदुर्विनीतेन—रतिकाल में क्षत एवं (रति की सूचना देने के कारण) धृष्ट (Ill-mannered) कटाक्षेण—नेत्र के कोने से । कटं गण्डम् अक्षति इति कटाक्षः ।।१६।।

यदीदृशानि०—मेरे पास सम्पत्ति नहीं हैं' यदि ऐसा कहते हो तो जुआरी नहीं हो, क्योंकि धन का अर्जन करना तथा मुक्त-हस्त से व्यय करना जुआरियों के लिए कठिन नहीं है । धारक-ऋणी । प्रतिपादयति—देता है । भूत—पूर्ण हो गया । गण्डः—वायदा । रमस्व—खेलो ।

पृष्ठ ६८. तद्गच्छतु०—यहाँ 'तद्गच्छत्वार्यो बन्धुजनं समाश्वासयितुम्'-यह पाठान्तर है जो अधिक स्पष्ट है । यद्येवं-यदि आपने कृपा करके मुझे ऋणमुक्त करा दिया है । परिजनहस्तगता-परिचारिका के हाथों में, अर्थात् परिचारिका को सिखला दीजिये । कुछ व्याख्याकारों के अनुसार इसका अर्थ है-'परिजनस्य पोष्यजनस्य ममेति भावः (हस्तगता अधीना क्रियताम्) सेवकत्वेन मामनुमन्यस्व इति भावः' अर्थात् मुझे इस सेवा का अवसर दीजिये । किन्तु यह-अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता (मि० काले

नोटस् पृष्ठ ५६)। यस्य कृते०—इस कथन से वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति उत्कट प्रेम व्यक्त होता है। शाक्यश्रमणकः—'श्रमणक' शब्द संन्यासी के समानार्थक है; शाक्य या शाक्यमुनि शब्द का अर्थ है—बुद्ध। अतः शाक्यश्रमणक=बौद्धसंन्यासी, बौद्धभिक्षु। साहसेन०—भाव यह है कि संन्यासी होना एक साहस का कार्य है; इससे यह प्रकट होता है कि उस समय बौद्ध भिक्षु को निन्दा की दृष्टि से देखा जाता था (काले)।

१७. द्यूतेन०—विहस्तम्०—इस शब्द के व्याख्याकारों ने अनेक अर्थ किये हैं। सामान्यतः अर्थ यह है—विगतः हस्तः यस्य स विहस्तः अर्थात् हाथ का प्रयोग न कर सकने वाला, ऐसा व्यक्ति जो यह न समझ सके कि क्या करे देखिये 'रामापरित्राणविहस्तयोधम्' रघु० ५, ४९। इस प्रकार विहस्त=व्याकुल। मल्लिनाथ ने भी यहाँ पर यही अर्थ किया है, विहस्ताः=व्याकुलाः, तथा कोशकारों के अनुसार भी यही अर्थ है—'विहस्तव्याकुलौ समौ'—अमरकोश। इसलिये 'यद् विहस्तं जनस्य सर्वस्य' का अर्थ है—(१) सब जनों से व्याकुल अर्थात् अपमानित होना या (२) सब जनों को व्याकुल करना, यहाँ पर विहस्तम्—=व्याकुलत्वं, व्याकुलीकरणम्, (भाव प्रधाने निर्देशे विहस्तत्वमिति लभ्यते)॥१७॥

गन्धगजम्—एक विशेष प्रकार का हाथी। उसके मद में तीव्र गन्ध होती है तथा उसकी गन्ध को सूँघकर अन्य हाथी भाग खड़े होते हैं। (दे० सं० व्याख्या)।

पृ० १००. दुर्मनुष्य—अशिष्ट जन, क्योंकि वह भद्दे ढंग से प्रविष्ट हुआ है। अतः उसे इस शब्द से पुकारा गया है। वञ्चितासि—एक अभीष्ट की प्राप्ति से खाली रह गई हो, जो देखना सुखकर होता वह आपने नहीं देखा। आलान—स्तम्भम्—'आलान'=बन्धनस्तम्भ या शृंखला, "आलानं बन्धनस्तम्भेऽथ शृङ्खले" अमरकोश। यहाँ केवल 'शृङ्खला' अर्थ है, क्योंकि 'स्तम्भ' शब्द के साथ प्रयोग किया गया है। महामात्र—प्रधान महावत, "महामात्रः समृद्धे चामात्ये हस्तिपकाधिपे"—मेदिनी। उद्घुष्टं—जोर से कहा।

१, १९. विचलति—यहाँ हाथी के भागने से होने वाली घबराहट का स्वाभाविक वर्णन किया गया है। रत्नाङ्कुर—लघुरत्न या रत्नों की रश्मियाँ॥१९॥

फुल्ल०—फूले हुए हैं कमल जिसमें ऐसी सरसी, जिस प्रकार हाथी विकसित कमलों से युक्त सरोवर का विलोडन करता है, इसी प्रकार उसने उज्जैन नगरी में खलबली मचा दी।

पृ० १०२. नहि नहि०—वसन्तसेना के प्रति नम्रता तथा आदरभाव दिखलाने के लिये यह वचन कहा गया है। वामचरणेन···आकारितः—इस वाक्य का अर्थ विवादास्पद है। व्याख्याकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं। यहाँ 'वामचरणेन' का शाब्दिक अर्थ है—बायें पैर से, श्रीनिवासाचार्य के अनुसार इसका अन्वय 'गृहीत्वा' के साथ है और समस्त वाक्य का अर्थ है—"(समीप के द्यूतगृह में स्थित) द्यूत-लेखक की लोहदण्ड लाने के लिये बार-बार बुलाकर और उसके ··· पर अपने

वामचरण से लौहदण्ड को ग्रहण करके उस दुष्ट हाथी को ललकारा"—"द्यूतलेखकं द्यूते लेखनाधिकृतं पुरुषमुद्घुष्योद्घुष्य लौहदण्डग्रहणार्थमाहूयाहूय तस्मिन्नागते इति वामचरणेन सव्यपादेन त्वरितमापणात् लौहदण्डमायसीं यष्टिं गृहीत्वा। हस्तेन ग्रहणे हि नमन्तं हस्ती गृह्णीद् विलम्बश्च स्यादिति पादेन ग्रहणम्।" (काले द्वारा उद्धृत)—इस अर्थ में समीप के द्यूत-गृह की क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। अतः इस वाक्य का अन्वय तथा अर्थ इस प्रकार उचित प्रतीत होता है—"त्वरितम् आपणात् लौहदण्डं गृहीत्वा वामचरणेन=(वक्रगत्या) द्यूतलेखकं (द्यूतलेखकं) उद्घुष्य (मा भैषीरिति पुनः पुनः आश्वास्य) सः दुष्टः हस्ती आकारितः (आहूतः)।" (दे० हिन्दी अनुवाद); यहाँ 'द्यूतलेखक' के स्थान पर 'द्यूतखेलक' पाठ ही उचित है, क्योंकि 'संवाहक' एक द्यूतकर ही था। हाँ, इस अर्थ में भी एक शङ्का बनी ही रहती है कि कर्णपूरक ने इस घुटे-मुंडे बौद्धभिक्षु को कैसे जान लिया कि यह जुआरी है? क्योंकि वसन्तसेना और संवाहक के वार्तालाप के समय तो वह उपस्थित नहीं दिखलाया गया है।

२०—आहत्य०—आहत्य–प्रहार करके ॥२०॥

विषमभरा०—ऐसी नौका जिसमें एक ओर अधिक भार लदा हो एक ओर कम अर्थात् भार का संतुलन ठीक (सम) न हो। मदगन्धेन—हाथी के मद की गन्ध से नासिका भरी होने के कारण।

पृष्ठ १०४. नामापि—उस समय वस्त्रों पर नाम अङ्कित करने की प्रथा थी, यह इस कथन से प्रकट होता है। इसी प्रकार अष्टम अङ्क में भी कहा गया है। प्रावृणोति—ओढ़ती है, प्रथम अङ्क में भी चारुदत्त के घर गई हुई वसन्तसेना ने इसी प्रकार इस दुशाले को ओढ़कर अनुराग प्रकट किया है। कहा भी है—दत्तं किमपि कान्तेन धृत्वाऽङ्गे मुहुरीक्षते'। साम्प्रतं—इस समय, क्योंकि अब आपने इस दुशाले के लिये उचित पुरस्कार दे दिया है।

तृतीय अङ्क

['सन्धिच्छेद' नामक यह तीसरा अङ्क है। चारुदत्त के भवन में सेंध लगाकर शर्विलक नामक चोर वसन्तसेना के रक्खे हुए सुवर्णभाण्ड को हर लेता है—यह कथा इस अङ्क में वर्णित है। इसमें चार दृश्य हैं। प्रथम दृश्य में वर्धमानक नामक, चारुदत्त का सेवक, चिन्ता प्रकट करता है, क्योंकि आधी रात बीत गयी है तथा चारुदत्त घर नहीं लौटा। द्वितीय दृश्य में अपने मित्र रेभिल के यहाँ से संगीत का आनन्द लेकर चारुदत्त और विदूषक घर लौटते हैं। वर्धमानक उनके पैर धुलाता है और विदूषक को स्वर्णभाण्ड सौंप देता है। चारुदत्त और विदूषक सो जाते हैं। तृतीय दृश्य में शर्विलक का प्रवेश होता है जिसका कि नाटक में वर्णित राज्यक्रान्ति में विशेष हाथ है। वह वसन्तसेना की दासी मदनिका को दासता से मुक्त कराने के लिये चोरी करने को उद्यत होता है और चारुदत्त के घर में सेंध लगाकर प्रविष्ट हो जाता है। वह

स्वप्न में बड़बड़ाते हुए विदूषक के हाथ से सुवर्णभाण्ड को ले लेता है और रदनिका के जाग जाने पर भाग जाता है। चतुर्थ दृश्य में चारुदत्त और विदूषक जाग जाते हैं। चारुदत्त को चोर की सफलता पर सन्तोष होता है; किन्तु वह न्यास रूप में रक्खे हुए सुवर्णभाण्ड को ले गया—यह सोचकर चिन्ता भी होती है : इस समय चारुदत्त की स्त्री धूता का प्रवेश होता है जो अपने पति को लोकापवाद से बचाने के लिये अपनी रत्नमाला को विदूषक के हाथ भेजती है। चारुदत्त इस माला को वसन्तसेना के यहाँ भिजवाता है और पूजा में बैठ जाता है।]

पृ० १०६, १. सुजनः—इस कथन के द्वारा चारुदत्त की ओर संकेत किया गया है, जो निर्धन होकर भी सेवकों को प्रिय था। पिशुनः—दुर्जन, 'पिशुनो दुर्जनः खलः' अमरकोश। दुष्करः—दुःख से सेवनीय, दुःखेन क्रियते इति दुष्करः, दुष् + √कृ + खल्। उत्तरार्ध में शकार की ओर संकेत है ऐसा व्याख्याकारों का कथन है; वस्तुतः यहाँ वैधर्म्य रूप से सामान्य कथनमात्र ही प्रतीत होता है ॥१॥

२. सस्य०—'अन्यप्रसक्तकलत्रं न शक्यं वारयितुम्' यह पाठान्तर है, जो संगत नहीं प्रतीत होता। स्वाभाविकदोषः—यहाँ अपने स्वामी चारुदत्त की अधिक दानशीलता आदि स्वाभाविक दोषों की ओर संकेत है; क्योंकि मर्यादा का अतिक्रमण करके गुण भी दोषों की श्रेणी में चले जाते हैं ॥२॥

गान्धर्व—संगीत; देवलोक के गायक गन्धर्व कहलाते हैं, उनके नाम पर ही संगीतविद्या को गन्धर्व विद्या या गान्धर्व (गन्धर्वाणाम् इदम्) कहते हैं। वीणा हि नाम०—यहाँ वीणा को समुद्र से निकलने वाले १४ रत्नों से बढ़कर दिखलाया गया है। वे चौदह रत्न ये हैं—

लक्ष्मीः कौस्तुभ-पारिजातक-सुरा-धन्वन्तरिश्च-चन्द्रमा-
गावः कामदुधाः, सुरेश्वरगजो, रम्भादिदेवाङ्गनाः।
अश्वः सप्तमुखो, विषं, हरिधनुः, शङ्खोऽमृतं चाम्बुधेः,
रत्नानीह चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्युः सदा मङ्गलम् ॥

पृ० ११०, ३. उत्कण्ठितस्य०—उत्कण्ठित–प्रियजन के दर्शन के लिये उत्सुक। संकेतक—किसी स्थान पर मिलने का संकेत करने वाला प्रियजन। संस्थापना—आश्वासन देने वाली; जैसा कि मेघदूत में कहा गया है—प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः। (मेघ २–७)। यहाँ एक ही वीणा का 'वयस्या' इत्यादि अनेक रूपों में उल्लेख किया गया है, अतः उल्लेखालङ्कार है ॥३॥

नस्याः—नाक में डाली गई रस्सी, नाथ; यह प्रायः बैलों की नाक में डाली जाती है, गाय की नाक में डालने की बात विचारणीय है।

४. रक्तं च०—यहाँ 'रक्त' इत्यादि संगीतशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। तत्र रक्तं नाम वेणुवीणास्वराणामेकीभावे रक्तमित्युच्यते। मधुरं नाम स्वर—भावोपनीतललितपदाक्षरगुणसमृद्धम्। व्यक्तं नाम पदपदार्थविकारागमलोपकृत्तद्धित विभक्त्यर्थवचनानां सम्यगुपपादनं। (नारदशिक्षा, काले द्वारा उद्धृत)

इस प्रकार वाद्य-स्वरों के साथ पूर्णतया मेल को 'रक्त' कहते हैं। 'मधुर' का अर्थ है स्वर तथा भाव के अनुकूल ललित पदों तथा वर्णों से युक्त तथा 'व्यक्त' (स्फुट) का अर्थ है—व्याकरण सम्बन्धी शुद्धता से युक्त। भावान्वितम्—भावयुक्त। अन्तर्हिता—छिपी हुई। यहाँ 'मन्ये' द्वारा उत्प्रेक्षा प्रकट हो रही है ॥४॥

५. तं तस्य—इस पद्य का अन्वय तथा अर्थ विवादास्पद है; यह उचित प्रतीत होता है कि 'तस्य स्वरसंक्रमं शिलष्टं तन्त्रीस्वनं च शृण्वन्निव गच्छामि'—यह मूल वाक्य है और द्वितीय तथा तृतीय चरण में कहे गये विशेषणों का 'स्वरसंक्रमं' से सम्बन्ध है; जैसा कि सं० व्याख्या एवं हिन्दी अनुवाद में दिखलाया गया है। मूर्च्छना—सप्तस्वरों का क्रमशः आरोह तथा अवरोह। (देखिये मल्लिनाथ-टीका शिशुपालवध १,१०)। मतान्तर से मूर्च्छना का अर्थ है—स्वरों का समुदाय; यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूता भवन्ति हि। तथा स्वराणां संदोहो मूर्च्छनेत्यभिधीयते।' हेला—M. R. काले का कथन है कि यह एक पारिभाषिक शब्द है; हेला = रागस्य आरोहावरोहयोः अनौचित्यम् ॥५॥

अस्तं व्रजति—इस समय अष्टमी का चन्द्रमा रहा होगा जो अर्धरात्रि के समय छिप रहा था।

६. असौ हि—अवगाढ़—अव √गाह् + क्त। विषाण—दाँत ॥६॥

पृ० ११२ अलं सुप्तजनम्०—इससे सेवकों के प्रति चारुदत्त का स्नेह तथा कोमलता प्रकट होती है। डुण्डुभः—दो मुखों वाला विषहीन सर्प, दुमुही 'समौ राजिलडुण्डुभौ'—अमरकोश। निद्राचौर—निद्रा का अपहरण करने वाला; भाव यह है कि रात्रि में इसकी रक्षा के लिये चिन्तित रहने के कारण निद्रा नहीं आ पाती।

७. अलम्०—यद्यपि चारुदत्त वसन्तसेना से प्रेम करता है, तथापि वह यह उचित नहीं समझता कि वेश्या के पहने गये अलङ्कार उसकी धर्मपत्नी के अलङ्कारों के साथ रक्खें जायें। इसीलिये इस प्रकार कहता है ॥७॥

पृ० ११४, ८. इयं हि—व्याख्याकारों ने इसका अन्वय कई प्रकार से किया है। ललाटदेशात्—निद्रा का चिह्न प्रथमतः ललाट पर दिखाई देता है, फिर आँखों में। इसी प्रकार जरा (बुढ़ापा) पहले ललाट के चारों ओर या कान के ऊपर के बालों में अपना प्रभाव दिखलाती है। इसी हेतु कहा गया है—'कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले समागत्य वक्तीति लोकाः शृणुध्वम्' ॥८॥

९. कृत्वा०। परिणाह—विशालता, विस्तार 'परिणाहो विशालता'—अमरकोष। शिक्षाबलेन—चौर्य कला की शिक्षा के सामर्थ्य से। कर्ममार्गम्—कर्मणः मार्गम्; चोरी करने का मार्ग अर्थात् सेंध लगाना, यह चोरों का अपना शब्द है। निर्मुच्यमान—केंचुली के द्वारा छोड़ा जाता हुआ; निर् + √मुच् + शानच् (कर्मणि)। 'जीर्णतनु' यह पाठान्तर है ॥९॥

१०. नृपति०—इस श्लोक में 'रात्रि माता के समान ढक रही है'—यह दिखलाया गया है। अतएव इसमें प्रयुक्त विशेषणों का यथासम्भव दोनों पक्षों में अर्थ

किया जा सकता है; जैसे—नृपति०—(१) राजपुरुषों के लिए शंकापूर्ण है गमन (प्रचार) जिसका ऐसा शर्विलक, (२) राजपुरुषों के लिए शंकास्पद है आचरण (प्रचार) जिसका ऐसा पुत्र। परगृह०—(१) दूसरे के घर को दूषित करने (चोरी से धन हरने) में निश्चित मुख्य वीर, (२) अपने कुल को अत्यन्त दूषित करने (परगृह-दूषणं) में माने गये वीर अथवा दूसरों के घर को दूषित करने वाले पुत्र को। घन०—(१) निविड़ अन्धकार से आच्छन्न हैं तारे जिसमें ऐसी रजनी, (२) पटल नामक रोग के अन्धकार से व्याप्त हैं पुतली जिसकी ऐसी माता। एकवीरः—पाणिनीय व्याकरण के नियमानुसार वीरैकः समस्त पद होना चाहिये; सिद्धान्तकौमुदी तथा मनोरमा में येन केन प्रकारेण 'एकवीरः' शब्द की भी सिद्धि की गई है ॥१०॥

पृ० ११६. परिसरे—समीप के स्थान में, पर्यन्तभूः परिसरः'—अमरकोश। दूषयामि—हानि पहुँचाता हूँ, इसमें सेंध लगाता हूँ।

११. कामं—चाहे, भले ही। वञ्चनापरिभवः—वञ्चना-प्रतारणा, द्रव्यादि-हरण, उसके द्वारा परिभवः पीड़ित करना। मार्गो ह्येष—वह मार्ग, विश्वस्त जनों की वञ्चना का मार्ग। नरेन्द्रसौप्तिकवधे—नरेन्द्राणां सौप्तिकवधे; सुप्त=सोना, निद्रा, √स्वप्+क्त (भावे), तत्र भवः सौप्तिकः, सुप्त+ठञ् (इक)। यहाँ महाभारत की इस कथा की ओर संकेत है—जब कौरवों के प्रायः सभी योद्धा मारे गये और दुर्योधन भी मरणासन्न हो गया तो अश्वत्थामा ने एक रात्रि में देखा कि कोई उल्लू अपने सोते हुए शत्रुओं को मार रहा है। इससे अश्वत्थामा को प्रेरणा मिली और वह चुपके से रात्रि के समय पाण्डवों के शिविर में घुस गया तथा वहाँ द्रौपदी के पुत्रों का वध कर दिया एवं धृष्टद्युम्न और शिखण्डी का भी।

द्रौणिना—अश्वत्थामा ने; द्रोणस्यापत्यं पुमान् द्रौणिः, द्रोण+इञ् ॥११॥

११. देश०। दर्शनान्तरगतः—दृष्टि का विषय, दिखलाई देने योग्य। करालः-विशाल, भयंकर। पृथ्वीधर के अनुसार दर्शन०—का अर्थ है—चौर्यशास्त्र के अनुकूल और कराल का अर्थ है—चौर्यशास्त्र के विपरीत; यह अर्थ अधिक युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता ॥१२॥

पृ० ११८. उत्करः—पुञ्ज, राशि, ढेरी, 'पुञ्जराशी तूत्करः कूटमस्त्रियाम्' अमरकोश; उत्कीर्यते इति—उत्+√कृ+अप्। स्कन्दपुत्राणाम्—यहाँ पुत्र शब्द शिष्य का अनुयायी के अर्थ में है, चोर लोग स्कन्द के भक्त होते हैं। एतत् सिद्धि-लक्षणम्—यह (चूहों द्वारा किया गया मिट्टी का ढेर अथवा सेंध के योग्य स्थान की प्राप्ति) सफलता का सूचक है। कनकशक्ति—चौर्यशास्त्र के रचयिता का नाम है।

१३. पद्मव्याकोशम्०—इत्यादि सात प्रकार की सेंधों के नाम हैं। इन नामों से ही सेंध का स्वरूप भी प्रकट हो जाता है; जैसे १. पद्मव्याकोशं विकसित कमल के समान आकृति वाली, २. भास्करं—सूर्य के समान गोल तथा विशाल। ३. बालचन्द्रं—द्वितीया के चन्द्रमा के समान वक्राकार। वापी—बावड़ी जैसी ५. विस्तीर्णं—लम्बी।

६. स्वस्तिकं----(दे० अनुवाद); ७. पूर्णकुम्भं---नीचे से चौड़ी तथा ऊपर से सकरी ।।१३।।

१४.. अन्यासु०---शर्विलक का भाव यह है कि यहाँ पक्की ईंटों वाले घर में 'पूर्णकुम्भ' नामक सेंध लगाना ही ठीक होगा; क्योंकि अन्य भित्तियों में जो दूसरी तरह की सेंध मैंने लगाई थीं, उनमें लोगों ने यद्यपि मेरे कार्यकौशल की प्रशंशा की है तथापि दोष भी दिखलाया है। वस्तुतः तो इस श्लोक का पाठ शुद्ध नहीं प्रतीत होता; 'अन्यासु' के स्थान पर 'अद्यासु' तथा 'वदति' के स्थान पर 'वदतु' पाठ होने से इसका अर्थ संगत हो सकता है। चारुदत्त नाटक का पाठ अधिक सुसङ्गत है—

अद्यास्य भित्तिषु मया निशि पाटितासु छेदात् समासु सक्रुदर्पितकाकलीषु ।
काल्यं विषादविमुखः प्रतिवेशिवर्गो दोषांश्च मे वदतु कर्मसु कौशलं च ।।

पृ १२०. कुमारकार्तिकेयाय—शिवपुत्र कार्तिकेय; इनका दूसरा नाम कुमार भी है। चोरी गई वस्तुओं का पता लगाने के लिये लोग इनकी पूजा करते हैं। ये चोरों के देव माने जाते हैं। कनकशक्ति---चौर्यविद्या के प्रथम आचार्य। भास्करनन्दिन्----चौर्यविद्या के आचार्य। योगाचार्य---ऐसा प्रतीत होता है कि ये शर्विलक के गुरु रहे होंगे। कुछ व्याख्याकार ब्रह्मण्यदेव और देवव्रत को भी पृथक् आचार्य मानते हैं; किन्तु ये 'कनकशक्ति' के विशेषण हैं, यही उचित प्रतीत होता है। योगरोचना---योग से सिद्ध की गई रोचना (विशेष प्रकार का प्रलेप), जिसके लेपन से व्यक्ति अदृश्य हो जाता है।

१५. अनया० । समालब्धं---लेपन किये गये को, सम्+आ+√लभ्+क्त ।।१५।।

प्रमाणसूत्रम्---मापने का धागा, प्रमाणार्थं सूत्रम् ।

१६. एतेन० । कर्ममार्गम्----सेंध, चोरी करने का मार्ग। संप्रयोगान्---जोड़। परिवेष्टनम्---बन्धन, बन्द। सर्प के काटे आदि को बाँध दिया जाता है, यह प्रसिद्ध है ।।१६।।

१७. शिखा०----भाव यह है कि ज्यों ही शर्विलक ने दीवार में छेद किया त्यों ही भीतर जलते हुए दीपक की सुनहली प्रकाश-रेखा उसमें से होकर बाहर आई; जो चारों ओर अन्धकार से घिरी हुई ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे कि श्याम कसौटी पर सुवर्ण की रेखा हो। यह सुन्दर उपमा है ।।१७।।

पृ० १२२. प्रतिपुरुषम्---काष्ठ आदि से बना हुआ मनुष्य का पुतला सम्भवतः वह सिर का भाग ही होता है। चोर सेंध में से उसे प्रविष्ट कर देते हैं। यदि कोई जागता होता है तो पता चल जाता है। प्रतीक्ष्य----देखकर। लक्ष्यसुप्तम्---लक्ष्येण व्याजेन सुप्तम्, सोने का बहाना बनाये हुए।

१८. निःश्वासो । शङ्कितः---शङ्का अस्य संजाता इति शङ्का+इतच् । विकला----कुछ खुली हुई; विगता कला यस्याः, अथवा अस्थिर; यहाँ सुप्त पुरुषों का स्वाभाविक वर्णन किया गया है अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है तथा 'परमार्थसुप्तम्'

इस बात के समर्थन के लिये कारण समुदाय का कथन किया गया है अतः समुच्चयालङ्कार है ॥१८॥

पुस्तकाः—पुस्तक; अथवा मिट्टी आदि की बनी हुई मूर्ति को 'पुस्त' कहते हैं 'पुस्त' से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होकर 'पुस्तक' शब्द बन गया है।

तन्ममापि नाम०—भाव यह है कि क्या मुझे (शर्विलक) से भी भूमि में गड़ा हुआ धन छिप सकता है ? मि०, 'आः ममापि नाम दुर्योधनस्य शङ्कास्थानं पाण्डवाः'। (वेणी० २)। **स्फारीभवति**—फैलता है या बढ़ता है; यह प्रसिद्धि है कि यदि मन्त्र पढ़कर सरसों आदि के दाने धनयुक्त भूमि पर गिराये जाते हैं तो वे फैल जाते हैं। **उत्स्वप्नायते**—उत्कृष्टः स्वप्नः उत्स्वप्नः अथवा उद्गतः प्रलापादिना प्रकटितः स्वप्नः यस्य सः उत्स्वप्न; स इवाचरति; उत्स्वप्न+क्यङ् (नामधातु); निद्रावस्था में बोलता है या स्वप्न देखता हुआ बोलता है।

पृ० १२४. **लघुत्वात्**—हल्का होने से, दुर्बल मन वाला होने के कारण। **गोब्राह्मण-काम्यया**—यहाँ ब्राह्मण शब्द से 'काम्यक्' प्रत्यय नहीं है अपितु 'काम्या= इच्छा एक स्वतन्त्र शब्द है; गो और ब्राह्मण की अभिलाषा यह अर्थ है। (दे० काले नोट्स पृ० ६८)। **आग्नेय**—अग्नि सम्बन्धी अर्थात् अग्नि को बुझाने वाला। **अप्रतिग्राहकस्य**—दान न लेने वाले का (दे० सं० व्याख्या)। **अग्रहस्तः**—यहाँ जब हस्त और उसके अग्रभाग में अभेदः मान लेते हैं तो कर्मधारय समास होकर 'अग्रहस्त' शब्द बनता है और जब अवयव (अग्र) तथा अवयवी (हस्त) में भेद मानते हैं तो 'हस्ताग्र, शब्द बनता है। (दे० अलङ्कार सूत्र ५.२.३०)।

पृ० १२६. १९. **अनिर्वेदित**—M. R. काले के अनुसार निर्वेद=(disgust for objection; **अनिर्वेदितपौरु०**—जिसमें पौरुष किसी अनुचित कार्य को करने में भी घृणा या आपत्ति अनुभव नहीं करता; अर्थात् दरिद्रता के कारण मनुष्य में अनुचित कार्य से बचने का सामर्थ्य नहीं रहता। **अनिर्वेदितपौरुषम्**—पाठान्तर है; अदर्शितं पौरुषं येन, अर्थात् दरिद्रता के कारण मनुष्य अपने पराक्रम को नहीं प्रदर्शित कर सकता ॥९॥

ममापि०—मुझ शर्विलक का रक्षक जन क्या करेंगे ? यह भाव है।

२०. **मार्जार—ग्रहा०**—पकड़कर फाड़ डालने में अथवा पकड़ने में और फाड़ डालने में (ग्रहे-ग्रहणे आलुञ्चने छेदने च)। **संकटेषु**—आपत्ति के समय। **कुण्डुभः**—विशेष प्रकार का सर्प, जब इसे बाहर निकालने का प्रयत्न करते हैं तो यह दृढ़ता से चिपक जाता है। कुछ व्याख्याकार इसका अर्थ—'गृहगोधिका' (गोह) या 'सरटः' भी कहते हैं ॥२०॥

२१. **भुवनावलोकने**—संसार को देखने में, छिपने के लिये स्थान खोजने में ॥११॥

पृ० १२८, २२. **उपरित०**। **असदृशजन०**—अनुचित व्यक्ति चोर आदि, भाव यह है कि यह सेंध क्या है, मानों चोर को देखकर भवन का हृदय विदीर्ण हो गया है ॥२२॥

पृ० १३०, २३. वेदितवान्—'विदितवान्' रूप शुद्ध है। अथवा 'विद्' धातु से स्वार्थिक णिच् करके यह रूप होता है ॥२३॥

पृ० १३२. विष्टया—भाग्य से। २४. कः०—तूलयिष्यति—रुई के समान हल्का समझेगा, अथवा तुलयिष्यति यह पाठ है। शङ्कनीया—शङ्का का विषय। निष्प्रतापा—जिसमें तेज या प्रताप नहीं है, अथवा जिसका तेज चला गया है ॥२४॥

२५. प्रणयः—अभिलाषा। नृशंसेन—निर्दय (क्रूर) ने, 'नन् शंसति' (अर्थात् मनुष्यों की हिंसा करता है) इति नृशंसः, नृ + √शस् + अण् ॥२५॥

पृ० १३४, २६. न्यासप्रतिक्रियाम्—धरोहर के बदले का धन, न्यास प्रतिशोध का उपाय ॥२६॥

शौण्डीर्यतया—उदारता के कारण। महानुभावता के कारण। शब्दापय—बुलाओ।

पृ० १३६. पुरस्तान्मुखः—पूर्व की ओर है मुख जिसका, पूर्व की ओर मुख करके दान ग्रहण किया जाता है। यथाविभवा०—यथाविभवस्यानुसारः (काले), यहाँ 'विभवमनतिक्रम्य यथाविभवम्' (सम्पत्ति से अनुसार) इस शब्द से ही अभिप्राय प्रकट हो सकता है फिर 'अनुसारेण' शब्द का ग्रहण विचारणीय है।

रत्नषष्ठीम् उपोषिता—अभुक्त्यर्थस्य न' इस वार्तिक के द्वारा कर्म संज्ञा का निषेध किया गया है। अतः 'रत्नषष्ठीम्' में द्वितीया चिन्तनीय है। तस्य कृते—(१) उस व्रत के लिये, (२) उस ब्राह्मण के लिए अर्थात् चारुदत्त के लिये, धूता चारुदत्त को व्रत के उपहार के रूप में रत्नावली प्रदान करती है जिससे वह लेने से मनाही न करे (दे० काले नोट्स पृ० ७१)। लज्जिताम्—यदि चारुदत्त इस उपहार को स्वीकार नहीं करता तो धूता को लज्जित होना पड़ेगा। अतः वह मैत्रेय से स्वीकार कराने के लिये प्रार्थना करती है (?)। अकार्य०—कहीं मैत्रेय अपने मित्र के दुःख को देखकर कोई (आत्महत्या आदि ?) अनुचित कार्य न कर डाले। (काले)

पृ० १३८, २७. अर्थतः०—इसमें धन का महत्त्व प्रकट किया गया है। इसका अर्थ विवादास्पद है ॥२७॥

२८. विभवानुगता—विभवेन अनुगता अर्थात् धनयुक्ता या अपनी सम्पत्ति सहित (मेरा) अनुगमन करने वाली। यद्—जो, उपर्युक्त तीनों बातें ॥२८॥

२९. महतः प्रत्ययस्यैव—इस महान् विश्वास का ही; क्योंकि निर्धन होने पर भी उसने विश्वास किया, अतः उसका विश्वास—कार्य महान् है; उसका ऐसा उचित मूल्य होना ही चाहिये ॥२९॥

शरीरस्पृष्टिकया—शरीर के स्पर्श से √स्पृश् + क्तिन्—स्पृष्टिः, सा एव स्पृष्टिका।

पृ० १४०, ३०. परिवाद०—परिगतो वादः परिवादः अथवा परीवादः। परिवाद एव बहुलः दोषः अथवा परिवादस्य बहुलः दोषः। रक्षा—मरम्मत।

परिहरामि—उपेक्षा करता हूँ। श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ विवादास्पद है (काले पृ० ७२. ७३) ॥३०॥

अकृपणशौण्डीर्यम्—अत्यन्त उदारता से। या अत्यन्त गौरव के साथ।

चतुर्थ अङ्क

['मदनिका शर्विलक' नामक यह चतुर्थ अङ्क है, इसमें मदनिका और शर्विलक का मिलन वर्णित है। इस अङ्क में चार दृश्य हैं। प्रथम दृश्य में मदनिका और वसन्तसेना चारुदत्त का चित्र देखती हुई वार्तालाप करती हैं। इस दृश्य का प्रेम के विकास में म.ह. पूर्ण स्थान है। द्वितीय दृश्य में शर्विलक वसन्तसेना के भवन में प्रवेश करता है। वहाँ उसकी बाहर ही मदनिका से भेंट होती है और वह अलङ्कार दिखाता है तथा चोरी की बात भी कहता है, वसन्तसेना भी छिपकर इनकी बात सुन लेती है। मदनिका के आग्रह करने पर शर्विलक चारुदत्त के आदमी के रूप में वसन्तसेना को आभूषण देता है और वसन्तसेना मदनिका को उसकी वधू बनाकर विदा करती है। तृतीय दृश्य में मार्ग में जाते समय शर्विलक अपने मित्र आर्यक के राजा द्वारा बन्दी बनाये जाने की बात सुनता है और मदनिका को अपने मित्र रेभिल के घर भेज देता है। वह आर्यक को बन्धन से मुक्त कराने चला जाता है। चतुर्थ दृश्य में—विदूषक वसन्तसेना के घर पहुँचता है और वसन्तसेना को सुवर्णभाण्ड के बदले में रत्नमाला देता है। विदूषक विदा होता है और वसन्तसेना चारुदत्त के पास सन्देश भेजती है कि मैं सायंकाल मिलने आऊँगी।]

पृ० १४२. वेश्वास—वसन्तसेना यह सोचती है कि कहीं मदनिका मुझे प्रसन्न करने के लिये ही तो ऐसा नहीं कर रही है। तस्य०—इस चित्र में दृष्टि और हृदय के रमने का कारण चित्र की अनुरूपता ही है—यह भाव है। सखीजना०—यदि यह चित्र उसके प्रियतम की सच्ची प्रतिकृति नहीं है तो इनको देखकर प्रियतम के सौन्दर्य की कल्पना करने वाली सखियाँ मेरा उपहास करेंगी, उस उपहास से बचना चाहती हूँ (रक्षामि)।

पृ० १४४. प्रवहणम्—अमरकोश के अनुसार एक विशेष प्रकार का रथ; 'कर्णीरथः प्रवहणं डयनं च समं त्रयम्।' भानु जी दीक्षित के मतानुसार इसका अर्थ है—एक विशेष प्रकार की पालकी—'त्रीणि पुरुषस्कन्धवाह्यस्य यानविशेषस्य'। कुछ व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'रथ' किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द 'बहली' के लिये प्रयुक्त हुआ है। रथ से छोटी एक अवगुण्ठित वाहन जिसे बैल खींचते हैं 'बहली' कहलाती है, जो ग्रामों में अब भी चलती है। साहस्रिकः०—सहस्र + ठञ् (इक्)—तेन परिजय्यलभ्यसुकरम् ५।१।९३ अथवा तेन क्रीतम् ५.१.३७। सन्देशेन—सन्देश देने के हेतु (हेतु में तृतीया)।

१. वचनीयदोषं—रात्रि में ही सब पाप होते हैं (बहुदोषा हि शर्वरी)—यह अपवाद ॥१॥

पृ० १४६, ३. नारीनाथम्—नारी है स्वामिनी जिसकी ऐसे घर को; नारी पर दया करने के कारण अथवा नारी का दर्शन चोरों के लिये अनिष्ट होने के कारण ऐसे घर को छोड़ दिया। गृहदारुवत्—घर के कण्ठस्तम्भ के समान। दिवसीकृता—अदिवसः दिवसः सम्पद्यमानः कृतः, दिवस + च्वि + कृता ॥३॥

४ विशेषयन्ती—बढ़कर होती हुई अथवा ऐसी सुन्दर कि कामदेव की शोभा को भी बढ़ाने वाली। चन्दनशीतलम् इव करोति—यह उत्प्रेक्षा है ॥४॥

पृ० १४८. निध्यायति—देखती है, निध्यानमवलोकनम् इति वैजयन्ती। भुजिष्या—सेविका, न भुजिष्या अभुजिष्या ताम्। गवाक्षेण—झरोखे से, गवामक्षीवः; गो + अक्षि + अ (अक्ष्णोऽदर्शनात् ५।४।७६)

पृ० १५०. अखण्डित०—मदनिका जानती है कि शर्विलक का पहला जीवन पवित्र रहा है। अत्यन्तविरुद्धम्—अपने पवित्र चरित्र के विरुद्ध या नैतिकता के विरुद्ध अथवा लोक और शास्त्र के विरुद्ध।

६. विप्रस्वं—ब्राह्मण का धन, इसकी चोरी महापाप गिना जाता है—'देवस्वं ब्राह्मणस्व वा लोभेनोपहिनस्ति यः स पापात्मा पर लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति।' मनु० ११, २६। कुछ व्याख्याकारों ने काञ्चनं' का 'विप्रस्वं' से सम्बन्ध किया है किन्तु, यज्ञार्थमभ्युद्धृतं काञ्चनं' यह अन्वय अधिक उचित प्रतीत होता है ॥६॥

७. अप्रकाशः-जिसे प्रकट करना अनुचित है अर्थात् गुप्त रखने योग्य है ॥७॥

पृ० १५२. मदनिका च मूर्च्छाम्०—इसमें मदनिका का वसन्तसेना के प्रति स्नेह प्रकट होता है। सेर्ष्यम्—ईर्ष्यापूर्वक, शर्विलक सोचता है कि मदनिका चारुदत्त को भी प्रेम करती है अतः वह ईर्ष्या के साथ पूछता है।

९. सद्वृत्त०—भाव यह है कि तुम्हारे प्रेम के कारण मैंने कुल के सम्मान को भी नष्ट कर दिया है। मन्मथ०—(विपन्न = मृत) यद्यपि काम भाव के कारण मेरे अन्य गुण मर चुके हैं अर्थात् नष्ट हो गये हैं। व्यपदिशसि—पुकारती हो, दिखाने के लिये कहती हो ॥९॥

पृ० १५४, १०. सर्वस्वफलिनः—सर्वस्व रूपी फलों से युक्त; सर्वस्वफल + इनि; ['अत इनिठनौ' ५।२।११५॥ इति मत्वर्थे इनिः], अलम्—पूर्णतया ॥१०॥

११. अयं च०—यहाँ 'काम' को अग्नि के रूप में वर्णित किया गया है। तथा प्रणय को इन्धन के रूप में और रतिक्रीडा को ज्वाला के रूप में। इस प्रकार यहाँ साङ्गरूपक है ॥११॥

१२. १३. परिसर्पण—कुटिल तथा तीव्र गति। विरक्तभावा—स्नेह शून्य भावों वाली।

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—इससे प्रकट होता है कि अग्रिम (१४) श्लोक किसी सुभाषित से लिया गया है (मि० वैराग्य शतक श्लोक १९)।

पृ० १५६, १४. एता हसन्ति०—इस श्लोक में वेश्याओं की निन्दा की गई

है। श्मशानसुमनाः–सुमनस् (स्त्री०) पुष्प या मालती पुष्प 'सुमना मालतीजातिः'—अमरकोश। (१) वे पुष्प यद्यपि सुगन्धित तथा मनोहर होते हैं तथापि श्मशान भूमि में उत्पन्न होने के कारण ग्राह्य नहीं होते। इसी प्रकार रूपादि से युक्त होती हुई भी वेश्यायें त्याज्य हैं, क्योंकि वे विश्वास के योग्य नहीं होतीं। (२) यहाँ 'वेश्याः' यह उपमेय बहुवचन में है किन्तु 'सुमनाः' उपमान एकवचन है। यह उपमा का दोष माना जाता है तथापि रस-विघातक न होने के कारण दोष नहीं है—'मि० वचनभेदेऽपि सतामनुद्वेजकत्वाददुष्टत्वमुपमायाः' (पृथ्वी०) ॥१४॥

१५. वीची—तरङ्ग, 'वीचिः' शब्द भी होता है। अभ्रलेखा—यहाँ सन्ध्याकालीन मेघपंक्ति की ओर संकेत है। राग—(१) अनुराग, (२) लालिमा। निरर्थम्—निर्गतः अर्थः यस्य तम्, धनहीन को। निष्पीडितम्—निचोड़ी गई। अलक्तक—लाख, यावक, प्राचीनकाल में लाक्षा आदि से पैरों में लगाने के लिये महावर (यावक) तैयार किया जाता था। जब महावर का रंग अङ्गों पर चढ़ जाता, तब महावर को उतार दिया जाता था।

१६. मदप्रसेकम्—यौवन के मद का सिञ्चन या मुख द्वारा मदिरा-फेंकना, इसका वास्तविक अर्थ अस्पष्ट है। शरीरेण—शरीर से आलिङ्गनादि के लिये ॥१६॥

सूक्तं खलु०—इससे प्रकट होता है कि यह किसी अन्य कवि की सूक्ति है।

अयं न भवसि—यह तुम विद्यमान न रहोगे अर्थात् मैं तुम्हें मार दूंगा। मदनिक के हृदय के भाव को देखने के लिये शर्विलक (चारुदत्त के प्रति) ऐसा कहता है। असम्भावनीय—जिसकी सम्भावना भी न की जा सके, अर्थात् मदनिका का चारुदत्त में अनुरक्त होना असम्भव है।

पृ० १५८. (कर्णे) एवमिव—मदनिका शर्विलक को बतलाती है कि वसन्तसेना चारुदत्त में अनुरक्त है, अतः इसने अपने आभूषण वहाँ रक्खे थे।

१८. छायार्थं०—यहाँ अप्रस्तुत अर्थ के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति इस प्रकार होती है—

छाया—मदनिका की प्राप्ति का आनन्द। ग्रीष्मसन्तप्त—प्रेम के सन्ताप से पीड़ित। पत्र-आभूषण। शाखा–वसन्तसेना। भाव यह है कि कामाग्नि से सन्तप्त होकर जिस वसन्तसेना के द्वारा मदनिका को प्राप्त करना चाहा था उसी वसन्तसेना (शाखा) को अलङ्कारों (पत्र) से रहित कर दिया ॥१८॥

निसर्गादेव पण्डिताः—मि०, 'स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।' (शकु० ५, २२ काले द्वारा उद्धृत)। न चन्द्रात्० (दे० सं० व्याख्या)।

पृ० १६०, २०, साहसे—चारुदत्त को अलङ्कार समर्पण रूपी साहस का कार्य। कुछ व्याख्याकार इसका अर्थ 'चोरी करने का साहस'—करते हैं। वह ठीक नहीं जैसा कि शर्विलक के अग्रिम कथन से ही स्पष्ट है—'तथापि नीतिविरुद्धमेतत्।'

कुत्सितं कर्म—चोरी का काम। जनयति...लज्जाम् M. R. काले का कथन है कि यहाँ 'वा+इदम्'—में प्रश्न का भाव है; इस प्रकार शर्विलक का अभिप्राय है—"क्या मैं इस चोरी के काम से लज्जित हो सकता हूँ अर्थात् नहीं, क्योंकि एक अच्छे उद्देश्य से मैंने इस कार्य को किया है।" वस्तुतः तो यह भाव प्रतीत होता है कि इस कुत्सित कार्य के कारण मुझे चारुदत्त के पास जाने में लज्जा आती है अन्यथा मुझे राजा आदि का कोई भय नहीं है।" (दे सं० व्याख्या) ॥२०॥

अभुजिष्या—जो दासी न हो; गृहिणी। कामदेवगेहे—कामदेव के मन्दिर में (दे० पृ० ४६३)।

पृ० १६२ दुर्+रक्ष्यम्=दूरक्ष्यम् (पूर्व रेफ का लोप होकर उकार को दीर्घ हो जाता है)।

पृ० १६४, २३ उडुपेन—चन्द्रमा ने; उडु-नक्षत्र, उडूनि पाति इति उडुपः नक्षत्रपति, तारापति, चन्द्रमा ॥२३॥

प्रवहणिकः—गाड़ीवान्, प्रवहणम् अस्यास्तीति, प्रवहण+ठन् (इक)। सुदृष्टां—भली भाँति देखी गई, भाव यह है कि मुझे भली भाँति देख लो जिससे मेरी स्मृति तुम्हारे मन में दृढ़ हो जाये और तुम मुझे भूलो नहीं! इससे वसन्तसेना का मदनिका (सेविका) के प्रति स्नेह-भाव प्रकट होता है। त्वमेव वन्दनीया—परिगृहीता स्त्री (पत्नी) होने के कारण; क्योंकि वेश्या की अपेक्षा पत्नी पूज्य है।

२४. यत्र=यस्याः—जिससे अथवा जिसके कारण (यस्मिन् जने हेतुभूते)।

वधूशब्द०—व्याख्याकारों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं—(१) वधूशब्दस्य अवगुण्ठनम्; अर्थात् वधू के योग्य वेश या पर्दा। (२) वधूशब्दश्च अवगुण्ठनं च। अर्थात् 'वधू' नाम और पर्दा (क्योंकि वधू ही परपुरुषों द्वारा न देखने योग्य होती हैं)। (३) वधूशब्दरूपमवगुण्ठनमावरणम्। केनाप्यनवलोकनत्वरूपमित्यर्थः (काले)। (दे० सं० व्याख्या तथा अनुवाद)।

राष्ट्रियः—राष्ट्र का अधिकारी; यहाँ इस शब्द का 'नगराध्यक्ष' के लिये प्रयोग किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। घोर—कठोर, भयंकर।

पृ० १६६. विशिष्टतमः—'विशिष्टतरः प्रयोग उचित है। सास्रम्०—मदनिका का यह निवेदन एक गृहनारी के समान ही है, वह अब वसन्तसेना के पास नहीं जाना चाहती। उदवसितम्—गृह; 'गृहगेहोदवसितवेश्मसद्मनिकेतनम्'—अमर०।

२६ ज्ञातीन्—पालक के सम्बन्धियों को; क्योंकि कामन्दक नीति बतलाती है कि राजा के सम्बन्धी उसके 'सहजशत्रु' होते हैं। वर्ण—यश, स्तुति; 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ'—अमरकोश। यौगन्धरायण—उदयन का प्रधानामात्य। कथासरित्सागर मे तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण नामक भासकृत नाटक में इसकी कथा विस्तार से वर्णित है (दे० सं० व्याख्या) ॥२६॥

पृ० १६८, २७. आहिता आत्मनि शङ्का; आर्यको राजा भविष्यतीति यैस्तैः (काले); कल्पित भय से डरे हुए। अभिपत्य—अभियान करके, आक्रमण करके।

शशाङ्क०—राहु के मुख में स्थित चन्द्रबिम्ब के समान आपत्ति-ग्रस्त मित्र को—यह उपमा है ॥ ७॥

बन्धुल—अवैध पुत्र, जो वसन्तसेना के यहाँ कार्य करते थे। अहं पुत्र०—विदूषक सोचता है कि वह रावण से भी अधिक सुखी है, क्योंकि तपस्या का कष्ट किये बिना ही नर-नारियों के द्वारा ले जाया जा रहा है। सविस्मयम्—वसन्तसेना के गृह द्वार की शोभा को देखकर विदूषक आश्चर्य चकित हो जाता है।

पृ० १७०. 'अहो वसन्तसेनाभवनद्वारस्य सश्रीकता' यह मूलवाक्य है, षष्ठ्यन्त पद 'भवनद्वारस्य' के विशेषण हैं। गगन०—इससे द्वार की उच्चता प्रकट होती है। भ्रमागतमल्लिका०—मल्लिका-पुष्पों की श्वेत तथा स्थूल माला हिलती हुई द्वार पर लटक रही है, जिसमें ऐरावत के सूँड की भ्रान्ति हो रही है। महारत्न-शोभिना' इत्यादि तृतीयान्त पद 'पताकानिवहेन' के विशेषण है। वज्रनिरन्तरप्रतिबद्ध—निरन्तर हीरों से जटित।

पृ० १७२. सच्छाया —समान शोभावली । चूर्णमुष्टि—मुट्ठी भर चूर्ण निर्ध्यायन्ति—देखती हैं। श्रोत्रियः—वेदपाठी, श्रोत्रियंश्छन्दोधीते ५।२।८४।, अथवा विद्वान् ब्राह्मण, जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।

मन्दुरायां शाखामृगस्य—अश्वशाला में बन्दर रखने की प्राचीन प्रथा थी मन्दुरान्ते तथा धार्यो रक्तवक्त्रो महाकपिः। सर्वोपद्रवनाशाय बाजीनां च विवृद्धये ॥ (शालिहोत्र)। कूर०—प्राचीन व्याख्याकारों ने 'कूर' का अर्थ भात किया है तथा 'तैल का अर्थ लक्षणा से घृत किया है। कुछ व्याख्याकारों (J. V. आदि) के अनुसार कूर=एक प्रकार के बीज हैं, उनसे निकले हुए (च्युत) तैल से मिश्रित-यह अर्थ है। पिण्ड—एक विशेष प्रकार की रोटी।

पाशकपीठ—पाँसे रखने की चौकी या रस्सी की बुनाई से बना हुआ आसन, पीढ़ा। वर्णिका=रङ्ग।

पृ० १७४. क्षीणपुण्या इव०—यहाँ इस विश्वास की ओर संकेत है कि अपने पुण्य से कुछ व्यक्ति तारों का रूप धारण कर लेते हैं और पुण्य के क्षीण हो जाने पर तारे गगन से गिर जाते हैं, मि० नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति। मुण्डकोपनिषत् १. २. १०। करसहपरामर्शेन—(कामिनी पक्ष में)—नखों के कोमल स्पर्श से, (२) वीणापक्ष में—नखों के आघात से। प्रगीता—उत्तम गाती हुई, प्रकृष्टं गीतं यासां ताः। अपवलिगताः—लटकती हुई।

पृ० १७६. आहरति—आकर्षित करता है। धूमोद्गारों में आहें भरने की उत्प्रेक्षा की गई है। पटच्चरः—पुराना वस्त्र। रूपी—पशु को मारने वाला, मांस-विक्रेता (दे० सं० व्याख्या)। ०विकारम्—प्रकार, भेद। बधितम्—पूर्ण भोजन, यथेष्ट, प्रचुर।

१८. परगृह०—इस श्लोक में 'बन्धुल' जनों का स्वरूप बतलाया गया है।

परधननिरता—भाव यह है कि लोगों को यहाँ लाकर उनके धन से आनन्द का उपभोग करते हैं। गुणोष्ववाच्या—हमारे गुणों का विचार नहीं किया जाता, यह भाव है ॥२८॥

विचारयन्ति—उनके गुणों पर विचार कर रहे हैं। बध्यन्ते—बाँधे जा रहे हैं अर्थात् जड़े जा रहे हैं।

पृ० १७८. गन्धयुक्तयः—गन्धों का योग (Preparation or mixture) अवधीरित—उपेक्षित, तिरस्कृत, त्याग दिये गये। मदनसारिका—कामदेव सम्बन्धी मैना, संभवतः मैना को कुछ ऐसे शब्द सिखला दिये जाते थे जिनसे वह आगन्तुकों के कामभाव को उत्तेजित करती थी, इसी हेतु उसे यह नाम दिया जाता था। कुम्भदासी—कुम्भ=वेश्या का स्वामी, 'कुम्भः स्यात् कुम्भकर्णस्य सुते वेश्यापती घटे'—विश्वः। कुम्भस्य दासी कुम्भदासी अर्थात् वेश्याओं के यहाँ रहने वाली कुट्टिनी, कुछ व्याख्याकार इसका अर्थ करते हैं, जल का घड़ा ले जाने वाली दासी। नागदन्त-खूँटी।

पृ० १८०. पट्ट—रेशमी वस्त्र। पुनरुक्तालंकार—दोहरे आभूषण।

२६. मा तावद०—कुछ पुस्तकों में इसे गद्यांश के रूप में ही दिया गया है। यदि इसे पद्य माना जाता है तो इसके ५ चरण दिखलाई देते हैं। पञ्चम चरण (अणहिग. मणीओ लोअस्स) को छोड़ देने पर यह आर्या छन्द के रूप में शेष रह जाता है। (काले) ॥२६॥

पुष्पप्रावारक—फूल कढ़ा हुआ दुशाला। कपर्दक—कौड़ी, डाकिनी—डायन। इसका भाव है—निकम्मी डायन (a worthless hag)। कपर्दक के स्थान पर 'करट्ट' (=भट्टी) पाठ भी है तथा किन्हीं पुस्तकों में 'अपवित्र' (अपवित्त) पाठ है जो सुगम है। महादेवमिव—जब किसी मन्दिर में महादेव की विशाल मूर्ति की स्थापना करनी होती है तो पहले मूर्ति की स्थापना करके तत्पश्चात् मन्दिर का छोटा-सा द्वार बना दिया जाता है, उसके समान।

पृ० १८२. शून—फूला हुआ। पीन—मोटा। जठर—उदर। ३०. सीधु—सुरा, आसव—ये तीन प्रकार की मदिरायें हैं ॥३०॥ यानपात्राणि०—जहाज या नाव। (आप्टे), इससे प्रकट होता है कि उस समय उज्जयिनी के व्यापारी सामूहिक व्यापार में प्रसिद्ध थे। विदूषक का भाव यह है कि ऐसा राजसी ठाट बाट किसी बड़े जहाजी व्यापार के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह व्यङ्ग्योक्ति है। त्रिविष्टपं त्रयाणां विष्टपानां समाहारः।

पृ० १८४. निरन्तरपाद०—एक दूसरे के समीप उगे हुए वृक्ष, घने वृक्ष। सुवर्णयूथिका०—ये विविध पुष्पों के नाम हैं।३१। अशोकः—न शोकः अस्मादिति, इस वृक्ष को अत्यन्त आनन्ददायक माना जाता है। चर्चिका—लेपन ॥३१॥

संस्कृतमाश्रित्य—नाटक में अभिनय प्रयोग के अनुसार पात्रों की भाषा का परिवर्तन भी हो जाता है तथा प्राकृतभाषी पात्र भी अपनी शिक्षा का परिचय देने के लिये संस्कृत बोला करते हैं, जैसा कि भरत ने कहा है—योषित्सखीबालवेश्याकितवा-

प्सरसां तथा । वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ।

३२. इस वृत्त में साङ्गरूपक अलङ्कार है। चारुदत्त को एक वृक्ष का रूप दिया गया है। विश्रम्भ—जनता का चारुदत्त पर विश्वास। महनीय—महनीयत्व (पूज्यता) अथवा महितुं योग्यं महनीयं = यशः ॥३२॥

पृ० १८६. राजवार्ताहारी—वार्ता-सन्देश। राजवार्ता = लाईसेन्स; जुए का लाइसेन्स रखने वाला। हीनकुसुमा०—वसन्तसेना को आश्चर्य है कि निर्धन चारुदत्त के पास ऐसी रत्नावली कैसे है? दुर्दिनम्—मेघों से युक्त दिन; मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्—अमरकोश। यहाँ लक्षणा द्वारा मेघमण्डल अर्थ है।

३३ वर्षम्—वर्षा; √वृष् + अच् (पुं०, नपुं०)। यह वर्णन अग्रिम अङ्क की अवतारणा का कार्य करता है ॥३३॥

पञ्चम अङ्क

['दुर्दिन' नामक इस अङ्क में वसन्तसेना के अभिसरण का वर्णन है। घोर वर्षा हो रही है, विद्युत् कौंध रही है, मेघ गरज रहे हैं। ऐसे समय ही यह अभिसार किया जाता है। प्रथमतः विदूषक चारुदत्त के पास आकर सायंकाल वसन्तसेना के आगमन की सूचना देता है। इसके पश्चात् वसन्तसेना का चेट आता है और कहता है कि वसन्तसेना आ रही है। तब विट, चेटी और वसन्तसेना चारुदत्त के घर की ओर आते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। ये वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए चल रहे हैं। घर के समीप आकर वसन्तसेना को विदूषक मिलता है और वह विट को विदा करती है। इसके पश्चात् वसन्तसेना विदूषक के साथ गृह-वाटिका में प्रवेश करती है। चारुदत्त उसका स्वागत करता है। वसन्तसेना की चेटी विदूषक से कहती है कि मेरी स्वामिनी उस रत्नावली का मूल्य पूछने आई है क्योंकि वह उसे अपनी समझकर जुए में हार गई है। उसके बदले यह स्वर्ण-भाण्ड ले लीजिये। सुवर्ण-भाण्ड देखकर तथा उसकी प्राप्ति की कथा सुनकर सब आश्चर्य-चकित तथा हर्षमग्न हो जाते हैं। कुछ समय पश्चात् वर्षा के कारण चारुदत्त और वसन्तसेना घर में चले जाते हैं।]

पृ० १९०. सोत्कण्ठः—उत्कण्ठया सह (बहुव्रीहि)। उन्नमति—उमड़ रहा है।

१. शिखण्डिभिः—शिखण्डः (मोरपंख) अस्यास्तीति शिखण्डी—मोर; शिखण्डस्तु पिच्छबर्हे—अमरकोश। कलाप-मोरपंख। यियासुभिः—√या + सन् + उ। उन्मनस्कैः—उद्गतं मनः येषां तैः; वर्षा के आरम्भ में उत्कण्ठित हंसों के मानसरोवर की ओर जाने का वर्णन कविसम्प्रदाय सिद्ध है। (मि० मेघ० १.११)। उत्कण्ठितस्य०—मेघ के आगमन पर विरहोत्सुक व्यक्ति का हृदय अनेक भावों से आच्छन्न हो जाता है; मि०—'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।' (मेघ० १,३) ॥१॥

२. मेघो०—इस श्लोक में समान विशेषणों के द्वारा विष्णु के श्याम शरीर से मेघ की समता दिखलाई गई है। १—जलार्द्र०, २—विद्युत०, ३-संहत०-ये तीनों विशेषण दोनों पक्षों में लागू होते हैं (दे० सं० व्याख्या तथा अनुवाद)। जलार्द्र०—इस विशेषण से 'महिषोदर' की घनी कालिमा सूचित की गई है। संहतबलाक०—बलाकाएँ मेघों के साथ पंक्तिबद्ध या समूह रूप में चलती हैं; मि०; आबद्धमालाः··· बलाकाः (मेघ० १.१०) बलाकासमुदाय की समता विष्णु के पाञ्चजन्य' नामक शङ्ख से दिखलाई गई है। केशव-कृष्ण, विष्णु, प्रशस्ताः केशाः सन्त्यस्येति—केश + व (तद्धित) केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ५।२।१०९।।२।।

३. केशावगात्र०—द्वितीय श्लोक में उक्तार्थ ही यहाँ भङ्ग्यन्तर से कहा गया है ।।३४।।

४. एता०—इस पद्य में एक सुन्दर भाव अभिव्यक्त किया गया है—(१) निषिक्त०-पिघली हुई चाँदी के घोल जैसी जलधारायें हैं । (२) विद्युत्०—वे विद्युत् रूपी दीपशिखा से क्षणभर को दिखलाई देकर नष्ट हो जाती हैं; नष्टदृष्टः के स्थान पर दृष्टनष्टाः पाठ अधिक सुन्दर है। (३) अम्बर०, दशा—किसी वस्त्र के छोर पर लटकने वाले धागे, छीरा, झालर, पल्ला (Fringe); ये जलधारायें आकाश रूपी वस्त्र के फटकर गिरते हुये झालरदार पल्ले के समान प्रतीत होती हैं ।।४।।

४. संसक्तैः०—इस पद्य में विविध आकृतियों वाले मेघों से चित्रित आकाश का स्वाभाविक वर्णन किया गया है । आकृतिविस्तरैः—यह 'अनुगतैः' का करण (कारक) है, आकृतिविस्तरैः अनुगताः तैः-(आकार के विस्तार से युक्त) मेघों द्वारा पत्रच्छेद्यम्—अलङ्कृत आलेख्य द्वारा चित्रित; पत्रखण्डों द्वारा चन्दल के लेपन इत्यादि से शरीर के अङ्गों (मुखादि) पर जो चित्रण किया जाता है वह पत्रच्छेद्य कहलाता है ।।५।।

६. धृतराष्ट्रवक्त्र—के स्थान पर धृतराष्ट्रचक्र (धृतराष्ट्र का राज्यचक्र) पाठ उपयुक्त है; क्योंकि इस श्लोक में वर्णित समानतायें धृतराष्ट्र के राज्य में ही मिलती हैं, मुख में नहीं । वा (=इव)—समान; 'इववत् वायथाशब्दौ दण्डी । अध्वानम्—(१) वनमार्ग (२) ध्वनिशून्यता मौन । वनात्—(१) वन से, (२) जल से; वने सलिलकानने—अमरकोश । अज्ञात-चर्या—(१) विराट के राज्य में अज्ञातवास को (२) जनसाधारण से अज्ञात मानसरोवर पर विचरण (चर्या) को ।।६।।

पृ० १९४. एवमेव—अर्थात् एक बार भी इन्कार न करके । मल्लक—एक पात्र का नाम ।

पृ० ९६. लेष्टुका—कंकरी, अल्पः लेष्टुः लेष्टुका । कायस्थः एक जाति विशेष जो मध्यकाल में कर-संग्रह तथा लेखा-जोखा का कार्य करती थी, विल्सन का कथन है कि छीना-झपटी की प्रवृत्ति के कारण उसके प्रति जनता की ऐसी धारणा बन गई थी (दे. काले नोट्स पृ० ९७)। चाटः—वञ्चक । रासभः—गधा; क्योंकि यह खेती को खा जाता है तथा दरिद्रता का चिह्न माना है । न जायन्ते—

इसका भावार्थ विवादास्पद है । किन्हीं (L. D.) के अनुसार दुष्टाः=दोषाः, न जायन्ते अपि तु जायन्ते एव अर्थात् दोष उत्पन्न हो जाते हैं । M. R. काले के अनुसार जायन्ते--ie. these do not allow a person to prosper. तथा न जायन्ते वृद्धि गच्छन्ति । उक्त्वा अलम्—मत कहो, 'अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा । ३ ।४ ।।१८।। वच्+क्त्वा ।

८. वेगम्० । प्राण--शक्ति; 'शक्तिः पराक्रमः प्राणः'—अमरकोश । पुनर्विशन्ति—उठकर हृदय में ही विलीन हो जाते हैं—उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः ।।१८।।

कामो वामः—यह एक लोकोक्ति है; भाव यह है कि काम उल्टा होता है अर्थात् ज्यों ही इसे रोकते हैं त्यों ही अधिक बढ़ता है । अवेत—जानो ।

१०-११. तिम्यति—भीगता हैं । सुशब्दम्—यह 'वंशं का विशेषण है अथवा वादयामि का क्रिया-विशेषण है । तुम्बुरु—एक गन्धर्व, जो संगीत में श्रेष्ठ माना गया हैं । नारद—देवमुनि, ब्रह्मा के पुत्र जो वीणा वादन में श्रेष्ठ हैं ।।११।।

प्राकारवेष्टित०—जैसे फल प्राप्त करने के लिये लोग दीवार से घिरे हुए कैथ (पेड़) पर कंकरी मारते हैं । पृ० २००. दुर्दिनेऽन्धकारे—मेघाच्छन्न दिन के अवसर पर अन्धकार में; इससे अन्धकार की गहनता प्रतीत होती है । इन्द्रमह०—इन्द्रमहे कामुकः (=बलिं ग्रहीतुमिच्छुकः) काकः इत्यर्थः (काले) इन्द्रमख-कामुकः—यह पाठान्तर है ।

पृ० २०२. रथ्या—इसका प्रसिद्ध अर्थ 'गली' है; किन्तु यहां 'समृद्ध ग्रामों की रक्षा गली करती है'—इस कथन में 'समृद्ध' विशेषण की सार्थकता नहीं, रहती अतः यहाँ रथ्या=रथों का समूह अर्थात् सैनिक रथों का समूह (A number of carriages or chariots); अग्रिम उत्तर 'वयस्य, सेना' में भी इसी तात्पर्य को स्पष्टतः कहा गया है ।

पृ० २०४. अभिसारिका—काम के वश में होकर प्रिय के पास जाने वाली स्त्री (दे० सं० व्याख्या) ।

१२. अपद्मा—अर्थात् कमल से न उत्पन्न होने वाली । प्रहरणम्—अस्त्र; मि० मदनस्य जैत्रमस्त्रम्-(माल० २, ६) कुसुमं-क्योंकि वह तरुणों को इसी प्रकार अपनी ओर खींचती थी जैसे पुष्प भ्रमरों को । व्याख्याकारों ने इस पद्य का अर्थ अनेक प्रकार से किया है । किन्हीं के अनुसार सलीलं गच्छन्ती यह पृथक् विशेषण है जिसका अर्थ है चारुदत्त के घर लीलापूर्वक जाती हुई; किन्तु क्या वर्षाकाल में लीलापूर्वक गमन सम्भव है ? अतः इस पद्य का अर्थ विवादास्पद ही है ।।१२।।

पृ० २०६. १३ नियुक्त०—विरहिणी का हृदय अन्धकारमय होता है; क्योंकि उसमें प्रसन्नता नहीं रहती; कवि-सम्प्रदाय में प्रसन्नता का धवल रंग माना जाता है । मणिमयैः—मोर के पंखों में अनेक चमकीले रंग होते हैं, अतः उनमें मणिमय व्यजनों (=पंखों) की सम्भावना की गई है ।।१३।।

१४. बर्हिणः—एक मोर; 'वर्हिन्' शब्द से भिन्न 'बर्हिण' शब्द भी मयूर का वाचक है—मयूरो बर्हिणो वर्हीं नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्। सिखावलः शिखी केकी मेघानुलास्यपि–अमरकोश। संतिष्ठते–सम्+√स्था+लट् प्र० ए०। समवप्रविभ्यःस्थः १.३.२२ के अनुसार आत्मनेपद है ॥१४॥

१५. मूढे०—इस श्लोक में वसन्तसेना रात्री का सपत्नी के रूप में वर्णन करती है। निरन्तर०—इस विशेषण का रात्रि तथा वसन्तसेना दोनों के साथ सम्बन्ध है। (१) साथ-साथ मिले हुए हैं मेघ जिसमें ऐसी रात्रि (२) निरन्तर हैं स्तन जिसके (अर्थात् ऐसे पीन स्तन जो परस्पर मिले हैं) ऐसी वसन्तसेना ॥१५॥

पृ० २०८. स्त्रीस्वभाव०—स्त्री स्वभाव के अनुसार दुराग्रह वाली, दुर्विदग्धा =बुरी तरह चतुर, अतः अपनी बात को न छोडने वाली दुराग्रह वाली।

१६. अशनिम०—वज्र गिरायें, बिजली चमकायें ॥१६॥

१७. पवन०—यहाँ प्रथम तथा द्वितीय चरण में कहे गये विशेषण तथा 'करसमूह' का नृप एवं मेघ दोनों के साथ सम्बन्ध है (दे० सं० व्याख्या तथा अनुवाद) ॥ ७॥

१८. एतैरेव०। आध्मात—फूला हुआ या शब्द करता हुआ। शब्दायमान)। शबल—चित्रित। शल्य—वाण का अग्रभाग। प्रावृट्—वर्षा, वगुलों का शब्द 'प्रावृट्-प्रावृट्' के समान प्रतीत होता है। क्षारं क्षते०—यह लोकोक्ति है, मि०, घाव पर नमक छिड़कना ॥१८॥

पृ० २१०, १९. इस श्लोक में आकाश की मतवाले हाथी से ससानता दिखल.ई गई है। वलाका० और विद्युत्० आदि विशेषणों का दोनों के साथ सम्बन्ध है (सं० व्याख्या, अनु०) ॥१९॥

२०. एतैं०। आपीत–भली भाँति पी लिया है, ढक लिया है। सीदन्ति (१) डूब जाते हैं (२) गजपक्ष में–कष्ट अनुभव करते हैं ॥२०॥

२१. एते०। गुण—रस्सी। कक्ष (१) मध्य भाग (२) भुजमूल (वगल)। अन्योन्यमभिद्रवन्तः—एक दूसरे की ओर दौड़ते हुए; एक दूसरे के अभिमुख होते हुए; एक दूसरे को धक्का, देते हुए। रूप्यरज्ज्वा—वर्षा की उज्ज्वल धारा में चाँदी की रस्सी की उत्प्रेक्षा की गई है ॥२१॥

आध्मात—गर्जना (शब्द) करते हुए या फूले हुए। √ध्मा (शब्दाग्निसंयोगयोः)+क्त। गन्धोद्दामा—(१) उत्कट गन्धवाली (२) मद (गर्व=गन्ध) से उत्कट ॥२२॥

पृ० २१२. २४. इस श्लोक में—'जगत् जलधारा रूपी भवन में सो रहा है' —यह उत्प्रेक्षा की गई है। षण्ढ—समूह। क्षपा—रात्रि क्षपयति चेष्टामिति ॥२४॥

२५. त्रिदश—देव, तृतीया यौवनाख्या दशा येषां ते। शिखिन्—अग्नि; 'शिखिनौ वह्निबर्हिणौ'–अमरकोश। ककुभः—दिशायें; (ककुभ् भकारान्त स्त्री०) ॥२५॥

२६. उन्मति०—वर्षा में मेघ प्रथमतः सम्पत्ति प्राप्त करने वाले पुरुष के समान अनेक रूप धारण करता है:—उन्नमति—(१) उमड़ता है, (२) ऊँचा उठकर चलता है, अभिमान प्रकट करता है। नमति—(१) नीचे झुकता है, (२) तुच्छ वस्तुओं की ओर झुकता है या नम्रता से कार्य करता है। वर्षति—(१) वर्षा करता है, (२) मुक्तहस्त से दान करता है। गर्जति—(१) गरजता है, (२) गर्व के साथ बोलता है। तिमिरोध—(१) अन्धकार समुदाय, (२) कलुषित कर्मसमुदाय ॥२६॥

पृ० २१४, २७. संविहसति—इव—बलाका का रंग श्वेत होता है तथा कविसम्प्रदाय के अनुसार हास का रंग भी श्वेत है, अतएव यह उत्प्रेक्षा की गई है। विवल्गति—विशेष गति करता है, उछलता है या पैंतरा बदलता है। रसति—गरजता है ॥२७॥

८. निर्लज्जः—क्योंकि मुझे डराता है तथा साथ ही अपने हाथों से मेरा स्पर्श करता है ॥२८॥

प्रियकाङ्क्षितायाः—M. R. काले के अनुसार 'प्रियः काङ्क्षितो यस्याः' यह विग्रह अधिक संगत है 'प्रियेण काङ्क्षितायाः' नहीं, क्योंकि वास्तविकता यही है ॥२९॥

पृ० ३०. तद्वन्ममापि—जैसे तुम अहल्या की अभिलासा से पीड़ित हुए थे, उसी प्रकार मेरी वेदना का भी अनुभव करो, यह भाव है ॥३०॥

पृ० २१६, ३३. ऐरावतः—इ । = जल → इरावत् = सागर, इरावति भवः एरावतः इरावत् + अण् । आखण्डल—इन्द्र, आखण्डयति पर्वतान् इति ॥३३॥

स्नेहः प्रलापयति—मि०, तथापि भवदगुणसन्तोषो मामेव मुखरीकृतवान् (कादम्बरी, काले नोट्स पृ० १०७)।

पृ० २१८, ३५. कदम्ब और नीप दोनों पर्याय हैं, अतः यहाँ 'कदम्ब' शब्द इस नाम के पुष्प के लिये 'नीप' शब्द इस नाम के वृक्ष के लिये आया है, यह संगत प्रतीत होता है। अथवा यहाँ 'नीप' शब्द 'बन्धूक' के लिए आया है (काले) ॥३५॥

छत्रधारिक०—छत्रधारिका सहित विट को विदा करने की यह चातुर्यपूर्ण रीति है।

३६. आटोप—गर्व, दम्भ। कूट—किसी को छलने की गुप्त योजना। वेश्यापणस्य—वेश्यारूपः आपणः तस्य (वेश्यारूपी बाजार का) (काले) अथवा वेश्यायाः पणः तस्य, (वेश्या से प्रेम-व्यवहार का)। दाक्षिण्यपण्यसुख०—यह पाठान्तर है, पण्यरूपं सुखं पण्यसुखं, दाक्षिण्येन यत्पण्यसुखं तस्य निष्क्रयः मूल्यं तस्य सिद्धिः अथवा दाक्षिण्यं परचित्तानुरञ्जनमेव यत्पण्यं विक्रेयवस्तु तस्य सुखेन अनायासेन निष्क्रयसिद्धिः मूल्यप्राप्तिः अस्तु ॥३६॥

पृ० २२०, ३८. कदम्बेन—कदम्ब पुष्प ने। अभिषिक्त—अभि √ षिच् + क्त। जल से अभिषेक होना मात्र ही यहाँ स्तन तथा युवराज की समानता है ॥३८॥

पृ० २२२. शुश्रूषयिष्यामि—इस प्रेरणार्थ (णिजन्त) क्रिया का शुश्रूषिष्ये (=सेवा करूँगी) के अर्थ में प्रयोग किया है। अपवारितकेन=अपवार्य। ऋजुकः—सीधा, क्योंकि प्रेम के प्रभाव को न जानकर ऐसा प्रश्न करता है।

पृ० २२४. एवमिव—ऐसी बात है, अर्थात् क्या आप लोगों ने हमारा उपहास करने के लिये चोर को भेजा था। चेटी एवमिव—ऐसा था। अर्थात् वह मदनिका और शर्विलक के प्रेम की घटना सुना देती है। ४०. आदित एव—इसका सम्बन्ध 'विफलीभवन्ति' के साथ है; अर्थात् वह अपने क्रोध और प्रसाद को प्रकट करने के लिये कुछ करने में पहले से ही असमर्थ होता है। कुछ व्याख्याकारों के अनुसार 'आदितः=जन्मतः एव जीवितेन' इस प्रकार अन्वय किया है ॥४०॥

पृ० २२६, ४१. दृष्टपूर्व०—यह एक विचित्र-सा समान है (सं० व्याख्या; यहाँ 'विस्मृत' शब्द का अर्थ है—विस्मरणयुक्त (अपने विद्यमान रूप को भूले हुए); विस्मृतं (=विस्मरणम) अस्ति एषामिति विस्मृत+अच् (अर्श आदि)। रत्नावल्या इमं जनम्०—इस रत्नावली को देकर मेरी जाँच करना उचित नहीं; मैं आपसे धन लेने की कामना नहीं करती।

पृ० २२८, ४६. एतैः०—यहाँ समासोक्ति है। विद्युत् में नायिका के व्यापारों का आरोप किया गया है तथा उसके आकाश (नायक) का आलिङ्गन करने का वर्णन किया गया है। 'आलिप्तं' और 'उपवीजितं' शब्दों से प्रकट होता है कि नायक (आकाश) काम-ज्वर से पीड़ित है। समालिङ्गति—इसी प्रकार वसन्तसेना भी आलिङ्गन करे यह ध्वनित होता है।

पृ० २३०, ४७. रोमाञ्चित०—रोमाञ्चाः संजाता अस्येति रोमाञ्चितं; रोमाञ्च=इतच्। कदम्ब०—स्पर्शसुख से रोमाञ्चित शरीर की प्रायेण पुष्पित कदम्ब से समता दिखाई जाती है, मि०—त्वत्संपर्कात् पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः। मेघ० १·२५ तथा उत्तरराम० ३·४२ ॥४७॥

पृ० ४८, ४९. शतह्लदा—विद्युत्। अस्मद्विध०—हम जैसों (निर्धनों) के लिये दुर्लभ। परिष्वक्तः√ष्वञ्ज+क्त॥ कामिनी—भूयान् कामो यस्याः सा कामिनी तासां, काम+इन्+ई। परिष्वजन्ति—यह धातु आत्मनेपदी है, पदविधायक नियमों के अनित्य होने के कारण यहाँ परस्मैपद हो गया है ॥४९॥

५०. स्तम्भेषु—इसका 'धार्यते' के साथ अन्वय है। प्रचलित०—हिलते हुए वेदि—खम्भे की आधारभूत चबूतरी-सी, सञ्चय—समूह, अन्त—छोर ॥५०॥

पृ० २३२, ५१. विद्युत्०—यहाँ आकाश का जम्भाई लेते हुए मनुष्य के रूप में वर्णन किया गया है। जम्भाई लेता हुआ व्यक्ति प्रायः जीभ चमकाता है, भुजा उठा (फैला) लेता है और ठोडी आगे कर लेता है। विद्युत् ही अन्तरिक्ष की जिह्वा है, इन्द्रधनुष भुजा है, मेघ ठोडी है ॥५१॥

५२. तालीषु—जैसे वीणा ताल के अनुसार ऊँचे-नीचे आदि स्वरों से बजती है इसी प्रकार वर्षा की धारायें गिर रही हैं ॥५२॥

षष्ठ अङ्क

['प्रवहणविपर्यय' नामक यह षष्ठ अङ्क कथा के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें वसन्तसेना के शकार की गाड़ी में चढ़ जाने तथा आर्यक के चारुदत्त की गाड़ी में चढ़ जाने का वर्णन है। प्रथम दृश्य में—चेटी वसन्तसेना से कहती है कि चारुदत्त पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में गये हैं और आपको भी गाड़ी द्वारा वहीं जाना है। इसके पश्चात् वसन्तसेना 'रत्नावली' को धूता के पास भेजती है किन्तु वह इसे स्वीकार नहीं करती। द्वितीय दृश्य में रदनिका रोहसेन को खेलने के लिये मिट्टी की गाड़ी देती है, किन्तु वह सोने की गाड़ी माँगता है और रोता है। इस पर वसन्तसेना सोने की गाड़ी बनवाने के लिये अपने आभूषणों से रोहसेन की गाड़ी को भर देती है। तृतीय दृश्य में—चारुदत्त का सेवक वर्धमानक वसन्तसेना को ले जाने के लिये गाड़ी लेकर आता है किन्तु फिर विछावन लेने के लिये गाड़ी सहित लौट जाता है। इसी बीच में शकार का सेवक गाड़ी लेकर आता है और ग्राम की गाड़ियों से राज-मार्ग के रुके होने के कारण चारुदत्त की वाटिका के द्वार पर गाड़ी खड़ी करके दूसरी गाड़ी के पहिये को निकलवाने चला जाता है। इसी समय वसन्तसेना द्वार पर खड़ी हुई शकार की गाड़ी को चारुदत्त की गाड़ी समझकर उसी में बैठ जाती है। शकार का सेवक (स्थावरक) आता है और गाड़ी लेकर पुष्पकरण्डक उद्यान की ओर चलता है। उधर वर्धमानक भी लौटकर चारुदत्त की वाटिका के द्वार पर गाड़ी रोक देता है। बन्धन को तोड़कर भागा हुआ आर्यक अपनी रक्षा के लिये उस गाड़ी में पीछे की ओर से चढ़ जाता है। वर्धमानक समझता है कि वसन्तसेना गाड़ी में चढ़ गई और पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान की ओर गाड़ी को ले जाता है। चतुर्थ दृश्य में—वीरक और चन्दनक दो राजपुरुष वर्धमानक की गाड़ी को रोकते हैं। चन्दनक गाड़ी में आर्यक को देखता है किन्तु वीरक से कहता है कि इसमें वसन्तसेना है। वीरक को सन्देह होता है तब दोनों लड़ते हैं और चन्दनक के संकेत से वर्धमानक गाड़ी को ले जाता है। इस अङ्क की घटनाओं का कथा के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। साथ ही इन घटनाओं के द्वारा कौतूहल की वृद्धि होती है।']

पृ० २३४. **पुष्पकरण्डक**—एक उद्यान का नाम जिसका अर्थ है—पुष्पों की डलिया। **रात्रौ**—रात में अर्थात् दिन निकलने से पहले।

पृ० २३६. **अपि संतप्यते०**—चारुदत्त ने एक गणिका को घर में प्रवेश दे दिया है क्या इससे चारुदत्त के सेवकगण खिन्न हैं? **ममाभरणविशेषः**—यहाँ वह भावना व्यक्त की गई है जिसके अनुसार पति ही पत्नी का अलङ्कार है। **तद्यावद्विनोदयामि-एनम्**—इससे पूर्व (स्वागतम्) यह पाठ होना चाहिये।

पृ० २३८. **प्रतिवेशि०**—प्रतिवेश-पड़ौस, प्रतिवेशः अस्यास्तीति प्रतिवेशी (प्रतिवेश + इन्) से एवं प्रतिवेशिकः। **जात**—वत्स, पुत्र।

पृ० २४०. **यानास्तरणम्**—गाड़ी का बिछावन। **नासिकारज्जुकटुकौ**—नाथ के कड़ुवे, भाव यह है कि यदि उन्हें अकेला छोड़ दिया जायेगा तो अनियन्त्रित होकर गाड़ी को कहीं के कहीं ले जायेंगे।

पृ० २४२. **कथमेषोऽपर:०**—इस कथन के द्वारा 'आर्यक' के छिपते हुए भागने की सूचना दी गई है। **विश्राम्य**—विश्राम करो, वि√श्रम् (दिवादि)+लोट् म० एक०।

पृ० २४४. **गुल्मस्थानेषु**—रक्षण स्थान चौकी, गुल्म-सेना की टुकड़ी, उसका स्थान। **अपटीक्षेपेण**—घबराये हुए आर्यक का बिना पर्दा गिराये ही प्रवेश कराना नाट्यविधि के अनुकूल है—पटीक्षेपो न कर्तव्यः आर्त्तराजप्रवेशने'—साहित्यदर्पण।

१. **बन्धनापदेशव्यापत्ति**—बन्धन के रूप में मृत्यु। **निगड**—बेड़ी ॥१॥

विशसने—मार देने वाले, वि√शस्+ल्युट् (कर्तरि), गूढागारे का विशेषण, यद्यपि कुछ व्याख्याकार यहाँ निमित्त में सप्तमी मानते हैं किन्तु यहाँ 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इत्यादि के समान कर्मयोग नहीं है (काले)।

पृ० २४६. २. **दैवी**—भाग्य से प्राप्त या दैव की। **गम्य**-जाने योग्य (Approachable) अर्थात् सेवनीय ॥२॥

४. **भवेद्गोष्ठी०**—रिक्त प्रवहण को देखकर आर्यक अनेक प्रकार की कल्पनायें करता है। **गोष्ठी**—एक छोटी सभा, मनोरञ्जन के लिये एकत्रित लघुसमुदाय; गोष्ठ्याः यानं गोष्ठीयानम्, समज्या परिषद्गोष्ठी सभासमितिसंसदः' अमरकोश। **विषमशील०**—विपरीत स्वभाव वाले जो किसी पीडित से सहानुभूति नहीं रखते ॥४॥

पृ० २४८. **बहिर्यानम्**—बाहर जाने वाली, बहिः यानं गमनम् अस्य। **नूपुरशब्दः**—आर्यक की बेड़ी की ध्वनि में वर्धमानक को नूपुरध्वनि का भ्रम हो जाता है।

पृ० २५०. ५, **विश्रब्धाः**—निश्चिन्त। **भित्वा**—(१) तोड़कर, (२) हृदय को विदीर्ण करके ॥५॥

प्रतोली—ग्राम के मध्य मार्ग, गली—'रथ्या प्रतोली विशिखा स्यात्—अमर०।

७-१० **विश्वस्ताः**—विश्वासपात्र। **लघु**—शीघ्र। **कस्याष्टमः**—भाव यह है कि किस की मृत्यु निकट आ रही है। व्याख्याकारों ने ज्योतिष शास्त्र के अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं (जैसे पृथ्वीधर ने वराहमिहिर की बृहत्संहिता अ० १०४ के कतिपय श्लोक) इसमें भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थित ग्रहों के फलाफल का कथन है। इनका प्रासङ्गिक संक्षिप्त उल्लेख सं० व्याख्या में दिया गया है। **जीवति चन्दनके०**—चन्दनक के जीवित रहते आर्यक को कोई नहीं ले जा सकता, यह भाव है।

पृ० २५२. चन्दनक—**आर्यचारुदत्तस्य**—इससे चन्दनक का चारुदत्त के प्रति उत्कृष्ट आदरभाव प्रकट होता है।

पृ० २५४, १३-१४. **आपन्न**—जहाँ आपतिग्रस्तों के दुःख समाप्त हो जाते हैं, आपन्नानां दुःखस्य मोक्षः यत्र तम्। **तिलकभूतौ**—तिलक के समान, ऐसे स्थानों पर

भूतं' शब्द का अर्थ सदृश होता है —'भूत प्राण्यतीते समे त्रिषु'—अमर० ॥१४॥

१६. एककार्य—(१) एक-रक्षाकार्य में (२) अग्निपक्ष में—एक दहन कार्य में ॥१६॥

पृ० २५६. तन्त्रिलः—'तन्त्र' शब्द का अर्थ है—शासन, सूत्र, प्रधान या सिद्धान्त; 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छदे'—अमर० । प्रशस्तं तन्त्रम् अस्यास्तीति; तन्त्र + इलच् । विशिष्ट सिद्धान्त वाला, शासनकार्य का विशेष ध्यान रखने वाला यह व्यङ्ग्य है ।

भीमस्य—भीम अपनी भुजाओं से ही हथियार का काम लेता था । सहजं मे प्रहरणं भुजौ (भास, पञ्चरात्र २।५५) । व्यायच्छतः—वि + आ + √यम् + शतृ ष० एक० ॥१७॥

पृ० २५८. पत्ररथः—पक्षी, पत्रम् एव रथो यस्य । दृष्ट आर्यः—चन्दनक जल्दी में 'आर्यक को देख लिया'—यह कहने वाला था; किन्तु फिर सावधान हो गया ।

म्लेच्छजातीनां—असंस्कृत भाषा बोलने वाली जातियाँ म्लेच्छ जाति कही गई हैं । खष (खश) इत्यादि में मलेच्छ भाषाओं का उल्लेख किया गया है, मि०—म्लेच्छो वा एष यदपशब्दः······म्लेच्छाश्च मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् । (महाभाष्य)

पृ० २६०. कर्णाटककलह—कर्णाटक प्रदेश का कलह, सन्दर्भ से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय कर्णाटक प्रदेश में प्रयोजनवशात् कलह आरम्भ कर दिया जाता था अतः इसका भाव है कृत्रिम कलह ।

२१, २२. शीलविभवेन—शीलस्य विभवेन सम्पत्त्या शीलसम्पन्नता के कारण कपित्थेन भग्नेन—कैथ के तोड़ने से क्या लाभ ? केवल भद्दे स्वाद का गूदा निकलता है यह भाव है । कूर्चग्रन्थि—दाढ़ी की गाँठ, एकत्रित की हुई दाढ़ी । इन विशेषणों से नापित जाति प्रकट होती है ॥२२॥

पृ० २६२. २३. विशुद्धा—यह व्यंगपूर्ण कथन है । भेरी—एक बड़ा ढोल; इनके कथन से ढोल आदि को मढने वाली चर्मकार जाति प्रकट होती है ॥२३॥

चतुरङ्ग—चारों अङ्ग—(दो हाथ दो पैर) । कल्पयामि—कटवाता हूँ; 'कर्तयामि' यह पाठान्तर है । शुनक—कुत्ता ।

पृ० २६४. २४–२५. स्पन्दते दक्षिणो भुजः—पुरुषों के दक्षिण अङ्ग का फड़कना शुभसूचक समझा जाता है । विज्ञप्ता—सूचित की गई या मुझसे परिचित हुई । प्रत्ययिता—(१) जिसे मैंने रक्षा का विश्वास दिलाया है । (२) जिसके विषय में सिद्धवचन सत्य हो गया है । प्रत्ययः संजातोऽस्याः सा । न लुब्धः—यह मैं किसी लोभ में नहीं कह रहा हूँ । आढ्य—समृद्ध, युक्त । शुम्भनिशुम्भौ हत्वा—शुम्भ और निशुम्भ नामक दो दैत्य थे । उन्होंने शिव को प्रसन्न करके यह वरदान प्राप्त किया था कि उनकी सम्पत्ति और शक्ति देवों से भी बढ़कर होगी । फलस्वरूप उन्होंने

देवों के साथ युद्ध करना और लोक को पीड़ित करना आरम्भ कर दिया। तब ब्रह्मा, विष्णु और महेश की सम्मति से देवता लोग दुर्गा के पास गये दुर्गा ने शुम्भ निशुम्भ को मार दिया (मार्कण्डेय पुराण, चण्डी पाठ) ॥२७॥

निष्क्रमतः—इसके स्थान पर निष्क्रामतः पाठ शुद्ध है।

सप्तम अङ्क

['आर्यकापहरण' नामक सप्तम अङ्क में केवल 'आर्यक' के अपहरण की घटना का वर्णन किया गया है। चारुदत्त और विदूषक गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। गाड़ी आती है और विदूषक पर्दा उठाकर देखता है। उसमें पुरुष को देखकर विदूषक चिल्लाता है। फिर चारुदत्त स्वयं देखता है। आर्यक चारुदत्त से शरण माँगता है। चारुदत्त उसकी बेड़ी को कटवाकर कुएँ में डलवा देता है और उसे विदा करता है। वे दोनों भी घर की ओर चले जाते हैं।

पृ० २६६. १. **वणिज इव**—यहाँ उपवन को पण्यवीथिका के समान दिखलाया गया है ॥१॥

संस्कारेण रमणीयं संस्काररमणीयं, न संस्काररमणीयम् **असंस्काररमणीयम्**- संस्कार के बिना भी रमणीय।

२. **अन्तरं**—मार्ग, अवकाश। **अक्ष**—धुरा या पहिया। **प्रग्रहः**—पगहा, बैलों को बाँधने का रस्सा। **कर्मान्त०**—(राजमार्ग की मरम्मत आदि) कर्म से अन्त में छोड़े गये काष्ठों से रुक गई है गति जिसकी। **वर्त्मान्त**=मार्ग के मध्य में ॥२॥

पृ० २६८. ३. **सावशेषापसारः**—सावशेष अर्थात् अपूर्ण है अपसार (बच भागना) जिसका। **अविदितं** यथा स्यात्तथा (क्रियावि०)। **परभृतः**—कोकिल, परैः भृतः पुष्टः इति; प्रसिद्ध है कि कोयल अपने बच्चों को कौवों के घोंसले में रख देती हैं और कौवे उनका पोषण करते हैं ॥३॥

४. **अस्मात्**—यदि इसे 'व्यसनार्णव' का विशेषण माना जाता है तो यह समास के अन्तर्गत होना चाहिये; अतः यह पाठ उचित न होगा। इसलिये 'अस्मात्' का अर्थ यह किया जा सकता है—मेरे ऐसा करने से अथवा इस शरणागतवात्सल्य के कारण वह सज्जन --(साधुः सः अस्मात्)। 'स तावदस्माद् व्यसनात् नवोत्थितं' यह पाठान्तर है जो अधिक संगत है ॥४॥

पृ० २७०, ५. **करिकर०**, इत्यादि विशेषणों से प्रकट होता है कि उसका शरीर नृपोचित है। **ताम्र०**—इससे शूरता का भाव प्रकट होता है। **असमानम्**—अयोग्य ॥५॥

स्नेहमयानि—भाव यह है कि आपने फौलादी बेड़ी से भी कठोर प्रेम की श्रृङ्खलाओं से बाँध लिया है। **संगच्छस्व०** इसका अर्थ विवादास्पद है। इसका शाब्दिक अर्थ है—'निगड से मिल जाओ', अर्थात् मैत्रेय चारुदत्त से कहता है—(१) इन प्रेम की श्रृङ्खलाओं को स्वीकार करो। (२) इन बेड़ियों को साथ ले लो। **धिक्शान्तम्**- चारुदत्त को यह अच्छा नहीं लगता कि आर्यक को यों ही छोड़कर चल दिया जाये।

पृ० २७२—स्वयंग्राहप्रणयेन—स्वयं ग्राहे ग्रहणे प्रणयः उदारता पक्षपातो वा तेन, अर्थात् गाड़ी स्वयं ग्रहण करने के स्नेह से। अथवा स्वयं ग्राहे प्रणयो यस्य सः; अर्थात् स्वयं ग्रहण में रुचि रखने वाला (भवता का विशेषण)। 'यदुद्यते' के स्थान पर 'यत्नोद्यते' पाठान्तर है। चारदृष्ट्या-मि०—चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्म्यामितरे जनाः। आभ्युदयिकम्—अभ्युदयः प्रयोजनमस्य, अभ्युदय+ठञ्। श्रमणक—श्रमणक का दर्शन अशुभ माना जाता है।

अष्टम अङ्क

['वसन्तसेनामोटन' नामक यह अष्टम अङ्क है। इसमें शकार का वसन्तसेना को मारने का प्रयत्न वर्णित है। प्रथम दृश्य में भिक्षुक पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में आता है। शकार उसे पीटने का प्रयत्न करता है; किन्तु विट उसे बचा देता है। द्वितीय दृश्य में—स्थावरक गाड़ी लेकर आता है, शकार गाड़ी में वसन्तसेना को देखता है और विट से कहता है कि गाड़ी में तो राक्षसी है। विट गाड़ी में वसन्तसेना को देखता है। जब शकार को पैदल घर चलने को कहता है; किन्तु शकार नहीं मानता। जब शकार जान जाता है कि गाड़ी में वसन्तसेना है तब वह वसन्तसेना को फुसलाता है। जब वसन्तसेना क्रोधपूर्वक उत्तर देती है तो वह क्रमशः विट और चेट से वसन्तसेना को मारने के लिये कहता है। वे ऐसा करने को तैयार नहीं होते तब शकार उन दोनों को वहाँ से पृथक् कर देता है और वसन्तसेना का गला दबा देता है। वसन्तसेना मूर्छित हो जाती है। तृतीय दृश्य में—विट और चेट आते हैं। शकार विट को वसन्तसेना का मूर्च्छित शरीर दिखलाता है और विट दुःखी होकर चला जाता है। शकार चेट को घर भेज देता है तथा मूर्च्छित वसन्तसेना को सूखे पत्तों से ढककर न्यायालय की ओर जाता है। चतुर्थ दृश्य में—भिक्षु अपने गीले कपड़े फैलाने के लिये स्थान खोजता है। सूखे पत्तों में वसन्तसेना का हाथ दिखलाई देता है। भिक्षु पत्ते हटाता है और वसन्तसेना को पहचान कर उसे सहारा देकर उठाता है तथा विहार की ओर ले जाता है।]

पृ० २७६. चीवर—भिक्षुक का वस्त्र। १. विषमाः—उनका निग्रह करना कठिन है।

अनित्यतया—'सर्वमनित्यम्' 'सर्वं क्षणिकम्' इस दृष्टि से देखकर।

२०—पञ्चजनाः—पाँच व्यक्ति अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ। 'अविद्या' के स्थान पर 'स्त्रियम्' पाठान्तर है, उसका तात्पर्य भी 'अविद्या' ही है। ग्राम—चेतनाविशिष्ट शरीर। 'अबलः क्व' के स्थान पर 'अबलश्च पाठ उचित है॥२॥

पृ० २७८. अपवाहयति—आप्टे कोश के अनुसार इसका अर्थ 'जुआ खिंचवाना'— 'to cause to carry the yoke' है; किन्तु यहाँ 'बाहर निकालना' ही उचित प्रतीत होता है। काषाय—कषायेण रक्तं काषायम्, 'तेन रक्तं रागात् ४।२।१' इत्यण्। सुखोपगम्यं—सुख से सेवन करने योग्य, इससे प्रकट होता है कि (१) वह उद्यान अत्यन्त रमणीय था। (२) कोई भी व्यक्ति बिना किसी बाधा के उसमें विचरण कर सकता था।

अगुप्तम्—(१) सबके लिये खुला हुआ (उद्यान), (२) असंयत (हृदय)। **अनिर्जितोपभोग्यं**—(१) राज्यपक्ष में–विजेता के द्वारा अधिकृत न किया गया तथा सबके उपभोग के योग्य अर्थात् राजभक्ति की भावना उत्पन्न करने के लिये प्रजा के उपभोगार्थ छोड़ा गया—अनिर्जितं च तदुपभोग्यं च। (२) विना किसी बाधा के उपभोग करने योग्य—अनिर्जितं बाधारहितं यथा स्यात्तथा उपभोग्यम् ॥४॥

उपासकः—बुद्ध की पूजा करने वाला।

पृ० २८०. **कोष्ठक**—ईंटों से बना पशुओं के पानी पीने का स्थान (चर) या अन्न का कोठा। **कुलित्थ**—अन्नविशेष, मूंग। **शबलानि**—विविध रङ्ग के। एकः प्रहारोऽस्त्यस्येति—एकप्रहार+ठन्।

५. **केशविरहात्**—यद्यपि इसके केश नहीं है तथापि धूप से इसके ललाट का रङ्ग काला नहीं पड़ा, इससे प्रतीत होता है कि यह कुछ समय पूर्व ही भिक्षुक बना है। **दूरं०**—भाव यह है कि पुराने भिक्षुक इस प्रकार शरीर को ढकते हैं कि उनके शरीर का मध्य भाग खुला रहता है, किन्तु इसने शरीर के मध्यभाग को पूर्णतया ढक रखा है। **पटोच्छ्रयात्०**—अभी भिक्षुक के चीवर को भली भाँति धारण करना नहीं सीखा है अतः कन्धे पर अधिक वस्त्राञ्चल है जो शिथिल और ठहरता नहीं ॥५॥

पृ० २८६, १०, **कुपितवानर०**—कुपित वानर के मुख के समान लाल—यह भाव है। **गान्धारी**—गन्धाराणां जनपदानां राजा गान्धारः तस्य अपत्यं स्त्री गान्धारी, दुर्योधन इत्यादि कौरवों की माता ॥१०॥

पृ० २८८, १३. **गन्धयुक्ति**—गन्धों का योग, शकार का भाव यह है कि गन्ध का सेवन करने से 'गन्धर्व' बन जाना ही चाहिये।

विसंष्ठुलं—असम्बद्ध, अस्थिर, विपरीत।

पृ० २९०. **घुरघुरायमाणं**—घुरघुरा इति अव्यक्तं शब्दं करोति–घुरघुरायते, 'घुरघुराय' इस नाम धातु से शानच् प्रत्यय होकर द्वितीया एक० में घुरघुरायमाणम्।

अहमात्मीय०—मैं अपना न रहूँगा अर्थात् मैं नष्ट हो जाऊँगा।

पृ० २९२. **मध्याह्न०**—मध्याह्नार्कस्य तापेन छन्ना दृष्टिः यस्य तेन।

पृ० २९४, १५. **अवनतशिरसः**—एक शिष्ट पुरुष परनारियों की ओर घूर कर नहीं देखता अपितु सिर झुकाकर चलता है, विट भी समाज में गौरव चाहता है अतः उसका यह स्वभाव है। **वृषभा इव** वर्षा की बौछारों से तड़ित बैल नीचा सिर करके चला करते हैं। **कुलजन**—यहाँ प्रसंग के अनुसार कुलीन स्त्रीजन के लिये आया है ॥१५॥

मृगी व्याघ्रमनुसरति—वसन्तसेना को शकार की गाड़ी में देखकर विट सोचता है कि वसन्तसेना शकार के साथ अभिरमण के लिये आई है। इस विचार से ही वह मन ही मन आश्चर्य करता है कि यह मृगी जैसी वसन्तसेना इस व्याघ्र जैसे स्वघातक का अनुसरण कर रही है।

पृ० २९६, १६. पुलिन—वालुकामय तट, प्रतीयमान अर्थ है—निर्दोष एवं पवित्र जीवन। यहां अप्रस्तुत हंस और काक का वर्णन करके प्रस्तुत चारुदत्त और शकार का वर्णन किया गया है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ॥१६॥

१७. जननीवशात्—विट समझता है कि न चाहती हुई भी वसन्तसेना माता के आदेश से धन के लिये शकार के पास आई है। किन्तु जब वह इस बात पर सिर हिला देती है तो विट कहता है—अशौण्डीर्यं०—अर्थात् मैं समझता हूं (इति मन्यते) कि वेश्या के जीवन में गौरव का ध्यान नहीं रक्खा जाता, अतः तुम आ गई हो। कुछ व्याख्याकारों ने मन्यते का अर्थ किया है—'शकार का सम्मान किया जा रहा है ॥१७॥

उद्यानपरम्परया—एक उद्यान से दूसरे में जाते हुए, जिससे सूर्यताप न संतप्त करे।

धुर्याणाम्—बैलों का, धुरं वहतीति, धुर्+यत्, पक्ष में 'ढक्' होकर धौरेयः।

पृ० २९८, १८. वशनखे—इसे कुछ व्याख्याकारों ने सम्बोधन माना है। क्षामिता—√क्षम्+णिच्+क्त।

पृ० ३०२, २०. चाटुशत०—भाव यह है कि यदि तुम मुझे स्वीकार कर लेतीं तो मैं इन हाथों को जोड़कर तुम्हारी अनेक बार मनौती करता। अब उसी प्रकार इन हाथों से तुम्हारी ताड़ना करता हुआ केश पकड़कर गाड़ी से बाहर करता हूँ। यहाँ ते-ते, इव-तथा; यह पुनरुक्ति है (दे० सं० व्याख्या) ॥२०॥

पृ० ३०२, २२. सूत्रशतैः—सैंकड़ों प्रकार के (रंग-बिरंगे) सूत से निर्मित। चुहू-चुक्कू—इत्यादि मांस खाते समय हड्डी को चूसने की विशेष ध्वनियाँ हैं ॥२२॥

अकार्यम्—विट का भाव है न करने योग्य, पाप, अनुचित कार्य। किन्तु शकार इसका अर्थ लेता है—'जो किया न जा सके' तथा कहता है—'अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति'। उडुप—एक छोटी नौका।

पृ० ३०४, २४. साक्षिभूता—साक्षिणी भूता। साक्षात्+इन् (साक्षाद्द्रष्टरि च संज्ञायाम् ५।२।९१)=साक्षिन्, स्त्री साक्षिणी। इसका 'दशदिशः' आदि सबसे अन्वय है ॥२४॥

अपध्वस्त—नष्ट, भाव यह है कि हे शकार, तेरा विनाश होने को है, अतः तुझे धर्म और न्याय का ज्ञान नहीं रहा। कोले (प्राकृत)—इसका किसी ने 'शृगाल' संस्कृतानुवाद किया है। महत्तरक—महत्तरः एव महत्तरकः। अनार्येण०—भाव यह है कि वसन्तसेना को यहाँ लाने में मेरा ही दोष है। मुझे गाड़ी को देखकर लाना चाहिये था। प्रभवति भट्टकः शरीरस्य०—आपका प्रभुत्व मेरे शरीर पर है चरित्र पर नहीं, यहाँ एक सेवक के चरित्र की दृढ़ता दर्शनीय है। M. R. काले ने शेक्सपीयर की 'My life thou shalt command, but not my shame' इत्यादि उक्ति के साथ इसकी समता दिखलाई है।

पृ० ३०६, २५. येन—यस्मात्, क्योंकि; येन—कर्मणा प्रारब्धेन (काल)। किन्तु यहाँ येन—और तेन (क्योंकि इसलिये) के सम्बन्ध से तथा 'भागधेयदोषैः' शब्द के ग्रहण से भी येन का अर्थ क्योंकि' ही उचित प्रतीत होता है ॥२५॥

पृ० ३०८, ०७. यहाँ दैव के दो साभिप्राय विशेषण दिये गये हैं—(१) रन्ध्रानुसारी—भाव यह है कि यह स्थावरक पवित्र विचार रखता है, इसने अधिकांश पुण्य किये होंगे और पाप अल्पमात्रा में ही, किन्तु दैव छिद्रान्वेषी है अतः उसने इसके पापों के अनुसार इसे दास बना दिया। (२) विषम—दैव कर्म का फल देने में विषम भी हैं; क्योंकि उसने शकार जैसे पापी का स्वल्प से पुण्य के फल से ही स्वामी बना दिया ॥२७॥

मल्लक—एक छोटा पात्र, मदिरा का प्याला, नारियल का बना कटोरा, मल्लिका-पुष्प, व्याख्याकारों का कथन है कि शकार ने अपनी स्वाभाविक मूर्खता के कारण किसी महान् वस्तु से कुल की उपमा न देकर एक छोटी वस्तु से उपमा दी है है। अन्य व्याख्याकारों के अनुसार 'मल्लक' का अर्थ है—मल्ल, पहलवान।

पृ० ३१०, ३०. विविक्तश्रम्भरसः--भाव यह है कि प्रेम का आस्वादन एकान्त में ही किया जाता है ॥३०॥

पृ० ३१२. कामी—कामयुक्त, भूयान् कामः अस्यास्तीति। ३१. कष्टमयाः—कष्टों से पूर्ण; किं ते वयं काष्ठमया मनुष्याः'—यह पाठान्तर है, इसका अर्थ है—'क्या हम काष्ठनिर्मित मनुष्य हैं? (जो इस प्रकार उपेक्षा करती हो)' ॥३१॥

३२. जातदोषः—दोषयुक्त; अथवा जाते जनने दोषः अपवादः यस्य स जारज इत्यर्थः (J. V.) किन्तु यह क्लिष्टकल्पना है। सुचरित०—शोभन शील वाला, (१) सुगन्ध, मकरन्द आदि के द्वारा आनन्द देने वाला कमल (२) अच्छे आचरण से युक्त जीवन वाला, चारुदत्त। विशुद्ध०—विशुद्ध देह वाला, (१) सुन्दर आकृति वाला, कमल (२) निर्दोष तथा तेजस्वी शरीर वाला चारुदत्त। मधुपाः०—मकरन्द पान करने वाले अर्थात् रस का मर्म जानने वाले ॥३२॥

पलाशो भणितः०—पलाश को किंशुक भी कहते हैं, इसके पुष्प रक्तिमामय किन्तु गन्धशून्य होते हैं, इसी हेतु इसके साथ शकार की समानता दिखलाई गई है। अर्थात् वह सम्पत्ति तथा चमक-दमक रखता है किन्तु उदारता आदि गुण नहीं। 'पलाश' का एक अन्य अर्थ है—अपक्व माँस को खाने वाला। इसलिये शकार इस शब्द से कुपित होता है।

पृ० ३१४. मोटयामि—चूर्ण करता हूँ, 'मुट' संचूर्णने चुरादि। दरिद्रसार्थवाह० —क्योंकि शकार अपने आप को 'वासुदेवक' कहता है, अतः अपनी तुलना में चारुदत्त को 'मनुष्य' कहता है।

किं स शक्रः०—इस श्लोक में पुनरुक्ति तथा इतिहास विरुद्ध बातें हैं। कालनेमि—रम्भा का पुत्र नहीं, वह एक असुर था जिसका वर्णन श्रीमद्भागवत में किया गया है। सुबन्धु—बृहत्कथा में इसका उल्लेख है, यहाँ 'वासवदत्ता' का

लेखक सुबन्धु नहीं क्योंकि वह शूद्रक से अर्वाचीन है। द्रोणपुत्रः जटायुः—यह भी इतिहास के विरुद्ध है। धुन्धुसारः—अयोध्या का एक राजा, सम्भवतः उसका वास्तविक नाम 'कुवलयाश्व' था। त्रिशङ्कु—सूर्यवंश का एक राजा, जो साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है ॥३५॥

३६. भारते०—इसमें भी इतिहासविरुद्ध वर्णन है, सीता भारत युग में नहीं थी, उसे चाणक्य ने नहीं मारा। इसी प्रकार जटायु तथा द्रौपदी का भी काल-भेद है ॥३६॥

असम्पूर्णमनोरथः—नहीं हुआ है पूर्ण (चारुदत्त से समागम का) मनोरथ जिसका।

पृ० ३१६, ३६. एताम्०—इस पद्य में शकार के भावानुसार वसन्तसेना का चित्र प्रस्तुत किया गया है। अम्बा—वेचारी स्त्री। सीता यथा भारते—इतिहास विरुद्ध है अतः हतोपमा है ॥३६॥

३७. सेवावञ्चितः—सेवा का अर्थ है ऐसा कार्य जिससे कोई व्यक्ति प्रसन्न होता है। वञ्चित—किसी वाञ्छनीय लाभ को प्राप्त किये बिना रह जाना। शकार की शूरता देखकर उसके माता पिता और भाई आदि प्रसन्न होते। शकार के विचार में वसन्तसेना को मारने का कार्य भी शूरता ही था। अतः यदि उसके माता पिता आदि ने उसकी इस शूरता को नहीं देखा तो वे अपने पुत्र की सेवा से वञ्चित रह गये।

पृ० ३१८. शीर्षं—शीर्षेण शपे, यह प्रयोग होना चाहिए, शकार का प्रयोग होने से क्षम्य है।

पृ० ३२०, ३८ यहाँ विट की भावना के अनुसार वसन्तसेना का चित्र प्रस्तुत किया गया है। उदकवाहिनी—नदी। क्रीडारस०—रतिक्रीड़ा के आनन्द को उद्दीप्त करने वाली। विपणी और पण्याकर—शब्दों का गौण अर्थ में प्रयोग किया गया है—यहाँ प्रेम का भण्डार तथा सौभाग्य का भण्डार यही अर्थ संगत प्रतीत होता है, 'जहाँ प्रेम विकता है', 'सौभाग्य बिकता है'—यह अर्थ नहीं ॥३८॥

३९. पापकल्प--पाप + कल्पप्; ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः पा० ।५।३।६७।

४०. सुवर्णकं—एक सोने का सिक्का। कार्षापण—कालभेद से भिन्न-भिन्न मूल्य एवं धातु का सिक्का, मनु के अनुसार ताम्रमुद्रा-'कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कर्षिणः पणः'। मनु ८. १३६। अमरकोश के अनुसार एक चाँदी का सिक्का, पृथ्वीधर के अनुसार एक रुपये के मूल्य का सिक्का। सवोडिकम्—पृथ्वीधर के अनुसार 'वोडि' एक सिक्का था जिसका मूल्य २० कौड़ी के बराबर होता था। इसके स्थान पर कई पाठान्तर मिलते हैं जैसे—सवेष्टिकं (पगड़ी सहित), सवेषिकं (वेश सहित) सपोषणं तथा सकोटिकं (कोटि सहित) ॥४०॥

पृ० ३२२, ४१. अप्रीति—(१) मित्रता का नाश (२) सुख का अभाव। आच्छिन्नम्—आ + √छिद् + क्त। निर्गुण०—(१) दया आदि गुणों से शून्य,

(२) प्रत्यञ्चा रहित ॥४१॥

४२. नगरस्त्री—भाव यह है कि नगर की नारियाँ तुम्हें शङ्का से देखेंगी कहीं तुम उनके साथ भी ऐसा ही दुर्व्यवहार न कर डालो ॥४२॥

पृ० ३२४. व्यवहार—विवाद का निर्णय, निर्णय के लिए न्यायालय में प्रस्तुत विवाद (a law suit, Judicial proceedings); शकार का भाव यह है कि मैं तुम्हारे विरुद्ध अभियोग चलाता हूँ इसका तुम्हें उत्तर देना होगा।

बालाग्रप्रतोलिका—(देखिये पृ० ५४ सं० व्याख्या तथा टिप्पणी)।

पृ० ३२६. आत्मपरित्राणे—अपनी रक्षा के लिये, चतुर्थी के अर्थ में सप्तमी। मन्त्र—रहस्य, आर्यपुरुषः—माननीय पुरुष, विश्वसनीय जन। ४४. विशुद्धायाम्—यह साभिप्राय विशेषण है, ऐसा प्रकट होता है कि उस समय उज्जयिनी नगरी में पशुवध पर प्रतिबन्ध था ॥४४॥

पृ० ३२८. नासां छित्त्वा वाहितः—नाक छेदकर निकाल दिया, इस नाटक में ऐसा उल्लेख नहीं किया गया। ४५. हनूमत्—यह शकार का कथन भी उल्टा ही है ॥४५॥

विलुम्पति—नष्ट करते हैं √लुपलृ छेदने तुदादि। पर्णोदरे—पत्तों में।

४६. स्तिमितानि—गीले, √ष्टिम् आर्द्रीभावे दिवादि+क्त। विस्तीर्णपत्राणि—फैले हुए हैं पंख जिनमें ऐसे। पत्राणि—पक्ष, पक्षियों के डैने। यहाँ व्याख्याकारों ने अद्भुत सी कल्पनायें की हैं जो अनावश्यक हैं ॥५६॥

पृ० ३३०. न पुनर्यथा—जैसा (दशसुवर्णनिष्क्रीत) आप कहते हैं वैसा नहीं। लतामवलम्ब्य—क्योंकि एक पवित्र भिक्षु अपने हाथ का सहारा देकर उठाने के लिये भी नारी का स्पर्श नहीं कर सकता। एष तरुणी०—भाव यह है कि यह भिक्षुक इसका स्पर्श किये बिना ही रक्षा के लिए साथ जा रहा है। इसका यह पवित्र धर्म है।

नवम अङ्क

[व्यवहार नामक यह नवम अङ्क है। इसमें शकार द्वारा चारुदत्त पर लगाये गये अभियोग का विचार दिखाया दिया है। प्रथमतः शकार अधिकरणमण्डप में जाकर यह सूचना देता है कि पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान में किसी ने वसन्तसेना को मार डाला है। अधिकरणिक वसन्तसेना की माता को बुलाते हैं तो पता चलता है कि वसन्तसेना चारुदत्त के घर गई थी। इस पर चारुदत्त को न्यायालय में बुलाया जाता है। संकोच तथा दुःख के कारण चारुदत्त कुछ स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाता। इसी समय वीरक वहाँ आता है जो बतलाता है कि वसन्तसेना चारुदत्त की गाड़ी में बैठकर पुष्पकरण्डक उद्यान में जा रही थी। वीरक को उद्यान में देखने के लिये भेजा जाता है और वह इस बात का समर्थन करता है कि वहाँ कोई स्त्री मरी पड़ी है। तभी वसन्तसेना के आभरण काँख में दबाए विदूषक आ जाता है। शकार और विदूषक की मारपीट में

आभूषण भूमि पर गिर पड़ते हैं। शकार इन आभूषणों को सबको दिखलाता है। चारुदत्त यह स्वीकार करता है कि वे आभूषण वसन्तसेना के ही हैं परन्तु यह कैसे यहाँ आये हैं, इस बात को स्पष्ट नहीं कह पाता। इन घटनाओं से चारुदत्त के विरुद्ध अभियोग सिद्ध हो जाता है। अधिकरणिक अपना निर्णय राजा के पास भेजते हैं। राजा मृत्युदण्ड की आज्ञा देता है।]

पृ० ३३४. शोधनक—न्यायालय की सफाई तथा सज्जा आदि की व्यवस्था करने वाला न्यायालय का कर्मचारी। अधिकरणभोजक—अधिकरण--न्यायालय, भोजक--पालक, अधिकारी, न्याय के अधिकारी अर्थात् न्यायाधीश, श्रेष्ठी तथा कायस्थ आदि। जहाँ केवल न्यायाधीश अर्थ अभिप्रेत है, वहाँ अधिकरणिक शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यवहार—विवाद-विचार, वि नानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते। नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतिः—कात्यायन। विविक्त—रिक्त, स्वच्छ।

पृ० ३३६, १, २. गन्धर्वैः—पृथ्वीधर का कथन है कि यहाँ प्रथमा के अर्थ में तृतीया है—'गन्धव्वेहिं इति पाठे तृतीया प्रथमार्थे रूपकं च। वस्तुतः गन्धर्वः—यह पाठ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। क्षणेन ग्रन्थिः—ऐसा प्रतीत होता है कि शकार नंगे सिर ही न्यायालय में जा रहा था और स्वेच्छा से केशों को विविध रूप में कर लेता था ॥२॥

विषग्रन्थे०—इस वाक्य का भाव कई प्रकार से व्यक्त किया गया है, विष-ग्रन्थि के भीतर प्रविष्ट हुआ कीट जैसे बाहर निकलने का मार्ग खोजता है, इसी प्रकार इस घातक अपराध को करके इसने बच निकलने का मार्ग खोजा और महान् मार्ग प्राप्त कर लिया, यह भाव प्रतीत होता है। मोटयित्वा—मोड़कर, दबाकर। श्रेष्ठिन्—व्यापारिक मामलों को समझने के लिए और रत्न आदि की परख के लिए न्यायालय में एक सेठ (व्यापारियों का मुखिया) रक्खा जाता था। सम्भवतः यह आजकल के असेसर की भाँति रक्खा जाता था। कायस्थ—व्यवहार लेखन का कार्य करता था। पराधीनतया—व्यवहार का निर्णय वादी-प्रतिवादी तथा साक्षियों के कथन पर निर्भर है।

पृ० ३३८, ४. सन्त—सज्जन, वे भले लोग (वकील आदि) जो किसी एक वादी या प्रतिवादी का समर्थन करते हैं। अपवाद—अपयश, दोष ॥४२॥

५. शास्त्र०—नीतिशास्त्र व्यवहारविद्या इत्यादि। स्वक—अपने सम्बन्धी। चरितं—वादी और प्रतिवादी के कार्यों को अथवा वास्तविक तथ्य को। धर्म्यः—धर्म या न्याय को न छोड़ने वाला, धर्म+यत्। द्वार्भवि—अवसर या उपाय होने पर। व्याख्याकारों ने इसका अन्वय तथा अर्थ कई प्रकार से किया है। यथा—(१) भावे द्वाः, भावे—पराभिप्रायविषये द्वाः—द्वार्मूर्तः, द्वारवत्प्रवेशयोग्यः पराशयग्राही इत्यर्थः, (२) न लोभान्वितः द्वार्भवि-काले अर्थात् अवसर मिलने पर भी लोभ न करने वाला, (३) द्वार्भवि परतत्त्वबद्धहृदयः-अर्थात् जहाँ तक सम्भव होता है, परम तथ्य (वादी-प्रतिवादी के तथ्य) को जानने में तत्पर ॥५॥

पृ० ३४०. आर्यस्यापि०—इस कथन से न्यायाधीश की न्यायप्रियता तथा न्यायकारिता प्रकट होती है। व्यवहारमुपस्थितः—व्यवहार को उपस्थित हुआ है, व्यवहार प्रस्तुत करने के लिये आया है। श्री M. R. काले का कथन है कि सम्भवतः यहाँ व्यवहार शब्द न्यायालय (Court) के अर्थ में आया है।

पृ० ३४२. सर्वमन्य०—शकार के धमकाने पर न्यायाधीश के भयभीत हो जाने से यह प्रकट होता है कि राजा पालक तथ्य की खोज किये बिना ही न्यायाधीशों पर दबाव डाल देता था। युष्माकमपि०—अर्थात् तुम्हें सुखी करना मेरे हाथ में है, मेरी इच्छानुसार निर्णय करोगे तो सुखी होगे।

स्थिरसंस्कारता—मानसिक संस्कारों की दृढ़ता, भाव यह है कि इसके मन में यह भाव दृढ़तापूर्वक स्थिर है कि मैं राजा का साला हूँ जो चाहे कर सकता हूँ। इसलिए यह व्यवहारार्थी होकर भी इस प्रकार कहता है।

पृ० ३४४. मल्लक—गल्लर्क पाठान्तर है। गल्लर्क—मदिरा पीने का पात्र (आप्टे) मल्लक (देखिये पृ० ३०८ तथा टिप्पणी)। ६. राजश्वशुरः—इत्यादि कथन से शकार न्यायाधीशों पर प्रभाव डालना चाहता है। पश्यामि न पश्यामि वा—शकार का कथन होने के कारण विपरीतोक्ति है। बाहुपाश०—भुजा रूपी पाश के बलात्कार से अर्थात् भुजपाश में दबाकर।

पृ० ३४६. न मयेति व्यवहारपद—'मैंने नहीं'—यह अभियोग का शब्द (a legal point) जो शब्द स्वाभाविक रूप से वादी या प्रतिवादी के मुख से निकल जाता है, वह तथ्यनिर्णय में अत्यन्त सहायक होता है—'स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम्' (मनु० ८, ७८)। इसी हेतु न्यायाधीश का ध्यान इस शब्द पर गया। पायस०, पायस—खीर। पिण्डारक—(१) उबल कर या उफन कर फूल जाना या पिण्डाकार हो जाना, इससे खीर पात्र से बाहर निकलकर नष्ट हो जाती है। (२) पायसपिण्डं क्षीरभोजनम् ऋच्छतीति, गर्म-गर्म खीर खाने में प्रवृत्त व्यक्ति अपना ही विनाश करता है। (३) पिण्डारक=भिक्षु, कोई भिक्षु अत्यन्त गर्म खीर निगल कर मर गया था, शूद्रक के समय यह कथा प्रसिद्ध थी–परांजपे (दे० काले नोट्स)। अधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः—अर्थात् ऐसा व्यवहार जिसमें सुनी गई बातों के आधार पर तथ्यों का विचार करके न्यायाधीश अपनी बुद्धि से ही निर्णय देता है, किसी दूसरे से सफाई नहीं माँगी जाती।

पृ० ३४८. कुट्टनी या कुट्टनी—परनारी को पुरुषों से मिलाने वाली। जनस्य पृच्छनीय—यहाँ 'कृत्यानां कर्तरि वा' २।३।७१। के अनुसार षष्ठी विभक्ति है।

पृ० ३५०. प्रथमः पादः—व्यवहार निर्णय के चार चरण होते हैं, इनमें प्रतिवादी के समक्ष लिखा गया प्रथम पाद भाषापाद कहलाता है। ८. अवस्थामभिशङ्कते—इसका कर्ता 'आह्वानम्' है, यह आह्वान (Summons) मेरी अवस्था (दरिद्रावस्था) के प्रति शङ्का करता है, अर्थात् क्योंकि राजा ने मुझे बुलाया है, इससे प्रकट होता है कि वह मेरी दरिद्रता के कारण मुझ पर शङ्का करता है ॥८॥

९. ज्ञात०—चारुदत्त ने आर्यक के बच भागने में सहायता की थी अतः उसका ध्यान अपने इसी कार्य की ओर गया जो राजा की दृष्टि में अवश्य ही महान् अपराध था। अभियुक्त—जिस पर अभियोग चलाया गया हो ॥९॥

पृ० ३५२, १०. वाशति—√वाशृ शब्दे यह दिवादिगण (वाश्यते) की आत्मनेपदी धातु है। अतः यहाँ परस्मैपद चिन्तनीय है अथवा वाशं करोति = वाशति - यह नाम धातु है ॥१०॥

११. घोरं—भयङ्कर, भयपूर्ण; कुछ व्याख्याकारों ने 'घोरं वामं चक्षुः मयि चोदयते, असंशयम्।' ऐसा अन्वय किया है। इस अन्वय में 'असंशयम्' शब्द व्यर्थ सा ही है अतः 'असंशयम् घोरं' (वर्तते) यह अन्वय किया गया है।

११. मयि—इस पद्य का अन्वय कई प्रकार से किया गया है। 'अयं भुजग-पतिः अभिपतति'—यह मूल वाक्य है। शेष भुजगपति के विशेषण हैं। सम्भवतः अनेक अपशकुनों का साथ २ वर्णन करने के लिये ही कवि ने यहाँ सर्प का वर्णन कर दिया है। वस्तुतः तो दिन के समय, भीड़ से भरी हुई उज्जयिनी की सड़क पर सर्प का होना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

पृ० ३५४, १४. इस श्लोक में न्यायालय को सागर के समान बतलाया गया है। इसके लिये 'चिन्ता०' इत्यादि सात विशेषण दिये गये हैं। मन्त्रिन्—यहाँ इसका तात्पर्य न्यायाधीश है। इन्हें जल के समान कहा गया है। दूत—राजदूत। चार—गुप्तचर, सूचना देने वाले, इनकी नाके और मगरों से समता दिखाई गई है। हिंस्र—जल के घातक जीव। वाशक—शब्द करने वाले, वादी-प्रतिवादी जन, छोटे वकील मुख्तार इत्यादि (Pettifoggers)—काले। इनकी कङ्क (हाडगिल) पक्षियों से समता दिखाई गई है, क्योंकि ये हाडगिल पक्षी के समान निरन्तर बोलते हैं। नानावासक—पाठान्तर है, विविध प्रकार का वेश धारण करने वाले (खुफिया,। कायस्थ—व्यवहार-लेखक इनकी समता समुद्र के सर्पों से की गई है। नीति०—जिस प्रकार नदियों के द्वारा सागर तट काट दिया जाता है इसी प्रकार यहाँ नीति के द्वारा मर्यादा को तोड़ा जाता हैं। नीति -तर्क, युक्तियाँ या राजा की अपनी पालिसी। हिंस्रैः—घातक जनों या क्रूर कर्मों के द्वारा ॥१४॥

१५. दैवतः—भाग्य से, दैव + तस् अथवा देवता; 'दैवतः' शब्द पुंल्लिङ्ग भी हैं (दैवतानि पुंसि वा)। किन्तु इसका पुंल्लिङ्ग में प्रयोग अप्रयुक्तत्व दोषग्रस्त समझा जाता है।।१५॥

१६. घोणोन्नतं—वस्तुतः 'उन्नतघोणम्' होना चाहिये, अथवा, आहिता-ग्न्यादि' में मानकर 'उन्नत' शब्द का पर-प्रयोग सिद्ध किया जा सकता है।

पृ० ३५६. नियुक्तः—यह पारिभाषिक शब्द है यहाँ इसका अर्थ है—असेसर ब्राह्मणेतर श्रेष्ठी और कायस्थ (काले)।

१७. भर्तृक—स्वामी, राजा मालक या न्यायाधीश, कुछ व्याख्याकारों का मत

है कि 'भट्टक' शब्द चारुदत्त के लिये व्यङ्ग्य रूप में कहा गया है। जो सङ्गत नहीं प्रतीत होता है। पृथ्वीधर के अनुसार 'नष्टक' पाठ है ॥१७॥

पृ० ३५८, **कपटकापटिक**—कपटेन जयति इति कापटिकः (कपट+ठक्) कपट युक्तः कापटिकः कपटकापटिकः (काले) **असम्बद्धः**—असम्बद्ध प्रलाप करने वाला।

पृ० ३६०, १९. **अभ्युक्षितः०**—इस श्लोक का वास्तविक भाव स्पष्ट नहीं है। **अभ्युक्षितः**—सींचा गया, सिक्त, अभि—√उक्ष+क्त। **बलाहकः०**—बादल वारीणां वाहकः (पृषोदरादि)। चाष-नीलकण्ठ, वर्षा से भीगने के कारण उसके पक्षाग्र कुछ काले से हो जाते हैं। **अन्तराले**—बीच में, इस बात को कहते हुए। **निष्प्रभताम् उपैति०**, चारुदत्त ने देखा कि शकार के मुख पर स्वेदजल झलक रहा है और वह फीका पड़ गया है। इसलिये कहा कि तुम झूठ कहते हो। स्मृतिकारों ने मिथ्या अभियोग लगाने वाले या मिथ्या साक्षी होने वाले के इस प्रकार के चिह्न बतलाये हैं, (देखिये याज्ञ० स्मृ० २, १३, ५) ॥१९॥

२१. **प्राकृत**—असंस्कृत, अशिक्षित, निम्न श्रेणी का। **जिह्वा**—वेद की व्याख्या करने वाले नीच जनों की जिह्वा काट दी जाती थी, ऐसा दण्ड विधान था। अथवा अनुचित या मिथ्या कथन से जीभ कट जाती है, यह लोगों की धारणा थी। अथवा मिथ्या कथन से जीभ कट कर गिर जानी चाहिये—यह भाव है। **न च देहं हरति भूः**—भूमि को तेरा शरीर हर लेना चाहिये था ॥२१॥

२२. **उदकोच्छ्रय०**—जल की वृद्धि, जल की प्रचुरता। चारुदत्त ने सागर के सभी रत्न और मोती दान कर दिये अतः सागर में जलमात्र शेष रह गया। **अनपेक्षितानि**—अनीप्सित, जिन धनों की उन्हें आवश्यकता भी नहीं थी (not wanted)। **अवैरिजुष्टम्**—वैरी भी जिसे नहीं करता। **अवीर०**—पाठान्तर है, जिसका अर्थ कायर या नीच प्रकृति के लोगों द्वारा किया गया ॥२२॥

पृ० ३६२, २३. **परिभव०**—परिभव एव विमानना—इस प्रकार भी कुछ व्याख्याकारों ने अर्थ किया है ॥२३॥ **चन्दनकमहत्तरकेण**—वह व्यङ्ग्यपूर्ण कथन है, अपने आपको बडा समझने वाले चन्दनक ने—यह अभिप्राय है।

पृ० ३६४, २४. **निर्मल०**—निष्कलङ्क कीर्ति वाला चारुदत्त। **राहुणा**—शकार के द्वारा। **कूलावपातेन**—तट के गिरने से, अकस्मात् दोषारोपण से, लोकापवाद से। **प्रसन्नजल**—निर्मल चरित्र ॥२४॥

वैषम्यं०—लोक की घटनायें विषमतापूर्ण है, अर्थात् निर्मल चरित्र वाले चारुदत्त को अपराधी सिद्ध करने वाली घटनायें मिलती जा रही हैं अथवा मनुष्य का चरित्र विषमतापूर्ण है।

इस कथन के अग्रिम श्लोक से यह प्रकट होता है कि 'न्यायाधीश को भी अपने इस विश्वास में सन्देह हो गया कि 'चारुदत्त निर्दोष है।'

२५. **इदम्**—चारुदत्त का चरित्र। **संकटम्**—भयङ्कर या जटिल। **सुसन्ना**—सुसम्बद्ध। **व्यवहारनीतयः**—व्यवहार सम्बन्धी प्रमाण (कानून सम्मत), प्रथम तो-

वसन्तसेना की माता ने बतलाया कि वसन्तसेना चारुदत्त के यहाँ गई है। दूसरे—वीरक ने कहा कि चारुदत्त की गाड़ी में बैठकर वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में जा रही थी। तीसरे—मृतक स्त्री के चिह्न उस उद्यान में उपलब्ध हैं। इन घटनाओं से सिद्ध होता है कि चारुदत्त अपराधी है। इन प्रमाणों को देखकर न्यायाधीश की बुद्धि किंकर्तव्यविमूढ हो गई है ॥२५॥

पृ० ३६६, २७. **मत्सरिन्**—मत्सर+इनि (अत इनिठनौ)। **हन्तुकाम०** हन्तुं कामो यस्याः सा (बुद्धिः), 'तुम् काममनसोरपि' इसके अनुसार मकार का लोप हो जाता है। इसी प्रकार 'गन्तुकामः' इत्यादि। जाति—जन्म, स्वभाव ॥२७॥

२८. **अवचयम्**—'हस्तादाने चेरस्तेये' ३।३।४०—इस सूत्र के अनुसार यहाँ अवचाय (अव+चि+घञ्) शब्द होना चाहिये, किन्तु इसी अर्थ में 'अवचय' (अव+चि+अच्) शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है और वैयाकरणों ने यथा-कथञ्चित् अवचय' शब्द की भी सिद्धि की है।

४९. **मैत्रेय०**—इस श्लोक में चारुदत्त अपने मित्र, स्त्री तथा पुत्र को सम्बोधित करते हुए खेद प्रकट करता है। इसके अन्तिम पद का अर्थ विवादास्पद है। **परव्यसनेन**—इस शब्द का अर्थ कई प्रकार से किया गया है, परेण श्रेष्ठेन व्यसनेनोपलक्षितः, परेण केवलेन व्यसनेन बाल्यसुलभेन क्रीडनेन (J. V.) केवलं बाल-क्रीडया (केवल बाल्यकाल के खेलों से), परे दूरं यद् व्यसनं तेन (अर्थात् तुम आपत्ति से दूर हो, तुम नहीं जानते कि आपत्ति क्या है)। व्यसन=क्रीड़ा, आपत्ति ॥२९॥

पृ० ३६८. **अस्या आभरणम्**—इस वसन्तसेना के आभरण (M. R.) काले का कथन है कि यहाँ 'अस्य' पाठ होना चाहिये क्योंकि 'इमस्स' (प्राकृत) शब्द वसन्तसेना के लिये नहीं आ सकता। अस्य का अर्थ होगा रोहसेन का, अर्थात् उस (रोहसेन) को (रोना बन्द करने के लिये) आभरण देना ठीक था, किन्तु हमें इन आभूषणों को नहीं लेना चाहिये।

पृ० २७, ३०. **नृशंसेन**—क्रूर, निर्दय ने। रतिः वा—अथवा पृथ्वी की रति ही। **अविशेषेण**—बिना किसी भेद के, साक्षात्। **वा+विशेषेण**—यह छेद भी किया जा सकता है, विशेषेण-विशेष रूप से ॥३०॥

तपस्वी—बेचारा, चारुदत्त शकार को दयनीय समझता है, उसका भाव यह है कि कृतान्त (दैव) ही मेरे विपरीत है यह तो बेचारा निमित्तमात्र है **आराम**—क्रीडोद्यान, वाटिका, आरमन्ति जनाः अत्र, आ+√रम्+घञ्। **उच्छृङ्खलक**—उच्छिन्ना शृङ्खलका येन सः, जिसने बन्धनों को तोड़ दिया है, स्वच्छन्द, किसी नियम या कर्त्तव्य का ध्यान न रखने वाला। **कुलटा**—व्यभिचारिणी, कुलानि अटति इति। भण्ड—दिल्लगी करने वाला, भाण्ड। भाण्ड-पाठान्तर है—पात्र, कृतजनाः हिंसाप्रधाना जनाः तेषां दोषाणां भाण्डः पात्रम्।

पृ० ३७१. प्रतीपम्—विरुद्ध, उल्टा। साध्वसम्—भय। व्यापादिता—मार दी गई, नष्ट कर दी गई, मिटा दी गई। शकार का कथन होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

विस्तरः—समूह, राशि, वि√स्तृ+अप्, वृक्ष और आसन अर्थ में 'विष्टरः' होता है (वृक्षासनयोर्विष्टरः ८-३-९३) 'फैलाव' अर्थ में 'विस्तार' (वि+स्तृ+घञ्)। पातयिष्यति—मैत्रेय के पास से वसन्तसेना के आभूषणों का मिलना तो इस बात का पुष्ट प्रमाण था कि चारुदत्त ने वसन्तसेना को मारा है। अतः इससे चारुदत्त का विपत्ति में पड़ना अवश्यंभावी था ॥३१॥

भूतार्थः—वास्नविक बात यह है कि वसन्तसेना ने इन आभूषणों को रोहसेन की मिट्टी की गाड़ी पर लाद दिया गया था, वसन्तसेना को लौटाने के लिये ही ये मैत्रेय को सौंपे गये हैं।

३२. अश्लाध्यम्०—यदि मैं किसी प्रकार की सफाई देता हूँ तो वह झूठी कल्पना ही समझी जायेगी, क्योंकि उसको पुष्ट करने के लिये वसन्तसेना तो जीवित नहीं है। इससे न्यायाधीशों का मन मेरी ओर से अधिक बिगड़ जायेगा और मेरी मृत्यु अपमानपूर्ण होगी। यहाँ चारुदत्त ने फिर सफाई का अवसर खो दिया ॥३२॥

३३. अङ्गारक०—यहाँ दरिद्र चारुदत्त की क्षीण वृहस्पति से, शकार की मङ्गल गृह से तथा अलङ्कारपात या अलङ्कार गिराने वाले मैत्रेय की धूमकेतु से समता दिखाई गई है। प्राचीन खगोल शास्त्रियों के अनुसार मङ्गल को वृहस्पति का शत्रु वतलाया गया है। वराहमिहिर आदि ने मङ्गल को बृहस्पति का शत्रु नहीं माना ॥३३॥

पृ० ३७४. अक्षिभ्याम्०—तुम्हारी आँखों ने तो यह विश्वास दिला दिया कि ये वे ही आभूषण हैं, किन्तु तुमने वाणी द्वारा यह प्रकट नहीं किया।

३४. वस्त्वन्तराणि—अन्य वस्तुयें, अन्यद् वस्तु वस्त्वन्तरम् तानि। कृतहस्तयया–कृतहस्त-निपुण, कुशल, कृतहस्तस्य भावः कृतहस्तता तया।

पृ० ३७६. एवं गतानि०—चारुदत्त को सफाई देने का यह भी एक अवसर मिला था, किन्तु वह सफाई न दे सका। सम्भवतः कवि को यही दिखलाना अभीष्ट था कि चारुदत्त अपराधी सिद्ध हो जाये।

३५. सत्यमिति द्वे अक्षरे—'सत्यं' ये दो अक्षर है किन्तु ये कितने महत्त्वपूर्ण हैं? (काले)। अलीकेन—असत्य से √अल्+वीकन्=अलीक (शब्दार्थ को०)।

आभरणानि—चारुदत्त कुछ आवेशपूर्वक यह बात कहता है। ३६. सहास्माकं मनोरथैः—न्यायाधीशों की यही अभिलाषा थी कि चारुदत्त सच सच कह दे और यह निरपराध सिद्ध हो जाये। यदि ऐसा नहीं तो न्यायाधीशों की अभिलाषा नष्ट हो जायेगी; साथ ही चारुदत्त के शरीर पर कोड़े पड़ेंगे—यह भाव है ॥३६॥

वसन्तसेनया विरहितः—वसन्तसेनाविरहितः तेन (तृतीयातत्पुरुषः), कृत्यम्-प्रयोजन।

पृ० ३७८. अहमर्थिनी—वस्तुतः जिसे अभियोग चलाना चाहिये था, वह तो मैं हूँ। आत्मनः सदृशम्—अपनी शक्ति के अनुरूप जो मैं कर सकता था।

पृ० ३८०. 'शूले भङ्क्त'—शूली पर चढ़ाकर मार दो, √भञ्ज (आमर्दने) रुधादि + लोट् म० बहु०। शास्यते, √शास् (अदादि + णिच् (कर्मवाच्य) + लट् प्र० एक०। यहाँ आसन्न भविष्यत् काल में लट् का प्रयोग हुआ है; शिक्षा दी जायेगी। अविमृश्यकारी–विमृश्य करोतीति विमृश्यकारी (विमृश्यकारिन्) न विमृश्यकारी अविमृश्यकारी–बिना विचारे करने वाला। ४०. स्थाने (अव्यय); उचित, स्थान पर। कृपणां–शोचनीय ॥४०॥

४१. श्वेतकाकीयैः—श्वेतः काकः [कौआ श्वेत है] इस प्रकार की मिथ्या बात कहने वाले श्वेतकाकीय [श्वेतकाक + छ] कहलाते हैं। इस शब्द की निष्पत्ति 'काकतालीय' आदि के समान ही है। शासनदूषकैः—राजा के शासन को दूषित [बदनाम] करने वाले; यहाँ १.७ में कही गई व्यवहारदुष्टता दिखलाई गई है ॥४१॥

अपश्चिमम्—पश्चाद् भवं पश्चिमं पश्चात् + डिमच्। नास्ति पश्चिमं यस्य तत्तथा–जिसके पश्चात् अन्य [अभिवादन] न होगा, अन्तिम। मूले छिन्ने०—यहाँ मूल पिता [चारदत्त] है। बटुः–अथवा वटुः—यह शब्द किसी व्यक्ति [लड़के या युवक आदि] के लिए अंग्रेजी के chap या fellow शब्द के समान प्रयुक्त होता है या ब्रह्मचारी अथवा ब्राह्मण (घृणा अर्थ में; जैसे चाणक्यवटुः। चाण्डाल—एक नीच जाति, शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न व्यक्ति—'स्याच्चण्डालस्तु जनितो ब्राह्मण्यां वृषलेन यः' क्रूर कर्म करने वाला। उस समय चाण्डाल ही किसी अपराधी के बध का कार्य करते थे।

पृ० ३८२. विष०—किसी व्यक्ति को निरपराध प्रमाणित करने के लिए 'विषपान' इत्यादि दिव्य परीक्षा होती थी। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने बतलाया है—१. किसी व्यक्ति को विष खिलाया जाता था यदि वह निष्पाप होता था तो उस पर विष का कोई प्रभाव नहीं होता था। २. उसे नाभिपर्यन्त जल में इतने समय डुबकी लगवाई जाती थी जितने समय में कोई वेगवान् मनुष्य तत्काल फेंके गये बाण को लेकर आ जाता था यदि वह अपराधी होता तो डूब जाता अन्यथा नहीं। ३. वह तुला के एक पलड़े में बैठता था और दूसरे पलड़े में समान भार का बाट आदि रक्खा जाता यदि वह निरपराध होता तो उसका पलड़ा ऊपर उठ जाता। ४. उसके हाथ पर अभिमन्त्रित पीपल के सात पत्ते धागे से बाँधे जाते औ फिर उस पर नियतकाल के लिए तपा हुआ लोहगोलक रक्खा जाता था। यदि वह निरपराध होता तो नहीं जलता था (विशेष देखिये याज्ञ० १. १००–१११) प्रार्थिते—अभीष्ट होने पर। विचार—व्यवहार-निर्णय। वीक्ष्य-भली-भाँति देखकर, जाँच करके; वि + √ईक्ष् + ल्यप्। ब्राह्मण—(१) ब्रह्मणः अपत्यम् पुमान् ब्राह्मणः ब्रह्मन् + अण् (तस्यापत्यम्); (२) ब्रह्म = (वेदम्) अधीते वेद (जानाति) वा–ब्रह्मन् + अण् (तदधीते तद्वेद) ॥४३॥

दशम अङ्क

[संहारनामक इस अन्तिम अङ्क में मुख्य तथा प्रासङ्गिक दोनों कथाओं का उपसंहार हो जाता है। एक ओर तो वसन्तसेना वधूपद को प्राप्त कर लेती है और दूसरी ओर राजा पालक को मारकर आर्यक उज्जयिनी के राज्य का स्वामी बनता है। इस अङ्क के प्रथम दृश्य में–चारुदत्त वधस्थान की ओर ले जाया जाता दिखलाई देता है। मैत्रेय भी वहाँ पहुँच जाता है। जब वध की घोषणा होती है तो शकार का सेवक स्थावरक (जो अटारी में बन्द किया हुआ था) भागा हुआ चाण्डालों के पास आता है तथा कहता है कि वसन्तसेना को तो शकार ने मारा है। किन्तु इसी समय शकार वहाँ आ जाता है और स्थावरक को झूठा सिद्ध करता है। द्वितीय दृश्य में—वसन्तसेना को साथ लिये भिक्षु वधस्थान की ओर आता है। इधर चाण्डाल चारुदत्त पर तलवार खींचता है किन्तु तलवार हाथ से गिर पड़ती है तब चाण्डाल चारुदत्त को शूल पर चढ़ाने की बात सोचते हैं। इसी समय भिक्षु और वसन्तसेना पहुँच जाते हैं। इन्हें देखकर चारुदत्त प्रफुल्लित हो जाता है और चाण्डाल राजा को सूचना देने जाते हैं। तृतीय दृश्य में—शर्विलक वधस्थान पर आता है और यह सूचना देता है कि आर्यक के द्वारा राजा मारा गया। तभी शकार को पकड़कर चारुदत्त के पास लाया जाता है। चारुदत्त उसे क्षमा-प्रदान करता है। अन्तिम दृश्य इस नाटक को सुखान्त बना देता है धूता चिता पर चढ़ने को उद्यत है तभी चारुदत्त वहाँ पहुँच जाता है और उसे रोक देता है। धूता और वसन्तसेना स्नेहपूर्वक मिलते हैं। इसी समय शर्विलक वसन्तसेना से कहता है कि आर्यक राजा तुम्हें 'वधू' पद से अलङ्कृत करते हैं और भरतवाक्य से नाटक पूर्ण होता है।]

पृ० ३८४, १. तत्किम्०—यह चारुदत्त के प्रति कहा गया है। कलय—सोचो। नववध—१. नवीन जो वध और बन्धन उनको करने में (दे० सं० व्याख्या) २. वध के लिए जो नवीन बन्धन०, नवः वधाय वन्धः तस्य नयने। ४. वध के लिये नया बन्धन है जिसका ऐसे व्यक्ति को ले जाने में; वधार्थं बन्धः वधबन्धः, नवः वधबन्धो यस्य तस्य नयने ॥१॥

३, पांशु—धूलि। पितृवन—श्मशान। विरसम्—कर्कशता से ('रटन्तः' का क्रिया-विशेषण)। रक्तगन्ध०—लाल चन्दन;। वध्य के शरीर पर लाल चन्दन का लेपन किया जाता था। बलिम्—यहाँ विशेष प्रकार की बलि का वर्णन है जो किसी देवता भूत आदि के लिये दी जाती थी। वह बलि भी। १. जल से अभिषिक्त २ रुक्ष ३. पुष्पों से ढकी हुई तथा ४. रक्त की गन्ध (बूंद या गन्ध) से युक्त होती थी ॥३॥

पृ० ३८६. ४. किम्—यहाँ चारुदत्त को वृक्ष का रूप दिया गया है, उस पर आश्रित साधुजनों को पक्षियों का तथा काल को परशु का। काल–मृत्यु। यदि 'सज्जन' शब्द का अर्थ केवल 'श्रेष्ठ' लिया जाये तो 'सज्जनः पुरुषः एव द्रुमः तम् यह भी विग्रह हो सकता है ॥४॥

५. हस्तकैः—हाथ के थापे, इससे प्रकट होता है कि वध्य के शरीर पर लाल चन्दन के हाथ के छाप लगाये जाते थे। पिष्टचूर्ण—१. चावलों का पिसा हुआ आटा २. पिष्ट—चावल का आटा; चूर्ण—तिलों का चूर्ण। वध्य के शरीर पर ये वस्तुएँ भी लगाई जाती थीं। पशूकृतः—अपशुः पशुः सम्पद्यमानः कृतः इति पशूकृतः ॥५॥

तारतम्यम्—(१) तरतम—ष्यञ्; तांता. एक के पश्चात् दूसरा, (२) (discretion, proper judgement common sense--काले) । (३) उच्चनीचत्वरूपं वैषम्यम् इति परे।

५. ६. एतत्—यह (रूप या आपत्ति)। इन्द्रः—इन्द्रध्वजा (?), इन्द्रमहोत्सव में लगाई गई ध्वजा। जब वह विसर्जन के लिए ले जाई जाती है तो उसे देखना अच्छा नहीं समझा जाता—'उत्थापयेत्तूर्यरवैः सर्वलोकस्य वै पुरः। रहो विसर्जयेत् केतुं विशेषोऽयं प्रपूजने।' कालिकापुराण) । गोप्रसवः—इत्यादि को देखना भी निषिद्ध है—मैथुनञ्च गोप्रसवं केतुपातं सतो वधम्। नक्षत्राणाञ्च सञ्चारं शुभार्थी नावलोकयत् ॥७॥

आहीन्त और गोह—ये दोनों चाण्डालों के नाम हैं।

८. रोदिति—गवाक्षों से मुख निकाले हुईं नारियाँ चारुदत्त को देखकर अश्रु वर्षा कर रही थीं। इसी हेतु यह प्रश्न किया गया है। अनभ्रम्—नास्ति अभ्रं यत्र तद् अनभ्रं यथा स्यात् तथा (पतति का क्रियाविशेषण) अथवा नास्ति अभ्रं यस्य तत् वज्रम्—विना बादल का वज्र। अनभ्रे—पाठान्तर है, बादल विना ही; न अभ्रम्, अनभ्रं तस्मिन ॥८॥

पृ० ३८८. सलोप्त्र—लोप्त्रेण सहितः; लोप्त्र—चोरी का धन (माल), √लुप् (चुराना) + ष्ट्रन् (त्र) 'चौरिका स्तैन्यचौर्ये च स्तेयम्.........लोप्त्रं तु तद्धनम्।' —अमरकोश।

पृ० ३९०, १२. मख०—चारुदत्त के द्वारा तथा उसके पूर्वजों के द्वारा किये गये यज्ञ। सदसि (धार्मिक) सभा में। निविड—(आमन्त्रित) लोगों को भीड़ से युक्त, ब्राह्मण और पुरोहितों की भीड़ से युक्त (काले)। चैत्य—यज्ञ का स्थान, यज्ञशाला; चित्या—अग्नि, √चि + क्यप्। चित्यायाः इदं चैत्यम्—चित्या + अण् ॥१२॥

१३. अधरश्च (नीचे का ओठ) ओष्ठश्च (ऊपर का ओठ) अधरोष्ठः। अथवा अधरसहितः ओष्ठः अधरोष्ठः अथवा अधरश्च असौ ओष्ठश्च अधरोष्ठः। यहाँ अयशोविषम् यह रूपक है तथा अमृतपान एवं विषपान दो विरुद्ध वस्तुओं का वर्णन किया गया है, अतः विषम अलङ्कार है ॥१३॥

१४. असुवर्णमण्डनकम्—पाठान्तर है, नास्ति सुवर्णमण्डनं यस्मिन् तद् यथा स्यात् तथा। मरते हुए व्यक्ति के कर्ण नासिका आदि में सुवर्ण पहनाया जाता है, यह प्रसिद्धि है। अपनीयते—अप√नी + (कर्मवाच्य) लट् ॥१४॥

पृ० ३९२. दत्तवध्यचिह्नम्—वध्यस्य चिह्नं, वध्यचिह्नं दत्तं वध्यचिह्नं यस्य तम्। किमस्माकं...प्रतिग्रह—प्रतिग्रह का अर्थ दान तथा अनुग्रह दोनों होता है। चारुदत्त ने इसका प्रयोग अनुग्रह अर्थ में किया था किन्तु चाण्डाल समझते हैं कि

इसका अर्थ 'दान' है और चाण्डाल से दान लेना निषिद्ध है; इसीलिए आश्चर्य के साथ पूछते हैं। आवुक—यह प्राकृत का शब्द है जिसका अर्थ है—पिता।

पृ० ३६४. १७. निवाप०—पितृतर्पण, पितरों को दी गई बलि, 'पितृदानं निवापः स्यात्'—अमरकोश। निवापोदक—पितृतर्पण में दिया गया जल। भाव यह है कि चारुदत्त का पुत्र अभी बालक ही था अतः उसके द्वारा दी गई जलाञ्जलि बहुत छोटी होती और जब तक पुत्र बड़ा न होता तब तक उसकी जलाञ्जलि से परलोक में स्थित चारुदत्त की पिपासा कैसे शान्त होती ॥१७॥

१८. अमौक्तिकम्—मोतियों से न बना हुआ मौक्तिक = मुक्ता + ठक्। असौवर्णनम्—सुवर्ण से न बना हुआ। मौक्तिकाद् अन्यत् अमौक्तिकम् अथवा नास्ति मौक्तिकं यस्मिन् तत् ॥१८॥

पृ० ३६६. निरुपपदेन—उपपद—समीप में स्थित पद अर्थात् आदरसूचक आर्य, श्री इत्यादि शब्द; निर्गतम् उपपदं यस्मात् तत् निरुपपदं तेन नाम्ना।

१९. अहतमार्गा—१. जिसका मार्ग (गमन) नहीं रुका है ऐसी नियति २. जिसका मार्ग नहीं रुका अर्थात् स्वच्छन्द विचरने वाली किशोरी। किशोरी—इस शब्द का अर्थ विवादग्रस्त है, किसी ने इसका अर्थ हस्तिनी, किसी ने तरुण घोड़ी तथा किसी ने तरुणी बाला किया है। प्रत्येषितुम्—प्रति √इष् + तुम्। प्रतीष्टम्—पाठान्तर हैं—यथेच्छ यह अर्थ है ॥१९॥

२०. शुष्का०—इसके विविध पाठ तथा अर्थ हैं (देखिये सं० व्याख्या)। जनपदस्य—जनपद—प्रदेश; जनानां पदं जनपदं = जन (कबीले) का स्थान अथवा जनाः पद्यन्ते गच्छन्ति अत्र इति जनपदः देशः। अथवा जनपद = जनता, 'भवेज्जनपदो जानपदोऽपि जनदेशयोः' इति मेदिनी ॥२०॥

२१. करवीर०—वध के लिये ले जाये जाते हुए व्यक्ति के गले में कनेर की माला पहनाने की प्रथा थी। आघात—वध का स्थान; आहन्यते अत्र इति आ √हन् + घञ्। शामित्रम्—शमितृ शब्द का अर्थ यज्ञ होता है। शमितरि भवम् अथवा शमितुः इदं शामित्रम्—शमितृ + अण् यज्ञ में पशु की बलि करने का स्थान या बलि के लिये लाये गये पशु को बाँधने का स्थान। आलुब्धम्—वध करने के लिये, आ + √लभ् वध करना या अभिमन्त्रित करना। आलब्धः—पाठान्तर है। देखिये सं० व्याख्या ॥२१॥

सास्त्रम्—अस्त्रेण सहितम्, पुत्र का विशेषण अथवा गृहीत्वा का क्रियाविशेषण।

२३. इदं—यह; पुत्र का आलिङ्गन, (सुतरूपं वस्तु इत्यन्ये) तत्—वह, 'प्रसिद्ध' अर्थ को व्यक्त करता है।

पृ० ३६८. २४. व्यसनकृशाम्—व्यसन—आपत्ति, दरिद्रता। कृशा—हीना; अभियोग रूप विपत्ति के कारण होने वाली हीन दशा को ॥२४॥

सवैक्लव्यम्—विक्लव = विह्वल, विक्लवस्य भावः वैक्लव्यम्—विक्लव + ष्यञ् (गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५।१।१२४)।

पृ० ४००, २६. अनावृष्टि०—न आवृष्टिः अनावृष्टिः तया हृते । द्रोणमेघः—पुष्कर, आवर्त, संवर्त और द्रोण—ये चार प्रकार के मेघ माने गये हैं, द्रोण मेघ पर्याप्त वर्षा करने वाला तथा सस्य को समृद्ध करने वाला होता है जैसा कि ज्योतिष्तत्त्व में कहा गया है—'आवर्तो निर्जलो मेघः संवर्तश्च बहूदकः । पुष्करो दुष्करजलो द्रोणः सस्यप्रपूरकः ॥२६॥

२८. विषाक्तेन—विषेण अक्तः लिप्तः विषाक्तः तेन, √अक्त=अञ्ज्+क्त । जिस प्रकार विषैला वाण लगकर किसी व्यक्ति को विषयुक्त कर देता है इसी प्रकार इस दोषयुक्त (शकार) ने मुझे ही दोषी सिद्ध कर दिया है ॥२८॥

पृ० ४०२, २९. शालीयकूरेण—कूर-धान के चावल का भात, खाद्यविशेष 'कूर' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं; देखिये 'कूरच्युततैलमिश्रम्' (पृ० १७२) ॥२९॥

मन्त्रभेदः—मन्त्रस्य गुप्तवादस्य भेदः प्रकाशनम्, गुप्त वृत्तान्त का प्रकाशन, वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः'—अमरकोश ।

पृ० ४०४, ३०. पिधत्त—अपिधत्त (बन्द करो); यहाँ अकार का लोप हो जाता है—'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' । अविनय०—औद्धत्य, ढिठाई ॥३॥

रत्नकुम्भसदृशः—रत्नकलश के समान सम्पत्तिशाली तथा श्रेष्ठ । चोरिकया-चोरी के कारण ।

पृ० ४०६, ३१. साधुजनानुकम्पिन्—साधुजनम् अनुकम्पते तच्छीलः इति साधुजन+अनु+√कम्प्+णिनि, सुप्यजातौ णिनि० ।

संवदति—अनुकूल है, मिलता जुलता है । निष्कारणो०—(दे० सं० व्याख्या) यहाँ पूर्वार्ध में साभिप्राय विशेषणों द्वारा कथन किया गया है अतः परिकर अलङ्कार है—'विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः—काव्यप्रकाश ॥३१॥

पृ० ४०८. प्रत्ययते—विश्वास करता है । शङ्कुल—डंका, ढोल बजाने का डण्डा ।

पृ० ४१०. पालिका—पर्याय, पारी, बारी, पाली । बहुविधं लेखकं कृत्वा—बहुत प्रकार रेखायें इत्यादि खींचकर लेखः—लेखकः-गणना हिसाब लगाना ।

वृद्धि०—समृद्धि, उन्नति अथवा कुलवृद्धि, राजकुल में बालक का जन्म । राजपरिवर्तः—राजा का परिवर्तन; यहाँ कवि ने बड़ी कुशलता के साथ भावी राज-परिवर्तन को सूचित किया है ।

पृ० ४१२, ३४, धर्म—पुण्य प्रबलपुरुष-शक्तिशाली व्यक्ति पालक या शकार । यत्र तत्र०-चारुदत्त को यह निश्चय नहीं था कि वसन्तसेना जीवित है । स्वस्वभावेन—अपने स्वभाव से, अपनी महानुभावता से, अपने भाव प्रकाशन (स्व+भाव) से ॥३४॥

३५. प्रतिवृत्त—उलटा हुआ या लटका हुआ । दीर्घगोमायवः—अपनी गर्दन को ऊपर उठाये हुए सियार ही दीर्घ (विशाल) कहे गये हैं । अट्टहास—विकट हास ॥३५॥

पृ० ४१४. पातिका०—पतन + √पत् + ण्वुल (धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः वा०) वस्त्र को छोड़ने के समान ही शरीर का त्याग है, यहाँ गीता के वासांसि जीर्णानि यथा विहाय०' इत्यादि भाव की छाया दृष्टिगोचर होती है ॥३६॥

अस्थान०—स्थानादन्यत्र अस्थाने, अनुचित स्थान में, ऐसे स्थान पर जहाँ किसी की दृष्टि पड़ना कठिन है। परिश्रान्त—थकी हुई, मूर्च्छित। विषमभरक्रान्ता—विषमभरेण क्रान्ता, विषय भार से लदी हुई। पश्चिमम्—अन्तिम। मा भैः (=मा भैषीः) मत डरो।

पृ० ४१५. उत्तानः—ऊपर मुख करके कमर के बल लेटा हुआ, चित पड़ा हुआ। सह्यवासिनी—सह्य पर्वत पर स्थित देवी, चाण्डाल की कुलदेवता। यथाज्ञप्तम्-जैसी राजा की आज्ञा है अर्थात् शूली पर चढ़ाने की।

पृ० ४१८. उरसि पतति—क्योंकि चारुदत्त पृथ्वी पर सीधा लेटा था। यज्ञवाट—यज्ञ स्थान, ऐसे स्थलों पर 'वाट' शब्द का अर्थ 'समीप की भूमि का भाग' होता है, जैसे वेशवाटः, श्मशानवाटः।

पृ० ४२०, ४१. जीवातुकाम्यया—जीवातु-जीवन या जीवनौषधि, जीव्यतेऽनेन इति, √जीव् + आतु (उणादि १,७९)। 'जीवातुरस्त्रियां भक्ते जीविते जीवनौषधे'-इति मेदिनी। तस्य काम्यया इच्छया, मि० 'गोकाम्या' पृ० १२४ ॥४१॥

निमीलिताक्षः—निमीलिते अक्षिणी यस्य सः, आनन्द की अधिकता के कारण नेत्र मूँदे हुए ही। विद्या—पुनः जीवन प्रदान करने वाला मन्त्र या जादू, कहा जाता है कि यह विद्या दैत्यों के गुरु शुक्र को आती थी (देखिये काले नोट्स)।

'देहम्'—नपुं० प्रथमा-एक०, 'देह' शब्द पुं० तथा नपुं० दोनों होता है।

४४. वरवस्त्रम्—दुल्हे का वस्त्र। यहाँ एक ही रक्तवस्त्र इत्यादि वस्तु का क्रमशः अनेकों में सम्बन्ध दिखलाया गया है। अतः पर्याय अलङ्कार है—'एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः (काव्यप्रकाश) ॥४४॥

पृ० ४२२. दक्षिणता—सरलता, उदारता। ४५. प्रभविष्णुना—प्रभावशाली से, प्र + √भू + इष्णुच् (भुवश्च), यद्यपि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह शब्द वेद में ही प्रयुक्त होता है तथापि लौकिक संस्कृत में भी इसका प्रयोग उपलब्ध होता है। मनाक्—प्रायः, थोड़ा-सा ॥४५॥

निर्वेद—अपने विषय में तुच्छता का भाव या विषयवैराग्य।

४६. वृषभकेतु—वृषभः केतुः यस्य सः, शिव का एक नाम। दक्षयज्ञस्य हन्ता-दक्ष के यज्ञध्वंस की कथा कई प्रकार से प्रसिद्ध है—दक्ष ब्रह्म के दस पुत्रों में अन्यतम थे, उनकी एक पुत्री सती नाम की थी जिसका विवाह शिव के साथ हुआ था। एक बार दक्ष ने यज्ञ किया, उसमें सभी देवों तथा ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया, किन्तु न तो अपनी पुत्री सती को ही बुलाया न शिव को ही। इस अवसर पर सती स्वयं ही पहुँच गई तो उसको अपमानित होना पड़ा। इस अपमान के कारण वह अग्नि में भस्म हो गई। इस बात को सुनकर शिव भी वहाँ गये और दक्ष के यज्ञ को पूर्णतया

ध्वस्त कर दिया। दक्ष मृग के रूप में भाग गये। षण्मुख—षट् मुखानि यस्य सः, कार्तिकेयः पुराणों के आख्यान के अनुसार कार्तिकेय के ६ मुख और १२ भुजायें थीं। क्रौञ्चशत्रु—क्रौञ्च नामक दैत्य (या पर्वत) का विनाशक ॥४६॥

पृ० ४२४, ४७. शेषभूताम् देवताओं से निर्माल्य के रूप में प्राप्त हुई पुष्प-माला को 'शेष' या 'शेषा' कहते हैं, यह अत्यन्त आदर के साथ धारण की जाती है, उसके समान (ऐसे स्थलों पर भूत=सदृश)। व्यसनगतम्—विपत्तिग्रस्त ॥४७॥

४८. मन्त्रहीनं—पाठान्तर है, मन्त्र=मन्त्रणा, गुप्त विचार। प्रकर्ष—उत्कर्ष सामर्थ्य का उत्कर्ष। वसुधाधिराज्यम्—जिसमें समस्त पृथ्वी का आधिपत्य है ऐसा (शत्रुराज्य)। बलारेः—बल के शत्रु इन्द्र के; बल या वृत्रासुर का भाई माना जाता है। ऋग्वेद की कई ऋचाओं में इसका उल्लेख मिलता है, यह अन्धकार के दानव रूप में कल्पित मेघ का ही एक नाम है (काले), इन्द्र को 'बल' का नाशक बतलाया गया है।

४९ दिष्ट्या—भाग्य से (अव्यय)। गुणधृतया—(१) (चारुदत्त के द्वारा) उदारता आदि गुणों से आकर्षित की गई, प्रियतमा वसन्तसेना (२) रस्सी (गुण) से खींची गई, नौका। सुशीलवत्या—कुछ व्याख्याकारों ने इसका भी दोनों पक्षों में अर्थ किया है—(१) श्रेष्ठ स्वभाव वाली (२) मनोहर (?)। उपराग—उपरज्यते इति उपराग; ग्रहण; उप+√रञ्ज्+घञ् ॥४९॥

पृ० ४२६. आर्जवम्—सरलता, ऋजोः भावः, ऋजु+अण्। ५१. आर्य-वृत्तेन—आर्यं श्रेष्ठं वृत्तं चरित्रं यस्य तेन, इससे आर्यक के कार्य का समर्थन किया गया है, भाव यह है कि उसने यह कार्य जनहिताय ही किया था। तत्रभवान्—इसके स्थान पर 'अत्रभवान्' पाठ उचित है। सुहृदा+आर्यकेण यह सन्धिच्छेद है। उज्जयिन्यां प्रतिष्ठितमात्रेण—अर्थात् उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठते ही। वेणातटे-वेणा नदी नर्मदा की सहायक नदी है, जिसके तट पर कुशावती नगरी बसी थी। कुशावती या कुशास्थली, राम के पुत्र के द्वारा बसाई गई थी यह कहा जाता है। सम्भवतः बुन्देलखण्ड में स्थित 'रामनगर' के स्थान पर ही 'कुशावती' नगरी थी। (देखिये, काले नोट्स)

पृ० ४२८. राष्ट्रियबन्धः—राजा के साले का बन्धन अथवा बांधने वाले राज-पुरुष; राष्ट्रियः चासौ बन्धः। (सं० व्याख्या भी देखिये। व्यापदयाम—हम सब (जनता) मारें, पाठान्तर—व्यापादयाव—हम दोनों (चाण्डाल) मारें।

पृ० ४३२, ५६. महीतल०—महीतले स्थितिं सहन्ते इति, पृथ्वी पर रहने योग्य नहीं; अर्थात् देवलोक में रहने योग्य है ॥५६॥

पृ० ४३४. भिन्नत्वेन—पति से अलग, पति के शव के बिना। समीहितं—अभीष्ट, सम्+√ईह्+क्त (भाव में)। यथोपदेशिनी—आपके कथन के अनुसार कार्य करने वाली, अर्थात् आपका अनुसरण करके अग्नि में प्रवेश करने वाली।

पर्यवस्थापय—स्थित रख, रक्षा कर। तिलोदक—तिलमिश्रित जल, तिलाञ्जलि जो मृतकों को दी जाती है। अतिक्रान्ते० (सूक्ति)—अवसर बीत जाने पर मनोरथों से कुछ लाभ नहीं।

पृ० ४३६, ५८. प्रेयसि—प्रियतमे; 'प्रेयसी' का सम्बोधन एकवचन। प्रेयसि-प्रियतम के विद्यमान) होने पर; 'प्रेयस्' का सप्तमी एकवचन। व्यवसाय:—निश्चय, उद्यम। लोचनमुद्रण—नेत्र मूंदना ॥५८॥

संविधानम्—घटनाओं की योजना, संयोग। परितुष्टो राजा०—इससे प्रकट होता है कि उस समय राजा ही वर्णाश्रमों का सर्वोपरि नियामक था।

पृ० ४३७. जीवापिता—'जीविता' पाठान्तर है। दण्डपालक—दण्डाधिकारी, मजिस्ट्रेट। ५९. चारित्र—चरित्रमेव चारित्रम्। लभ्यम्—√लभ्+यत् ॥५९॥

पृ० ४४०, ६०. तुच्छयति—हल्का या दरिद्र करता है, 'तुच्छं करोति'—इस अर्थ में तुच्छ+णिच् (नामधातु)। विधौ—कर्म में। आकुलान्—व्याकुल या बीच में लटके हुए। प्रतिपक्ष—एक दूसरे के विरोधी जैसे रिक्तता और पूर्णता इत्यादि। कूपयन्त्रघटिकान्याय—किसी कूपयन्त्र अर्थात् कुएँ के रहट की बालटियों का ढंग अर्थात् रहट के चलने पर कोई बाल्टी खाली होती है कोई भरती है, कोई अधभरी लटकती होती है और कोई नीचे जाती है और कोई ऊपर ॥६०॥

भरतवाक्यम्—नाटक का अन्तिम श्लोक जो प्रशस्ति रूप में होता है, भरत-वाक्य कहलाता है। 'भरत' शब्द का अर्थ है-नट। अतः भरतवाक्य = नटवाक्य। भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरत के सम्मानार्थ ही सम्भवतः अन्तिम प्रशस्ति का नाम भरतवाक्य रख दिया गया है। भरतवाक्य में लोककल्याण की कामना की जाती है।

६१. क्षीरिण्यः—अधिक दूध वालीं, प्रभूतं क्षीरमस्याः अस्तीति क्षीरिणी (क्षीर+इन्+ई) ताः क्षीरिण्यः। सर्वसम्पन्न०—समास विग्रह के लिये देखिये सं० व्याख्या, इसके स्थान पर 'सम्पन्नसर्वसस्या' अथवा 'सर्वसस्यसम्पन्ना' पद उचित होता। सन्तः—सज्जन, श्री M. R. काले के अनुसार इसका अन्वय इस प्रकार है, 'ब्राह्मणा अभिमताः सन्तु, सन्तः श्रीमन्तः सन्तुः क्योंकि श्रेष्ठजन प्रायेण निर्धन होते हैं अतः ऐसी शुभकामना की गई है। किन्हीं व्याख्याकारों ने इस प्रकार अन्वय किया है—"जन्म-भाजः सततमभिमताः सन्तः मोदन्ताम्, ब्राह्मणाः सन्तः सन्तुः" ॥६१॥

परिशिष्ट ३

मृच्छकटिक में प्रयुक्त छन्द

१. संस्कृत में दो प्रकार के छन्द होते है—मात्रिक और वर्णिक । जिन छन्दों में मात्राओं के आधार पर पद-रचना होती है वे मात्रिक (जाति) कहलाते हैं तथा जिनमें अक्षरों के आधार पर, वे वर्णिक (वृत्त) कहलाते हैं । 'आर्या' आदि छन्द मात्रिक हैं तथा 'इन्द्रवज्रा' इत्यादि वर्णिक ।

२. (अ) मात्रा और वर्णों की गणना में लघु गुरु का विचार किया जाता है । अ, इ, उ, ऋ, और लृ ह्रस्व या लघु हैं तथा शेष स्वर दीर्घ या गुरु हैं । ह्रस्व स्वर से युक्त व्यञ्जनों (क, कि, कु, कृ, क्लृ) को भी लघु माना जाता है तथा दीर्घ स्वर से युक्त (का, की, कू, कॄ, के, कै, को. कौ) को गुरु । लघु की एक मात्रा गिनी जाती है और गुरु की दो ।

(आ) यदि किसी लघु वर्ण से आगे अनुस्वार (अं, कं) या विसर्ग (अः, कः) अथवा व्यञ्जनों का संयोग (अल्प, कल्प इत्यादि) होता है तो वह गुरु माना जाता है । पाद के अन्त में स्थित लघु वर्ण विकल्प से गुरु माना जाता है ।[1]

३. छन्द के चतुर्थ भाग को 'पाद' या 'चरण' कहते हैं । जिस छन्द में चारों चरण समान होते हैं उसे समवृत्त कहते हैं । जिसका प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण समान होते हैं उसे अर्धसम होते हैं । जिस वृत्त के चारों चरण परस्पर भिन्न होते हैं उसे विषमवृत्त कहते हैं ।

४. प्रायः वर्णिक वृत्तों का प्रत्येक चरण गुरु लघु के विशेष क्रम से बना होता है । तीन-तीन वर्णों के क्रमिक समुदाय को छन्दःशास्त्र में 'गण' कहा जाता है । ये ८ हैं, जिनके नाम तथा स्वरूप 'यमाताराजभानसलगम्' इस सूत्र से प्रकट होते हैं । यहाँ 'ल' से लघु और 'ग' से गुरु समझा जाता है । प्रस्तार के लिए लघु का चिह्न (।) और गुरु का चिह्न (ऽ) है । जैसे—

(१) यगण = ।ऽऽ आदिलघु । (२) मगण = ऽऽऽ सर्वगुरु ।
(३) तगण = ऽऽ। अन्तलघु । (४) रगण = ऽ।ऽ मध्यलघु ।
(५) जगण = ।ऽ। मध्यगुरु । (६) भगण = ऽ।। आदिगुरु ।
(७) नगण = ।।। सर्वलघु । (८) सगण = ।।ऽ अन्तगुरु ।

---

१. सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत् ।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा ॥

५. मृच्छकटिक में प्रायेण निम्नलिखित संस्कृत छन्द हैं, जिनके लक्षण स्थल निर्देश सहित नीचे दिये जाते हैं। इसमें प्रयुक्त प्राकृत छन्दों के लक्षणों के लिए प्राकृत-पिङ्गल आदि ग्रन्थ देखने चाहियें।

१. अनुष्टुप् (श्लोक)—श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्। द्वि-चतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः। इसके प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं, जिसमें पञ्चम वर्ण लघु तथा षष्ठ वर्ण गुरु होता है; द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में सप्तम वर्ण लघु होता है तथा अन्यों (प्रथम और तृतीय) में दीर्घ होता है। उदाहरण—१--२, १६, ३४ इत्यादि।

विशेष—अनुष्टुप् का एक भेद पथ्यावक्त्र भी है।

२. आर्या—(मात्रिक[1]) यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥ आर्या छन्द के चरणों में क्रमशः १२, १८ १२ और १५ मात्रायें होती है। उदाहरणः—१--८, ११, ३३ इत्यादि।

विशेष—यह आर्या छन्द ९ प्रकार का होता है—

पथ्या विपुला चपला मुखचपला जघनचपला च।
गीत्युपगीत्युद्गीतय आर्यागीतिश्च नवधाऽऽर्या॥

३. इन्द्रवज्रा—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। इसके प्रत्येक चरण में, तगण, तगण, जगण तथा दो गुरु मिलकर ११ अक्षर होते हैं। उदाहरण—४–१६; ५–४९; १०–११, २१, ४८, ५८।

४. इन्द्रवंशा—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ। तच्चेन्द्रवंशा प्रथमाक्षरे गुरौ। इसके प्रत्येक चरण में २, त, ज, र, इस प्रकार १२ अक्षर होते हैं। मृच्छकटिक में इस वृत्त का उपजाति वृत्त में ही प्रयोग (देखिये १–४६ और ३–७ इत्यादि) हुआ है, स्वतन्त्र रूप से नहीं।

५. उपेन्द्रवज्रा—उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। इसके प्रत्येक चरण में ज; त, ज तथा दो गुरु (११) होते हैं। जैसे १–६, ४–२३, ६–३।

६. उपजाति—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः'। इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का लक्षण बतलाने के पश्चात् यह उपजाति का लक्षण बतलाया गया है। अर्थात् इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के चरणों के मिलने से बना हुआ वृत्त उपजाति कहलाता है। इसी प्रकार इन्द्रवंशा तथा वंशस्थ आदि के चरणों के मिलने से बना हुआ वृत्त भी 'उपजाति' कहा जाता है—'इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम'। जैसे १–४६, में इन्द्रवंशा और वंशस्थ के चरणों का मिश्रण हैं और ३–७ में उपेन्द्रवज्रा + इन्द्रवज्रा + इन्द्रवंशा के चरणों का मिश्रण है। उदाहरण—१—३८, ४६. ३—६, ७. ४—१, १२, १५, ३२. ५—२१, २९, ४०, ४४, ४७, ५२. ८—२७, ३०. ९—१०, २६. १०—६,

१. जो छन्द मात्रिक हैं उनका निर्देश किया जा रहा है। शेष वर्ण-वृत्त समझने चाहियें।

१६, ४०, ४३ ।

७. गीति (उद्गाथा)—(मात्रिक) 'आर्या प्रथमार्धसमं यस्याः परार्धमीरिता गीतिः'। यह एक प्रकार की आर्या ही है। अन्तर केवल यह है कि इसके अन्तिम चरण में १५ के स्थान पर १८ मात्रायें होती हैं अर्थात् पहले अर्धसम (प्रथम और द्वितीय चरण) के समान ही इसमें द्वितीय अर्धसम (तृतीय और चतुर्थ चरण) होता है। जैसे ५—३४।

[पथ्यावक्त्र (विषमवृत्त)—युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्।' अर्थात् अनुष्टुप् छन्द में चतुर्थ घर्ण के अनन्तर जगण होने से पथ्यावक्त्र नामक छन्द होता है। १—५०, ५५ इत्यादि]

८. पुष्पिताग्रा (अर्धसम)—अयुजि न युगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा। इसके विषम (प्रथम, तृतीय) चरणों में १२ (न, न, र, य) तथा सम (द्वितीय, चतुर्थ) चरणों में १३ (न ज ज र+ग) होते हैं। उदाहरण—१—२४, ५६. २—७. ३—१०, २१, २२. ४—४, २७, २८. ८—४, ८, १५, ३२. १०—१३।

९. प्रमिताक्षरा—प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता। प्रत्येक चरण में १२ अक्षर (स, ज, स, स) जैसे १०—५६।

१०. प्रहर्षिणी—म्नाशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्। प्रत्येक चरण में १३ अक्षर (म, न, ज, र+ग; तीसरे अक्षर पर यति (विराम)। उदाहरण—४—२. ५—५०. ६.—१. ७—८. ८—४१. ९—२७. १०—२५, ३३, ४७, ४९।

११. मालभारिणी (अर्धसम)—विषम ससजा गुरू समे चेत्, सभरा येन तु मालभारिणीयम्। विषम चरणों में ११ (स, स, ज+२ग; समचरणों में १२ (स, भ, र, य) अक्षर; जैसे—१—३, ५।

१२. मालिनी—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः। प्रत्येक चरण में १५ (न, न, म, य, य) अक्षर; ८ वें अक्षर पर यति। उदाहरण—१—३१, ५७. ४-२०. ५—१७. ७—३, ५. ८—४२. ९—१२, ४. १०—३, १२, ३४, ४६।

१३. वंशस्थ या वंशस्थविल—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ। प्रत्येक चरण में १२ (ज, त, ज, र) अक्षर। उदाहरण—१—७, १०, ५३. २—१०. ३—८, १७. ५—३७. ७—४. ८—७. ९—२५।

१४. वसन्ततिलका—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः। प्रत्येक चरण में १४ (त, भ, ज, ज+२ग) अक्षर। उदा०—१—९, १२, १३, १७, २०, २२, २७, ३५, ४९. ३—३, ४, ९, १४, १६. ४—९, १४, २६. ५—१, २, ४, ८, १३, १५, ३३, ३६, ४२, ४५. ६—२. ७—२३, २४, २६. ९—६, १६, १९, २२, २८, २९, ३४. १०—३१, ४४।

१५. विद्युन्माला—मो मो गो गो विद्युन्माला—प्रत्येक चरण में २ मगण+२ गुरु=८ अक्षर। उदा०—२—८।

१६. वैश्वदेवी—बाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ—प्रत्येक चरण में २ मगण २ यगण मिलकर २२ अक्षर तथा पाँचवें अक्षर पर यति, जैसे—३—१३।

१७. शार्दूलविक्रीडित—सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्। प्रत्येक चरण में १९ अक्षर (म, स, ज, स, २त+ग); १२ वें अक्षर पर यति। उदा०—१-१४, ३२, ३६, ३७. २—१२. ३—५, ११, १२, १८, २०, २३. ४—६. ५—५, ६, १४, १८, २०, २३, २४, २७, ३५, ४६. ७—२, ७. ८—५, ११, ३८. ९—३. ४, ५, १४, १०–६० ।

१८. शिखरिणी—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी । प्रत्येक चरण में, १७ (य, म, न, स, भ+ल ग) अक्षर छठे अक्षर पर यति । उदा० १–१५; ५–१२, २२, २५. ६–४ ।

१९. सुमधुरा—म्रौ भ्नौ मो नौ गुरुश्चेद् हयर्तु रसैरुक्ता सुमधुरा। प्रत्येक चरण में २१ (म, र, भ, न, म, न+ग) अक्षर; सातवें तथा तेरहवें अक्षर पर यति। जैसे–९–२१ ।

२०. स्रग्धरा—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् । प्रत्येक चरण में २१ (म, र, भ, न, य, य, य) अक्षर; सातवें और चौदहवें अक्षर पर यति। उदा—१–१, ४, ४८. १०–५९, ६१ ।

२१. हरिणी—नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता। प्रत्येक चरण में १७ (न, स, म, र, स+ल ग अक्षर; ६, ४ और १० अक्षर पर यति। उदा०—४–३; ९–१३ ।

टिप्पणी—सं० व्याख्या में कहीं-कहीं अनुष्टुप् तथा आर्या आदि छन्दों के भेद-उपभेदों का भी उल्लेख कर दिया गया है। उन्हें इनके लक्षणों से मिलाकर देख लेना चाहिये ।



